पुरुषार्थ

[नवीन संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण]

रचयिता

डाक्टर भगवान्दास एम० ए०, डी० लिट्

१९४७

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

प्रकाशक
सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली।

मुद्रक
अमरचंद्र
राजहंस प्रेस, दिल्ली।

दूसरा संस्करण : १९४७

मूल्य
साढ़े छः रुपये

सिद्धान्तों को, यथा-शक्ति, यथा-सम्भव, जानने से ज्ञान सुसम्पन्न होता है, और संसार-यात्रा का, अल्पतम दुःख और अधिकतम सुख से, निर्वाह हो सकता है।

आजकाल मिलने वाला, धर्मशास्त्र का प्रधान सर्वाङ्गीण ग्रन्थ 'मनुस्मृति' माना जाता है; तथा अर्थशास्त्र का, चाणक्य-कृत अर्थशास्त्र'; तथा कामशास्त्र का, वात्स्यायन-कृत कामसूत्र; तथा मोक्षशास्त्र का, 'प्रस्थानत्रय' ('उपनिषत्', 'भगवद्गीता', बादरायण-कृत 'ब्रह्मसूत्र'), पतञ्जलि-कृत 'योगसूत्र', नारद-(अथवा शाण्डिल्य-) कृत 'भक्तिसूत्र'। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, और सांख्य के सूत्रों को भी ब्रह्मसूत्र और योगसूत्र का अवान्तर अङ्ग ही माना जा सकता है।

दोनों का ऐकान्तिक लक्ष्य—सुख। सुख का मूल रूप, तथा दो अवान्तर रूप।

तत्त्वतः, अंततो गत्वा, पुरुष का 'अर्थ' एक ही है—सुख। अर्थ्यते, याच्यते, इष्यते, इति अर्थः। जो चाहा जाय, मांगा जाय, वह अर्थ। जीवमात्र सुख चाहते हैं, दुःख से सब भागते हैं। सुख की लिप्सा, दुःख की जिहासा*, यही मनुष्य की सभी मानस और शारीर प्रवृत्तियों का एकमात्र प्रवर्त्तक प्रेरक हेतु है।

सर्वेऽपि जीवास्तु सुखे रमंते,
सर्वे च दुःखाद् भृशं उद्विजन्ते। (म० भा०)
सर्वं परवशं दुःखं, सर्वम् आत्मवशं सुखम्। (मनु)

परवशता ही दुःख, आत्मवशता ही सुख है। आत्मा का राज्य, स्व-अधीनता, स्व-तन्त्रता, स्व-च्छन्दता, स्व-राज्य, 'अस्मिता' की पूर्ति, यही सुख है, जैसा ऊपर कहा है; "मै जो चाहूँ वही हो"। दूसरे का, पराये का, राज्य, पर-अधीनता, पर-तन्त्रता, पर-राज्य, मेरे मन के विरुद्ध दूसरे के मन का होना, यही दुःख है। काम-चेष्टा मे, स्त्री-पुरुष के परस्पर परिष्वंग मे, सब त्रपा लज्जा रुकावट छोड़ कर, इस स्वच्छंदता की पराकाष्ठा, एक दृष्टि से,

* लभ्धु, इच्छा लिप्सा, पाने की इच्छा; हातु इच्छा, जिहासा, छोड़ने की इच्छा।

देख पड़ती है; एक दूसरे के साथ जो चाहते हैं सो करते हैं। इसी लिये मैथुन शक्ति के अभाव को, क्लीबत्व वध्यात्व को, साधारण स्त्री-पुरुष असह्य दुःख मान लेते हैं। इसी लिये उपनिषत् मे भी कहा है, "सर्वेषां आनन्दानां उपस्थः एव एकायनम्", सब आनन्दो का एकमात्र ठिकाना उपस्थ-इन्द्रिय है। उपस्थ शब्द, स्त्री के भी, पुरुष के भी, गुह्य अंग के लिये व्यापक शब्द है। एक दृष्टि से, योषा-पुमान् के परस्पर आलिंगन मे सभी पाँचो ज्ञानेन्द्रियां का (बल्कि पाँचो कर्मेंद्रियां का भी) एक साथ प्रवर्त्तन, तर्पण, आनन्दन होता है; इस लिये भी कामदेव का एक नाम 'पंच-सायक' कहा जा सकता है; यद्यपि और हेतु भी प्रसिद्ध हैं, दूसरी दृष्टियों से, यथा,

अरविंदं, अशोकं च, चूतं च, नवमल्लिका,
नीलोत्पलं च, पंचैते पंचबाणस्य सायकाः।
संमोहन-उन्मादनौ च, शोषणः, तापनः तथा,
स्तम्भनश्चेति, कामस्य पंचबाणाः प्रकीर्तिताः।

लाल कमल, अशोक पुष्प, आम की बौर, चमेली, नीला कमल—ये पांच, कामदेव के पांच बाण हैं; संमोहन, उन्मादन, शोषण, तापन, स्तम्भन—ये भी। पहिले पाच, काम के उद्दीपक कारण है; दूसरे, उस के फलरूप कार्य।

रतीच्छा की ऐसी उग्रता होते हुए भी, गहिरी दृष्टि से देखने से, यही कहना पड़ेगा कि आहारेच्छा ही घोरतम है; क्योंकि 'रति' के बिना जीवन दुःखी है, तो आहार के बिना प्राण ही नहीं बच सकता, लोक मे स्थिति ही नहीं रह सकती। उपनिषत् ने भी कहा है 'पुत्रैषणा' और 'वित्तैषणा' भी 'लौकैषणा' ही हैं।

और भी। जिन आनन्दों का उपस्थ एकायन है, वे सब सांसारिक आनन्द हैं; आनन्दाभास हैं, उस परम और सत्य आनन्द की, शांति की, नक़ल हैं, छायामात्रहैं; जिस के लिये उपनिषत् मे कहा है,

यश्च अकामहतः एष एव परम आनन्दः; एको द्रष्टा अद्वैतो भवति;
एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति।

जब 'मेरे' सिवा कोई दूसरा है ही नहीं, सब का सिरजने, पालने,

संहारने वाला 'मैं' ही, तब 'मेरी' हुकूमत, 'मेरे' ईश्वरभाव, का क्या पूछना ? वहाँ तो 'काम' बाक़ी बचा ही नहीं; कामना होना ही तो खंडित होना है, अपूरा अधूरा होना है; किसी दूसरी वस्तु की चाह, किसी चीज़ की कमी, है। 'परिपूर्णस्य का स्पृहा' ? परिपूर्ण को न काम है, न मोह है, न शोक है।

यस्य सर्वं आत्मैव अभूत्, तत्र को मोहः, कः शोकः; एकत्वं अनुपश्यतः।
भूमा एव सुखम्। (उपनिषत्)

आनन्द की, सुख की, पराकाष्ठा यह है कि सब को, सब मे, सब जगह, अपने को, आत्मा को ही देखै, जानै, पहिचानै—कोई पराया है ही नहीं, सब 'मैं' ही है; सब कुछ 'मेरे' मे, 'मुझ' मे, ही है, 'मैं' ही सब मे हूं, 'मैं' ही सब कुछ हूं, 'मैं' सब से बड़ा है; 'बहोर्भावः भूमा'।

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखं,
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्। (योगभाष्य)

भौम कामसुख, इस भू-लोक का; दिव्य कामसुख, परलोक स्वर्ग का; यह दोनों सुख, मिथ्या, छोटी, जीवात्मा की हाड़ मांस मे 'अस्मि' वाली तृष्णा के क्षय के, और सच्ची, बड़ी, परमात्मा की सब जगत् मे 'अस्मि' वाली शांति के उदय के, अजर अमर अपार अनन्त सुख के, अणु भाग के भी तुल्य नहीं हैं। लेकिन प्रवृत्ति मार्ग पर, संसार-नाटक मे, जीव के लिये, सुख के आभास का; मिथ्या सुख का, इन्द्रियों के विषयों के भोग के सुख का, जो उस सच्चे सुख की झूठी नक़ल, प्रतिरूप, प्रतिकृति, प्रतिबिम्ब है, अनुभव करना भी आवश्यक है। उस के पीछे, जीवात्मा परमात्मा के 'स्व-भाव' के नियमो के अनुसार, नित्य-अनित्य का 'विवेक' जागने पर, और अनित्य नश्वर पदार्थों से ही बने हुए संसार से 'वैराग्य' उत्पन्न होने पर, दूसरा, सच्चा, पारमार्थिक सुख प्राप्त करना भी परम आवश्यक है।

प्रवृत्तिमार्ग का प्रधान पुरुषार्थ काम-सुख, जो धर्म से साधित अर्थ (धन-सम्पत्ति) से परिष्कृत हो।

इस लिये प्रवृत्ति मार्ग का प्रधान 'अर्थ,' 'पुरुषार्थ,' 'काम-सुख' ही है। इस के साथ 'अर्थ' (सम्पत्ति) और 'धर्म', विशेष हेतु से लगा दिये

गये हैं। उन की चर्चा करने से पहिले, 'काम' शब्द के दो अर्थ बताना आवश्यक है। वात्स्यायन ने कामसूत्र (१ अधिकरण, २ अध्याय, ११-१२ सू०) मे इन का उल्लेख किया है। (१) पाच ज्ञानेन्द्रियों के पाच विषयों मे जो अपनी प्रकृति के अनुकूल, प्रीतिकर, सुखद, पदार्थ हैं, उन के अनुभव की इच्छा—यह काम-सामान्य है। 'अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल'—इस लिये कहना पड़ता है, कि प्रकृति के भेद से किसी को खट्टा अधिक अच्छा लगता है, किसी को तीता, किसी को मीठा, किसी को कड़वा कसैला भी; किसी को संगीत प्रिय है, किसी को रूप रंग, किसी को सुगंध, किसी को स्पर्श।

कुरंग-मातंग-पतग-भृंग-मीनाः हताः पंचभिर् एव पंच;
नरः प्रमादी स कथं न हन्यते, यः सेवते पंचभिरेव पंच।

हरिण को मधुर गीत, हाथी को सुख-स्पर्श, फतिंगे को चमकती जोत, भौंरे को फूलो का सुगन्ध (तथा मधुरूपी रस भी), मछली को सुस्वाद कवल, अधिक प्रिय है; एक एक रस के फेर मे पड़ कर, एक एक जाति का जीव मारा जाता है, वा बंधन मे पड़ता है*; मनुष्य को पाचो इन्द्रियों के विषय प्यारे हैं, 'पंच-शर' काम-देव का वह शिकार बनता है; तो भी प्रत्येक मनुष्य को किसी एक इन्द्रिय का अधिक रस होता है; जिह्वा का

*ऐसी प्रसिद्धि है कि हरिन, मधुर गाने बाजे से मुग्ध हो कर खड़ा हो जाता है, तब व्याध उसे मार लेता है; तथा सर्प को भी सँपेरा, तूम्बी के बाजे से मुग्ध करके पकड़ता है; पतंग, फतिंगा, दीपक की लौ को देख कर, मुग्ध हो कर, उस मे घुस जाता है, और जल मरता है; भ्रमर, फूल के सुगन्ध और मधु की लालच मे, उस मे पैठता है, और रात मे जब कमल बन्द हो जाता है, तो उसी के भीतर रह जाता है; मछली, चारा लगी कांटेदार बंसी को, खाने की लालच मे निगल जाती है; जंगली हाथी को पकड़ने के लिये शिकारी लोग, सिखाई हुई 'कुट्टनी' हथिनियों को उस के पास छोड़ते हैं; वे जा कर उस से सट कर खड़ी हो जाती हैं; उस स्पर्श के सुख से वह मुग्ध निस्तब्ध हो जाता है; तब शिकारी, हथिनियों के पैरों के बीच, चुपके से जा कर, हाथी के पैर रस्सों से बाँध देते है।

रस तो प्रायः सभी को रहता है; इसी लिये 'जिह्वा-उपस्थ-रताः', 'शिश्न-उदर-परायणाः,' शब्द कलिकाल के मनुष्यों के लिये प्रसिद्ध हो रहे है। इस अर्थ मे 'काम' शब्द, इच्छा, वासना, तृष्णा, एषणा, आदि का, तथा 'ज्ञान', अविद्या', 'शक्ति', 'दैवी प्रकृति', 'माया', आदि का, पर्याय ही है, सारे संसार का बीज है।

काम-सामान्य।

कामः तदग्रे समवर्त्तताधि, मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्;
सतो बंधुम् असति निरविंदन् हृदा प्रतीष्या कवयो मनीषा। (ऋग्वेद

सोऽकामयत बहु स्यां, प्रजायेय।
काममयः एवायं पुरुषः। (उपनिषत्)

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। (मनु)

सनातनो हि संकल्पः काम इत्यभिधीयते।
संकल्पाभिरुचिः कामः सनातनतमोऽभवत्,
जगत्पतिर् अनिर्देश्यः सर्वगः सर्वभावनः,
हृच्छयः सर्वभूतानां, ज्येष्ठो रुद्राद् अपि प्रभुः।
(म० भा०, अनुशासन पर्व, अ० १६१)

कामः सर्वमयः पुंसां स्व-संकल्प-समुद्भवः,
कामात् सर्वे प्रवर्तंते, लीयंते वृद्धिमागताः।
(शिव-पु०, धर्म-सं०, अ० ८)

मनस् का, चित्त का, जीवत्व का, संसार का, रेतस्, बीज, 'काम', परमात्मा के 'निष्-काम' हृदय मे, सदा, सब से आगे, वर्तमान है। मनीषी कवियों ऋषियों ने, अपने हृदय मे, (हृदि अयम्, तस्मात् हृदयम्) हृदय-गुहा मे, हृदयस्थ परमात्मा मे, गहिरी खोज कर के, सत् के सगे बंधु इस असत् को पाया है। परमात्मा के भीतर संकल्प हुआ, कामना हुई, कि 'मै' एक से अनेक हो जाऊं, बहुत हो जाऊं, तब सृष्टि हुई। पुरुष काममय है, उस का रूप, उस की शक्ति, उस की प्रकृति, काम ही है।

वासना वासुदेवस्य, वासितं सकलं जगत्;
चित्ते वसति यस्माच्च, चित्तं वासयते तथा,

जीव एव हि वासुस्तु, वासनेत्युच्यते ततः;
वासु-देवश्च सर्वेषां वासूनां देव एव हि।

चित्त मे सदा बसती है, गंध जैसे हवा को वैसे चित्त को वासे रहते है, वासु अर्थात् जीव का रूप ही है, इस लिये इस का नाम वासना है। सब जीवों, वासुओ, के परम देव, परमात्मा, वासुदेव कहलाते हैं।

शरीरधारी जीव का सुख (और दुःख भी) इन्द्रियो के विषयों के द्वारा ही होता है। जिस जीव को इस सुख की कामना नहीं, उस को संसार मे रहने का प्रयोजन नहीं। वह प्रवृत्ति-मार्ग को छोड़ कर निवृत्ति-मार्ग पर पैर रखता है।

धर्म और अर्थ का प्रयोजन।

यह कामसुख पशुओं को भी होता है; अर्थ और धर्म से उन को प्रयोजन नहीं; मनुष्य को क्यों? इसका उत्तर यह है कि (१) पहिले तो पशुओं को भी किसी मात्रा मे 'अर्थ' का प्रयोजन रहता ही है, उन मे भी 'परिग्रह' देख पड़ता है, अपनी-अपनी मांद, बिल, खोते, बसेरे के पेड़, निरामिषों के चरने के और सामिषो के शिकार के जङ्गल, 'रख', रक्षित स्थल, अलग-अलग होते हैं, जिन के लिये आपस मे बड़ी बड़ी लड़ाइया होती हैं। तथा, अव्यक्त रूप से उन मे आपस के समझौते, क़ायदे क़ानून, मर्यादा, 'धर्म', भी देख पड़ते हैं; यथा ऋतु काल मे अपने-अपने नर-मादा, और, जब तक छोटे और अ-स्वच्छन्द रहें तब तक बच्चे, एक साथ, अन्य ऐसे कुटुम्बों से अलग अलग, रहते हैं; तथा एक दूसरे की 'रख' मे चरने या शिकार करने नहीं जाते—इत्यादि। (२) दूसरी बात यह है कि मनुष्य के जीवन मे, उस के इन्द्रिय-सुखो मे, संस्कार परिष्कार, पशुओं की अपेक्षा से, बहुत अधिक है। यहा तक कि जब तक उचित 'संस्कारो' से 'संस्कृत' न हो, तब तक मनुष्य सच्चा 'आर्य' मनुष्य नहीं हो सकता। मनुष्य को, लकड़ी पत्ते मिट्टी फूस के झोपड़े से ले कर चादी सोना जवाहिर से जड़े संगमरमर के करोड़ों रुपये के महल तक, रहने को; जंगली कंद मूल फल से ले कर अति महर्घ (महँगे) कृत्रिम सुस्वाद षड्रस लेह्य पेय चोष्य खाद्य तक, खाने-पीने को; पत्ते से ले कर हज़ारों रुपये गज़ के शाल-दुशाले कमख़ाब

तक, पहिनने को; सुगन्ध फूल, और फूलो के सौ-सौ रुपये तोले के इत्र, सूघने को; सुन्दर सु-वर्ण सु-रूप पेड फूल फल भरे उद्यान, तथा चित्र, प्रतिमा, रत्न के आभूषण, देखने पहिनने को; बसी खजडी से ले कर भारी कारीगरी से बनाई वीणा, मृदग, शहनाई, धौसा, 'पियानो', 'ऑर्गन', तौयत्रिक, नाच, गाना, हाव-भाव, बाजा, नाटक, 'थियेटर', 'सैनेमा,' आदि, सुनने और देखने को; इत्यादि, चाहिये। जीवन के ऐसे परिष्कार सस्कार से ही लक्ष्मी-देवता, सम्पत्ति, 'अर्थ', चरितार्थ होते है। निष्कर्ष यह कि बिना 'अर्थ' के मनुष्योचित सुपरिष्कृत 'काम', अर्थात् विषयोप-भोग-जनित शारीरिक ऐन्द्रिय सुख, तथा मानस मैत्री स्नेह प्रीति के सहित कौटुम्बिक और सामाजिक शालीनता और शोभा का सुख, सम्पन्न नही हो सकता। ऐसे ही, बिना समाज के सग्रथन, व्यूहन, व्यवस्थापन के, बिना परस्पर आचार व्यवहार की मर्यादा के, बिना अधिकार के नियमन कर्त्तव्य के, बिना उन नियमो को मानने-मनवाने, पालन करने-कराने, के उपायो के, अर्थात् बिना 'धर्म' के, 'अर्थ' का सचय और स्थैर्य, समाज मे, किसी के पास हो नही सकता। इस लिये 'अर्थ' और 'धर्म' की, 'काम' के साथ-साथ, परम आवश्यकता है।

आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि सामान्यंएतत् पशुभिर्नराणाम्,
(धर्मात् चितोऽर्थः खलु तद्विशेषः, ताभ्यां विहीनाः) पशुभिः समानाः।
(हितोपदेश)

आहार, निद्रा, भय, मैथुन—यह तो पशुओ मे और मनुष्यो मे समान ही हैं। मनुष्या मे, धर्म से सचित, अर्जित, रक्षित, (तथा वीत, व्ययित अर्थात् व्यय-किया, खर्च किया) अर्थ—ये ही पशुओ की अपेक्षा विशेष हैं। इन दो से विहीन मनुष्य, पशुओ के समान हैं।

धर्माद् अर्थो, ऽर्थतः कामः, कामाद् धर्मफलोदयः-
इत्येवं निर्णयं शास्त्रे प्रवदंति विपश्चितः। (पद्मपुराण)
यथा पुष्प-फलं काष्ठात्, कामः धर्मार्थयोर्वरः। (म० भा० शा०)

धर्म से अर्थ, अर्थ से 'काम', काम से धर्म के फल अर्थात् सुख का उदय—यह निर्णय विद्वान् बुद्धिमान् लोगो ने शास्त्र मे कर दिया है। जैसे,

जीते पेड़ मे, काठ से अच्छा फूल फल, उस का उत्पादनीय लक्ष्य होता है, वैसे ही धर्म और अर्थ से साधनीय काम। 'काम' से अधिक अर्थ पर, और अर्थ से बहुत अधिक धर्म पर, ज़ोर इस लिये दिया है, कि 'काम' की ओर तो जीवात्मा की प्रवृत्ति अत्यधिक अपने आप हैं, उसे और बढ़ाने की ज़रूरत नहीं है, प्रत्युत रोकने और सुपरिष्कृत करने की आवश्यकता है; तथा धर्म की ओर जीव की स्वरसतः प्रवृत्ति कम है, इस लिये उस को बढ़ाने की आवश्यकता है।

लोके व्यवायऽामिष-मद्य-सेवाः नित्यास्तु जन्तोः, नहि तत्र चोदना;
व्यवस्थितिः तासु विवाह-यज्ञ-सुरा-ग्रहैः; आसु निवृत्तिर् इष्टा।
(भागवत)

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित्;
यद्यद् हि कुरुते जंतुः तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ।
कामऽात्मता न प्रशस्ता, न चैवेहास्ति अकामता;
काम्यो हि वेदाधिगमः, कर्मयोगश्च वैदिकः ।
तेषु सम्यग् वर्तमानो गच्छति अमरलोकताम्;
यथासंकल्पितांश्चेह सर्वान् कामान् समश्नुते। (मनु)
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि, भरतर्षभ ! (गीता)

मद्य-मास-मैथुन की इच्छा प्राकृतिक है। उस को बढ़ाने का प्रयोजन नही। रोकने के लिये, नियम से मर्यादित करने के लिये, विवाह और यज्ञ आदि की विधि, वृद्धो ने बनाई है। विना 'काम' के, कोई क्रिया, कोई जीव नहीं करता। जो कुछ भी, जो कोई भी, करता है, वह अन्ततः काम की चेष्टा है; सुख की लिप्सा से ही किया गया है। वेदो का पढ़ना, वैदिक कर्म करना, यह सब भी काम की प्रेरणा से ही है। पर अति-काम काम-मग्नता, यह प्रशंसनीय नही। उचित मात्रा मे, उचित प्रकार से, 'वैदिक' धर्म की, अर्थात् सज् ज्ञान से, सद्बुद्धि से, 'वेद' से, निर्णीत व्यवस्थापित 'धर्म' की, आज्ञा के अनुसार, 'काम' का सेवन जो मनुष्य करता है, वही सब 'काम'-सुखों को पाता है। धर्म से अविरुद्ध, धर्म-सम्मत, जो 'काम' है, वही व्यापक अंतरात्मा को प्रिय है। क्यों कि "कामात् क्रोधो-

ऽभिजायते", धर्म के विरुद्ध कामाचरण से, चारो ओर, अभितः, आस-पास, क्रोध उपजता है।

काम-विशेष।

यहाँ तक 'काम'-सामान्य की चर्चा हुई। अब (२) 'काम'-विशेष को देखना चाहिये। कामदेव का एक नाम पंचसायक है। सुख की इच्छा, पाँच ज्ञानेन्द्रियो के (तथा पाँचो कर्मेन्द्रियो के भी) विषयों (और क्रियाओं) के उपभोग से, उद्दीपित भी और पूरित भी होती है, इस लिये यह नाम पड़ा, ऐसा पहिले कहा (पृ० १७८)। स्त्री पुरुष, एक दूसरे के शरीर मे, इन पाँचो (वा दसो) विषयो (और क्रियाओ) के सार, और उन के उपभोग से सासारिक सुख की पराकाष्ठा का तीव्रतम अनुभव, पाते हैं; इस लिये स्त्री-पुरुष के मिथुन, जोड़े, द्वन्द्व, का परस्पर 'काम', विशेष कर के 'काम' का नाम पाता है। स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर, चित्त और देह, दोनो के सभी विषयो मे (मूलप्रकृति-परमात्मा के, पार्वती-परमेश्वर के, अनुकारी) स्त्री-पुरुष एक दूसरे के लिये संसार-सर्वस्व हैं।

आपयतो वै तौ अन्योऽन्यस्य कामान् सर्वान्। (छांदोग्य उप०)

जीव, एक ओर, अति लघु, सऽादि सान्त, मूठी भर हाड़-मास के देह से बँधा हुआ, तद्रूप हो रहा है; दूसरी ओर, अनादि अनन्त अति महान् परमात्मा से बँधा हुआ, क्या परमात्मा ही, है। लघोर्लघीयान्, अणोरणीयान्, महतो महीयान्—दोनो है। ऊपर कहा (पृ० १७७) कि आत्मवशता ही सुख है, 'मुझ' से अधिक, क्या 'मेरे' समान भी, कोई दूसरा नहीं है। और क्या, 'मेरे' सिवा दूसरा कोई है ही नहीं। 'मै' ही सब से बड़ा, बड़प्पन की पराकाष्ठा है और हूँ, 'मै' ही सब कुछ है और हूँ। बड़प्पन ही तो सुख है, छोटाई मे सुख कहाँ!

नाल्पे वै सुखमस्ति, भूमैव सुखम्।
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। (उप०)
न त्वत्समोऽस्ति, अभ्यधिकः कुतोऽन्यः। (गीता)

वात्स्यानन ने, इस प्रकार से, धर्म, अर्थ, काम की परिभाषा की है—
धर्मार्थकामेभ्यो नमः।...शतायुर्वै पुरुषः, विभज्य कालम्, अन्योऽन्या-

नुबद्धं, परस्परस्य अनुपघातकं, त्रिवर्गं सेवेत । बाल्ये विद्याग्रहणादीन् अर्थान् । कामं च यौवने । स्थाविरे धर्मं च मोक्षं च ।...ब्रह्मचर्यम् एव तु आ-विद्याग्रहणात् ।

अलौकिकत्वाद्, अदृष्टार्थत्वाद्, अप्रवृत्तानां यज्ञादीनां शास्त्रात्प्रवर्तनम्; लौकिकत्वाद् दृष्टार्थत्वाच् च प्रवृत्तेभ्यश्च मांसभक्षणादिभ्यः शास्त्रादेव निवारणं; धर्मः । विद्या-भूमि-हिरण्य-पशु-धान्य-भाण्ड-उपस्कर-मित्रादीनाम् अर्जनम्, अर्जितस्य विवर्धनम्, अर्थः । श्रोत्र-त्वक्-चक्षुर्-जिह्वा-घ्राणानाम्, आत्मसंयुक्तेन मनसा अधिष्ठितानां, स्वेषु स्वेषु विषयेषु आनुकूल्यतः प्रवृत्तिः, कामः । स्पर्शविशेषविषये तु, अस्य, आभिमानिकसुखानुविद्धा, फलवती, अर्थप्रतीतिः, प्राधान्यात् कामः ।

धर्म अर्थ-काम तीनो को नमस्कार है । सचरित्र सावधान मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होनी चाहिये; यदि इन तीनो पुरुषार्थों का सेवन, एक दूसरे से परस्पर बाँध कर, परस्पर विरोध के बिना, बल्कि तीनो को परस्पर सहायक बना कर, मनुष्य करै; जैसे, उस को, काल का, आयु का, विभाग कर के, करना चाहिये; तथा, बाल्य मे विद्याग्रहण (रूपी 'अर्थ'), यौवन (और प्रौढ़ि) मे 'काम', वार्धक्य मे सासारिक-'धर्म' और मोक्षधम, का । (तथा प्रौढ़ावस्था मे, प्रतिदिन का विभाग कर के, पूर्वाह्न मे धर्म, अपराह्ण मे अर्थ, सायंकाल मे काम, का) । विद्या-ग्रहण को अवस्था मे ब्रह्मचर्य ही करना चाहिये ।*

जिन का फल प्रत्यक्ष नही है, जैसे यज्ञ आदि कर्म, उन का शास्त्र की आज्ञा से प्रवर्त्तन; और ऐसे कर्मो का, जैसे मास भक्षण आदि, जिन का फल प्रत्यक्ष है, उसी आज्ञा से निवर्त्तन; यह 'धर्म' है । भूमि, सोना चाँदी, पशु, धन-धान्य, बर्त्तन भाँड़ा, लकडी लोहा का सामान, ओढ़ना-बिछौना,

* वात्स्यायन ने, अपने ग्रन्थ की विशेष दृष्टि से, क्रम बदल दिया है ; सामान्य दृष्टि से, शुरू उमर मे ('बाल्ये', 'कौमारे'), प्रथम आश्रम मे, प्रवृत्ति-मार्गोपयोगी 'धर्म', जिस मे विद्या-ग्रहण अन्तर्गत है; द्वितीय आश्रम मे, ('यौवन' और 'प्रौढ़ि' मे) 'काम' के उपयोगी गार्हस्थ्य का 'अर्थ' और 'धर्म'; तृतीय और चतुर्थ मे (स्थाविरे), मोक्षोपयोगी 'धर्म' ।

अर्थात् गृहस्थी की सब सामग्री, तथा मित्र का अर्जन, और अर्जित का वर्धन, यह 'अर्थ' है। पाँचो इन्द्रियो के विषया मे प्रवृत्ति, यह 'काम-सामान्य' है। विशेष प्रकार के स्पर्श की इच्छा, जिस मे 'अभिमान' का सुख मिश्रित है, ('अहं बहुधा स्याम्'–इस 'अस्मिता' के दर्प का रस सना है); अपने सामर्थ्य का, गर्भकारक पौरुष पुरुषत्व का, गर्भ-विस्तारक स्त्रीत्व का, स्वसदृश नई सृष्टि कर सकने का, दूसरे को अपने अधीन कर लेने का, हर्ष मिश्रित है; ('पुरि', शरीरे, शेते, इति 'पुरुषः'; 'पुरति, अग्रे गच्छति, पूरयति वा'; 'स्तृणाति, विस्तृणोति, विस्तारयति गर्भं, इति स्त्री'; 'स्त्यायति गर्भः अस्या, इति वा'); और जिस विशेष प्रकार के स्पर्श से, स्त्री-पुरुष के संयोगात्मक स्पर्श से, सन्तान रूपी फल के, अर्थ के, प्राप्ति की प्रतीति, विश्वास, आशा, उमीद, भी है, ऐसे विशेष स्पर्श की, रति की, मैथुन की, इच्छा को काम-विशेष कहते है। 'काम' शब्द इसी अर्थ मे प्रधानतः प्रयोग किया जाता है।

अन्य शास्त्रकारो ने 'धर्म' और 'अर्थ' के और ('अपर') भी लक्षण बताये है।

ब्रह्मऽानन्द और कामऽानन्द।

जब जीवात्मा अपने को सकल सृष्टि करने वाला परमात्मा पहिचान लेता है, तब उस को भूमता, बहुतमता, महत्तमता, का सच्चा 'ब्रह्मानन्द' प्राप्त होता है। उस की सब वासना कामना ऐसी पूर्ण होती हैं कि लुप्त हो जाती है। इच्छा तो अपूर्ण को ही होगी न? जो पूर्णतम हो गया, जिस के उदर मे सारा संसार आ गया, जिस ने जान लिया कि 'मेरा' ही चैतन्य, 'मैं' ही, 'अहं' ही, सारे ससार का कर्त्ता धर्त्ता सहर्त्ता है, हूँ, 'अस्ति', 'अस्मि', उस को इच्छा कहाँ अवशिष्ट रहैगी? जो कुछ भी हो रहा है, सब उसी की, 'मेरी' ही, इच्छा से हो रहा है। पारमार्थिक 'अहता' 'अस्मिता' की यहाँ परा काष्ठा है।

इस सच्चे 'ब्रह्मानन्द' का प्रतिबिम्ब, मिथ्या आभास, होता हुआ भी, व्यावहारिक दृष्टि से नितान्त वास्तविक और बलवान् 'कामानन्द' है। इस मे भी, स्त्री पुरुष के शरीर को धारण करने वाले जीव को, मिथ्या

ही, विवर्त्तित ही, उल्टा ही, लेकिन ब्रह्मानन्द के सदृश (जैसे जल के किनारे खड़े मनुष्य का प्रतिबिम्ब उलटा भी और सदृश भी), सब विषयों के उपभोग से सब इच्छाओं की एकसाथ पूर्ति का, पूर्णता का, तथा 'सर्जन-शक्ति', नया (संसारात्मक) शरीर उत्पन्न करने की शक्ति, अतः 'ईश्वरता' का, स्वयं आत्मवश हो कर दूसरे के ऊपर वशिता का, अनुभव होता है।* इस मे सासारिक 'अहंता', 'अस्मिता', 'अहंकार', 'अभिमान', 'दर्प' की पराकाष्ठा है। मैथुन कर्म से 'अभिमान' का अनुभव, स्त्री-पुरुष दोनो को होना, (न केवल पुरुष को, जैसा कि वात्स्यायन के कई कच्चे (सदोष) सूत्रो से, अति त्वरावान् जल्दबाज़ पाठको को, धोखा हो सकता है), प्राकृतिक है; इसी लिये सूत्रकार ने 'आभिमानिक सुख' का, इस के सम्बन्ध मे उद्देश किया है (१-२-१२)। बिना अध्यात्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र, की शरण लिये, इस का तात्विक हेतु समझ मे नहीं आता। और समझने की आवश्यकता है। यदि समझ कर उस ज्ञान को अपने हृदय मे सदा रक्खे, तो भारी भूलों, पापों, और उन के फलरूप कष्टो, से, बचा जा सकता है। काम-सुख मे अति 'दर्प' 'गर्व' करने से, स्त्री और पुरुष, परस्पर अथवा दूसरों को, शारीर और मानस क्लेश पहुँचा कर, वैमनस्य खड़ा कर, वैवाहिक वा सामाजिक सुख को नष्ट कर देते हैं; अपने को वा दूसरो को क्रुद्ध वा दीन करते हैं; इसी लिये भीष्म पितामह ने, शातिपर्व के षट्त्रिंशी नामक अध्याय मे, कहा है, 'सेवेत् कामम् अनुद्धतः', काम के सेवन मे बहुत उद्धत न होना चाहिये।❀

*** 'शरीर' को 'संसारात्मक' इस लिये कहा, कि जहां 'शरीर' नहीं वहां संसार नहीं; शरीर के, और उस मे स्थित इन्द्रियों के, द्वारा ही तो संसार का अनुभव होता है।**

❀ पहिले पृ० १७७—१७८ पर लिख आये हैं कि, मैथुनप्रसंग मे नर-नारी, एक दूसरे पर, जो चाहते हैं सो करते हैं, और 'अभिमान', 'अस्मिता', 'अहंकार' का रस चखते हैं। पुण्य और पाप को पृथक् करने वाली रेखा बहुत बारीक होती है; ज़रा-सी 'अति' होने से पुण्य का रूप बदल कर पाप हो जाता है; परन्तु पाप की 'अति' होने से पुण्य नहीं

काम के अन्य अर्थपूर्ण नाम।

कंदर्प—काम के और भी नाम संस्कृत मे हैं। बहुत अर्थपूर्ण हैं। 'सम्यक् कृता' 'अच्छी बनाई हुई', 'संस्कृत' भाषा ऐसी ही है। पर निरुक्त शास्त्र का प्रयोग, जिस से प्राचीन अर्थगर्भ शब्दों का निर्वचन, अध्यात्मशास्त्र की सहायता से हो, प्रायः उठ सा गया है। एक नाम, काम बन जाता; (मनुष्य-दृष्टि से; ईश्वर-दृष्टि से, रावण आदि का अतिपाप भी, अ-साक्षात्, अ-प्रत्यक्ष, रूप से, मानव जाति का, दूर जा कर, कल्याणकारक हुआ; यह ईश्वर के, परमात्मा के, द्वंद्व-मय, पुण्य-पाप-मय, जगन्नाटक का, अ-वारणीय नियम ही है); ऊपर से नीचे गिरना सहज है; नीचे से ऊपर चढना कठिन; इसके विशेष आध्यात्मिक हेतु हैं। सच्चे प्रेम मे, विवाहित भार्या-भर्त्ता के, परस्पर मैथुनीय-आलिंगन मे भी, दोनो ओर, सूक्ष्म अभिमान की (जिसी का घनीभाव, राजस घोर-भाव, दर्प, गर्व, है), मात्रा रहती ही है; उसका आस्वादन, लीला से, बनावटी, कृत्रिम, 'खेल' के भाव से, अपने ऊपर आरोपित नाटकीय प्रदर्शन से, परस्पर, एक दूसरे पर, पर्याय (पारी-पारी) से मिथ्या 'बलात्कार' कर के, होता है; और उस से, परस्पर प्रेम, परस्पर रमण (एक दूसरे मे 'रमना', 'रीझना'), आनन्द, बढ़ता है; किन्तु, यदि यह 'बलात्कार', मिथ्या खेल के स्थान मे वास्तविक ('ज़िना बिल-जब्र'), और परस्पर के स्थान पर यक-तरफ़ा, हो जाय, तो घोर, पापिष्ठ, और अति अनर्थकारी होगा, प्रेम प्रीति का सर्वथा नाश करैगा, तीव्र द्रोह और हीनता की आग जलावैगा, जीवन को विष-मय करैगा, मानस और शारीर तीक्ष्ण आधि-व्याधियों को जन्म देगा। इस सब विषय के विस्तार की—'अभिमान' के पुरुषरूप, 'सैडिज़्म और स्त्रीरूप, 'मैसोचिज़्म', आदि की—चर्चा, 'दि सायंस् आफ़् दि इमोशन्स्' मे की है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने, यूरोपीय भाषाओं मे लिखे हुए, 'सैकियेट्री' (कामादिजनित मानस विक्रिया, उन्मादादि) के शास्त्र के ग्रन्थों मे इस विषय का प्रतिपादन बहुत विस्तार से किया है—कि यह कामसम्बन्धी दर्प अभिमान, कैसे कैसे घोर विकृत बीभत्स भयानक क्रूर रूप धारण कर लेता है, यहां तक कि मैथुन मे हिंसा तक कर डालता है। वात्स्यायन ने भी कुछ थोड़ी चर्चा इस की की है, जिस का स्यात्

का, 'कंदर्प' है। इस का दो प्रकार से निर्वचन हो सकता है। 'कं दर्पयति,'. किस के इंद्रिय-निग्रह, आत्म-संयम, के दर्प को बचने देता है ? किसी के नहीं, इस लिये 'कदर्प'।

अहल्याया जारः सुरपतिर् अभूद्; आत्मतनयां
प्रजानाथो ऽयासीद्; अभजत गुरोर् इन्दुर् अबलां;
इति प्रायः को वा न पदम् अपथे ऽकार्यत मया,
श्रमो मद्बाणानां क इव भुवनोन्माथविधिषु।

(प्रबोध-चन्द्रोदय)

कामदेव कहता है, मैंने सुरपति इन्द्र को गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का जार (यार) बना दिया; चन्द्रमा को अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा से व्यभिचार करा दिया; स्वयं ब्रह्मा को अपनी बेटी सरस्वती के पीछे दौड़ा दिया; मेरे बाणों को सारे संसार के 'उन्मथन', 'मनो-मथन', में क्या कोई श्रम है ? कुछ नहीं। मेरा एक नाम 'मन्मथ' है ही।

व्यवहार-दृष्टि से, इन सब पौराणिक कथाओं का सीधा-सीधा अक्षरार्थ भी बड़ा उपदेशप्रद है; ये कहने सुनने वाले को सदा सावधान करती रहती हैं, कि संसार में सँभल कर चलो, दर्प मत करो, काम के वेग से डरते रहो, बड़े-बड़ों से बड़ी-बड़ी भूल हो गई हैं, और इस के कारण उन को बड़े-बड़े दंड भी मिले हैं; इन्द्र के शरीर में हज़ार व्रण (उपदंश, गर्मी, के रोग के ऐसे) हो गये; चन्द्रमा को क्षय रोग हो गया; ब्रह्मदेव के पहिले जो पाँच सिर थे उन में से एक को रुद्र ने काट डाला, जिस से चार ही रह गये; फिर तुम क्या चीज़ हो ! । पर आध्यात्मिक आधिदैविक दृष्टि से ये सब रूपक भी हैं। यथा अ-हल्या का अर्थ है—बिना हल चली, बिना जोती, भूमि; गो-तम का अर्थ बहुत पशु, गाय

आगे वर्णन किया जाय। क्राफ्ट-एबिङ्ग नामक शास्त्री का लिखा ग्रन्थ 'सैकोपेथिया सेक्सुऐलिस्', इस विषय पर बहुत प्रामाणिक समझा जाता रहा है। जर्मन भाषा से अंग्रेज़ी में इस का अनुवाद, प्रायः चालीस वर्ष हुए, छपा। तब से अन्य कितने ही ग्रन्थ, इस विषय के, नई गवेषणाओं से उपोद्बलित, छपे हैं।

बैल, पालने वाला मनुष्य; इन्द्र का अर्थ विद्युत्; चन्द्र का अर्थ जल; जब 'अहल्या' के पति 'गोतम' कहीं चले गये थे, अपनी पत्नी की फ़िक्र, भूमि की रक्षा, देख-रेख, नहीं कर रहे थे, उस समय बिजली बादल के अनुचित (अतिमात्र) स्पर्श से खेती की भूमि पड़ती हो गई; फिर राम जी ऐसे महापुरुष के पाद-स्पर्श से, उस पर घूम फिर कर देखने से, (जैसा राजा और राज-पुरुषों का धर्म है, कि घूम फिर कर प्रजा का निरीक्षण और कष्ट-निवारण करते रहैं), और उत्तम प्रबंध करने से, वह भूमि, जो पत्थर ऐसी, ऊसर ऐसी, हो गई थी, फिर से जाग उठी, उर्वरा हो गई, जोती-बोई जाने लगी, उस के पुत्र 'शत-ऽानन्द' हुए। राम जी के 'क़दमों की बरकत' से यह सब काम हुआ। "रमन्ते जनाः यस्मिन् स रामः"। तथा बृहस्पति, तारा, चन्द्र, चन्द्र-तारा के पुत्र बुध, पृथ्वी-वराह के पुत्र भौम आदि, ये सब खगोल मे घूमते हुए ब्रह्मांड, ब्रह्म के अण्ड, गोले, ग्रह नक्षत्र आदि, हैं, जिन मे, आपस मे, करोड़ों वर्ष पहिले, (पाश्चात्य ज्योतिष शास्त्र से ऐसी सूचना मिलती है), परस्पर महा उत्पात हो कर, 'संग्रामे तार-कामये', तब वर्तमान सौर सम्प्रदाय की व्यवस्था स्थिर हुई। तथा सरस्वती का अर्थ वाक् है; ब्रह्मा का अर्थ महत्तत्त्व, बुद्धितत्त्व, वाग्मी है; रुद्र का अर्थ क्रोध है; वाक् का दुष्प्रयोग होने से, चारो ओर क्रोध फैलने से, वाग्मी की दुर्दशा होती है। कुमारिल ने, 'तंत्र-वार्त्तिक' नाम के अपने ग्रन्थ मे, एक और अर्थ, इस 'ब्रह्मा-सरस्वती-रुद्र' के रूपक का किया है, यथा, सरस्वती का अर्थ उषा, ब्रह्मा का सूर्य। इत्यादि। इस के विस्तार का यहाँ अवसर नहीं, प्रसंगवशात् केवल सूचना कर दी।

दूसरा निर्वचन 'कंदर्प' का है, 'कं न दर्पयति', किस को दर्पयुक्त, दृप्त, नहीं करता*। कंदर्प का और 'दर्पण', आईना, का साथ है। 'दर्पयति इति दर्पणः', जिस मे स्त्री-पुरुष अपनी सूरत को देख कर सँवारते हैं, और 'दृप्त' होते हैं। कबीर की गीत है, "मुखड़ा क्या देखै दर्पन मे, तेरे दया धरम नहिं तन मे"।

*** वा 'कं, ब्रह्माणं, बृहन्तं, महान्तं अपि, पुरुषं, दर्पयति'; वा 'यं कं अपि, सर्वं अपि जन्तुं, दर्पयति, उन्मादयति'।**

मदन—एक नाम 'मदन' भी है।

क्षुधाक्षामो, जीर्णः, श्रवणरहितः, पुच्छविकलः,

शुनीम् अन्वेति श्वा; हतम् अपि निहंत्येव मदनः। (भर्तृहरि)

कृश, काणा, खञ्ज, बिना कान, बिना पूछ, भुखमरा, जराजीर्ण भी, कुत्ता, 'मदन' से प्रेरित हो कर, मत्त हो कर, कुत्ती के पीछे दौड़ता है। नाम बहुत यथार्थ है। 'मदयति इति मदनः', जो जीव को मत्त, मस्त, कर दे। अभिमान, मान, दर्प, मद—यह सब पर्याय ही हैं। अच्छे आहार से बल, उस से बल-मद। अच्छी धन-सम्पत्ति से धन-मद। ऐसे ही विद्या-मद, जाति-मद, रूप-मद, ऐश्वर्य मद, अधिकार-मद, तपो-मद, आदि। प्रमाद, उन्माद, मादक, प्रमदः, प्रमदा, 'मैड' (पागल), सब नज़दीकी रिश्तादार हैं। अच्छी धन-सम्पत्ति से सुलभ अच्छे आहार से जनित बल का सार, स्त्री-वीर्य, पुरुष-वीर्य; उस से वीर्यमद, काममद, ऐश्वर्यमद। मद्य, मदिरा, मे भी यही धातु है। मद्य के सेवन से भी 'मद' उत्पन्न होता है। मद्य-मांस-मैथुन आदि का, घोर भयङ्कर वाममार्ग के पंच 'म'-कार मे, इसी हेतु से साथ देख पड़ता है। तामस हर्ष के सभी साधन हैं। मद का अर्थ 'हर्ष', 'उद्धतता', तथा 'वीर्य' भी है।* दोनो का आशय 'मद्-भाव', 'अहं-भाव', की वृद्धि है। 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया', 'मेरे सदृश दूसरा कौन है'। फारसी मे भी शेखीबाज आदमी की तस्वीर ऐसे ही लफ्ज़ों से खींची है—"हम् चु मन् दीगरे नीस्त", जो, "कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया" का तर्जुमा ही है। मद की अति वृद्धि से 'उन्माद' हो जाता है।

ब्रह्मचर्य के गुण।

'शुक्र' नाम ब्रह्म का भी है, वीर्य का भी। ब्रह्म का अर्थ अति बृहत्, अनन्त, परमात्मा भी; वेद अर्थात् अनन्त ज्ञान भी; तथा बृंहणशील, वर्धन सन्तानन शक्ति रखने वाला, वीर्य भी। इन तीनो की प्राप्ति, वृद्धि, सञ्चय, करने वाली चर्या का नाम ब्रह्म-चर्य है।

*** हाथी जब 'मस्त', 'मत्त', होता है, तब उस की कनपटियों से 'मद' बहता है; नीम का पेड़ जब बहुत पुष्ट और पुराना हो जाता है, तब उस से 'मद' बहता है, जो दवा के काम मे आता है; इत्यादि।**

पाके रसस्तु द्विविधः प्रोक्तो हि अन्नरसात्मकः;
रससारमयो भागः शुक्रं ब्रह्म सनातनम् ।

स पर्यगात् शुक्रम् अकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं । (उप०)

अन्न के परिपाक से जो रस उत्पन्न होता है, उस का सार, सनातन-ब्रह्म-रूप, ब्रह्मशक्तिमय, शुक्र है । आयुर्वेद का कहना है कि आहार से क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, बन कर, सातवाँ परिणाम वीर्य होता है । आठवाँ परिपाक, वीर्य का परिणाम, तरस्, ओजस्, सहस्, महस्, तेजस्, वर्चस् आदि विविध प्रकार का, पेशियों का, इन्द्रियों का, हृदय का, मन का, अहंभाव का, बुद्धि का, बल होता है । ब्रह्मचर्य की, विद्यार्थिता की, अवस्था मे, शुक्र का, स्वप्नादि मे, स्खलन हो जाय तो,

पुनर्मामैतु इन्द्रियं, पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च,
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थां कल्पन्तामिहैव,

इस मन्त्र का, स्नानादि कर के, मंत्र के शब्दों के अर्थ की भावना के सहित, जप करने से, सब दोष दूर हो जाते हैं, और फिर बल का, वीर्य का, संचय हो जाता है । इसी मन्त्र को बृहदारण्यक उपनिषत् मे और विस्तार से कहा है,

तदभिमृशेद्, अनु वा मंत्रयेत, यन् मेऽद्य रेतः पृथिवीम् अस्कान्त्सीत्, यद् ओषधीः अपि असरद्, यद् अपः, इदम् अहं तद् रेतः आददे, पुनर्माम् ऐतु इन्द्रियं, पुनस्तेजः, पुनर्भगः, पुनरग्निः, धिष्ण्याः यथास्थानं कल्पन्ताम् ।*

ऐसा ध्यान और जप करै कि, जो मेरा वीर्य गिर कर पृथिवी मे, ओषधियों मे, जल मे, मिल गया, उस को मैं फिर अपने चित्त के बल से वापस लेता हूँ; मेरा इन्द्रिय-बल, मेरा तेजस्, मेरा सौभाग्य, मेरे प्राण की गर्मी, और मेरे सब अवयवों मे रहने वाली शक्तियां, अपने अपने

* आश्वलायन-गृह्य-सूत्र मे पाठ यों है—पुनर्मामैतु इन्द्रियं, पुनरायुः, पुनर्भगः; पुनर्द्रविणमैतु मां, पुनर्ब्राह्मणमैतु मां, स्वाहा । इमे ये धिष्ण्यासोऽग्नयो यथास्थानमिह कल्पंतां, वैश्वानरो वावृधानोऽन्तर्यच्छतु मे मनो, हृद्यंतरं ऋतस्य केतुः, स्वाहा । (३.६.६.) अर्थ एक ही; शब्द बदलते हैं ।

उचित स्थान पर वापस आ जावें। स्पष्ट है कि ऐसा ध्यान मन में होने और रहने से वीर्य का अवरोध और संचय अपने शरीर मे होगा। 'इन्द्रियं' शब्द वेद के मंत्र मे वीर्य का उपलक्षण है। क्यों कि, (स्त्री-पुरुष के वैवाहिक धार्मिक अनतिमात्र प्रेममय समाश्लेषण से अन्यत्र), वीर्यस्खलन से, उक्त सब प्रकार के बल का, प्राण का, 'क्षय' होता है; अंतःकरण बहिष्करण मे, चित्त और देह मे, शिथिलता आती है; तथा, वीर्य के संचय से सब इद्रियों मे, सब अवयवों मे, शक्ति और ज्योति बढ़ती है। आयुर्वेद मे निर्णय किया है,

त्रिस्थूणं शरीरं, आहारः निद्रा ब्रह्मचर्यं इति तिस्रः स्थूणाः।

(सुश्रुत, चरक)

शरीर की तीन थूनी हैं, स्तम्भ हैं, शुद्ध आहार, निद्रा, और ब्रह्मचर्य।

'ओजस्' शब्द के दूसरे अर्थ भी सुश्रुत, चरक, शार्ङ्गधर आदि ने कहे हैं; उन के विवरण का यहा प्रयोजन नहीं।

क्षयरोग

यह प्रसिद्ध है कि अति भोग विलास से, बहुत ऐयाशी से, क्षय, तपेदिक़, 'कन्ज़म्शन', की बीमारी हो जाती है; अमीरी की बीमारी है; इसी हेतु से एक नाम इस का 'राजयक्ष्मा' है। पर बहुत ग़रीबी से भी यह हो जाती है। वैद्यक मे बहुत प्रकार के क्षय, और उन के कारण कहे हैं; पर विशेष दृष्टि से, दो प्रकार विशेष हैं, अनुलोम क्षय और प्रतिलोम क्षय। शरीर अथवा बुद्धि के अति व्यायाम, परिश्रम, कर्षण से; तीव्र मानस शोक, क्षोभ, चिन्ता से; स्वास्थ्य की साधारण सामग्री, शुद्ध और पर्याप्त अन्न, जल, वायु, वस्त्र, प्रभृति के अभाव से; सर्दी गर्मी खा जाने से; प्रजागर से; मन्दाग्नि मन्द ज्वर आदि हो कर, यदि अनुलोम क्रम से धातु क्षीण होने लगें, पहिले रस, तब रक्त, तब मांस इत्यादि, अंत मे शुक्र; तो उस को अनुलोम क्षय कहते हैं। अति कामुकता, विषम कामुकता, या अन्य किसी कारण से, वीर्य के क्षय से आरम्भ हो कर रस के क्षय से जो अंत करता है, उस को प्रतिलोम क्षय कहते है।

हस्तमैथुनादि दोष और क्षय रोग।

हस्तमैथुन दोष विद्यार्थियो मे, पूर्व पश्चिम के सभी देशो मे, आज काल बहुत फैला जान पड़ता है। इस के अतिमात्र आचरण से भी विविध प्रकार के अन्य मानस और शारीर रोग तथा क्षयरोग, उत्पन्न होते हैं। पर यदि कभी कदाचित् कोई विद्यार्थी ना-समझी से यह भूल कर ले, तो उस को यह भय न होना चाहिये (न किसी दूसरे को उसे ऐसा भय दिलाना चाहिये) कि कोई अ-मार्जनीय अनाचार या अ-पूरणीय हानि, या अ-निस्तार्य दोष, या घोर पाप हो गया। पुनः शुद्ध रहने से यह कादाचित्क दोष मिट जाता है। वेद-मंत्र के जप और उस के अर्थ के भावन की विधि जो ऊपर कही, उस की उपयोगिता यहा भी है। यदि मंत्र के शब्द न भी कहै, उन के भाव ही का ध्यान करै, तो भी वही फल होगा; ध्यान और भावना ही मुख्य हैं, शब्द गौण हैं। वेदो मे भी, बहुत स्थलों पर, शब्द बदल-बदल कर एक ही अर्थ कहा है।

प्रसगवश, एक व्यावहारिक विषय की चर्चा यहा कर देना उचित जान पड़ता है। यद्यपि यह ठीक है कि,

तान् अकृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन् न विचालयेत् (गीता),

सब बातो की चर्चा सब के सामने, बिना देश-काल-पात्र के विवेक के, करना ठीक नही; और 'काम'-सम्बन्धी दोषो को छिपा जाने की ही चाल समाज मे बहुत देख पड़ती है; पर रोग के छिपाने मे अधिक दोष और आपत्ति है, विशेष कर जब रोग संक्रामक और व्यापक हो रहा है। ऐसी अवस्था के लिये उचित नीति दूसरी है,

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते। (गीता)

ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः। अज्ञानाद् बंधः, ज्ञानान् मोक्षः।

सज् ज्ञान के ऐसा, चित्त और देह को पवित्र शुद्ध करने वाला, दूसरा पदार्थ नही; अज्ञान से तरह तरह के बन्धनो मे, भूलो मे, मनुष्य पड़ जाता है; ज्ञान से ही उन बन्धनो से मुक्त होता है, भूलो से बचता है। बिना ऐसे ज्ञान के, शारीर अथवा मानस दोष से, आधि-व्याधि से, दुराचार अनाचार से, छुटकारा नहीं। इस लिये इस छिपे रोग की, जो समाज

को धुन के ऐसा चाल रहा है, प्रकट परीक्षा होना आवश्यक है। हस्तमैथुन, तथा अन्य प्रकारों का घोरतर कामजनित दूषण, बालक-बालिकाओं का, परस्पर, अथवा युवा और तरुणो और प्रोढ़ों के द्वारा, घरो मे, स्कूलों मे, बहुत सुनने मे आता है*; अखबारो मे भी चर्चा होती रहती है; यहां तक कि बिहार

* यह भी इस स्थान पर लिख देना उचित है कि. पुरुषों द्वारा कन्या-दूषण तो होता ही है, जिस के लिये मनुस्मृति मे, तथा प्रवर्तमान भारतीय (अंग्रेज़ी) दंड-विधान मे, तीक्ष्ण दंड लिखे हैं: बालिकाओं का भी परस्पर दूषण, अगुलिप्रक्षेप आदि से, होता है; तथा, युवती और प्रौढ़ा स्त्रियों द्वारा बालकों का भी दूषण कभी-कभी होता है; वैद्यक के एक ग्रन्थ मे कहा है—निर्लज्जस्त्रीबलाद्भुक्तबालस्याऽक्षिप्तकं भवेत्; "बाल-स्यऽाक्षेपकं", ऐसा भी पाठ कहा जाता है; रोग का रूप प्रायः वैसा कहा जाता है, जैसा अंग्रेजी मे 'स्पाज़्म्स्' या 'कन्वल्शन्स्' का कहा है, (भूकम्प के ऐसा घोर शरीर-कम्प, हृत्कम्प, घबराहट, आँख उलटना, बेहोश हो जाना, आदि), जिस बालक से, किसी निर्लज्ज स्त्री ने, बलात्कार से भोग कर लिया है, उस को प्रायः 'आक्षिप्तक' 'आक्षेपक' रोग हो जाता है। काम-शास्त्रीय विषयों के बडे परिश्रमी अन्वेषक अनुसन्धाता और पंडित, अंग्रेजी विद्वान्, हावेलाक् एलिस, ने, अपने लिखे सात जिल्दों के बृहद् ग्रन्थ, "साइकालोजी आफ् सेक्स" मे, प्रौढ़ा स्त्रियों द्वारा, बालकों के दूषण के अनेक उदाहरण दिये हैं। १९९४वि.मे, दैनिक समाचार पत्रों मे, कलकत्ता हाइकोर्ट का एक फ़ैसला छपा था, जिस से मालूम हुआ कि, एक तेरह चौदह वर्ष की युवती ने, काम के असह्य वेग मे पड़ कर, एक छः वर्ष के बालक पर अत्याचार किया, और उस की जननेन्द्रिय को बहुत चोट पहुँचायी; न्याया-लय से उस युवती को कुछ दंड हुआ। बालक की दुर्दशा, और उस की सारी आयु भर, इस तीक्ष्ण अनुभव की कड़वी याद, का ध्यान कर के, युवती पर क्रोध आता है; मानव-चित्त को प्रकृति ने कैसा दुर्बल, और काम के वेग को कैसा प्रबल, बनाया है; उस युवती के हृदय पर, उस के दुष्कर्म से कचहरी मे प्रख्यापन और दंडन का, कैसा भारी आघात पहुँचा होगा; और, समग्र जीवन भर इस दाग़ को मिटाना उस के लिये असम्भव होगा;

और पंजाब की गवर्मेंटों ने, और उन के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टरों ने, सन् १९३४-'५'-६ मे तहक़ीक़त कराई और इस दुराचार के रोकने के लिये कुछ उपाय सोचा और आदेश जारी किया; पर आदेश के शब्द कुछ ऐसे गोलमोल थे कि विशेष कार्यसाधक नहीं हुए। 'यूथ्स वेल्फ़ेयर असोसियेशन', अर्थात् 'युवा और बालको की रक्षा के लिये समिति', भी पंजाब मे बनी। महात्मा गाधी जी ने भी, सन् १९३५ मे, लाहौर के सनातनधर्म कालेज के आचार्य (प्रिंसिपल) के पत्र के उत्तर मे, इस विषय पर, देश को उपदेश दिया। इन सब तहक़ीक़ातों से विदित हुआ कि, स्थान-स्थान पर, स्वयं अध्यापकों ने ही अपने शिष्यो के साथ दुराचार किया। जिस को रक्षक होना चाहिये वही भक्षक हो गया। इस सब समाज मे मुंह दिखाना कठिन होगा; विवश हो कर वेश्या-वृत्ति का ग्रहण करना होगा; या भिक्षा-वृत्ति ग्रहण कर के तीर्थ-स्थानादिकों की 'बैरागी' आदि मंडलियों के कुपन्थ-सुपन्थ मे अपना तन और मन डुबा देना होगा, या 'मिरिच' (मारिशस) देश के ऐसे टापुओं मे जाना होगा, जहां बहुतेरी अभागिनियों को जाना पड़ता रहा है—यह सब विचार कर के, अपराधिनी युवती के ऊपर, क्रोध के साथ-साथ दया भी होती है; पर अन्त मे यह मानना पडता है कि प्रख्यापन और दंडन न होने से, ये प्रच्छन्न पाप बढ़ते ही जायँगे, तथा प्रकाशन और न्यायोचित निर्णेजन से, चाहे एक व्यक्ति का जीवन खट्टा या ध्वस्त ही हो जाय, पर समाज को लाभ होगा, असह्य काम के वेग को रोकने की प्रवृत्ति अधिक होगी, समाज की हवा भी स्वच्छ होगी। यदि समाज मे शुभ संस्कृत परिष्कृत भाव अधिक व्याप्त हों, तो ऐसे दंडित व्यक्ति से फिर कोई घृणा भी न करै, और उस का जीवन भी परिशुद्ध और निष्कलङ्क हो जाय। मनु की आज्ञा है,

एनस्विभिः अनिर्णिक्तैः नार्थं किंचित् सहाचरेत्;
कृतनिर्णेजनांस्तांस्तु न जुगुप्सेत कर्हिचित् ।

एनस्वी, पातकी, अपराधी का जब तक निर्णेजन, दंड से मार्जन, नहीं हुआ है, तब तक उस से कोई सम्बन्ध न करै; जब पाप का मार्जन, दंड से, हो जाय, तब उस से कोई जुगुप्सा न करै ।

से इतना तो ज़रूर हुआ कि जनता का ध्यान इस ओर फिरा, और हवा बदलने की इच्छा और प्रयत्न शुरू हुए। माता, पिता, गुरु—इन तीन के नाम, वेद मे, मनुस्मृति मे, बहुधा साथ ही लिये जाते हैं। यदि ये ही अपनी संतान की, अपने शिष्य की, हत्या कर डालैं, तो क्या उपाय है?

यस्यांके शिर आधाय, जनः स्वपिति निर्भयः,
स एव तत् शिरः छिंद्यात्, तत्र कं परिदेवयेत्? (म० भा०)

जिस की गोद मे सिर रख कर सोवै, वही उस सिर को काट ले, तो किस पर भरोसा किया जाय, किस से परिदेवना, शिकायत, पुकार, की जाय? पर नहीं, इस का उपाय है, और किया जाना चाहिये, और किया जा सकता है, यदि गृहस्थ और राष्ट्रभृत्य एकमत और सन्नद्ध हो कर यत्न करैं। मुख्य उपाय यह है कि (१) समाज की सारी हवा, जो दुर्भावमय अधर्म्य कामक्रोधादि की इच्छाओं और चेष्टाओं से, विषाक्त हो रही है, वह सत्-शिक्षा, सद्-भाव, सत्-साहित्य के प्रचार से, शोधी और बदली जाय। जैसी नई पुश्त की शिक्षा होगी, वैसी भावी समाज की सभ्यता वा असभ्यता होगी; (२) पाठशाला, मद्रसा, स्कूल, कालिज आदि को सच्चा 'गुरुकुल' बनाया जाय; विवाहित और सन्तान वाले ही स्त्री पुरुष अध्यापक बनाये जायँ; गुरु और गुरुपत्नी और उन के अपत्य और शिष्य साथ रहैं, साथ उठैं बैठैं, पढ़ैं पढ़ावैं, चलैं फिरैं। अपने और दूसरों के अपत्यों को साथ देख कर, सब के लिये, गुरुओं अध्यापकों अध्यापिकाओं के मन मे शुद्ध वात्सल्य के भाव उत्पन्न होंगे, और सब की तुल्य रूप से देख-रेख रक्खेंगे और रक्षा करैंगे; दुष्ट कामुकता के भाव, किसी के लिये, उन के मन मे उदय होने न पावेंगे। इस के विरुद्ध, जवान, अनब्याहे, निस्सन्तान, स्त्री, पुरुष, यदि अध्यापिका और अध्यापक होंगे, तो उन मे दुष्ट भावों का उपजना बहुधा सहज होगा। अवान्तर उपाय यह है कि, जिस अध्यापक के सम्बन्ध मे विशेष शंका और बदनामी उठै, वह बर्खास्त कर दिया जाय; अधिक और साक्षात् प्रमाण आदि की प्रतीक्षा न की जाय; जैसे ज़ाबितै फ़ौजदारी मे नेकचलनी के लिये मुचलका ज़मानत की आज्ञा बदनामी के ही सबूत पर, दे दी जाती है। और भी; प्रत्येक अध्यापक

और अध्यापिका से, छपी शपथ को उच्चस्वर से पढ़वा कर, उस पर हस्ताक्षर करा लिया जाय, कि हम अपने शरीर मे, तथा 'क्लास' (class, वर्ग, दर्जे) के किसी बालक वा बालिका के शरीर मे, किसी प्रकार का कामीय दुराचार वा अशुचिता न होने देंगे। तथा, स्कूल के प्रत्येक कमरे मे प्रतिदिन नहीं तो प्रत्येक सप्ताह मे एक बेर, थोड़ी देर के लिये, मोटे अक्षरों मे लिखा हुआ, यह उपदेश, दीवार पर लटका दिया जाय, जिस मे प्रत्येक बालक बालिका उसको पढ़ ले, कि, 'किसी बालक-बालिका को, अपने या दूसरे की, मलमूत्र की इन्द्रियों से खेलना कदापि नहीं चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से बड़ी बीमारियां हो जाती हैं; लेकिन इन इन्द्रियों को साफ़ रखने का प्रकार अपने माता-पिता से ही सीख लेना चाहिये'। गृहस्थ जनता को, अपनी रक्षा के लिये, इस विषय मे, जैसे अन्य विषयों मे, बल्कि उस से बहुत अधिक, सजग, होशयार, सावधान, रहना चाहिये*। आख कान बंद कर लेना, 'हम तो ऐसी बातें सुनना नहीं चाहते', ऐसी अनास्था अरुचि इस विषय के विचार करने मे दिखाना, मुंह फेर लेना—यह भले आदमियों मे बहुधा देख पड़ता है; पर, इस प्रकार से, बुरे आदमी अधिक धृष्ट होते हैं, उन के दुराचार समाज को अधिकाधिक भ्रष्ट और दुर्बल और निर्मर्याद करते हैं; छिपाने से रोग और बढ़ता ही है। इस लिये, ऐसे दुराचार को रोकने के सद् उपायों पर, सज्जनों मे परस्पर, शांत और दूरदर्शिनी बुद्धि से, विचार होना ही चाहिये।

एक और विषय की चर्चा इसी स्थान पर करना प्रसंग-प्राप्त है। आज काल, अवस्था के परिवर्त्तन से; प्राचीन भारतीय शील, शक्ति, सज्-ज्ञान, स्वयंप्रज्ञता, स्वावलम्ब, स्वातंत्र्य, के ह्रास से; पाश्चात्य शक्तियों और विचारों के आक्रमण से; पुरानी सभी व्यवस्थाओं मर्यादाओं के अस्त-व्यस्त हो जाने से; दूषित ज्ञान, क्षुद्र विचार, क्षुद्र आचरण, मूढ-ग्राह, धर्माभास, मिथ्या-धर्म, परतंत्रता, परावलम्ब, परप्रज्ञता, परानुकारिता, की वृद्धि से; इस भारतवर्ष की जनता के जीवन के सभी पार्श्वों, पहलुओं,

* 'दि सायंस आफ सोशल आर्गेनिजेशन' के पृष्ठ ६०१–६१७ मे, अधिक विस्तार से इन बातों की चर्चा की है।

अंगों मे, उथल-पुथल, अधरोत्तर, समुद्र की लहरों के ऐसा हो रहा है। समाज-निर्माण, मनुष्य मनुष्य के परस्पर अधिकार-कर्त्तव्य, वार्ता-वाणिज्य-रोज़गार, राजनीति-राष्ट्रप्रबन्ध, शिक्षा-रक्षा-भक्षा, की व्यवस्था के; स्त्री-पुरुषके परस्पर कामिक व्यवहार के, विवाह-पद्धति के; भर्त्ता-भार्या, पिता-पुत्र, भर्त्ता-भृत्य के परस्पर सम्बन्ध और व्यवहार के; दाय आदि के; सभी के नियमो मे उलट-फेर हो रहा है। इस के अन्तर्गत बालक-बालिकाओं, कुमार-कुमारियों, किशोर-किशोरियों, युवा-युवतियों, तरुण-तरुणियों का, एक साथ उठ बैठ कर, रह कर, स्कूल कालिजों मे पढ़ना पढ़ाना भी शुरू हो गया है। उस के स्वाभाविक गुणदोषात्मक फल भी होने लगे हैं; अविविवाहित विद्यार्थिनियों को गर्भ रह जाना, और ऐसे गर्भ के पातन का यत्न करना, सुना जाने लगा है। "कामः स्वभाववामः"। बिना अवसर के भी काम उत्पथ ले जाता है; अवसर प्राप्त होने पर, तीक्ष्ण प्रलोभन होने पर, क्या नहीं हो सकता। "कं नहि मदयति मदनः"। अति तपस्वी, अपने शरीर को सुखा डालने वाले, हवा पानी पत्ता पी खा कर रहने वाले, विश्वामित्र पराशर आदि ऋषियों से भी, स्त्रियों के कमलवत् सुललित मुखों को देख कर, मोह मे पड़ कर, चूक बहुतेरी होती रही हैं, साधारण स्त्री पुरुषों की, घी दूध दही उत्तम पुष्टिकर अन्न (और मद्य मांस भी) खाने पीने वालों की, क्या कथा; यदि ऐसे लोग भी इन्द्रिय निग्रह कर सकैं, तो विंध्य पर्वत पौंड़ कर सागर को पार कर ले।

विश्वामित्र-पराशर-प्रभृतयः वात-म्बु पर्ण-ाशनाः;
तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः;
शाल्यन्नं दधिदुग्धगोघृतयुतं ये भुंजते मानवाः,
तेषाम् इन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत्, विंध्यस् तरेत् सागरं। (भर्तृहरि)

मनु की आज्ञा तीव्र है,

स्वभावः एव नारीणां नराणां (च) इह (परस्पर) दूषणम्;
अतो ऽर्थान् न प्रमाद्यंति प्रमदासु विपश्चितः।
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्;
बलीयान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसम् अपि कर्षति।

मानव प्रकृति का यह स्वभाव ही है कि, नर और नारी, सान्निध्य मे, परस्पर, एक दूसरे के चित्त को क्षुब्ध करते हैं, एक दूसरे को दूषित करते हैं; इस लिये माता, बहिन, बेटी के साथ भी अकेले मे न बैठे; इन्द्रियों की सेना बड़ी बलवान् है; विद्वान् को भी कुराह मे ले जाती है*। इस अर्थ से, इस हेतु से, पढ़े-लिखे विपश्चित् विद्वान् पुरुषों पर विशेष कर ज़िम्मादारी है (क्योंकि स्त्रियों को पढ़ाने-लिखाने, विदुषी बनाने, की चाल कम हो गई है) कि वे स्त्रियों की रक्षा करैं, और स्वयं प्रमाद न करैं।

'परस्पर', 'एक दूसरे को', यह शब्द याद रखना चाहिये; प्रायः टीका-कार लोग, मनु के श्लोक का यह अर्थ लगाते हैं कि नारी ही नर को दूषित क्षुब्ध करती हैं; यह ठीक नहीं; जैसे और जितना नारी नर के, वैसे और

* इस श्लोक पर एक वृद्ध अंग्रेज ने मुझ से आश्चर्य प्रकट किया, कि भारतवर्ष के स्त्री-पुरुषों पर, यहाँ के धर्मव्यवस्थापकों, विधान-कारकों, को इतना अविश्वास था। उन से कहना पड़ा कि, प्लूटार्क के लिखे 'ग्रीस और रोम के वीर पुरुषों के चरित्र' मे, तथा फ्रांस, इटली, ईजिप्ट, पेरू, आदि के इतिहास मे, तथा एक मुग़ल बादशाह के सम्बन्ध मे ऐसे पिता-पुत्री भाई-बहन, के दुराचरण के उदाहरण मिलते हैं; तथा आज-काल, इंग्लिस्तान के क़ानून मे, ऐसे पापों के लिये विशेष दंड लिखा है, जिस से सिद्ध होता है, कि ऐसे जुर्म वहां होते हैं; कभी-कभी, सम्वाद-पत्रों मे ऐसों का वृत्तांत छपता भी है; मै ने 'दी सायंस् आफ़ सोशल् आर्गेनिजे-शन्' के पृष्ठ ४६५-४६७ पर कुछ उदाहरण दिये हैं। इस देश मे, अन-[illegible] लोगों मे 'मा' 'बहिन' 'बेटी' की गाली झट मुंह से निकल [illegible] निराधार नहीं हो सकता; [illegible] भी ऐसी

उतना नर भी नारी के, हृदय मे क्षोभ और दोष उत्पन्न करते हैं। नर लेखक प्रायः नारियों को ही गाली देते हैं; यह उन की धृष्टता, निर्लज्जता, घोर कृतघ्नता है, कि अपनी माता को ही बुरा कहते हैं; अपने पिता को, और सब से अधिक अपने को, नहीं। अशिक्षित, अशिष्ट, जीवों की विकृत, असंस्कृत, प्रकृति ऐसी ही होती है, कि दूसरे मे ही दोष देखैं, अपने मे नहीं; ऐसी स्त्रियाँ भी प्रायः जब आपस मे बात करती हैं, तब नरों को ही दोषी बतलाती हैं।

दूसरे स्मृतिकार ने कहा है,

घृतकुम्भसमा नारी, तप्तांगारसमः पुमान्,
तस्मान् नरं च नारीं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः।‡

अविवाहित स्त्री पुरुष को एकत्र रखना, मानो आग और ईंधन को साथ रखना है; ऐसी अवस्था मे 'ब्रह्मचर्य' और सच्चरित्र निबहना प्रायः असम्भव सा है; और प्रायः स्त्री ही की हानि और दुर्दशा होती है।

अब स्त्रियों की शिक्षा की ओर देश का झुकाव बहुत हो रहा है, और ठीक हो रहा है; पर उस के प्रकार पर गृहस्थों को बहुत गम्भीर विचार करना आवश्यक है। जैसा गम्भीर विचार बालकों की रक्षा के लिये करने की आवश्यकता है, जिसका ज़िक्र ऊपर किया गया, उस से भी अधिक इस पर ध्यान देना चाहिये।*

यह जो कहा, इस का आशय यह नहीं है कि स्त्रियों को शिक्षा न दी जाय, या स्त्रियाँ पर्दे मे रक्खी जायँ; कदापि नहीं; शिक्षा देना ही चाहिये, पर्दे की प्रथा हटाना ही चाहिये। कहने का मतलब केवल [illegible]
कि स्त्री और पुरुष के प्राकृ[illegible]

‡ . . [illegible]

जीवन-संग्राम मे, उन के विभिन्न कर्त्तव्यों को; और साथ ही उन के सह-धर्मित्व-सहधर्मिणीत्व को भी; ध्यान मे खूब रख कर, शिक्षा रक्षा आदि का प्रबन्ध, विवेक से, मर्यादा बाँध कर, सुव्यवस्थित किया जाय। महाराष्ट्र, गुर्जर, द्राविड़, आंध्र आदि प्रान्तों और समाजो मे पर्दा की प्रथा नहीं है, पर स्त्रियों और पुरुषो के परस्पर दर्शन सम्भाषण आदि के विषय मे बहुत मर्यादा बाँधी हुई है।

यत्रेच्छेद् विपुलां प्रीतिं, तत्र त्रीणि विवर्जयेत,
विवादं, अर्थसम्बन्धं, परोक्षे दारदर्शनम् ।

जिस से स्नेह प्रीति, घनी मैत्री, चाहो, उस के साथ विवाद, बहस, हुज्जत, मत करो, रुपये पैसे का लेन-देन मत करो, एक दूसरे की अनुपस्थिति मे एक दूसरे की पत्नी से भेंट मुलाक़ात मत करो । यह पुराना श्लोक है, जिस से स्पष्ट निकलता है कि परस्पर दार-दर्शन की प्रथा भारतवर्ष मे सदा रही है, लेकिन पति की मौजूदगी-मे ही, ग़ैरहाज़िरी मे नहीं। तथा, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'; नहीं तो व्यक्ति के, कुल कुटम्ब समाज के, जीवन मे, घोर दोष और उपद्रव उत्पन्न होंगे।

काम-विषयक शिक्षा के प्रकार और प्रचार के सम्बन्ध मे कुछ विचार।

पच्छिम मे, 'काम' सम्बन्धी लेख, ग्रन्थ, 'शास्त्र', अब बहुत, किवा अतिमात्र, बढ़ते जाते हैं; इस सब लिखावट को 'सेक्स लिटरेचर्', और शास्त्र को 'सेक्सुअल् सायंस्', 'सायंस् आफ़ लव्' भी कहते हैं । अंग्रेज़ी मे, उस पदार्थ को, जिसे संस्कृत मे (मैथुन्य)-'काम' कहते हैं, प्रायः 'सेक्सुअल् लव्' कहते हैं। 'ईरॉस्', 'क्यूपिड्', आदि शब्द, इस के पर्याय होते हुए भी, विशेष अर्थों के द्योतक हैं। 'लव्' शब्द की व्युत्पत्ति अंग्रेज़ी कोशों मे नहीं मिलती; बहुत सम्भव है कि 'लुभ्', 'लोभ', का ही रूपान्तर है। बिना विशेषण के, केवल 'लव्' शब्द का अर्थ प्रायः प्रेम, प्रीति, स्नेह, होता है। माता, पिता, पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन, मित्र के स्नेह को भी, तथा पति-पत्नी के स्नेह को भी, 'लव्' कहते हैं। पर स्त्री-पुरुष के,

विशेष मिथुनताकाम को, 'सेक्सुअल्-लव्' कहते हैं । जहाँ ऐकपाक्षिक पापिष्ठ बलात्कार नहीं है; एक ओर दर्प और क्रूरता, और दूसरी ओर भय और दीनता, नहीं है; जहाँ स्त्री-पुरुष को परस्पर 'काम' है; वहाँ शारीर 'रति' भी और मानस 'प्रीति' भी, दोनो ही सम्मिलित रहती हैं; "कामस्य द्वे भार्ये, रतिश्च, प्रीतिश्च,"; तो भी साधारण बोल-चाल मे, 'काम' शब्द से 'रति' की, 'सुरत' की, 'मिथुनता' की, ओर ही अधिक झुकाव माना जाता है। यहाँ एक बात और विचार करने की है; हिन्दी मे 'काम' शब्द का एक अन्य अर्थ प्रचलित है; यह 'काम' शब्द, संस्कृत के 'कर्म' शब्द का प्राकृत अपभ्रंश वा रूपान्तर है, जैसे कार्य' का 'काज', और उस का अर्थ 'कर्म' ही है; हिन्दी बोल-चाल मे, दोनो शब्द 'काम-काज', एक साथ भी कह दिये जाते हैं; इस लिये, यद्यपि प्रसग से उपयुक्त अर्थ का बोध हो ही जाता है, तो भी अच्छा होता यदि कोई दूसरा निर्भ्रान्त असन्दिग्ध शब्द मैथुन-काम के लिये निश्चित कर लिया जा सकता, और उस से अन्य पद, संज्ञा, संज्ञा-विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि, बनाये जा सकते; जैसे अंग्रेजी मे 'सेक्स्-लव्,' 'सेक्सुअल्', 'सेक्सुअली', 'सेक्सुऐलिटी', आदि। 'सेक्स्' शब्द का आगम अंग्रेज़ी मे कहाँ से हुआ, इस का भी पता ठीक नहीं चलता; शब्द-कोशो मे, प्रायः लैटिन भाषा का धातु, 'सिकेरी', काटना, इस का मूल बताया जाता है; यह ठीक जँचता नहीं; अजब नहीं जो सस्कृत 'शक्', 'शक्ति', से ही इस की उत्पत्ति हो; क्योकि सृष्टि करने की पारमात्मिक 'शक्ति' और 'काम' एक ही पदार्थ है। पर, हाँ, जैसे परमात्मा और जीवात्मा मे, तात्त्विक ऐक्य होते हुए भी, प्रातिभासिक भेद है, वैसे ही पारमात्मिक सांकल्पिक सूक्ष्म काम मे और जैवात्मिक शारीर स्थूल काम मे भी बड़ा भेद है। ❀

'सेक्स' शब्द का संस्कृत मे ठीक अनुवाद स्यात् 'लिङ्ग' शब्द हो; दोनो शब्दो के, अपनी-अपनी भाषा मे, प्रयोग की दृष्टि से, यह सम्भावना

❀ अरबी फ़ारसी मे एक प्रसिद्ध शब्द 'शख़्स' है, जिस का अर्थ है मानव–व्यक्ति; अजब नहीं जो, घूम-फिर कर, इस का भी सम्बन्ध 'सेक्स' से हो।

की जा सकती है; यथा, 'मेल-फीमेल-न्यूटर', तीन 'जेन्डर', अंग्रेज़ी व्याकरण ('ग्रामर') मे, और वही तीन 'सेक्स', प्राणिशास्त्र ('बायॉलोजी') मे, माने हैं; और संस्कृत मे भी वही तीन, पुम्-स्त्री-नपुंसक 'लिङ्ग' कहे हैं; परन्तु, जैसे 'सेक्स' से 'सेक्सुअल्' आदि शब्द बनाये गये हैं, और उन का अर्थ 'काम-सम्बन्धी,' 'कामिक', आदि मान लिया गया है, वैसे 'लिङ्ग' शब्द से 'लैङ्गिक' आदि बना कर उन अर्थों मे प्रयोग नहीं हुआ, और अब करना बेढब और भ्रमकारक होगा; और भी, 'लिङ्ग' शब्द का प्रयोग दो विशेष अर्थों मे अधिकतर हो रहा है, एक तो पुरुष की जननेंद्रिय के लिये, (स्त्री की नही), दूसरा सामान्यतः 'लक्षण', 'चिह्न', के लिये। 'लिङ्ग' शब्द की व्युत्पत्ति, (पुनः पुनः आविर्भूय, पुनः पुनः) 'लयं गच्छति इति', कही जाती है; परमात्मा का स्वभाव, उस की त्रिगुणात्मिका प्रकृति, त्रिविधा शक्ति, उस का 'लिङ्ग' है, व्यञ्जक चिह्न वा लक्षण है; और उस प्रकृति मे उदय लय, आविर्भाव-तिरोभाव, व्युत्थान-निरोध, बढ़ना-घटना, फूलना-सूखना, विकसना सिमटना, फैलना-सकुचना, होता रहता है; एवं स्त्रीत्व पुरुषत्व का विशेष शारीर लक्षण, 'लक्ष्यते अनेन इति', उन का 'लिंग' है; पर, जैसा अभी कहा, इस अर्थ मे, यह शब्द, पुरुष के सम्बन्ध मे ही कहा जाता है। शिव के विषय मे पुराणो मे कहा है, "लिंगे, बेरे च, पूज्यते"; अनन्त सृष्टि की शक्ति के आधारभूत लिङ्ग के रूप मे भी, और बेर अर्थात् मुख के रूप मे भी, शिव की पूजा की जाती है; भारतवर्ष मे लिङ्ग के रूप मे ही अधिकतर पूजा देख पड़ती है: किसी तीर्थ स्थान मे (यथा मथुरा के कुछ मन्दिरो मे) 'पञ्च-ब्रह्म' अर्थात् 'पञ्च-मुख' मूर्त्ति के रूप मे, जिन से पाँच महाभूतो की सूचना होती है, यह पूजा की जाती है। जिस स्त्री-योनि के आकार की वेदी के ऊपर बहुधा यह शिवलिङ्ग की मूर्त्ति मंदिरों मे रक्खी रहती है, उस को 'लिङ्ग' नहीं कहते, 'योनि' ही कहते हैं। सर्जन-शक्ति की दृष्टि से, यदि 'सेक्स' शब्द का आगम 'शक्,' 'शक्ति,' रचना कर 'सकना', से हो, तो 'सेक्स' के लिये 'लिङ्ग' शब्द ठीक होता है; पर उक्त अन्य विचारों से यह भ्रम-कारक होगा। ऐसी ही आपत्ति, 'शक्ति' शब्द के सम्बन्ध मे

है, यद्यपि 'शक्ति उपासना' का वाममार्गीय रूप घोर 'कामोपासना' ही है। इस लिये काम' और 'स्मर' शब्दो से ही काम लेना अच्छा होगा; उस मे भी, 'काम', 'कामीय', 'कामिक', 'कामिकता', 'कामुक', 'कामुकता' आदि से अधिक; विशेष कर इस लिये कि 'काम-शास्त्र' शब्द ऋषि-सम्मत है। धर्म-अर्थ-काम का त्रिवर्ग है। समय-समय पर 'मैथुन्य', 'मिथुनीय' 'मैथुनीय' 'मिथुनीयता' आदि से भी कार्य लिया जा सकता है।

काम के दो तीन सस्कृत पर्यायों का उल्लेख किया गया है। (पृ० १७८-१८६, १६२)। अमरकोष आदि मे ये नाम दिये हैं,

मदनो, मन्मथो, मारः, प्रद्युम्नो, मीनकेतनः,
कंदर्पो, दर्पको, ऽनङ्गः, कामः; पञ्चशरः, स्मरः,
शंबरारिर्, मनसिजः, कुसुमेषुर्, अनन्यजः,
पुष्पधन्वा, रतिपतिः, मकरध्वजः, आत्मभूः,
ब्रह्मसूः, विश्वकेतुश्च, वसन्तसखः इत्यपि,
लक्ष्मीसुतः, शिवद्वेषी, विश्वक्सेनात्मजश्च सः।

प्रत्येक नाम का विशेष अर्थ है; आत्मभूः; अनन्यजः, ब्रह्मसूः, लक्ष्मीसुतः, शिवद्वेषी, स्मर आदि, आध्यात्मिक अर्थों से भरे हैं; आत्मा से, परमात्मा से, स्वय अपने आप से उत्पन्न होता है; परमात्मा का रूप ही, शक्ति है; दूसरे किसी से नही जन्मता; 'आत्मा अन्यत्-न्, अनन्य' है, इस ध्यान मे ही 'अन्यत्' को पेदा करने वाला 'अनन्य-भूः' काम छिपा है; "कामस् तदग्रे समवर्त्तताधि" (वेद); ब्रह्म से, परमात्मा से पदा हो कर, ब्रह्म को, वेद को, पैदा करता है; 'काम्यो हि वेदाधिगमः, कर्मयोगश्च वैदिकः" (मनु); लक्ष्मी से, धन-दौलत से, अधिक बढ़ता है; और 'शिव' का, कल्याण का, द्रोही हो जाता है, कुमार्ग मे, पाप की ओर ले जाता है। प्रसक्त प्रयोजन के लिये, 'स्मर' शब्द अच्छा जान पडता है; इस की व्युत्पत्ति, भानु दीक्षित ने, अमरकोष की टीका मे, "स्मरयति, उत्कठयति", लिखी है। ठीक है; पर यों भी अर्थ लगा सकते है—ब्रह्म की, परमात्मा की, 'स्मृति' मे, ज्ञान, ध्यान, संकल्प, अवधारण मे, समस्त संसार, सर्वथा-सर्वदा-सर्वत्र, भूत-भविष्य-वर्त्तमान,

सभी वर्त्तमान है; उस स्मृति, स्मरण, स्वप्न, संकल्पन, का ही नामान्तर 'काम-संकल्प' है*। "सोऽकामयत, बहु स्यां, प्रजायेय इति" (उप०)।

इस निष्क्रम संकल्प, इस नित्य अनवरत ज्ञान, के भीतर, क्रमिक जगत् की क्रम-त्रय-मयी, त्रिकालवती, भूत-भवद्-भविष्य-क्रम-त्रय-मयी त्रिविक्रमी, 'माया'-मयी, उत्पत्ति-स्थिति-संहृति देख पड़ती है।

क्रमत्रय-समाश्रय-व्यतिकरेण, या सन्ततं
क्रम-त्रितय-लङ्घनं विदधती, विभाग्युच्चकैः,
क्रमैकवपुर् अक्रम-प्रकृतिर् एव या शोभते,
करोमि हृदि ताम् अहं भगवतीं परां संविदम्।

(काश्मीर-संस्कृत-सीरीज़ मे छपे 'ज्ञानगर्भ' नामक ग्रन्थ का श्लोक, शिवसूत्रविमर्शिनी नामक ग्रन्थ मे उद्धृत, पृष्ठ २१ पर)

परमात्मस्वरूपिणी, ब्रह्मप्रकृतिस्वरूपिणी, उस संविद् भगवती, चेतना देवी, का हृदय मे ध्यान आवाहन करता हूँ, जिस का प्रत्यक्ष शरीर तो त्रिकाल का क्रम है, किन्तु आभ्यन्तर-तात्त्विक स्वभाव जिस का 'अक्रम' 'क्रमाभाव', 'सकृत्प्रभात', 'एकरस', 'अखंड' है; जो क्रम-त्रय का आसरा ले कर, त्रिविक्रम के त्रिक्रम के विक्रम के द्वारा, उन का विविध प्रकार का व्यतिकर, मिश्रण, युग के भीतर युग, कल्प के बाहर कल्प, तथा व्यतिकर, विरोध, खंडन भी, करती है: और जो परमार्थतः सतत, सदा, तीनो क्रमो का उलङ्घन किये हुए, उन के पार, एक रूप से स्थित रहती है।

परमार्थ तात्विक दृष्टि से, परमात्मा के 'काम-संकल्प-स्मर' का यह स्वरूप है।

संसारार्थ व्यावहारिक दृष्टि से, संतान की उत्पत्ति करने वाला, इच्छा-

*** प्रसिद्ध जर्मन 'फ़िलासोफर', दार्शनिक, शोपेनहावर ने 'विल' और 'आइडीया' (वा 'इमैजिनेशन') शब्दों से इस भाव का अनुवाद किया है; उपनिषदों के असमीचीन विकलांग अनुवादों को ही, जिन्हें फ़रांसीसी सज्जन ऐङ्क्वेटिल् डु-पेरों ने लैटिन भाषा मे पहिले पहिल किया, पढ़ कर, शोपेनहावर उन का नितान्त भक्त और मुक्तकण्ठ स्तोता हो गया था; यदि मूल वैदिक उरुस्वन उरुगार्थ गुर्वर्थ शब्दों को पढ समझ सकता तो क्या कहना था।**

रूप काम-संकल्पऽात्मक भाव, 'कान्त-कान्ता-स्मरणेन उद्दीप्यते', कामित स्त्री वा पुरुष के स्मरण से, मानस ध्यान से, जागता है, इस लिये 'स्मर' कहाता है।

> ध्यायतो विषयान् (पुंसः संगस्तेषूपजायते,
> संगात्)संजायते 'कामः', (कामात् क्रोधोऽभिजायते)। (गीता)

> केचित् कर्म वदंति एनं, स्वभावम् इतरे जनाः,
> एके कालं, परे दैवं, पुंसः 'कामम्' उताऽपरे।
> (भागवत, स्कं० ४, अ० ६)

> ज्ञानं, मायां, प्रधानं च, प्रकृतिं, शक्तिम् अपि अजां,
> अविद्याम्, इतरे प्राहुर्वेदतत्त्वार्थचिंतकाः ।
> (देवी भागवत, स्कं० ८, अ० ३२)

> धर्ममूलो-ऽर्थः इत्युक्तः, कामो-ऽर्थफलम् उच्यते,
> संकल्पमूलास्ते सर्वे, संकल्पो विषयाऽात्मकः।
> (महाभारत, शांति, अ० १२३)*

विषयों का ध्यान स्मरण करने से उन की ओर इच्छात्मक, कामना-रूप, 'काम' पैदा होता है; सनातन संकल्प ही का नामान्तर रूपान्तर 'काम' है; जगत् का पति, अनिर्देश्य, सर्वग, सर्वव्यापी, सर्वत्रगामी, सर्वभावन, सब हृदयो मे सोने जागने वाला, रुद्र-क्रोध का जनक भी और जेठा भाई भी, 'काम' है; इसी को कोई स्वभाव कहते हैं, कोई दैव, कोई कर्म; काल, ज्ञान, अज्ञान, माया, प्रधान, प्रकृति, शक्ति, अजा, अविद्या, सब इसी 'काम' के आकारो प्रकारो के नाम हैं; मानव जाति के लिये, धर्म का फल अर्थ, अर्थ का फल 'काम'है; सब का मूल 'संकल्प' है; संकल्पन, 'विषया' का होता है।

'काम' की, 'स्मर' की, ऐसी महिमा है, यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय। यदि केवल अधिभूत भाव से देखा बर्त्ता जाय, तो, इस के विपरीत, वैसी ही असीम इस की क्षुद्रता, पशुता, है। यदि अधिदेव भाव

* पूर्व पृ० १८१ मे इस विषय पर अपर (और) श्लोक भी दिये हैं।

से, ज्ञान-विवेक विचार से, अध्यात्म अधिभूत का समन्वय कर के, इस का आराधन किया जाय, तो,

धर्माऽनपेतः कामोऽस्मि भूतानां, भरतर्षभ ! (गीता)

ऐसे धर्म सम्मत काम की हो उचित शिक्षा का प्रचार करना आवश्यक है, क्योंकि वह, धार्मिक गार्हस्थ्य द्वारा, उत्तमोत्तम सांसारिक ऐहिक और आमुष्मिक दोनो सुखो का साधक है; तथा धर्म-रहित धर्म-विरुद्ध काम वैसा ही दोनो सुखों का बाधक और नरक का प्रापक है । छोटे-बड़े शिष्यो के वयस् की अपेक्षा से, प्रकार मे भेद होना भी आवश्यक है । यह प्रकार क्या है, इस पर बहुत विचार, अनुभवी वृद्धों कों करना चाहिये ।❀

ऊपर लिखा है कि काम-सम्बन्धी चर्चा, बिना देश-काल-पात्र के विवेक के, करने मे बहुत दोष हैं । 'उभयतः पाशा-रज्जुः', 'खाय तो पछताय, न खाय तो पछताय' । यह कथा समस्त 'ससार'-पदार्थ ही की है । 'दुनिया झूठी है', 'माया का जंजाल है'—यह अन्त मे सभी को स्वभावतः कम-बेश मालूम हो ही जाता है, वेदान्त के पारंगत को भी, और अनपढ़ को भी; 'संसरण' का, जगत् के विस्तार का, प्राणियों के वंशानुवंश सन्तान का, भोग-विलास का, धर्म और अर्थ का, मूल हेतु काम ही है; सामान्यार्थ 'अविद्या', 'इच्छा', 'वासना', 'माया-शक्ति', के रूप मे भी, तथा विशेषार्थ, स्त्री-पुमान् की परस्पर मिथुनता, संग, साथ, सुरत, व्यवाय, की इच्छा के अर्थ, और अधिक तीक्ष्ण रूप, मे भी । पहिले (पृष्ठ १८३ पर) कह आये हैं, कि वैदिक कर्मकाण्ड का भी प्रयोजक हेतु काम ही है; तथा इस के दोष भी स्पष्ट हैं; अति काम से अति सन्तान-वृद्धि, तथा काम की सेना, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मद, मत्सर आदि, की अति वृद्धि, और तब परस्पर बड़े बड़े युद्ध और संहार ।

ऐसे ही, स्त्री-पुं-काम-सम्बन्धी शिक्षा, अल्प-वयस्को, कम-उमरों, को

❀ **अपने मत की सूचना, इस अध्याय के अन्त मे, परिशिष्ट मे, की जायगी ।**

देने मे भी, न देने मे भी, उभयतो दोष हैं। वयस्थो, युवा, युवतियों, विवाहोन्मुखों, के लिए तो ऋषियो ने काम-शास्त्र बना दिया है ही। छोटे लड़के व लड़कियो के सम्बन्ध मे संशय होता है। एक ओर यह आपत्ति है कि, इस विषय का सर्वथा ज्ञान न होने से, बच्चे, बच्ची, कुमार, कुमारी, युवा, युवती, बड़ी-बड़ी भूल-चूक मे पड़ जाते हैं, क्रूर पापिष्ठो के शिकार बन जाते हैं, और सारी उमर शरीर मे रोग, चित्त मे विकार, हृदय मे धँसा छिपा शल्य, भोगते हैं; अथवा नितान्त दुःशील, धृष्ट, बेहया, कामुक हो जाते हैं; दूसरी ओर यह कठिनाई है कि, शिक्षा देने की नीयत से ही, अयान (अन्‌जान, अज्ञान) भोले, मासूम, कम-उमरो से इस विषय की चर्चा की जाती है, तो उन के मन मे क्षोभ उत्पन्न होता है; बालको की अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार, और शिक्षा के प्रकार के अनुसार, कभी किसी को भय बढ़ता है, कभी किसी को कुतूहल बढ़ता है, अधिक जानने की, और अपरोक्ष अनुभव कर के जानने की, इच्छा उत्पन्न होती है; और इस रीति से भी वे अनाचार मे पड़ जाते हैं।

यूरोप अमेरिका मे इस पर बहुत क्षुण्ण-क्षोद हो रहा है, कि अल्पवयस्कों को इस विषय पर कुछ भी शिक्षा देना, या न देना; यदि देना तो किस प्रकार से, किस हद तक। संसार की द्वंद्वमयता के कारण, गुण-दोष, पुण्य-पाप, उजेला-अंधेरा, सब जगह परस्पर लगे, क्या एक दूसरे के भीतर पैवस्त, हैं; वही वस्तु, वही क्रिया, एक अवस्था मे लाभदायक, दूसरी मे हानिकारक, होती है; कोई ऐसा प्रकार नहीं जो सर्वथा शुद्ध केवल गुणमय हो, वा निरा केवल दोषमय; देश-काल-पात्र-अवस्था-सम्पत्काल-आपत्काल आदि देख कर, जिस प्रकार मे गुण अधिक, दोष कम, जान पड़े, वही पकड़ना चाहिये।

पात्र-कर्म-विशेषेण, देश-कालौ अवेक्ष्य च,
स एव धर्मः, सोऽधर्मः; धर्मो हि आवस्थिकः स्मृतः।
अन्यो धर्मः समस्थस्य, विषमस्थस्य च-अपरः।
नहि कश्चिद् उपायोऽस्ति गुणवान् एव केवलं,
न च दोषमयो वापि, तस्माद् ग्राह्यो गुणाधिकः।

(म० भा०, शांति)

भारतवर्ष की अवस्था को भी देखना चाहिये । होली पर, दो तीन दिन के लिए, सब मर्यादा छोड़ कर, अश्लील शब्द और गीत, गली-गली पुकारे और गाये जाते हैं । छोटे छोटे बच्चे तक सुनते और गाते हैं । मा, बहिन, बेटी की गालियाँ, और जननेन्द्रिय सम्बन्धी अभद्र शब्द, अनपढ़ लोगों के मुँह से, और कभी-कभी पढ़े लिखे लोगों के भी मुँह से, गलियों मे, सड़कों पर, गाँवों और शहरों मे, बच्चों, जवानों, प्रौढ़ों, बूढ़ों के मुँह से, अक्सर सुन पड़ते हैं । चिड़ियों की, मुर्गों की, तथा अन्य पशुओं की, कुत्तों, वानरों, गाय-बैल, बकरे-बकरी, गधा-गधी, की, मैथुन-क्रिया, गाँवों मे, शहरों मे, बच्चे जवान स्त्री पुरुष सभी को बहुधा देख पड़ती है । काशी ऐसे बड़े 'तीर्थ' स्थान मे, मकानो और बाग़ों की दीवारों पर, गज़-गज़ भर लंम्बे चौड़े हरफ़ों मे, 'नामर्दी की दवा' के इश्तिहार नज़र आते हैं । बच्चों को कुतूहल स्वाभाविक होता है, प्रश्न करते हैं, 'नया बच्चा कहाँ से आया ?', 'ब्याह क्यों होता है ?' 'बड़ी बहिन, ब्याह होने पर, दूसरे घर क्यों चली गई ?', 'बड़े भाई का ब्याह हो कर नई स्त्री इस घर मे आ कर क्यों रहने लगी', 'यह लोग अलग कोठरी मे क्यों सोते हैं ?', इत्यादि; उन के वृद्ध गुरुजन, विशेष कर माता-पिता, जिन के और सन्तान के बीच पराकाष्ठा का प्रेम और विश्वास होना चाहिये (—और माता और उस की सन्तान के बीच मे प्रायः होता भी है, जिस ने नौ महीने तक बच्चे को अपने गर्भ के भीतर रक्खा है, और प्रसब के बाद भी, पाँच-पाँच सात-सात वर्ष तक, उसका एक-एक अंग धोया पोंछा है, उसको स्तन से दूध पिलाया है, उस से क्या दुराव बराव हो सकता है, कौन बात छिपाई जा सकती है या छिपानी चाहिये ?—), जिन्हीं को उन का उत्तर, शिक्षा के रूप मे, उत्तम रीति से, देना चाहिये, वे स्वयं शर्माते हैं, उचित उत्तर जानते नहीं, देते नहीं, बहाने कर देते हैं, भुलावा देने का, बहला देने का, यत्न करते हैं । बच्चे समझ जाते हैं कि झुठका दिया, दूसरे सयानो (सज्ञानो) से पूछते हैं, जो बहुधा अनुचित उत्तर देते हैं, कुचाल सिखा देते हैं, उन का चारित्र्य भ्रष्ट कर देते हैं ।* हिन्दी मे

* परिशिष्ट १ देखिये ।

'कोक-शास्त्र' आदि के नाम से ग्रन्थ, अब, आम तौर से छप और बिक रहे हैं, जो बहुतायत से खरीदे और पढ़े जाते हैं, और जिन मे रति-क्रिया का ही वर्णन अधिक रहता है, धर्म्य-काम-विषयक सत्कुलीन सर्वाङ्गीण शिक्षा नही; साहित्य मे भी स्त्रियो का 'नख-सिख' वर्णन और अनावृत लेख बहुत होता रहा है; 'साइनेमा' मे नग्नप्राय स्त्रियो पुरुषों का प्रदर्शन, पश्चिमी देशो के अनुकरण से, बहुत होने लगा है। पचास साठ बरस पहिले, यूरोपीय विद्वान्, और अंग्रेज़ी पढ़े भारतीय, मध्यकालीन सस्कृत और हिन्दी काव्यो मे ऐसे 'नख-सिख' वर्णन को बड़ी घृणा से देखते थे। पर, यूरोप अमेरिका मे तो अब बिलकुल हवा बदली है; यहाँ तक कि कुछ वर्षों से, 'न्यूडिज़्म' (nudism) अर्थात् 'नग्नता' का एक नया पन्थ-सा चला है, जिस के अनुयायी स्त्री और पुरुष, 'मादरजाद', नवजात, बच्चे के ऐसे सर्वथा वस्त्र-रहित, एक दूसरे के साथ उठते, बैठते, नहाते, हँसते, बोलते, खेलते, दौड़ते हैं; 'प्रूडरी', अति लज्जा, की आत्यतिक कोटि से जो हटे, तो पशुवत् नग्नता की नितान्त निस्त्रपता, बेशर्मी, की दूसरी आत्यंन्तिक कोटि से जा सटे; भारत मे भी, हरद्वार, मथुरा, आदि तीर्थ स्थानो मे, स्त्रियाँ (पुरुष नहीं) सब वस्त्र उतार कर गंगा यमुना मे नहाती देख पड़ती हैं; समाचार पत्रों मे, एक ओर कामवर्धक, नग्नप्राय स्त्री पुरुष के, चित्र, और वृष्य, वाजीकरण, औषधो के इश्तिहार, दूसरी ओर गुप्त रोगों की चिकित्सा के विज्ञापन, बहुत छपते रहते हैं, जिन औषधों के सेवन से दुराचार और रोग प्रायः बढ़ते ही जाते हैं, अनगिनत अल्पवयस्कों का जीवन नष्ट-भ्रष्ट होता है, क्रूर लोभी विज्ञापको विक्रेताओ की जेबे भरती हैं। साथ ही, अजीर्ण, मंदाग्नि, ज़ोफ-मेदा, की दवाओं के इश्तिहार बहुत रहते हैं; यूरोप अमेरिका के दैनिक साप्ताहिक मासिक पत्रो मे भी, इन्हीं दो से, उपस्थ और उदर से, सम्बन्ध रखने वाली दवाओ के, तरह तरह से, नाम और रूप बदल बदल कर, बहुतेरे विज्ञापन, इश्तिहार, 'ऐडवर्टिज़मेंट', रहते हैं। निष्कर्ष यह कि, इन विज्ञापनो से भी पुनर्वार यही सिद्ध होता है कि, मनुष्यो की प्रायः नव्वे फ़ी सदी बीमारियाँ, जिह्वा और उपस्थ के दुरुपयोग से ही होती हैं, और इन का दुरुपयोग बहुत हो रहा है।

यह दशा भारतवर्ष की है।

पश्चिम के देशों की हालत का नमूना दिखाने के लिए, अमेरिका के 'करेंट हिस्टरी' नामक मासिक पत्र के, सन् १९३७ ई० के दिसम्बर महीने के अङ्क मे छपे हुए, डाक्टर टोलनाइ के लेख से कुछ अंश का उद्धरण यहाँ पर किया जाता है।

"यूनाइटेड स्टेट्स आफ़ अमेरिका मे, (जिस की आबादी अब क़रीब बारह करोर के है), प्रायः सौ मे दस व्यक्तियो (स्त्रियों,पुरुषों) को 'सिफ़िलिस' ('उपदंश', 'गर्मी'), और बीस फ़ी सदी को 'गोनार्हिया' (सोज़ाक) का मर्ज़ है, यानी कुल आबादी मे से प्रायः तीन करोर से अधिक ऐसे रोगी है। पाँच लाख नये रोगी हर साल होते हैं; अकेले 'न्यू-यार्क' महानगर मे (जिस की आबादी क़रीब सत्तर लाख है) हर हफ्ते मे एक हज़ार। पागलख़ानो मे पन्द्रह फ़ी सदी 'सिफिलिस'-जनित 'पारेसिस' (एक प्रकार के पक्षाघात, लक़वा, फ़ालिज) से पीड़ित हैं। अन्धों मे पन्द्रह फ़ी सदी, और दुर्बल-नेत्रों मे चालीस फ़ी सदी, का कारण भी 'सिफ़िलिस' है। जन्मान्ध बच्चो मे साठ फ़ी सदी की अन्धता का कारण 'गोनार्हिया' है। प्रायः दो लाख हर साल 'सिफ़िलिस' से मर जाते हैं। एक सामाजिक कार्यकर्त्ता ने अट्ठासी कुटुम्ब जाँचे, तो केवल आठ कुलों मे 'सिफ़िलिस' नहीं पाया। कितने ही पुरुष नामर्द और कितनी ही स्त्रियाँ वन्ध्या, इन रोगों के कारण हो जाती हैं। युनाइटेड् स्टेट्स की गवर्मेंट का दस करोर 'डालर', अर्थात् तीस करोर रुपया (१ डालर = ३ रुपया) सालाना ऐसे रोगियों के इलाज पर ख़र्च होता है; इस के अलावा साढ़े सात करोर रुपया, इन रोगों से अपाहज हो गये रोगियों को ज़िन्दा रखने वाली शालाओं और संस्थाओं पर; तथा पचीस करोर रुपया सालाना इन मरज़ों मे गिरिफ़्तार हुए मज़दूर, काम न करने के दिनो की मज़दूरी के रूप मे, खो देते हैं। जो डाक्टर इन मरज़ों का ख़ास इलाज करते हैं, वे प्रायः घृणा की निगाह से समाज मे देखे जाते हैं, (इस हेतु से कि, घृणा का रूप ला कर, रूप लाने वाला सब को यह जताना चाहता है कि, मै इन सब गन्दी बातों से बिलकुल पाक व साफ़

हूँ)। ऐसे डाक्टर अक्सर सचमुच ठग भी होते हैं; एक वर्ष भर दवा करने के लिए एक मरीज़ से प्रायः पाँच सौ से साढ़े सात सौ डालर लेते हैं; जो अपने को 'स्पेशलिस्ट', विशेषज्ञ, सिद्धहस्त, कहते हैं, वे तो अमीरों का ही इलाज करते हैं, और पन्द्रह सौ से दो हज़ार तक डालर माँगते हैं। क़रीब डेढ़ अरब, यानी डेढ़ सौ करोड़, रुपये की 'पेटेन्ट' दवा, जिनमे अधिकांश इन्हीं रोगों की होती हैं, हर साल बिक जाती हैं। बहुत से डाक्टर अपने दवाख़ानों मे मुफ्त सलाह देने की लालच पहिले देते हैं; पीछे, जब रोगी उन के चंगुल मे फँस गया तब, सैकड़ों रुपये ऐंठते हैं। साठ हज़ार 'प्राइवेट', निजी, दवाख़ाने इस प्रकार के हैं, और इन मे प्रायः चार लाख रोगी प्रति वर्ष फँस कर अपना धन भी और रहा सहा स्वास्थ्य भी गँवाते हैं। डाक्टरों और नक़ली चिकित्सकों का गुट-सा बना हुआ है। इलाज के लिए बहुत सूद पर क़र्ज़ दिला कर भी रोगी ठगे जाते हैं। माता-पिता के इन रोगों से रुग्ण होने से, पचीस हज़ार बच्चे प्रति वर्ष गर्भ मे ही मर जाते हैं; सौ पीछे दो बच्चों को जन्म से ही ये रोग रहते हैं; न्यूयार्क के स्कूलों मे प्रति वर्ष प्रायः छः सौ लड़के इन रोगों से पीड़ित होने के कारण, संक्रमण (छूत) के भय से, स्कूलों से अलग कर दिये जाते हैं। वेश्याओं द्वारा ये रोग बहुत फैलते हैं; यह कहना सम्भव नहीं कि न्यू-यार्क नगर मे (जिस की आबादी, जैसा पहिले लिखा, क़रीब सत्तर लाख है) कितनी पण्य-स्त्री हैं, (एक लाख से अधिक का अनुमान ग्रन्थकार अन्वेषकों ने किया है; लन्दन, पैरिस, बर्लिन, वियेना, शिकागो, टोकियो, आदि महानगरों और 'राजधानियों' की, सब की ऐसी ही कथा है); सन् १६३४ मे साढ़े तीन हज़ार ('कसब' से, शरीर बेंचने से, जीविका करने वाली) 'कसबी' स्त्रियों पर, उन के पेशे सम्बन्धी क़ानूनो के खिलाफ़ काम करने के लिए, मुक़द्दमे चलाये गये; इन मे से अस्सी फ़ी सदी को संक्रामक गुप्त रोग थे; किसी किसी ने एक एक दिन मे बीस-बीस पुरुषों के साथ संगम किया था। 'चकला' ('चक्र', 'भैरवी चक्र', 'कसबख़ाना', अंग्रेज़ी मे 'ब्राथेल') चलाने वालों का प्रायः ख़ास-ख़ास डाक्टरों से साझा-समझौता रहता है। बहुत महँगा

होने से, इलाज, पूरा-पूरा, बहुतेरे रोगी नहीं करा पाते। या डाक्टर बनने वाले झूठे ठगों के हाथ मे पड़ कर अधिक क्लेश भोगते हैं। ऐसे रोगों के सम्बन्ध मे शर्म करना और छिपाना लुकाना स्वाभाविक है, इसी से लुके छिपे डाक्टरों या मिथ्या डाक्टरों के हाथों मे बहुधा रोगी पड़ जाते हैं। आरम्भ जैसे भी हुआ हो, पर अब यह दशा है कि, इन रोगों का संक्रमण, सौ पीछे पच्चीस तो वेश्याओं, पण्यस्त्रियों, कसबियों, के साथ संगम से होता है, पचास फ़ी सदी विवाहों के द्वारा होता है, जिन मे, अविवाहित अवस्था मे दुराचार के कारण रुग्ण हुई स्त्री ने नीरोग पुरुष से, वा ऐसे ही रुग्ण पुरुष ने नीरोग स्त्री से, विवाह किया है; और बाक़ी पच्चीस फी सदी, विवाहित अवस्था मे परदारगमन परपतिगमन से होता है।"*

उस शुद्ध सच्चरित्र निर्दोष स्त्री, वा पुरुष, के चित्त को कैसा भारी

* यह उद्धरण, दिसम्बर १९३७ के, 'करेंट हिस्टरी' के; अंक से लिया गया। इसके सात वर्ष बाद, 'रीडर्स डाइजेस्ट' (न्यू-यार्क) के जनवरी १९४५ के अङ्क मे, द्वितीय विश्व-युद्ध के अनुभवों के बाद, वेनी-रियल डिसीज़—फ़ार फ्रॉम बीटन' शीर्षक लेख छपा है। निष्कर्ष उस का यही है कि, वैज्ञानिक डाक्टरों ने हज़ार-हज़ार जतन किये, नई-नई दवाएं निकालीं, जो रोगियों को निश्चयेन अच्छा कर भी देती हैं, तौ भी रोगियों की संख्या मे कमी नहीं होती, गुह्य रोगों की चौतरफ़ा बाढ़ नहीं ही थमती, नित्य नये आदमी रोगी होते हैं, और पुराने अच्छे हुए रोगी भी फिर-फिर से उन्हीं रोगों से रोगी होते हैं, और कारण इसका यह है कि व्यभिचार दुराचार रुकता नहीं, बढ़ता ही जाता है। निचोड़ तो वही पुरानी बात है, "कारणं चिकित्स्यं, न तु कार्यं"; रोग के कारण को दूर करो; जब तक कारण नहीं हटेगा, तब तक उसका कार्य-रूप रोग नहीं घटेगा। उक्त लेख का वैज्ञानिक लेखक अन्त मे यही लिखता है कि जब तक समाज मे, उत्तम शिक्षा के विविध प्रकारों से, सदाचार नहीं फैलाया जायगा' व्यभिचार दुराचार नहीं मिटाया जायगा, तब तक इन सर्वनाशक रोगों से छुटकारा नहीं होने का।

आघात पहुँचेगा, जिस ने सरल सप्रेम सविश्वास हृदय से विवाह किया, और फिर जाना कि ऐसी घोर क्रूर वञ्चना उस की की गई; कैसी मानभंग की, दैन्य की, क्रोध की, तरंगैं उसके हृदय मे उटेंगी, और उस के सारे जीवन को विकारमय, विषमय कर, देंगी। जिस समाज मे ऐसा दुराचरण, वञ्चन, और तज्जनक व तज्जनित चित्तविकरण, और्व अग्नि के ऐसा, बढ़ता फैलता जायगा, वह समाज क्यों न नरक मे गिरैगा। हावेलाक एलिस ने अपने विशाल ग्रन्थ मे, एक स्थल पर लिखा है कि, एक ऐसी वञ्चित स्त्री को इतना क्रोध, पुरुष जाति मात्र पर, हुआ, उस ने सभी पुरुषों को ऐसा शठ धूर्त्त समझ लिया, कि छब्बीस पुरुषों को लुभा बहँका कर उन के शरीर मे गुह्य रोग का संक्रमण उस ने कर दिया। ऐसी ही वञ्चित पुरुषों की कथाएँ हैं। पाप की परम्परा, पाप का वंश, बढ़ता ही जाता है; उस की प्रतिक्रिया का उपाय एक मात्र यही है कि पुण्य की परम्परा, पुण्य का वंश, बढ़ाया जाय, और वंचितों के चित्त की दहकती आग का शमन, कर्म की गति, प्रारब्ध का दोष, क्षमा का असीम चित्तशोधक पापक्षालक प्रभाव, समझा कर, किया जाय।

'आसुरी सम्पत्, शिष्टता, सभ्यता' की तस्वीर जो ऊपर 'करेंट हिस्टरी' के लेख मे मिलती है, उस से अधिक घोर चित्रण, गीता मे भी नहीं है। यह दशा युनाइटेड् स्टेट्स आफ़ अमेरिका की है, जो अपने को शिष्टता, सभ्यता की चोटी पर चढ़ा हुआ, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी से भी आगे बढ़ा हुआ, मानता है। और बाह्य सामग्री, कल-कारखाने, धन दौलत, ऐश इश्रत, वायुयान, जलयान, स्थलयान, बाष्पयान, तैलयान, विद्युद्यान, तडिद् यन्त्र, शतभौम (सौ-मंज़िले) भवन, आदि की दृष्टि से, है भी।

'जननेन्द्रिय' के इस दुरुपयोग के साथ 'रसनेन्द्रिय' की करतूत को भी याद रखना चाहिये। अकेले ब्रिटेन की, प्रायः साढ़े चार करोर की, आबादी मे, प्रायः साढ़े तीन सौ करोर रुपये की 'शराब' प्रति वर्ष उठ जाती है; 'कबाब' की भी इसी अनुपात से मात्रा है; करोरों पशु-पक्षियों की, मनुष्यों के आहारार्थ, प्रतिदिन हिंसा होती है; कुम्भकर्ण के रूपक

से, वाल्मीकि जी ने, लङ्का की बस्ती का दैनंदिन मद्य-मांस का भोजन पान दिखाया है; आजकाल के पाश्चात्य नगरों की चर्या के आगे, वह पसँगे मे धूल है; ऐसे पापमय राजस आहार से, क्रूर काम-क्रोध के भाव बढ़ कर, मनुष्यों का परस्पर संहार, महायुद्धों मे, होना अनिवार्य ही है। जज लिंड्से आदि अन्य लेखकों ने लिखा है कि युनाइटेड् स्टेट्स आफ़ अमेरिका मे प्रायः बीस लाख गर्भपात प्रति वर्ष कराये जाते हैं। यूरोप के सभी देशों की कम-बेश ऐसी ही दशा है। एक जर्मन लेखक, ऐवान ब्लाक,❀ ने लिखा है कि जर्मनी मे (जिस की आबादी, २०वीं शत. के आरंभ मे ग्रन्थ लिखने के समय, प्रायः छः करोर थी), प्रति वर्ष प्रायः बीस लाख बच्चे 'कानीन' अर्थात् अविवाहिता 'कन्याओं' से, पैदा होते हैं। जर्मनी मे 'मुटर-शुट्ज़ बुंड्ज़', अविवाहिता माताओं के और उन के बच्चों के पालने के लिए संस्थाएँ, क़ायम हुई हैं। ब्रिटेन मे भी 'आर्फ़न् होम्स्', यतीमख़ाने, बने हैं, जहाँ विवाह-बाह्य बच्चों को लोग छिपा कर छोड़ जाते हैं। एक दृष्टि से पुण्य-कार्य है, उचित है; दूसरी दृष्टि से, दुराचार व्यभिचार के पाप को बढ़ाता है, क्योंकि उस के दुष्फल से जो दण्डरूप क्लेश होता, उस के भय को, क्रूर दुराचारी व्यक्तियों के हृदय से मिटाता है, और सारे समाज पर, अथवा यों कहिये कि उस के दयालु सदाचारी अंश पर, जार-ज संतान के भरण पोषण के भार को फैलाता है; तथा, यतः अविवाहित, दुर्भाव से भावित, स्त्री-पुरुष से उत्पन्न संतान भी बहुधा दुष्प्रकृतिक होती है, ऐसे संतान की संख्या को, और दूषित प्रकृति की मात्रा को, समाज मे बढ़ाता है; जैसे भारत मे दान की महिमा गाते गाते, सारा देश भिखमंगों से भर गया, और बहुत आव-

❀ 'दि सेक्सुअल् लाइफ़् ऑफ़् अवर टाइम' नाम के ग्रन्थ मे। इस मे विशेषकर जर्मनी की अवस्था का वर्णन है, और इस का अनुवाद अंग्रेज़ी भाषा मे हुआ है। इसी बृहल्लेखक का ऐसा ही ग्रन्थ, इससे अधिक विशाल, ब्रिटेन के कामीय जीवन और कृतियों का वर्णन करता है, पर जहां तक मुझे मालूम है, उस का अंग्रेज़ी अनुवाद छपने नहीं पाया था; इधर बीस-पच्चीस वर्ष के अन्दर छपा हो तो ख़बर नहीं।

श्यक हो गया कि, संतोष करने की, दान न माँगने की, और सुपात्र परिश्रमी सुकार्यकर्त्ता को ही दान कहिये, हक़ या मुआविज़ा या उजरत कहिये, भृति वा अर्घ कहिये, देने की, महिमा सदा गाई और सुनाई जाय ।

यह बात देखने को है, कि रूस (रशिया) देश मे आज काल गर्भपात करा देने का, स्त्रियों को, क़ानून से अधिकार दे दिया गया है; क्योंकि वहाँ का मत यह है कि इस विषय मे स्त्रियाँ अपने शरीर पर ईश्वर है*; जर्मनी मे आजकाल यही काम क़ानून से जुर्म बनाया गया है, और इस के लिए कड़ा दण्ड रक्खा है, क्योंकि वहाँ की नीति यह है कि सेना को बहुत बलवती करने का प्रयोजन है, और उस के लिए अधिकाधिक संख्या मे मनुष्यों की आकांक्षा है; अमेरिका, ब्रिटेन, आदि देशों मे, ऊपर से तो यह गर्भ—पातन—कर्म निषिद्ध है, पर, 'महाजन' (सर्वसाधारण, 'पब्लिक') का आशय देख कर, इस के विरुद्ध क़ानूनी कार्रवाई प्रायः शिथिल हो गई है । दृष्टि-भेद से व्यवहार मे भेद होता है । भारतवर्ष मे, राजमहलों, रनवासों, नवाबी हरमों, तथा भक्तिपंथों के मन्दिरों और समागम के स्थानो मे, दुराचार व्यभिचार और रोगसंचार बहुत सुनने मे आता है । एक ओर जानी हुई कलावंत नर्त्तकी और वारांगना, 'तायफ़ा', के विरुद्ध आन्दोलन किया जाता है, म्युनिसिपल बोर्डों मे नियम बनाने का यत्न होता है कि ये शहर से बाहर कर दी जांय; दूसरी ओर, छिपा व्यभिचार और कला-विद्या से शून्य पण्यस्त्रियों का रोज़गार

* इधर दस बारह वर्षों से, रूस मे हवा बहुत बदली है; द्वितीय आत्यंतिक कोटि से लौट कर, दोला-न्याय से, पुनः मध्यमा वृत्ति की ओर विचार झुक रहा है; कौटुम्बिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों मे । अनुभव ही से शिक्षा, सच्ची कारगर शिक्षा, मिलती है । अब विवाह-विच्छेद सर्वथा मना तो नहीं, पर कम किया जा रहा है; विशेष कारणों पर ही स्वीकृति, राष्ट्र की ओर से, दी जाती है । ऐसे ही, गर्भ-पातन के लिए भी ।

गली-गली मे बढ़ता सुन पड़ता है । वेश्यागामी पुरुषों के दंड की फिक्र नहीं होती । *

भारतवर्ष मे, सन् १६३४ की गवर्मेंटी रिपोर्ट के अनुसार, समग्र अस्पतालों मे चिकित्सित समस्त आतुरों की सम्पूर्ण संख्या प्रायः अस्सी लाख हुई, और उस मे प्रायः आठ लाख रोगी गुप्त रोगों से व्याधित थे, अर्थात् दशमांश। निश्चयेन इस से बहुत अधिक ऐसे आतुरों ने, अस्पताल न जा कर, घर पर ही दवा करा ली होगी; तो भी इन की सकल संख्या प्रायः तीस लाख से अधिक न होगी; अर्थात् संख्या मे भी, और अनुपात मे भी, अमेरिका के दशमांश से अधिक न होगी।

भारत मे उन्माद के रोगियों की भी संख्या यूरोप अमेरिका के मुक़ाबिले, प्रतिशत अनुपात मे दशमांश से कम ही है। और भी; यूरोप अमेरिका मे ये गुप्त रोग जैसे उग्र, विकट, प्राणघातक रूप मे देख पड़ते हैं, वैसे भारत मे नहीं; पर अब इन की भीषणता यहाँ भी बढ़ती जाती है; और दुराचार व्यभिचार भी बढ़ते ही सुन पड़ते हैं। कुछ वैद्यों डाक्टरों का कहना है, कि 'सिफ़िलिस,, 'उपदंश', भारत मे पहिले नहीं था; पुर्त्तगालियों, फ़रासीसियों, के साथ यूरोप से आया; पहिले 'फ़िरंग' रोग के नाम से मशहूर था; क्योंकि फ्रांस देश के वासी फ़रासीसी लोग 'फ्रेंच' 'फ्रांक' कहलाते थे। पर इस मे सन्देह है; इन्द्र

* "यु० स्टे० अमेरिका मे, प्रायः १२ कोटि जनसंख्या पर, प्रतिवर्ष प्रायः ३६५ कोटि डालर, बीमारदारी मे खर्च होते हैं, अर्थात् ३० डालर (६० रुपये) प्रति मनुष्य, औसतन्"; Human Affairs, (1937) edited by Dr. Cattell, Cohen, & R. M. W. Travers; p. 124 in the paper on 'Medical Progress and Society' by Sir Henry Brackenbury. पाठक सज्जनो को याद रहे कि ऊपर जो लिखा है वह द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रलयंकर भूकम्प और मानव-समाज के अधरोत्तरी-करण से पहिले का हाल है। इस युद्ध की समाप्ति के बाद क्या दशा होगी यह कहना इस समय (मई १६४५) मे असम्भव है; पर यह निश्चय है कि कार्य-कारण के प्राकृतिक नियम नहीं बदलेंगे।

को, अहल्या के साथ प्रथम ही व्यभिचार के कारण, बिना 'छूत' से संक्रमण के, सहस्र व्रण हो गये; यह पौराणिक कथा ऊपर (पृ० १६०) पहिले कह आये हैं; उस कथा का शेष यह भी पुराणो मे लिखा है, कि 'अहल्या' को जब अपनी घोर वञ्चना विदित हुई, और अपने पति गौतम का क्रोध देख पड़ा, तो उस को बेहोशी की बीमारी ('सिनकोपी', 'टेटेनस') हो गई, और वह बहुत वर्षों तक निस्संज्ञ पाषाणवत् पड़ी रही; (ऐसी बीमारियों का हाल पाश्चात्य डाक्टरों ने भी लिखा है); राम जी के पैरों के शुद्ध ओजस्, 'मैग्ने-टिज़्म', से होश मे आई। तथा, इन्द्र के (इन्द्र शब्द 'राजा' के लिए भी शब्द-कोष में कहा है) अण्ड-कोष सड़ कर गिर गये; तब देव-वैद्य अश्विनीकुमार ने मेष के वृषण कतर कर इन्द्र को लगा दिये, तब से इन्द्र का नाम 'मेष-वृषण' भी हो गया। जो चिकित्सा का प्रकार, अब पाश्चात्य डाक्टरों ने, वानरों, तथा बकरों, भेढ़ों, साण्डों, के वृषणो के द्वारा आरम्भ किया है, उस की विस्पष्ट सूचना इस पौराणिक कथा मे की है। इस कथा का आधिदैविक अर्थ, स्यात् मेष-राशि और, 'वर्षति इति वृषणः', वर्षा से कुछ सम्बंध रखता हो। प्रसंगवश, इस स्थान पर यह भी लिख देना चाहिये कि, दस पन्द्रह वर्ष तो यह चिकित्सा यूरोप मे खूब चली; जीते पशुओं के, विशेष कर वानरों के, अंडकोष निकाल कर, उन के टुकड़े काट कर, रुग्ण वा दुर्बल मनुष्यों की जाँघ मे या पेट के नीचे के भाग मे, चमड़ा चीर कर, उन टुकड़ों को जमा कर, फिर चमड़े को ऊपर से सी देते हैं; स्त्रियों के लिए मादा पशुओं के रजःकोष, 'ओवरी' के टुकड़ों को। पर अब उस मे बड़े दोष नज़र आने लगे हैं; कुछ समय तक उत्तेजन के पीछे, पहिले से भी अधिक अवसाद और रोग हो जाता है; स्यात् चिकित्सा के बाद यदि संतति हो, तो उसमें वैसे पशु की प्रकृति भी अधिक देख पड़ेगी; इस लिए धीरे-धीरे उस का अनुष्ठान घटने लगा है। यही दशा प्रायः सभी उग्र 'पौष्टिक' कहलाने वाली अस्वाभाविक औषधों, और शुक्रपान रजःपान*

* यह प्रकार भी, 'वाजी-करण' (और बड़वा-करण) के उपायों मे,

आदि चिकित्सा के प्रकारों, की है।

यत्तदग्रेऽमृतमिव परिणामे विषोपमम्। (गीता)

पाश्चात्य डाक्टरों का कहना है, जैसे डाक्टर टोलनाइ का, पूर्वोद्धृत लेख ही मे, कि यदि समाज और शासकवर्ग एक मन हो कर यत्न करैं, तो इन गुप्त रोगों की संक्रामकता रोक दी जा सकती है, और चिकित्सा भी बहुत सहज मे और सस्ते मे हो सकती है। पर आश्चर्य यह है कि कोई पाश्चात्य, वा अब पौरस्त्य भी, सज्जन महाशय यह नहीं कहते, कि सब एक दिल हो कर यह यत्न करें कि वह दुराचार व्यभिचार ही उठ जाय, नहीं तो कम ही होजाय, जिस के कारण यह रोग फैले और फैल रहे हैं। प्रायः इन लोगों ने मान रक्खा हैं कि दुराचार व्यभिचार को कम करना असम्भव है, तथा यह भी मान लिया है कि रोग न उत्पन्न होने पावें तो ये कर्म 'दुराचार'-पद-वाच्य ही न रहैं, निर्दोष हो जायं, या तो सदाचार की कोटि में ही आ जायं, नहीं तो स्वाभाविक आचरण मात्र कहलावैं, जैसे प्यास लगने पर पानी पी लेना, भूख लगने पर खा लेना, मच्छड़ काटने पर खुजला लेना, वैसे शहवत होने पर, किसी भी पुरुष और किसी भी स्त्री का सगम कर लेना।

यह दृष्टि उन के लिए सही ही है जिन्हों ने निश्चय कर लिया है कि मनुष्य और जगत् केवल आधिभौतिक, 'मैटीरियल,' 'फ़िज़िकल' है, तथा मनस्-अहंकार-बुद्धि-रूप चित्त, 'माइंड', की उत्पत्ति, 'मैटर', 'मात्रा' जड़, से होती है; जो इस निश्चय से सन्तुष्ट हैं, जैसा गीता में आसुरी प्रकृति वालों के वर्णन में कहा है,

अपरस्परसम्भूतं, किमन्यत्, कामहैतुकम्।

द्रव्यों के, अकस्मात्, केवल कामना की प्रेरणा से, परस्पर मिल जाने से बन जाता है, अन्य कुछ हेतु नहीं।

आयुर्वेद और कामशास्त्र के ग्रन्थों मे लिखा है। बहुत वर्ष हुए, मैं ने अपने ज्येष्ठ भ्राता, दिवंगत श्री गोविन्ददास जी से सुना था, कि दक्षिण के एक राजा, (जिन दिनो मेरे भाई उस रियासत मे भ्रमण कर रहे थे) इस मानव-शुक्र-पान के अभ्यासी थे।

पर बहुतेरों का इसके विरुद्ध, यह निश्चय है कि मनुष्य और जगत् 'आध्यात्मिक ', 'स्पिरिचुअल', और 'आधिदैविक' 'स्युपर-फिज़िकल', भी हैं; 'मैटर' 'मात्रा', 'दृश्य', 'जड़' पदार्थ सब, 'आत्मा' 'चेतन' 'चित्त' 'स्पिरिट' का क्रीड़नक, खिलौना, क्रीड़ाभूमि, विहारस्थल, 'विनोद-स्थान', लीला का उपकरण मात्र है; 'मैटर', 'मात्र' 'मात्रा' शब्द की व्युत्पत्ति ही है कि 'माति, खंडशः क्रमशः प्रकाशयति, परमात्मनः शक्ति, इति मात्रा'; 'मीयते, अनुमीयते, प्रमीयते, आविष्क्रियते, आत्मशक्तिः अनेन, इति मात्रं'; जिस के द्वारा ब्रह्म की शक्ति की, दैवी प्रकृति की, परिमिति, नाप, प्रादुर्भाव हो, जो अनंत अखण्ड, एकरस पदार्थ को, अपनी सान्तता, खंडता, बहुप्रकारता, अनेकता से नाप जोख कर क्रमशः खण्डशः प्रकट करने का अनन्त मिथ्या यत्न सदा करता रहे, वह 'मात्र','मात्रा', इस मात्रा का आधार, इस की सत्ता-असत्ता का, इस के आविर्भाव-तिरोभाव का, आधाता विधाता, इसकी सृष्टि-स्थिति-लय का हेतु, चेतन है; न कि चेतन का हेतु 'मात्रा', जड़; चित् के चित्त बन कर, ब्रह्म के ब्रह्मा बन कर, ध्यान, व्युत्थान, जागरण करने से, यह 'जड़', 'देह', उत्पन्न होता है; उस के निद्रण, शयन, निरोधन करने से यह प्रलीन, विलीन होता है। और अब पश्चिम के कितने ही बड़े से बड़े नामवर 'सायंटिस्ट' वैज्ञानिक भी यह मानने लगे हैं, कि 'मैटर'-मात्रा-जड़ के ऊपर प्रभु, हाकिम, अधिष्ठाता 'माइंड', 'इंटेलिजेन्स', 'स्पिरिट', मनस् मानस, बुद्धि, आत्मा है।* जिन का ऐसा मत है, उन का, अनुबन्ध-रूप यह भी मत है, कि ऐसे रोगों का मूल मानस विकार है, और चाहे कितना भी शरीर चिकित्साओं, औषधियो इनजेक्शनो वा अन्य उपायों से इन रोगों का प्रत्यक्ष प्रादुर्भाव रोका भी जाय, पर सर्वथा न रुकेगा, और दुराचार व्यभिचार का घोर दुष्फल किसी न किसी रूप मे, समाज को भोगना ही पड़ेगा। पर खेद, का घोर चिन्ता और महाभय का, विषय है, कि पूर्वोक्त 'मैटीरियलिस्ट'

*** सन् १६३४ ई० मे, फ्रांसिस मेसन ने 'दि ग्रेट डिज़ाइन्' नाम की पुस्तक प्रकाश की, जिस मे विभिन्न वैज्ञानिक शास्त्रों के पन्द्रह यशस्वी वैज्ञानिकों के लेख छपे हैं, जो, सब यह बात मुक्तकंठ ही से कहते हैं।**

'देहवाद' का प्रभाव भारतवर्ष मे बढ़ता जाता है; जिस का परिणाम, चार्वाकीय उच्छृङ्खलता और समाजोद्ध्वंस होता है ।

यदि यह मान भी लें कि, अब यह रोग किसी स्त्री या पुरुष को, बिना दूसरे की साक्षात् या पारस्परिक छूत के, नहीं होते, तो भी प्रश्न रही जाता है कि आदि मे आरम्भ कैसे हुआ । पुराणो मे आख्यायिका कही है; ब्रह्मा ने देखा कि प्राणी इतने पैदा होते हैं, और मरते नहीं, कि पृथ्वीतल इन से ठस जायगा; क्या खायँगे, कैसे हाथ पैर फैला चला सकैंगे ? ध्यान कर के मृत्यु देव को उत्पन्न किया; आज्ञा की कि इन प्राणियों को मारो; मृत्यु देव, घोर हिंसा के पाप के भय से, तथा अपयश के त्रास से, कांपने लगे; बोले कि यह कार्य मुझ से न हो सकेगा; ब्रह्मा को इतना क्रोध हुआ कि आँखों से आँसू गिरने लगे; एक एक बूंद मे एक एक रोग का विष, 'टाक्सिन' कहिये, कीटाणु, 'माइक्रोब', 'वैसिलस', 'विरस्',❀ कहिये, बीज, 'सीड', 'जर्म', कहिये, उत्पन्न हो गया; ब्रह्मा ने अपने को सम्हाल कर, चित्त को शान्त कर, मृत्यु को पुनः आज्ञा दी; 'इन रोग-बीजों की सहायता से, जो कार्य तुम्हारे सुपुर्द किया गया है, उस को करो; बदनामी इन की होगी, पाप भी तुम को नहीं लगैगा; यदि अब भी आना-कानी करोगे तो तुम को भारी दण्ड दूँगा'; मृत्यु को मानना पड़ा । ऐसे ही उत्कट क्षोभ, तीव्र संवेग, के अन्य अवसरों पर, ब्रह्मदेव के शरीर से स्वेद निकला, 'यक्षाणि' 'फैगोसाइट', और 'रक्षांसि' 'बैसिलस' बन गये;* बाल गिर गया, 'अहयः', विविध प्रकार के 'सर्पक' हिंसक जीव, सूक्ष्माकार व स्थूलाकार, अणु रूप वा अजगर रूप, हो गये । जिन मनुष्यों के चित्त मे राजस तामस भाव और देह मे 'रक्षांसि' अधिक, वे 'राक्षस' ।

इन सब रूपकों के द्वारा, पुराणो ने यह बताया है, कि वैयक्तिक और सामूहिक चित्त मे जब घोर विकार पैदा होता है, तो शरीर मे, उस के प्रतिरूप, रोग-बीज, कीटाणु, विष, उत्पन्न होते हैं । योग-वासिष्ठ

❀ Toxin, microbe, bacillus, virus, seed, germ.

* Phagocyte, bocillus.

मे, कर्कटी की कथा मे, विशूचिका-रोग के, 'सूची', सूई, के नोके के ऐसे, कीटाणु की उत्पत्ति की कहानी कही है; एवं, मार्कण्डेय पुराण मे 'दुःसह-यक्ष्मा', 'क्षय रोग', के कीट, की। पुरुष और प्रकृति का, 'माइण्ड' और 'मैटर' का, स्थूल रूप मे अथवा सूक्ष्म रूप से, सर्वदा अविच्छेद्य सम्बन्ध है; एक के बिना दूसरा रह नही सकता; एक की अवस्था बदलने से दूसरे की अवस्था भी बदलती है; आयुर्वेद का सिद्धान्त ही है, 'आधि से व्याधि, और व्याधि से आधि'; मानसी व्यथा को आधि, शारीर रोग को व्याधि कहते हैं; अन्ततः मूल कारण, जब सारे दृश्य जगत् का, बुद्धि-तत्त्व, महत्तत्त्व, ब्रह्मा, 'यूनिवर्सल-माइण्ड' 'इण्टेलेक्टस्-मंडी'† 'अकलि-कुल', 'रूहि-कुल', है, तो सुतरा नितरा, अवश्यमेव, शारीर रोगो का भी कारण अन्ततः मानस विकार ही होगा । कामीय दुराचार व्यभिचार बलात्कार आदि मे, विविध प्रकार के घोर विकार, दोनो प्राणियों के चित्तो मे पैदा होते हैं एक ओर दर्प, क्रौर्य, द्रोह, हिंसा, चौर्य, ईर्ष्या के, दूसरी ओर महा साध्वस-त्रास और घोर दैन्य दुःख के; इत्यादि। इन मानस विकारो से ही साक्षात् शारीर-विकार उत्पन्न हो सकते हैं, और निश्चयेन होते हैं। तीव्र क्रोध को दबा देने से, दो तीन घण्टे के भीतर, सारा शरीर बिलकुल पीला हो गया, पाडुरोग, यर्कान, 'जाडिस'* से रुग्ण हो गया—ऐसा पाश्चात्य डाक्टरो ने, अपनी आखो देखा लिखा है; यकृत् का कार्य तत्काल बिगड़ गया; 'टाक्सिन्स्' पैदा हो गये; 'सीक्रीशन्स्', उत्तम रसां, के ठिकाने 'एक्सक्रीशन्स्', दुष्ट रस, किट्ट, शरीर मे बनने लगे;* इत्यादि। अहल्या और इन्द्र की कथा की भी यही सूचना है, कि बिना संक्रमण के, प्रथम बार ही, दुराचार से महारोग उत्पन्न हो गया। अथ च, माता पिता की मानस वृत्तियो का, और उनके शरीरो के दबे छिपे रोगो का, जो दवा के बल से, चाहे उभरने से रोक भी दिये गये हो, संतति के चित्त और शरीर पर प्रभाव अवश्य पड़ता ही है। आगे कहा जायगा कि कैसे दोषों से कैसी संतति होती है।

† Universal Mind, (Anima-) Intellectus (-corpus) Mundi.

* Jaundice. * Toxins, secretions; excretions.

'अविद्या', 'मा-या', 'जो नहीं है उस को मान लेना कि है', यह मूर्खता, बेवकूफ़ी, भूल, प्रवृत्ति मार्ग मे चलते हुए जीवात्मा की 'प्रकृति' ही है; बहिर्मुख मनुष्य का स्वभाव ही है। उस अविद्या का मुख्य रूप तो यह है, कि अपरिमित अनादि अनन्त निष्क्रिय परमात्मा, अपने को, परिमित सादि सान्त सक्रिय मूठी भर हाड़ मांस का शरीर, मान लेता है। इस महा भ्रम के अवान्तर रूप अनन्त हैं; उन सब मे भ्रान्ति का एक भाव यह अनुस्यूत है, कि आदमी समझता है कि अपने कर्मों से पैदा हुए क्लेशों का उपाय, प्रतिरोधन, निवारण, मार्जन, मैं नये कर्मों से ऐसा कर लूँगा, कि उन क्लेशों की सर्वथा निवृत्ति उच्छित्ति हो जायगी, नये क्लेश न उत्पन्न होंगे, और मै सुख ही सुख लूटता रहूँगा। भारी धोखा है। परमात्मा की प्रकृति मे 'अविद्या' की प्रतियोगिनी, रोग की दवा, 'विद्या' भी लगी है; इस द्वं-द्व के कारण, सारे ससार मे यह नियम अटल है कि बिना दाम दिये आराम नहीं; प्रत्येक सुख का मूल्य एक उसी प्रकार का दुःख; मुफ़त मे कोई चीज़ नहीं; तीव्र सुख चाहो तो तीव्र दुःख के लिए तयार रहो; सत्कुलीन सदाचारीण मीठे सुख से 'सन्तोष हो, तो हल्के ही दुःख भी पाओगे; यदि, 'चोरी का गुड़ मीठा', स्टोलन् जॉयज़ आर स्वीट', दुराचार व्यभिचार का तीक्ष्ण सुख चाहोगे, तो वैसा ही तीक्ष्ण दुःख भी, कभी न कभी, भोगना ही पड़ेगा।

श्रांतः, समासजन् स्कन्धे, शिरसा भारम् उद्वहन्,
न शर्म लभते, तद्वत् कर्मभिः कर्ममार्जनम्।
सुखस्यानंतरं दुःखं, दुःखस्यानन्तरं सुखम्;
चक्रवत् परिवर्त्तेते सुख-दुःखे निरन्तरम्। (भागवत)
यत्तदग्रेऽमृतमिव, परिणामे विषोपमम्;
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। (गीता)

बोझ को सिर पर ढोते-ढोते थका आदमी, उस को कन्धे पर रखता है, पर आराम तो नहीं पाता; नये कामो की होशियारी चतुराई से पुराने कामो के दुष्फलों का वञ्चन, बँचा जाना, होने का नहीं; दुःख के भोग से ही दुष्कर्म कटते मिटते हैं। सुख के बाद दुःख,

दुःख के बाद सुख, रथ के पहिये की पुट्टियों ऐसा यह चक्र सदा चलता रहता है, इसी का नाम ससार-चक्र है; पहिले जो बात ज़हर सी कड़वी जान पडती है, पीछे फल उस का अमृत सा मीठा होता है; जो पहिले मीठी, वह पीछे कडवी हो जाती है । सुख तो हो, दुःख तो न हो—ऐसा कोई उपाय नही । ज्यो-ज्यो सुख बढ़ता है, त्यो-त्यो दुःख भी । यूरोप अमेरिका का उद्धत, उत्सिक्त, उद्दाम, महा-समृद्धिमान्, महा-शौर्यवान्, महा-क्रौर्यवान्, अति उत्कृष्ट भी, और अति निकृष्ट भी, जीवन, रावण की लङ्का के जीवन के सदृश, प्रत्यक्ष उदाहरण है ।

मानवविकार-जनित आधियाँ और शारीर-विकार जनित व्याधियाँ

दो दृष्टियां, बहिर्मुख और अंतर्मुख

प्रकृत मे विचारणीय है कि पश्चिम के डाक्टर लोग, इधर प्रायः सौ वर्ष से (१८५० ई० से पीछे) मनुष्य के आधि-भौतिक (शारीरिक, जिस्मानी, 'फिजिकल') अग (अंश, पक्ष, पहलू, 'आस्पेक्ट') पर ही अधिकाधिक ध्यान जमाते रहे हैं; आध्यात्मिक (मानसिक, चैत्तिक,अंतःकरण-रूप, रूहानी, 'मेटल', 'स्पिरिचुअल') अंग की अधिकाधिक उपेक्षा करते गये हैं । इस अति बहिर्मुख प्रवृत्ति के कारण ऐतिहासिक हैं; थोड़े मे यह कि, जैसे भारत मे, धर्माधिकारी कठ-पंडित और कठ-मुल्ला, वैसे ही यूरोप मे, कठ-पादरी, धर्म-मज़हब-'रिलिजन' को रोजगार बना कर, साधारण जनता को मूर्ख कठपुतली बना कर, मिथ्या धर्माभासो और मूढ़ग्राहों में फँसाकर, अपनी कामीय लोभीय ईर्षीय क्रोधीय मत्सरीय वासनाओ का घोर तर्पण परिपूरण करने लगे; १६ वीं शती के आरम्भ मे, मार्टिनलूथर प्रभृति कुछ बुद्धिमान् दीर्घदर्शी सहृदय समाज-हितैषी तथा निर्भय निस्स्वार्थ विद्वानो ने खुला विरोध आरम्भ किया; (जैसे भारत मे, १४–१५–१६ वीं शती ई० मे, कबीर, नानक, प्रभृति सन्तों ने, तथा १७ वी १८ वीं शतियो मे राजा राममोहन राय, श्री देवेन्द्रनाथ महर्षि, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने, अति मूर्त्तिपूजा को तथा अरब देश मे भी काल-प्रवाह से विकृत इस्लाम धर्म के

संस्करण-इस्लाह के लिए अब्दुल वहाब नामक प्रतापी सर्दार ने और अब पुनः साम्प्रत काल मे, उन के वंशज शाह इब्नि-सऊद ने, क़ब्र-(एड्डूक)-पूजा आदि को हटाने का यत्न, किया है); जनता का अधिकाधिक अंश उन के साथ होता गया; पादरियों मे, राजाओ मे, 'महा-जन' जनता के दलों मे, बड़े-बड़े युद्ध हुए; अन्त मे, नये पक्ष की, धर्म के सुधार के लिए, प्रायः विजय हुई; पुराने पक्षवालों की संस्थाओं का सर्वथा उच्छेद तो नहीं हुआ, पर उन के दुराचार कम हो गये, उन्हों ने स्वयं अपनी दुष्ट वासनाओं का नियन्त्रण शुरू किया. उन के अनुयायियों की भी आँखें खुल गईं, बुद्धि जागी, अन्ध-श्रद्धा कम हुई; और चारों ओर, महाजन मे, स्थूलेन्द्रियों के प्रत्यक्ष प्रमाण पर प्रतिष्ठित विज्ञान (बहिर्मुख 'सायंस') की ओर रुचि अधिकाधिक बढ़ी। किन्तु, दैवी-मूल-प्रकृति देवी, संसार के सभी विभागों मे, मनुष्य के चित्त मे भी, सदा दोलाधिरूढ़, झुलुए पर सवार, रहती हैं; एक पेङ् इधर, तो एक पेङ् उधर; "प्रकृतिः उभय-कोटि-स्पर्शिनी, पुरुषः मध्यस्थः"; एक आत्यन्तिक कोटि ('एक्सट्रीम') से दूसरी, और दूसरी से फिर एक की, ओर, झूलती ही रहती हैं; पुरुष, आत्मा, दोनो कोटियों को घेरे हुए, अपने भीतर रखते हुए, प्रकृति देवी को, दोनो कोटियों से खींच कर, मध्य मे, रखने का यत्न निरन्तर करता रहता है; किसी एक कोटि के पार कूद कर, दूसरी कोटि से टूट कर, सर्वथा विनष्ट हो जाने नहीं देता। सुख और दुःख, राग और त्याग, दोनो को, विद्याऽविद्याऽत्मक मूल काम-संकल्प की एक रस्सी के दोनो छोरों पर, हटे हुए भी, सटे हुए भी, बांधे रहता है।

इन के फल

इस पारमात्मिक नियम के अनुसार, अति बहिर्मुख प्रवृत्ति से, और विकास-वादी ('इवोल्युशन-वादी') वैज्ञानिकों के प्राणि-संघर्ष-विषयक कच्चे अधूरे सिद्धांत के अनुसरण से, यूरोप अमेरिका के महाजन मे, तथा उन के अधीन वा अधीन-प्राय पूर्वीय दक्षिणीय देशों की जनता मे भी, इन्द्रिय-लौल्य, जिह्वा-उपस्थ-परायणता, राग-द्वेष-विकार, की अत्यन्त वृद्धि हुई; बड़े युद्ध होने लगे; जिस शरीर के सुख के लिए यह सब महा आयास

प्रयास किया गया, सांसारिक जीवन के भोग विलास की, सब प्रकार की, अति समृद्ध सामग्री, दुर्बलों को दबा कर, चूस कर, एकत्र की गई, वही आनन्द नष्ट होने लगा; और धर्माभासों के अत्यन्त प्रचार से जो दुष्फल हुआ, उस से भी दारुणतर दुष्फल, सर्व-धर्म-विरोधी, धर्म-मात्र-विरोधी, सार-धर्म-तिरस्कारी अति बहिर्मुख विज्ञान के प्रसार से हुआ; क्योंकि विज्ञान के अद्भुत आविष्कार, परस्पर तोषण पोषण उत्तंसन-विकाशन के ठिकाने, परस्पर शोषण-मोषण उद्ध्वंसन-विनाशन के लिए प्रयुक्त होने लगे।

यह घोर अनर्थ देख कर, अब पुनः, वर्तमान २० वी शती ई० के आरम्भ से, स्वय बड़े-बड़े यशस्वी, अग्रगण्य, वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति, सभी पाश्चात्य सभ्यतमंमन्य देशो मे, पुनः आध्यात्मिकता, अन्तर्मुखता, चित्त के शास्त्र, और व्यापक तात्त्विक मार्मिक सार-धर्म वा धर्म-सार की ओर, दो मार्गों से, फिरी है। इस का संकेत, पृ० २२२ पर, एक टिप्पणी मे कर दिया गया है। ये वृद्ध, बहुश्रुत, बहुदर्शी, बहु-अनुभवी, विचारशील वैज्ञानिक, पहिचानने और कहने लगे हैं, कि मात्रा ('मैटर') का निर्माता कल्पयिता भी, उस मे प्रविष्ट भी, उस से अपृथक् भी, उस से विविक्त विवेचनीय भी, परमात्मा, आत्मा ('स्पिरिट', रूह, रूहुल्-रूह, आत्मना आत्मा, जीवात्मनां परमात्मा) भी, कोई वस्तु है; और शरीर के ऊपर आत्म-बुद्धि-मनस् की प्रभुता को भी वे मानने लगे हैं।

अन्तर्मुखता की ओर वैज्ञानिकों का पुनः पलटना

(१) वैज्ञानिकों की पलटी हुई चित्त-नदी की पहिली धारा प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८ ई०) के बाद अधिक पुष्ट हुई; अब प्रवर्त्तमान द्वितीय विश्व-युद्ध के लिए, दस-पन्द्रह वर्ष से, पुनः तैयारियों को देख कर, और उस को रोकने का महायत्न करने पर भी, उस के आरम्भ हो ही जाने से, यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ रही है; जिस का सत्फल, यदि जगदात्मा की मर्ज़ी हुई तो, इस विश्वयुद्ध की शान्ति के बाद कुछ होगा; कामीय-वासनाओं का नियन्त्रण नियमन करने का उपाय, सब से पहिले खोजा और पाया जायगा, और विश्वव्यापिनी मानव-समाज की विश्वव्यापिनी व्यवस्था ('वर्ल्ड फ़ेडरेशन, वर्ल्ड-आर्डर') की जायगी। जिह्वा और उपस्थ

सम्बन्धी वासनाओं का सब से पहिले; इस लिए, कि प्राय: सब ही प्रकार की वासना, मनुष्यों से परस्पर वैर बढ़ाने वाली, उद्धत हर्ष, मद, मत्सर, क्रोध की विविध विकृतियाँ, इसी की अति-वृद्धि से उत्पन्न होती हैं।

कामे जिते जितं सर्वं, जितं सर्वं जिते रसे।

उपस्थीय काम का रस जीत ले, जिह्वा का रस जीत ले, उन पर क़ाबू कर ले, उन को अपने वश मे लावै, उन के वश मे न रहे—तो सब कुछ जीत लिया।

स्वार्थी परार्थी वासनाओं का 'नियमन' ही; सर्वथा उच्छेद नहीं।

'वासनाओ' का 'नियमन'—यह शब्द याद रहें; काम, क्रोध, लोभ, मोह (भय), मद, मत्सर आदि स्वाभाविक वासनाओं का सर्वथा मूलोच्छेद तो, उन की प्रतिद्वंद्विनी, उपरति-विरति, शम-शांति, तितिक्षा-त्याग, धैर्य, करुणा, मैत्री आदि वासनाओं के भी उच्छेद, अथवा प्रस्वाप, के साथ ही, प्रलयावस्था मे ही हो सकता है; (प्रस्वाप, क्योंकि आत्यन्तिक विनाश और अभाव तो, अव्यय अविनाशी परमात्मा के स्वभाव मे अन्तर्गत द्वंद्व का, कभी हो ही नहीं सकता), जाग्रद् अवस्था मे, सत्-शिक्षा और सद्-धर्म-क़ानून के ज़रिये (द्वारा), नियमन, नियन्त्रण, सीमित-करण, समयो (शर्त्तों) से परिच्छेदन, ही, संभव, उचित, आवश्यक है।

बिना निदान जाने चिकित्सा करने का दुष्फल

स्वार्थ और परार्थ दोनो प्रकार की वासनाओ को काबू मे लाना; अंदाज से ही, परिमित मात्रा मे ही, उन का आस्वादन करना; उन के ऊपर सद्बुद्धि का अधिकार स्थिर करना—यही सब सदाचार का मूल है। इस को न पहिचान कर, इस के विपरीत, पच्छिम मे, कच्चे वैज्ञानिक यह यत्न करते रहे हैं, कि जिह्वा-उपस्थ-सम्बन्धी, इंद्रिय-लौल्य-प्रेरिणी, अधम-स्व-वर्धिनी, अशुभ स्वार्थी वासनाएं यथेष्ट तृप्त की जायं, पर दुष्फल न हो; चटनी-अंचार चख लेने, मास-मत्स्य खा लेने, शर्बत-शराब पी लेने, के ऐसा, दुराचार-व्यभिचार यथेष्ट होता रहे, पर अविवाहिताओ को गर्भ न रह जाय; उपदंश (आतशक, 'फिरंग' रोग* 'गर्मी'), मूत्रकृच्छ्र

* किन्हीं विद्वान् वैद्यों का मत है कि 'उपदंश' रोग दूसरा ही है,

(सूज़ाक), आदि रौद्र रोगों का संक्रमण न होने पावे; गर्भ यदि रह जाय तो उस का पातन सरलता से हो जाय, यदि नाजायज़, अधर्म्य, विवाह-बाह्य बच्चा हो ही जाय और स्त्री वा पुरुष उस की हत्या न कर के, उसे छिपा कर, रात मे गिर्जा-घर के द्वार पर, या सड़क पर, या अनाथालय के पास, छोड़ आवें, तो उस का पालन पोषण किया जाय—इत्यादि। पर इस का फल यही हुआ है कि, ऐसे दुराचारों, व्यभिचारों, बलात्कारों, कन्या-दूषणों, बालक-दूषणों, स्त्री-पुरुषों के नर-मादा पशुओं के संग मैथुन, की वृद्धि ही होती गई; दुष्फल भी नहीं रुक सके; उग्र संक्रामक रोग अधिकाधिक फैलते ही गये; बस्ती, अर्थात् मनुष्य-संख्या, की अत्यंत वृद्धि हुई; सामाजिक तिरस्कार बहिष्कार के भय और लज्जा से, तथा परस्पर ईर्ष्या मत्सर क्रोध आदि से, आत्मघात तथा नवजात शिशुओं की हत्याएं बहुत बढ़ीं; और अंततः, अति काम के साथ अति लोभ और अति मान के मिल जाने से, विश्वव्यापी रौद्र युद्ध पुनः-पुनः हो रहा है। पाश्चात्य डाक्टरों ने स्वयं लिखा है कि यूरोप अमेरिका मे स्यात् ही कोई स्त्री वा पुरुष इस युग मे होगा जिस का शरीर, वा कुल, वा वंशपरम्परा, इन संक्रामक रोगों की छूत से सर्वथा मुक्त और शुद्ध हो। पर इस से कोई भारतवासी, शुद्धंमन्यता

जिस की चर्चा प्राचीन आर्ष आयुर्वेद के ग्रन्थों मे की है; और 'आतशक' (जो हकीमी, तिब्बी, नाम इस का है, क्योंकि 'आतश', आग, के ऐसी जलन पैदा करता है) 'फ्रेंच', 'फ्रेंक', यूरोपीयनों के ही साथ भारत मे आया, इस से 'फिरंग'-रोग कहलाया। इस की चर्चा और चिकित्सा भावमिश्र के ग्रंथ 'भाव-प्रकाश' मे, प्रथम प्रथम, संस्कृत चिकित्सा-शास्त्र मे मिलती है; जो ग्रन्थ प्रायः कान्यकुब्ज देश मे, १६ वीं शती ई० मे, लिखा गया। महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन, पौरस्त्य-पाश्चात्य-उभय-चिकित्सा-शास्त्र के प्रकांड पंडित और बहुत अनुभवी चिकित्सक, ने, अपने रचे 'प्रत्यक्ष-शारीर' नाम के ग्रन्थ के उपोद्घात मे, हेतुपूर्वक, यही निर्णय किया है। यह तो इतिहास से सिद्ध है कि यूरोप से, १५ वीं शती के अन्त मे, पोर्चुगीज आये, उन के बाद फ्रेंच और डच और अंग्रेज।

और अहंकार का रस चखने के लिए, यह न समझ बैठे कि भारत जनता मे ऐसे पाप नहीं हैं; भारत की, तथा अन्य पूर्वीय देशों की भी, स्यात् कुछ कम, यही हालत जान पड़ती है; विशेष कर, वित्तवालों और उच्चंमन्य जातियों मे; पर ठीक पता नहीं चलता; क्योंकि पच्छिम मे तो इन विषयों पर वैज्ञानिकों ने स्पष्ट लिखना छापना, कुछ काल से, आरंभ कर रक्खा है, और उन देशो की गवर्मेंटों ने भी 'कमीशन' 'कमेटी' आदि, समय समय पर, बनाई है, इस लिए कि इस विषय का गवेषण किया जाय, संक्रामक रोगों के प्रसार को रोकने के उपाय किये जायं, और उपयुक्त क़ानून बनाये जाय ।

यु. स्टे. अमेरिका के पत्रो मे, द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ हो जाने के बाद से, पुनः-पुनः लेख निकलते रहे हैं, जिन से स्पष्ट होता है कि, वैज्ञानिक चिकित्सक विद्वान्, जितने ही तीक्ष्ण अचूक अमोघ शीघ्र-फल-दायी उपायों का उपज्ञ (उपज, ईजाद) करते हैं, यहा तक कि उपदंश को दस दिन मे निर्मूल निःशेष करने का दावा (प्रतिश्रव) करते हैं, उतना ही अधिक निर्भीक दुराचार, सैनिकों मे तथा साधारण जनता मे, बढ़ता जाता है, और अधिकाधिक सख्या मे, तथा पुनः-पुनः, लोग रुग्ण होते हैं; और, अभागिनी, अबला, भूखी, वा चंचल-स्वभाव की, योषिताओं के जीवत् (ज़िन्दा) मास की बिक्री (विक्रय) का दारुण रोज़गार व्यापार करने वाले, निर्दय नृशंस चाडाल, तरह-तरह के छलो से क़ानून का वंचन कर के, पण्य-स्त्रियों को, सेनाओं के एक शिविर (कम्पू, कैम्प, पड़ाव) से दूसरे तक, मोटर लारियों मे लाद-लाद कर, भगाते पहुचाते रहते हैं । *

***ऊपर, मूल मे उक्त बातें, न्यूयार्क-नगर से प्रकाशित, 'दी रीडर्स-डाइजेस्ट' नामक मासिक पत्र के जून से दिसम्बर १९४२ ई० तक के अंकों के लेखों के, तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं व पुस्तिकाओं के, आधार पर लिखी गई हैं; कुछ और बातें इस नोट में लिख देता हूं ।**

"मरज बढ़ता गया ज्यो-ज्यों दवा की"

'सिफ़िलिस'-जनक कीट को मारने के लिए, सूई-द्वारा 'इन्जेक्शन' से, 'मलेरिया'-जनक कीट का प्रवेश, 'सिफ़िलिस' के रोगी के शरीर मे

करते हैं; 'विषस्य विषं औषधं'; जैसे, पुराणो में कथा है, बाणासुर ने जब कृष्ण की सेना के नाश के लिए, 'माहेश्वर-ज्वर' का, अस्त्र द्वारा ('अस्यते' इति 'अस्त्रं', जो दूर से फेंका जाय) प्रयोग किया, तब कृष्ण ने उस के शमन और संहार को लिये 'वैष्णव-ज्वर' का प्रयोग किया। पश्चिम देश के राष्ट्रों के विश्व-युद्धों मे विविध प्रकार की प्राणहारक 'गैसों' का (वायव्य-अस्त्रों का), तथा उग्र-रोग के जनक कीटाणुओं का (ज्वर-अस्त्रों का), तथा आग लगा देने वाले बमों का (आग्नेय-अस्त्रों का), प्रयोग हुआ और हो रहा है। पीने के पानी के कूओं, तालाबों, झरनों मे ज़हरीली वस्तु डाल देना; जंगलों, वाटिकाओं, खडे खेतों को काट डालना; इमारतों कारखानों को ढहा देना; कि शत्रु के सैनिक उस पानी को पी कर मरें, और इन द्रव्यों से लाभ न उठा सकें ('स्काच्ड अर्थ' रणनीति)—यह सब उपाय-अपाय भी पश्चिम मे काम मे लाये जाने लगे हैं; इन मे से बहुतों के संकेत, भारत के पुराने ग्रन्थों मे, सन्धि-विग्रह आदि षड्विध रणनीति के अध्यायों मे, मिलते हैं; चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' मे विशेष रूप से।

बंबई के भैरवी-चक्र

प्रायः पच्चीस वर्ष हुए होंगे, बम्बई (ब्रिटिश) गवर्मेन्ट को मालूम हुआ कि शहर मे, कुछ महापातकी दुष्ट हिन्दू भी और विशेष कर पठान, ऐसी अबला अभागिनियों को, जिन्हें पेट पालने के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं मिलता, खाना कपड़ा-मात्र दे कर, 'चकलों' ('ब्राथेल', 'भैरवी-चक्रों') मे रख कर, उन से शरीर बेचने (कसब, 'प्रास्टिट्यूशन') का रोज़-गार कराते हैं; दस-दस, बीस-बीस, नर-पशुओं से एक-एक को, एक-एक दिन मे, संग करना पड़ता है; (जैसे, अमेरिका, ब्रिटेन, आदि महान् राष्ट्रों के महान् नगरों मे, तीस-तीस और चालीस-चालीस तक से); और थोड़े ही दिनो मे ये स्त्रियां भी पशु-प्राय हो जाती हैं; जिस दिन आमदनी कम होती है, चकला चलाने वाले, उन दुःखिनियों की रौद्र यम-यातना करते हैं, यहां तक कि पुरुष का मूत्र ज़बर्दस्ती पिलाते हैं, मार पीट कर हाथ पैर की हड्डियों को तोड़ तक डालते हैं, भूखा प्यासा रखते हैं, ऐसा कि मर-मर जाती हैं; रोगों से भी बहुत मरती हैं। यह सब मालूम होने पर,

बम्बई गवर्नमेंट को यह विचार हुआ कि इस घोर व्यवसाय को रोकने के लिए, नया क़ानून बना कर, पुलिस क विशेष अधिकार दिया जाय। दस्तूर के मुताबिक़, इस के बारे मे, भारत के सब प्रान्तों के कुछ-कुछ आदमियों से राय पूछी गई।

जनता का भृत्य, या जनता का स्वामी ?

मुझ से भी पूछा। पाश्चात्य देशों मे भी, जो इस प्रकार के व्यवसाय, 'सेक्स स्लेव ट्राफ़िक' के नाम से, होते हैं, उन का, मैं ने, उत्तर मे हवाला दिया। यह बतलाया कि यद्यपि पाश्चात्य देशों मे भी, जनता (महाजन, 'पब्लिक', प्रजा) मे भी और 'जनता-भृत्य' ('महाजन-भृत्य', 'पब्लिक-सर्वेन्ट', 'सार्वजनिक-भृत्य', राज-भृत्य, राष्ट्र-भृत्य) मे भी, नेक-नीयती की कमी है, परन्तु भारत मे तो बहुत ही कमी है, और इस के सिवा यह महा आपत्ति है, कि यहां, 'पब्लिक-सर्वेन्ट' अपने को 'जनता का भृत्य' (ख़ादिम) नहीं, प्रत्युत 'पब्लिक-मास्टर' 'जनता का स्वामी' (हाकिम) समझता है। पश्चिम मे, प्रत्येक राष्ट्र के भीतर, दोनो का, 'पब्लिक-सर्वेंट' और 'पब्लिक' का, लक्ष्य प्रायः एक होता है, अर्थात् सार्वजनिक सुख-समृद्धि; उस के विपरीत, यहां भारत मे दोनों के लक्ष्य, परस्पर विरुद्ध हो रहे है, अर्थात् राष्ट्र-भृत्यों का समुदाय तो, एकदल ऐसा संग्रथित, अपने दल का भला चाहता है, नित्य-नित्य अपनी शक्तियों और अधिकारों मे वृद्धि करता रहता है, प्रजा को अधिकाधिक दबाये रखना चाहता, और रखता, है; और प्रजा, हज़ारों 'जात', 'पंथ', 'धर्म', 'फ़िर्क़ों' मे विभक्त हो कर, अपना-अपना पृथक्-पृथक् क्षुद्र अल्पकालिक स्वार्थ ही साधना चाहती है; जिस का फल यह है कि, क़ानूनो द्वारा पुलिस को जो भी अधिकार इख़्तियार दिया जाता है, उस का दुरुपयोग ही होता है; 'काम' के सगे भाइयों का, लोभ क्रोध आदि का, उत्प्रेरक होता है; उत्कोच (रिश्वत, घूस) और प्रजा-पीडन की भी, तथा दुष्ट-कर्मों और व्यवसायों की भी, वृद्धि ही होती है; अन्त मे, मैं ने यह सूचना की, कि वर्त्तमान दंड-विधान (ताजीरात-इ-हिन्द, 'इंडियन-पीनल-कोड') मे जो अपराध (जुर्म, 'क्राइम') गिनाये गये हैं, और उन की सजा के लिए जो

अधिकार राष्ट्र-भृत्यों को दिये गये हैं, उन्ही का उपयोग प्रयोग यदि नेक-नीयती से किया जाय, तो भैरवी-चक्र का यह रोजगार सहज मे (सरलता से) बंद कर दिया जा सकता है; इस के लिए नये कानून बना कर पुलिस को विशेष अधिकार देने की कोई आवश्यकता नही है । जहां तक मुझे मालूम है, कोई नया विधान तो नही बना; पर इस विशेष घोर व्यवसाय की कुछ रोक होने के भी लक्षण देख नही पडे ।

राजभृत्यों की वृद्धि और दुष्टता, प्रजा का ह्रास

पुलिस के, मजिस्ट्रेटों के, सभी विभागों (सीगों) के सभी गवर्मेन्टी नौकरों के, इख्तियार बढाते रहना, प्रजा के हक्कों को घटाते रहना—यही लक्ष्य, अधिकतर देशों के शासक दलों, गवर्मेन्टों, 'ब्राह्मण-क्षत्रियों' का चिरकाल से हो रहा है; भारत मे तो अत्यंत ही। कलियुग का यह एक प्रधान लक्षण है; कारण भी है, कार्य भी है । अन्योऽन्य अनुग्रह करते हुए अनर्थों की परम्परा यों ही बढती जाती है; एक दिन, अपने असह्य बोझ से आप टूट पडती है, नष्ट होती है । तब पुनः, 'सत्य' के 'युग' (ज़माना, 'पीरियड,' 'ईपोक', 'एज') को अवसर मिलता है; शासक और शासित मे परस्पर स्नेह, प्रीति, विश्वास, सहाऽयन, समर्थन, प्रकृति-स्वभाव-गुण-कर्म के अनुसार सब मनुष्यों का समाज मे व्यवस्थापन, होता है । आज काल जो विष भरी हवा सारे संसार मे बह रही है, उस के कारणो और कार्यो मे एक मुख्य यह है, कि 'धर्मानपेत काम', और 'कामशास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्वों' का, तथा सत्काम और दुष्ट-काम के रूपों, लक्षणो, परिणामो, सुफल-दुष्फलों का, यथातथ्य ज्ञान नही है, और यदि है तो भी विद्यामद, ऐश्वर्यमद, धनमद से मत्तों मे, शासन के अधिकारों और बलों को पाये हुओं मे, अतः अधिकार और बल का दुष्ट पापिष्ठ प्रयोग करने का अधिकाऽधिक अवसर पाते हुओं मे, धर्म्य 'काम' से विरक्ति, अधर्म्य 'काम' मे आसक्ति, अधिकाधिक देख पड़ रही है। "चोरी का गुड़ मीठा", ("स्टोलन् जॉयज् आर स्वीट्"), इस लिए, अधिकारी जन, स्वयं चोरी के गुड के रसास्वादन के लालची हो कर, अपराधियों (मुजरिमो) के साथ सहानुभूति भीतर से, और दंड देने मे दया का दिखाव ऊपर से,

करने लगे हैं; पच्छिम के देशों मे इस की शिकायत, बीच-बीच, समाचार पत्रों मे देख पडती है। भारतवर्ष का भी एक नमूना देखिये, पर यह भी खूब याद रखिये कि जब जनता पापी है, तभी शासक पापिष्ठ है।

काशी के दैनिक 'आज' के सौर ६ फाल्गुन, १९९८, वि० २१-२-१९४२ के अंक मे, नीचे लिखे आशय की सम्पादकीय टिप्पणी छपी है—

एक अत्यन्त खेद जनक मामिला

"काशी के एक खेदजनक मामिले की ओर हम स्थानीय अधिकारियों का, विशेष कर जिला मजिस्ट्रेट का, ध्यान दिलाना चाहते हैं। गोपी नामक चार वर्ष के बालक पर एक सत्रह वर्ष के युवक द्वारा अस्वाभाविक अत्याचार, (अगस्त, १९४१ ई०, मे) किया गया। विचारक मजिस्ट्रेट की राय मे अपराध सिद्ध हो गया। सिविल सर्जन की राय मे लड़के को उस अपराध के कारण अत्यन्त कष्ट भोगना पडा है। अपराधी के घर के लोगों की आर्थिक अवस्था मजिस्ट्रेट की राय मे अच्छी है। लड़के की मा के कथनानुसार, जब उस ने अपराधी के बाप और चाचा को उस के अपराध से सूचित किया, तो उन्हों ने उसे ही मार डालने की धमकी दी। इतनी बातें विचारक मजिस्ट्रेट अलाउद्दीन साहब के फैसले मे ही मालूम होती है। इतने पर भी आप ने अपराधी को प्रथम अपराधी और कम-सिन (अल्प-वयस्क) समझ कर केवल दो वर्ष सच्चरित्र रहने का मुचलका, वह भी केवल दो सौ रुपये का, ले कर छोड दिया। लड़के की मा को, जो बहुत ही ग़रीब है, और जो यदि श्री राजकृष्ण वांतू उस की सहायता न करते तो अदालत तक पहुंच भी न सकती, कुछ भी हर्जाना नहीं दिलाया। क्या यह न्याय है? क्या प्रथम अपराधी के सम्बन्ध का कानून ऐसे ही दुश्चरित्रों के लिए बनाया गया है? बेंत लगाने की धारा का उपयोग यदि ऐसे मामिले मे न किया जाय तो वह है किस काम के लिये? हाल मे ही हाई कोर्ट ने एक लड़की की हत्या करने के अपराध मे एक स्त्री की सजा, केवल उसे स्त्री समझ कर कम सजा देने के कारण एक जज की निन्दा कर के, तीन साल से बढ़ा कर दस साल कर दी है। मतलब यह कि ऐसे मामिलों मे स्त्री, कम उम्र, प्रथम अपराध, आदि

बातों का विचार करना उचित नहीं है। हम अधिकारियों का ध्यान इन बातों की ओर दिला कर साग्रह अनुरोध करते हैं कि वे इस मामले को सजा बढ़ाने के लिए हाईकोर्ट तक ले जाने का कष्ट स्वीकार करें।"

बाद मे श्री राजकृष्ण से दर्याफ्त करने पर मालूम हुआ कि, निहायत ग़रीब मजदूरिन के चार वर्ष के नादान बच्चे गोपी (कसरवानी बनिया) पर, २४ अगस्त १६४१ ई० को, काशी नाम के सत्रह वर्ष के (सोनार) युबा ने यह अतिक्रूर दारुण अपराध किया; हाल मालूम होने पर श्री राजकृष्ण ने पुलिस मे रिपोर्ट २६ अगस्त को की; पुलिस ने जब मुजरिम की तलाश की तब वह फरार होगया; गोपी कुछ दिन अस्पताल मे रहा; रोज-रोज की रोटी कमाने की फिक्र के सबब से, नौकरी छोड़ कर मा अस्पताल मे बच्चे की फिक्र नहीं कर सकती थी; वहां से बच्चे को अपनी कोठरी मे उठा लाई; राजकृष्ण जी की प्रार्थना पर दूसरे डाक्टर देखते रहे; गोपी के गुदा स्थान मे भारी जख्म हो गया, सड़ गया, मल विसर्ग मे बहुत कष्ट होता था, सारे खून मे उस का जहर फैला, आंखें करीब-करीब अन्धी हो गईं। भागे हुए मुजरिम काशी का माल मता जब अदालत के हुक्म से कुर्क हुआ तब वह खुद हाजिर हो गया। इन कारणों से, तथा अन्य कारणो से, देरियां, कुछ पुलिस थाने मे, कुछ कचहरी मे होती रहीं; उन की वजह से, जुर्म की तारीख से करीब चार महीने बाद, मुकदमा अदालत मे पेश हुआ; १२, फर्वरी १६४२ को मजिस्ट्रेट ने फैसला किया, जिस की कैफियत 'आज' पत्र से ले कर ऊपर लिखी गई। श्री राजकृष्ण ने, जिला मजिस्ट्रेट से, जाबिते से दर्खास्त भी किया, कि सजा बढ़ा ने के लिए मुकद्दमा हाईकोर्ट मे भेजा जाय; पर इसी बीच, मुजरिम काशी ने सेशन जज के यहां मुचल्के के खिलाफ अपील की, और जज ने (शायद फैसले में कोई कानूनी नुक्स पा कर) मजिस्ट्रेट की तजवीज और फैसले को रद्द कर दिया। नतीजा यह हुआ कि काशी बिल्कुल छूट गया, गोया उसने यह महापाप किया ही न हो।

और नमूने देखिये। इस मामिले के कुछ पहिले, बनारस मे ही, एक तीस वर्ष के जवान (क्षत्रिय) ने, एक तीन वर्ष की नादान मासूम

दूध-मुही बच्ची पर बलात्कार (ज़िना बिल् जब्र) किया, घोर व्रण, किसी किसी तरह, टांका वग़ैरा दे कर, डाक्टरों ने अच्छा किया, बच्ची की जान बच गई; मगर इस राक्षस मुजरिम को सिर्फ पांच वर्ष की क़ैद हुई, जब शायद दायमुल हब्स (हमेशा के लिए काला पानी) की सजा होनी चाहती थी।

इन दोनो मामिलों के कुछ ही दिन बाद, एक साठ वर्ष के (ब्राह्मण) नर-पशु ने, एक नौ-दस वर्ष की बालिका पर बलात्कार किया, और केवल तीन वर्ष कारावास का दण्ड पाया। इस मामिले को, रिश्वत वग़ैरा दे ले कर, दबा देने को भी कोशिश की गई। पर बात जाहिर हो गई, और पुलिस का एक आदमी थोड़े दिनो के लिए मुअत्तल भी हुआ, जो भी ग़ैर-मामूली बात है।

ता० ५ जून १९४४ ई० के 'लीडर' इलाहबाद अखबार मे शाहजहांपुर जिले की तीन खबरें, घोर अपराधों की छपी हैं; (१) जैतीपुर थाने के एक गांव से एक पुरुष ने, साढ़े चार महीने (वर्ष भी नहीं, महीने) की बच्ची पर बलात्कार किया, जो उस के एक रिश्तेदार की लड़की थी; मरी बच्ची की लाश के साथ, पास के एक खंडहर मे, मुजरिम पकड़ा गया; गांव वालों के सामने उस ने अपना जुर्म कबूल किया। (२) थाना ईसानगर के एक गांव मे, अजीमुल्ला ने अपनी जोरू हलीमन की तत्काल पैदा हुई बच्ची को मार डाला, क्यों कि हलीमन का और हलीमन की मा के दूसरे पति का नाजायज सम्बन्ध था; अजीमुल्ला गिरफ्तार किया गया है; (३) थाना गोला के एक गांव मे, महमूद ने नौ बरस की लड़की बन्नो को छुरे से मार डाला, और बन्नो की मा पर भी हमला किया, क्योंकि वह इस का ब्याह बन्नो से नहीं करती थी; बाद मे खुद डिप्टी कमिश्नर के सामने हाजिर हो गया और गिरफ्तार हुआ। यह एक दिन की एक ज़िले की, खबरें हैं; न जाने कितने ऐसे दारुण अपराध सारे देश मे प्रतिदिन होते हैं; उत्तम समाज-व्यवस्था से, सत्-शिक्षा के प्रचार से, संशक्तक संन्यासी स्वयंसेवकों के बड़े परिश्रम से ही, ये पाप रुक सकते हैं; और जब तक ये रुकते नहीं, तब तक देश की अधोगति भी रुकती नहीं।

देश की वर्तमान दशा मे, सिवा इस के क्या किया जा सकता है, कि मनु का वाक्य याद कर के, जगदात्मा अन्तरात्मा से, अपनी आत्मा से प्रार्थना की जाय, कि अपराध से पीड़ितों की सहायता करने वाले, और घोर अपराधियों को दण्ड दिलाने का यत्न कर के समाज के, आचार के शोधन की चिन्ता करने वाले, (जैसी उक्त मामले मे श्री राजकृष्ण वान्तू ने की), अधिक संख्या मे उत्पन्न हों; तथा शासकों को, नीच और दूषित बुद्धि के स्थान मे, विवेकिनी बुद्धि मिले; और समग्र जनता का ध्यान ऐसी घटनाओं की ओर, और उन को रोकने के कर्तव्य धर्म की ओर, पुनः-पुनः दिलाया जाय, और अधिकारियों की कर्तव्य-विमुखता का उद्घाटन किया जाय, और इस कर्तव्य के लिए, नगर-नगर मे सर्वजनीन हृदय वाले सज्जन, समितियां बनावें।

अदंड्यान् दंडयन् राजा, दंड्यांश् च एव अपि अदंडयन्,
अयशो महद् आप्नोति, नरकं चा अधिगच्छति । (मनु)
(पापानि पापिनां, यस्माद्, अस्य राज्ये तु, भूरिशः
विवर्धन्ते; विनश्यन्ति शिष्टाः; 'राष्ट्रं च नश्यति ।)

जो राजा दण्डनीय को दण्ड न दे, और अदंडनीय को दड दे, वह अपने को और अपने सारे राज्य को नरक मे गिराता है; क्योंकि पापी और पाप उस के राज्य मे बढ़ते हैं, सदाचारी घटते हैं, और थोड़े ही दिनों मे, सारी समाज-व्यवस्था बिगड जाने से राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

भारत मे राजकर्मचारियो तथा साधारण प्रजाजनो की दशा

कुछ अपना निजी अनुभव यहां लिख देना अनुचित न होगा। सन् १८९० से १८९८ ई० तक, मैं ब्रिटिश-भारत गवर्नमेंट का, संयुक्त प्रान्त मे, नौकर रहा; इस के बाद मैं ने इस्तीफा दे दिया; १८९८ से १९१४ तक सेंट्रल हिन्दू कालिज, बनारस, का अवैतनिक मंत्री (सेक्रेटरी) रहा; उस संस्था के और उस की शाखा प्रशाखा, लडकों के स्कूल, लड़कियों के स्कूल, रणवीर संस्कृत पाठशाला, छात्रावास (बोर्डिङ् हाउस) आदि के आरम्भण, वर्धन, पोषण आदि मे, और इस कार्य के लिए 'ब्रिटिश' भारत और 'भारतीय' भारत (देशी रियासतों) मे, पुण्य-श्लोक श्री एनी

बिसेंट के, तथा अन्य बन्धुओं और मित्रों के, साथ, परिश्रमण और परिभ्रमण करता रहा; इस के पश्चात, १६१५ से काशी विश्वविद्यालय का, और १६२१ से श्री शिवप्रसाद गुप्त जी के दान से आरम्भ किये और महात्मा गांधी के हाथ से खोले हुए काशी विद्यापीठ का, कुछ बर्षों तक सेवक, अध्यक्ष, और बाद मे तटस्थ शुभचिन्तक आज तक रहा हूं। १६२३ से १६२५ तक, काशी के म्युनिसिपल बोर्ड का 'चेयरमैन' रहा, और लड़के लड़कियों के म्युनिसिपल स्कूलों को देखता सुनता रहा ! डेप्युटी मजिस्ट्रेट की हैसियत से, ताजीरात हिन्द (भारतीय दंड-विधान, इंडियन पीनल कोड्) मे लिखित बहुत प्रकार के अपराधों की तहकीकात मुझ को, करनी पड़ी। इस लिए मुझे मालूम है कि सरकारी नौकरो मे भी, तथा प्रजा-जनो मे भी, शासकों और शासित दोनो मे, एवं अध्यापकों और अध्यापिकाओं दोनो मे, जबाना भी शुकराना भी, रिश्वत लेना देना, तथा बलात्कार से भी, डरा धमका के भी, प्रलोभन आश्वासन विश्वासन कर के, फुसला कर के, धोखा दे कर के, प्रेम प्रीति दिखा बढ़ा कर के भी, उपस्थ सम्बन्धी अनाचार दुराचार और घोर अपराध भी होते रहते हैं। इन मे से अधिकांश, विविध हेतुओं से, 'छोपो, तोपो गोपो,' हो जाते हैं तो और भीतर भीतर, समाज के चित्तों और शरीरों मे ज़हर फैलाते रहते हैं; अल्पांश, अदालतों मे, ('अदल', न्याय, का स्थान, 'न्यायालय' का नाम तो है, न्याय का काम कम) कचहरियों मे, पहुंचते हैं, और अखबारों मे चर्चा पाते हैं; उस अल्पांश मे से भी कुछ ही मामिलों मे अपराध सिद्ध होता है, और 'न्यायपति' 'न्यायाधीश', 'मुजिव्विज़', 'हाकिम', 'मजिस्ट्रेट', 'जज्ज' की निजी प्रकृति और रुचि और आचार-विचार के अनुसार अपराधी दंड पाता है। यह, भारत देश, भारतीय समाज, की, इस युग (ज़माने) मे, दुर्-अवस्था अ-व्यवस्था है।

पाश्चात्य देशों की दशा

यूरोप अमेरिका के, उपस्थेन्द्रिय-सम्बन्धी जीवन ('सेक्सुअल लाइफ़') की दशा का हाल पहिले कुछ लिखा जा चुका है। जैसे अपने निजी अनुभव की चर्चा ऊपर किया, वैसे एक मित्र के निजी अनुभव को

जो उन को वहां हुआ, (मैं स्वयं भारत से बाहर नहीं घूम सका हूं), यहां लिख देता हूं। "अखिलं विदुषां अनाबिलं, सुहृदा च स्वहृदा च पश्यतां" (नैषध), कुछ अपनी आंख, अपने हृदय, से, कुछ आप्त मित्रों की आंख और हृदय से, देख कर दुनिया का हाल जाना जाता है । ये मित्र, भारत के गिने चुने, 'हाइ कोर्टों' के ऊंचे पहुंचे हुए, उन 'ऐडवोकेटों' मे एक हैं जिन की सालाना आमदनी तीन चार लाख रुपये तक की कही जाती है; उमर भी इन की मुझ से आठ-दस वर्ष ही कम हैं; नाम कहने का काम नहीं। पिता और ज्येष्ठ पुत्र साथ ही विलायत यात्रा को गये; फ्रांस देश की राजधानी महा-नगरी 'पैरिस' मे, तथा ब्रिटेन देश की राजधानी महत्तर-नगरी 'लन्दन' मे, थिएटर-सिनेमा का तमाशा देख कर रात मे बाहर निकले; कुल-स्त्री के ऐसे अच्छे साफ़ कपडे पहिने एक स्त्री ने एक ओर से पिता की एक बांह दूसरी स्त्री ने दूसरी ओर से पुत्र की एक बांह, धीरे से खींच कर कान मे फुसकी किया, "मेरे साथ चलिये, रात रहिये"; जान छुडा कर भागे। कुल-वधू के वेश मे वेश्याएँ विचरती हैं; पर्दे की प्रथा न होने से, 'कुल-स्त्रियों से भी व्यभिचार बेपर्दे होता है; भारत मे, पर्दे की आड़ मे होता है। वात्स्यायन काम-सूत्र मे राजाओं के और उन के रनिवासों अवरोधों के व्यभिचारों का वर्णन किया है। पंजाबी श्री कन्हैयालाल गौबा की दो पुस्तकें, दस पंद्रह वर्ष हुए, छपीं, 'अंकल सैम (शैम)' और 'दि पैथालोजी आफ़ प्रिंसेज़' नाम की। 'अंकल सैम', यु. स्टे. अमेरिका-निवासी का, हास्य और स्नेह मिश्रित उप-नाम हो रहा है, जैसे ब्रिटेन-निवासी का, 'टामी ऐटकिंस', और फ्रास-निवासी का, 'जैक् बॉन-हॉम'; 'शैम' का अर्थ है, दाम्भिक'। मिस् मेयो नाम की एक यू० स्टे० अमेरिकन स्त्री ने 'मदर इंडिया' नाम की एक पुस्तिका, इन दो पुस्तकों के पहिले छापी थी; केवल-दोषज्ञ-पण्डिता, दोष-ग्राहिणी, दूषित-चित्ता लेखिका बन कर, भारत जनता की बुराइया दिखाते हुए, (यह भी कहा जाता है कि भारत जनता की स्वराज्य के लिए अयोग्यता दिखाने को, किन्हीं दूसरों की प्रेरणा सहायता से, 'प्रचारार्थ' 'प्रोपैगैंडा' के लिए), उसने यह पुस्तक छापी। उस के उत्तर मे

'अंकल शैम' पुस्तक छपी; इस मे यु. स्टे. अ. की जनता का दोषोद्घाटन वैसा ही वा उस से भी अधिक किया गया है। दूसरी पुस्तक मे भारत के राजा महाराजों नवाबों के दुराचारों, भ्रष्टाचारों, घोर अत्याचारों, प्रजा की यातनाओं का रूप अंशतः दिखाया है। प्रायः पचास वर्ष हुए होंगे, एक 'महाराजा' ने 'दि डायरी आफ़ ए महाराजा' नाम की पुस्तक अंग्रेज़ी मे स्वयं लिख कर, किसी पश्चात्ताप के वश, छापी थी; उस मे स्पष्ट लिखा था कि, 'घोर से घोर भी ऐसा कोई महापातक नहीं जो हम महाराजों ने न किया हो वा न करते हों'। इंदोर, अलवर, नाभा आदि के राजा महा-राजा, इधर बीस पच्चीस वर्ष के भीतर, गद्दियों से उतारे गये; उन के निकाले जाने के कारण सब को मालूम हैं, खुले हुए हैं; नाभा के राजा का, और उस समय के पटियाला के महाराजा का, परस्पर घोर संघर्ष, स्त्रियों के विषय मे, हुआ था; पटियाला पर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने प्रकट कोप किन्हीं कारणो से नहीं किया; अंग्रेजी गवर्नमेंट की ओर से जो कुछ जांच की गई, उस मे, अपनी ओर मे पैरवी करने के लिए, ब्रिटेन के एक बहुत बढ़े चढ़े बैरिस्टर को, कितने ही लाख रुपये 'मिहनताना' दे कर, पटियाला ने बुलाया था; पटियाला की थैली, नाभा की थैली से दस बीस गुणित अधिक बडी कही जाती है। 'मांटेग्यू चेम्सफ़ोर्ड' की रिपोर्ट मे स्पष्ट लिखा है कि 'अदालती न्याय' की तराज़ू का पल्ला वही भारी पड़ता है जिस मे थैली अधिक भारी हो। 'जस्टिस इज़ आन दि साइड आफ़ दि लांगेस्ट पर्स' पर एक प्रजा-स्नेही सज्जन श्री चुडगर ने, अंग्रेजी मे, एक बडा ग्रन्थ का ग्रन्थ, सबूत सहित, चित्र सहित, छाप दिया; और पटियाला के घोर अपराध सिद्ध किये; इत्यादि। सब देश सब काल मे यही हाल रहा; कभी कम, कभी ज्यादा। कहाँ तक कहा लिखा जाय; जैसा ऊपर कहा गया, जहाँ कहीं भी ऊपर की अच्छी चमकती त्वचा छीली जाय, वहीं, भीतर से, बीभत्स रक्त, मांस, वसा निकल पडती है। पर हां, त्वचा का सौंदर्य लावण्य भी एक वस्तु है ही; उस को भी नहीं भूल सकते। यदि दोष हैं, तो गुण भी हैं; 'खाय तो पछताय न खाय तो पछताय'; तो 'कम खाय और गम खाय, तब देश मे माना जाय।'

इस सब का आशय यह नहीं है कि, जिन दोषों का, मिस मैयो ने,

या उन के ऐसे अन्य भारत-द्रोहियों ने, वर्णन किया है, वे भारत मे सर्वथा हैं ही नहीं। प्रत्युत, बहुत हैं। इन दोष-दर्शियों का स्वयं दोष यह हैं कि वे दोष ही देखते हैं, गुण नहीं। भारतीयों को उन की बातों की सर्वथा उपेक्षा नहीं करना चाहिये, उन से भी शिक्षा लेना चाहिये, और जो दोष हम मे वस्तुतः बहुत हैं, उन को दूर करना चाहिये।[1]

अपराधो के दडो की चार मुख्य राशिया—'चातुर्दण्ड्यम्'

दड के विषय में भगवान् मनु की आज्ञा, उसी सर्व-व्यापक सर्व-संग्राहक सर्व-नियामक सर्व-समन्वायक सर्व-उपदेशक सर्व-मर्यादक अध्यात्मशास्त्र के अनुसार, जिस के सिद्धान्तों पर कर्मणा चातुर्वर्ण्य और वयसा चातुराश्रम्य प्रतिष्ठित है, दंडों के भी, सत्त्व-रजस्-तमस और अव्यक्त गुणो के अनुकूल, चार मुख्य प्रकारों की सूचना की है। (अति तामस) अधम पशु-प्रकृति और पाशव घोर साहसों अपराधों के लिए, विविध प्रकार के शारीर दंड, छेदन, भेदन, कत्तन, ताडन आदि। लोभी (तामस) प्रकृति और अपराधों के लिये, धन दंड (जुर्माने)। उद्धत (राजस) के भी, कुछ प्रकार के उक्त दोनो, तथा कारावास मे बन्धन, स-परिश्रम, (रिगरस् इम्प्रिजन्मेंट, कैदि-बा-मशक्कत), दासता आदि। (कुछ सात्विक) मृदु-स्वभाव के लिए, जिस से, ऐसे ही किसी विशेष कारण से, अचानक भूल से, सहसा क्रोध सहसा काम से, अपराध हो गया हो; जो पश्चात्ताप और प्रख्यायन करता हो, अपने किये पर शर्माता लजाता हो, और प्रायश्चित्त करने को तयार हो; उस के लिए तीन, पांच, सात, पंद्रह, इक्कीस दिन का उपवास, चान्द्रायण, कृच्छ्र-सांतपन आदि, सूचित वा विहित, और उचित हैं। ये उपवास सरल नहीं हैं, शरीर को और चित्त को बहुत

---

१ इस पैरा मे जो असाधारण अंग्रेजी शब्द आये हैं, उन का अंग्रेजी लिपि मे रूप यह है—Advocate; Uncle S(h) am; The Pathology of Princes; Tommy Atkins; Jacques Bonhomme; Propaganda; The Diary of a Maharaja; 'Justice is on the side of the longest purse.'

संताप पहुंचाते हैं, तथा भविष्य के लिए सदाचार मे निष्ठित और शुद्ध भी बनाते हैं।

'तृतीया प्रकृति'

ऊपर कहा कि प्रेम प्रीति दिखा बढ़ा कर भी, आश्वासन-विश्वासन प्रलोभन दे कर भी, अनाचार होते हैं; स्त्री-पुरुष के बीच भी; पुरुष-पुरुष और स्त्री-स्त्री के बीच भी। यदि स्त्री-पुरुष दोनो वयःप्राप्त वयस्थ हैं, अविवाहित हैं, और परस्पर, जान बूझ कर, प्रीति से आगे चल कर 'रति' 'सुरत' भी किये हैं, तो प्रायः किसी भी देश मे, भारत मे भी, 'कानून' से, उन मे से किसी का दंड नहीं होता; सामाजिक बहिष्कार 'जात-बाहर' आदि की कथा न्यारी; यह तो, जहां जैसी आचार-सम्बन्धी हवा बंधी हो, फैली हो, वैसा होता है। पुरुष-पुरुष मैथुन, वा पशु के साथ (वियोनि) स्त्री वा पुरुष के मैथुन, का दँड, (तथा बलात्कार का) कानूनन्, अक्सर देशों मे अब तक विहित है। परन्तु पुरुष-पुरुष मे, यदि प्रेमपूर्वक, घनिष्ठ सख्य और स्नेह के साथ, न केवल बहिरंग (स्पर्श मात्र वा हस्त-मैथुन आदि) अपितु (अ-योनि) अंतरंग मैथुन भी हो (गुदा, मुख, आदि से), तब पश्चिम मे तो यही हवा अधिकाधिक बह रही है कि शासक शक्ति की ओर से, तथा समाज की ओर से, इस की उपेक्षा ही की जाय, दंड न किया जाय। वैज्ञानिक दृष्टि से यह जांचा गया, और माना जा रहा है, कि ऐसी एक 'होमो-सेक्सुअल' 'इंटर्मीडियेट सेक्स' प्रकृति ही होती है;[1] और जब दैवी महाप्रकृति ने उन का भी रूप धारण किया है, तो उन को भी अपने स्वभाव के अनुकूल जीवन-निर्वाह करने देना चाहिये; इस शर्त से कि किन्हीं दूसरों को, जो साधारण प्रकृति के हों, हठेन इस 'अप्राकृतिक' प्रकार (ऐब-नार्मल, असाधारण-प्रकृति) की ओर खींचा न जाय। पाश्चात्य देशों मे, 'ट्रैम्प्स', 'होबोज़', 'ऐपाश', गृह हीन व्रात्यों (नटों, कंजरों) के ऐसे भ्रमने वालों मे भी, तथा शिष्ट सभ्य का रूप रखनेवालों मे भी, तथा, 'मंक्स्' 'नन्स्' 'स्टुडेन्ट्स्' मे भी तथा फ़ौजी सिपाहियों मे भी, ऐसे असाधारण प्रकृति वाले जीव कुछ

(१) Homo sexual; intermediate sex

होते हैं।[1] वेश-धारियों, बैरागी-उदासियों, 'साधु-मंडलियों', विद्यार्थियों, शिष्ट सभ्य सयाने जीवों मे, भारत मे भी ऐसे अक्सर होते हैं। पूर्व पश्चिम दोनो मे, इन वर्गों मे, केवल असाधारण-प्रकृति वाले थोडे, तो पापिष्ठ प्रकृति वाले बहुतेरे होते हैं। काम-सूत्र के एक अधिकरण मे 'तृतीया प्रकृति' की चर्चा की है, तथा 'औपरिष्टक' मुख मैथुन और गुदा मैथुन की; संस्कृत मे, पुरुषवत् स्त्री को 'पोटा', और स्त्रीवत् पुरुष को 'अ्कुंस' कहते हैं। ऐसे शब्दों का भाष्य, नये पाश्चात्य विज्ञान के द्वारा ही अब लिखा जा सकता है; इन सब विषयों पर प्राचीन काल मे, संस्कृत मे, विस्तीर्ण ग्रन्थ थे; इस की सूचना वात्स्यायन के उपलब्ध काम-सूत्र मे किया है; पर अब वे गुप्त लुप्त हो रहे हैं।

जिन मित्र सज्जन के, पैरिस और लंदन की अभागिनी रूपाजीवाओं के व्यवहार के, अनुभव का हाल ऊपर लिखा, उन से, दूसरी मुलाकात मे, यह भी सुना—मुरादाबाद के पास नवाब रामपुर की राजधानी रामपुर नगर मे वे किसी काम से गये; एक ऊँचे अफसर के यहाँ टिके; एक मुक-द्दमे की पेशी और कार्रवाई देखी; 'माल' की 'चोरी' का मामिला था; मालूम हुआ कि 'माल' का मानी—एक पुरुष का रक्खा हुआ, 'विवाहिता स्त्री' के ऐसा, एक 'माशूक', और 'चोर' का अर्थ यह कि उस को कोई दूसरा आदमी बहका कर 'निकाल' ले गया था; रामपुर रियासत मे, यह 'रखना' जुर्म नहीं था, बहका कर निकाल भागना जुर्म था; जैसे अंग्रेज़ी भारत मे विवाहित स्त्री को। यह घटना प्रायः पच्चीस तीस वर्ष पहिले की है। इस के बाद, रामपुर मे दंडविधान कुछ बदला गया या नहीं, यह दर्याफ़्त और मालूम करने का अवसर मुझे नहीं हुआ। मामसेन ने, ईसा-पूर्व साढे सात सौ वर्ष का, रोम का, जो इतिहास लिखा है, उस से स्पष्ट विदित होता है कि, रोम मे, कई बार ऐसे ज़माने हुए जब वहां बिल्कुल रामपुर की सी हालत रही। 'सिपाही युद्ध' १८५७-८ ई० के बाद, अवध मे, कर्नल करी, कमिशनर रहे ; फ़ौजदारी मुकदमों का फैसला भी करते रहे ; अंग्रेजी गवर्नमेंट के बनाये 'इंडियन पीनल कोड' के अनु-

(१) Tramps: hobo-es; apache, monks; nuns; students.

सार ; इस दंड-विधान पर एक शरह भी उन्होंने छपवाई; उस मे ऐसे अपराधों की बहुतायत की चर्चा की है; नवाबी मे, यह कर्म, अपराध नहीं समझे जाते थे। 'पीनल कोड' (दंड-विधान) में इस को 'अन्-नैचुरल्-आफेंस', 'जुर्म खिलाफ वजा फित्री', 'अप्राकृतिक अपराध', कहा है। एक 'माशूक' के लिए, दो 'आशिकों' मे, लाठी छुरे चलने और कतल तक हो जाने के मामिले, अंग्रेजी अमलदारी की फौजदारी अदालतों मे, कभी-कभी आते ही रहते हैं; मुझे, मैनपुरी जिले मे, १८६४-५ ई० मे, कुछ ऐसों की तहकीक़ात, मजिस्ट्रेटी हैसियत से कर के, मुलजिमों को जज की कचहरी मे भेजना पड़ा था। 'बाइबल' (यहूदी 'तौरेत') मे लिखा है कि, बहुत प्राचीन समय मे 'सोडोम' नाम का नगर, इस कुकर्म की बहुतायत के कारण, दैवी कोप से ध्वस्त हो गया, सब जीव पाषाण हो गये (अर्थात् मरण-मूर्च्छा या लकवा पक्षाघात से मर गये; जैसे पुराण की कथा मे, गौतम के शाप से उन की पत्नी 'अहल्या' व्यभिचारिणी 'पत्थर' हो गई।) अंग्रेजी के शब्द 'सोडोमी' (गुदा-मैथुन) का मूल, यही बाइबल की कथा है। इस्लामी विश्वास मे, पुण्यात्मा मुस्लिमो को 'बहिश्त' मे 'गुलाम' 'ग़िलमा' मिलते हैं, (जैसे हिंदुओं को 'स्वर्ग' मे अप्सरा); ग्रीस देश मे, अति विख्यात साक्रेटीज, प्लेटो, अरिस्टाटल आदि के 'उज्ज्वल उदय काल' मे, ईसा-पूर्व पांचवी और चौथी सदियों मे, यह पुरुष-पुरुष रति-प्रीति बहुत थी। बाद मे, इस प्रकार का, 'प्लेटानिक लव' (संस्कृत 'लुभ्') नाम ही हो गया। रोम मे 'बैकानेलिया', 'सैटर्नेलिया' आदि उत्सवों मे, (जैसा भारत मे 'होली' पर, और ईसाइयों मे जनता के कुछ अंशों मे 'क्रिस्मस' के अवसर पर, वा साम्प्रत इटली मे 'कार्निवल' पर, तथा मुस्लिमो के कुछ दलों मे, गुप्तरीति से, बँधे दिन रात मे, एवं यहूदियों मे भी, तथा ईसाइयों मे, 'ब्लैक मैजिक' 'ब्लैक मास' आदि कर्म-कांड करने वाले दल, जो तांत्रिक वाममार्ग के अनुकारी ही हैं), सब मर्यादा फेंक कर, मनमाने, जिह्वा-उपस्थ-सम्बन्धी अनाचार दुराचार करते रहे हैं। ७६ ई० मे, इटली देश के दो नगर, हर्क्युलेनियम् और पांम्पीआइ, समुद्र के तीर पर बसे हुए, पास के ज्वालामुखी पर्वत वेस्युवियस् के विस्फोट से ध्वस्त

हो गये; उद्गीर्ण राख के ढेर मे दब गये; नगरों के स्थान पर टीले ही देख पड़ते थे; १८ वीं सदी ई० के आरम्भ मे अचानक, किसी हेतु से, एक स्थान पर खोदने से, गृहों की छतें देख पड़ी; तब से बहुत खुदाई की गई है, और बहुत सी बहु-मूल्य वस्तुएं मिली हैं, और 'म्युज़ियम' बना कर रक्खी गई हैं; जैसे भारत मे इधर तीस चालीस वर्ष के भीतर, सारनाथ, नालन्दा, तक्षशिला, मोहन-जो-दड़ो, हारप्पा, आदि मे, तथा काश्मीर और तिब्बत के उत्तर, गोबी नामक मरुभूमि और तुर्किस्तान के बालू के टीलों मे, तथा अन्य बहुत देशों के बहुत स्थलों मे, जहां-जहां खंडहरों का पता चला है। इटली के वे दोनो उद्यान-नगर, रोमनिवासी अमीरों के क्रीड़ा स्थल थे; अब, उन मे, राख के हटाने पर, कई 'मंदिरों' मे नग्न स्त्री-पुरुष की मूर्त्तियां, बहुत सुन्दर और अखंडित, 'कामीय' चेष्टाओं मे व्यापृत, मिली हैं, जो वर्त्तमान नेपल्स नगर के एक म्युज़ियम (अजायब घर, 'आश्चर्य'-गृह) मे सुरक्षित हैं। भारत मे भी, जगन्नाथ-पुरी, सिंहाचल, श्रीरंग, चिदंबर, मदुरा, तनजोर, रामेश्वर आदि के मंदिरों मे, तथा काशी के 'नैपाली खपरा' नाम से प्रसिद्ध मंदिर मे भी, ऐसी मूर्त्तियां, दीवारों पर खुदी हुई आज तक हैं; ऐसी अश्लील मूर्त्तियों के बनाने का हेतु पूछने पर, पुजारी लोग, तरह-तरह की बातें बनाते और बताते हैं। यह तो प्राय: प्रसिद्ध ही है कि जगन्नाथपुरी के मुख्य मंदिर के बहुत निकट, वाममार्गियों का मंदिर है, और मुख्य मंदिर मे भी देवदासियों का नृत्य होता है, इत्यादि। इस सब से विदित होता है कि सभी देशों और सभी कालों मे, 'प्राकृतिक' स्त्री-प्रकृतियों के साथ-साथ (वर्त्तमान युग मे ठीक ही 'अप्राकृतिक' कहलाती) 'तृतीया प्रकृति' कम-बेश होती रही है। वानरों मे प्रत्यक्ष देख पडती है।

भारत के अधःपात का एक प्रधान कारण

अपने ही किये जिन महापातकों के हेतु से भारत-जनता, भारत-धर्म, भारत-देश, का ऐसा अधःपात हुआ, और अधिकाधिक होता जा रहा है, उन मे यह दारुण व्यवसाय, अबला-यातना का, तथा अन्य प्रकारों से भी बहुतेरा अपमान और पीडन, स्त्रियों का, एक प्रधान महा-

पातक है, जिस के कारण यह देश नितान्त पराधीन, परायों की जूतियों के तले, पड़ा हुआ है; छटपटाता है, पर कुछ भी कर नहीं सकता; अत्यन्त विवश है; क्योंकि अपना आचरण, अपना 'स्व'-भाव, नहीं शोधता; प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक दल, प्रत्येक जात, प्रत्येक पन्थ, दूसरों को ही बुरा कहता है, सब दुःखों के लिए दोष देता है, और अपने को सर्वथा भला और गुणमय मानता बखानता है।

> राजन्, सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि ;
> आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन् अपि न पश्यसि।
> यत्र नार्यस् तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः ;
> यत्र एतास् तु न पूज्यन्ते,सर्वास् तत्राऽफलाः क्रियाः।
> शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यति आशु तत् कुलं ;
> यत्र एतास् तु न शोचन्ति, वर्धते तद् हि सर्वदा।
> जामयो यानि गेहानि शपति, अ-प्रतिपूजिताः,
> तानि कृत्या-हतानि इव विनश्यंति समन्ततः।
> तस्माद् एताः सदा पूज्याः,भूषणाऽच्छादना-शनैः,
> भूतिकामैर् नरैर् नित्यं, सत्कारेषु उत्सवेषु-च।
> संतुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथा एव च,
> यस्मिन् एव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवं।

सर्सों से छोटे छिद्र दूसरों के देखते हो; बेल से बड़े छिद्र अपने नहीं देखते हो। जिस कुल, परिवार, वंश, समाज मे, स्त्रियों का अनादर अपमान किया जाय, स्त्रियों को पीड़ा दी जाय, जिस को वे रोती विलपती सिसकती स्त्रियां शापैं, वह कृत्या (कोसना, 'कर्स', मानस-अस्त्र) से, विद्युत् बिजली से, मारे हुए के ऐसा, सद्यः नष्ट हो जाता है। जिस कुल मे स्त्रियों का, भूषण, आच्छादन, भोजन से, प्रीति-पूर्वक सत्कार होता हैं, वही कुल फूलता फलता है; जिस गृह मे भर्त्ता से भार्या और भार्या से भर्त्ता प्रसन्न है, संतुष्ट है, वहीं स्थायी कल्याण है, वहीं स्वर्ग है।

घोर हानिकारक 'थोथे नारे, अर्थ विसारे'

अंग्रेजी मे कहावत है, 'दि एम्पटी वेसल साउन्ड्ज़ मच', 'the

empty vessel sounds much'; 'रीता घड़ा, शब्द बड़ा' 'भारी ढोल, निरा पोल'; 'लफ़ज़ कसीर, मानी सग़ीर'; 'सूरत फ़ज़ील, सीरत ज़लील'।

बिना 'स्व'-कीय 'स्व'-भाव शुद्ध किये, 'स्व-राज' 'स्व-राज' का थोथा शोर करना, अर्थशून्य व्यर्थ अपार्थ अनर्थ 'नारे' (घोष, आक्रन्द, पुकार) लगाना चिल्लाना, नितान्त मूर्खता है, और अधिक पराधीनता और दुःखों का हेतु है। जब 'स्व-राज्य' के 'स्व' का ठीक अर्थ जनता जान लेगी, कि क्षुद्र-'स्व-अर्थ'-(-स्वार्थ-)-कामी नहीं, राजस-तामस-कामऽात्मक अधम-'स्व'-वाले नहीं, पर-अर्थ-कामी सर्वजनीन-हित-कामी, सात्त्विक-कामात्मक निस्स्वार्थी परार्थी उत्तम-'स्व'-वाले, लोक-हितैषी, विद्वान्, अनुभवी, परिपक्व वयस् और बुद्धि के, समाज के सब अंगों के अच्छे और जरूरी पेशों के यथोचित पोषण की नीयत रखते हुए, और सच्चे वर्णाश्रम धर्म के द्वारा समग्र समाज की उत्तम सु व्य-वस्था करने का उपाय भली-भांति सोचे विचारे और जाने हुए, मनुष्यों का राज्य ही सच्चा 'स्व'-राज्य है; क्योंकि इस सर्वजनीन हित के साधने का उपाय सत्य-वर्ण-आश्रम-धर्म-रूपिणी समाज-व्यवस्था ही है। जब ऐसा होगा, तब ही जनता का 'स्व-राज्य' शब्द का घोषण करना सार्थ होगा; और कृतार्थ भी होगा; अन्यथा नहीं। विवेक-पूर्वक, अल्प-स्व-अर्थी स्वार्थी 'काम' का नियमन, सीमित-करण—यह, इस सन्-मार्ग का पहिला पद (क़दम) है। यदि सब लोग अपने दोष और पराये गुण अधिक देखें, अथवा, कम से कम, अपने भी और दूसरों के भी गुण भी और दोष भी देखें, तो सब कलह शांत हो जाय, सत्ययुग का राज्य हो जाय, कलियुग भाग जाय। अपने तो गुण ही, दूसरों के दोष ही, सब लोग देख रहे हैं, इसी से कलह का उद्रेक और कलि का साम्राज्य हो रहा है। अंग्रेज, जर्मन को; जर्मन अंग्रेज को; जापानी, चीनी को; चीनी, जापानी को; रूसी, जर्मन को; जर्मन, रूसी को; अंग्रेज, रूसी को; रूसी अंग्रेज को; हिन्दू, मुसल्मान को; मुसलमान, हिन्दू को; इत्यादि हर एक, दूसरे ही को बुरा समझता है और पुकारता ललकारता है; अपने को सर्वथा अच्छा ही जानता है। जगत

मे शांति, अहिंसा, और सत्य का राज्य, सत्ययुग, कैसे हो ? यदि, मारा-मारी करने के एवज, सब लोग मिल कर शाइस्तगी से सलाह करैं, अपने-अपने काम-क्रोध को दबावैं, अपने दोषों को भी और दूसरे के गुणो को भी देखैं, एक दूसरे की ज़रूरतों को समझैं, और उन को मुनासिब हद तक पूरा करने मे मदद दें, तो ये सब झगड़े आसानी से निपट जायँ। वही पुरानी बात, "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पंडितः"। पर बनता नहीं, प्रत्येक देश मे, काम, क्रोध, लोभ, गर्व, परस्पर भय, और ईर्ष्या की आंधी मे ही, शासक समूह अपने-अपने अनुयायी, मन्त्र-संमोहित, जड़ी-भूत, भेड़-बकरी के ऐसे, प्रजा-समुदाय के साथ, उड़ता रहता है।

(जिस 'नोट' का आरम्भ पृ० २३१ पर हुआ, वह यहाँ समाप्त हुआ)

ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशों की दशा

सन् १६४२ मे, ब्रिटेन के स्वास्थ्य-विभाग के एक बहुत ऊंचे अधिकारी ने, जनता को सावधान करने के लिए, अपने विभाग के कार्य की कठिनता के उल्लेख की आड़ मे, यह चेतावनी दी कि ब्रिटेन मे, और विशेषतः लंदन महानगर मे, एक नया संकट बढ़ गया है; अविवाहिता युवतियों मे 'वेनीरियल् डिज़ीज़', गुह्येन्द्रिय-सम्बन्धी रोग, की बहुत वृद्धि हो गई है; क्योंकि वे, युद्ध मे ब्रिटेन की सहायता करने के लिए अमेरिका से आये हुए सैनिकों के साथ, निश्शंक हो कर 'अतिथि-सत्कार' के भाव से, उन का मन प्रसन्न रखने के लिए, स्वच्छन्द विचरती हैं और सिनेमा गृहों मे तथा अन्य मन-बहलाव के स्थानो मे घूमती फिरती हैं। अमेरिका से आये हुए सैनिकों पर, ध्वनि से, दोष मढ़ा गया; पर ब्रिटेन की स्त्रियों के चित्त की दशा का भी प्रदर्शन उसी ध्वनि से होता है। स्वयं ब्रिटेन के सैनिक, जो युद्धकाल मे, अपने देश मे तथा अन्य देशों मे ऐसी ही करतूत करते रहे हैं, उस का भी इन्हीं प्रकारों का वर्णन, स्वयं अंग्रेजी ग्रंथों मे मिलता है; तथा भारतीय और अन्य-देशीय सैनिकों का भी युद्धकाल मे सदा से यही हाल रहा है; 'वीर्यमद' का तांडव, हत्या, स्त्रियों पर बलात्कार, लूट, ध्वंसन, सभी प्रकारों से, साथ ही साथ, होता है। योगभाष्य मे, "वितर्कबाधने प्रतिपक्ष-भावनं" (सूत्र २-३३) पर, वितर्कों

का रूप लिखा है—'वैरी को मार डालूंगा, इस कार्य के लिए झूठ भी बोलूंगा, इस का धन दौलत सब लूट लूंगा, इस की स्त्रियों से व्यवाय (मैथुन) करूंगा, इस के माल-मता का मालिक बन जाऊंगा'। शहरों और ग्रामो मे पद-पद पर देख सुन पड़ता है कि अभद्र मनुष्य आपस मे क्रोध से लडते है, तो मार पीट के साथ साथ एक दूसरे को मा बहिन बेटी की और अ-योनि-मैथुन की गाली भी दे जाते हैं; तथा ऐसी स्त्रिया भी जब लडती है, तब एक दूसरे को अश्लील शब्दो मे, तरह-तरह के व्यभिचार के और वि-योनि मैथुन के दोष भी लगाती जाती हैं।

'उपर्स्थीय' काम के विकारो का; उन से उत्पन्न अति विचित्र, अप्राकृतिक, अस्वाभाविक क्रियाओ का; घोर अपराधो, पापो, रोगो का; हत्याओ, विट-वृत्तियो, वेश्या-वृत्तियो, पुरुष-पुरुष मैथुनो, स्त्री-स्त्री मैथुनो, मनुष्य-पशु मैथुनो का;[1] राजाओ- रानियो, मत्रियो, उच्चाधिकारियो, के व्यभिचारों

१ ऊपर पृ०२३४–२३५ पर चेतावनी दी जा चुकी है; याद रहे कि इन सब धर्म विरुद्ध दुष्कमो की, अ-योनि मैथुन (मुख मे वा गुदा स्थान मे), वि योनि मैथुन (नर-मादा-पशुओं के साथ), सम-उपस्थ मैथुन (अंग्रेजी मे 'होमो-सेक्सुएलिटी', अर्थात समान लिंग स्त्री-स्त्री के, पुरुष पुरुष के, मैथुन), आदि की चर्चा काम-शास्त्र मे की है; और स्मृतियो मे इन के लिए, अपराधों के अनुरूप, छोटे-बडे प्रायश्चित्त और दंड भी विहित हैं। जो लोग इस की ओर थोडा भी ध्यान देंगे, उन को तुरत पता लग जायगा कि ऐसे अनाचार कितने फैले हुए हैं, और बहुतेरे सयानो प्रौढ़ों को मालूम भी हैं ही, यद्यपि जल्दी इस की चर्चा सब के सामने नहीं करते; जो स्वयं भले हैं, वे शर्मा-शर्मी से, 'लोक-लाज' से; जो स्वयं दुष्ट हैं, वे तो छिपा कर अपना पाप बढ़ाते रहते हैं, और मन मे भले आदमियो का क्रूर अपहास भी करते हैं, और पकड़े जाने के भय से भीत भी रहते हैं। भारतीय तथा अन्य देशीय सेनाओं के अफसर और डाक्टर अच्छी तरह से जानते हैं कि सिपाहियों मे, जो अपने कलत्र-पुत्र आदि से, वा सब प्रकार की स्त्रियों से, स्वकीया, परकीया, वा वेश्याओं से, अलग पड़ गए हैं, इस प्रकार के अयोनि वियोनि मैथुन बहुत होते हैं। यही हाल, बडे-बडे यंत्रालयों कारखानों कर्मान्तो का है,

का; उन के कामीय दोषों के कारण चक्रकों पेटकों (गुट्ट, 'कोटरी', coterie) के बनने का; जिन की चर्चा प्रायः साधारण 'भद्र' इतिहास लिखने वाले या तो अज्ञान-वश, या अश्लीलता के अपयश के भय से, अपने लिखे इतिहासों मे नहीं करते; पर जिन के कारण, देश-देश के इतिहास की गति मे बड़े-बड़े परिवर्त्तन हो गये है, और हो रहे हैं, और जिन का ठीक-ठीक हाल जाने बिना, इतिहास की गति के पलटे समझ मे नहीं आते; इन सब का गवेषण, इस विषय के पाश्चात्य गवेषकों ने बड़े परिश्रम से किया है, और बड़े-बड़े बृहत्काय, पाच-पांच, सात-सात, दस-दस, जिल्दों के आकर ग्रंथों मे वर्णन लिखा है। ऐसा करने के कारण, शुरू मे, ऐसे लेखकों को बहुत कठिनाइयां और दुर्दशाएं, सामाजिक निन्दा और तिरस्क्रिया, जहां पुरुष ही पुरुष, वा स्त्री ही स्त्री, एकत्र होती हैं। यही हाल, अयोनि मैथुन का, स्कूलों कालिजों मे और वहां के अध्यापकों मे है; इस की चर्चा, पहिले, पृ० २०६-२१२ पर, कुछ की जा चुकी है। यह सब दोष पूरब के भी, पच्छिम के भी, सभी देशो मे, घोर घोरतर रूप से सदा रहे है और बढ़ते जाते हैं। मानव-सभ्यता, 'सभा' की व्यवस्था, सामाजिक वा सामूहिक जीवन, प्रकट जीवन, ('सिविलजेशन', 'सोशल स्ट्रक्चर', 'वे आफ कलेक्टिव और सोशल लाइफ' Civilisation, Social structure, Way of collective or Social life), का रूप और प्रकार ज्यों-ज्यों बदलता है, त्यों-त्यों उस के प्रभाव से, वैयक्तिक और कौटुम्बिक जीवन और 'अप्रकट-जीवन' ('प्राइवेट लाइफ़' private life) का रूप और प्रकार भी अवश्य ही बदलता रहता है।

गुरुकुलों की प्रथा, और विद्यार्थी जीवन मे ब्रह्मचर्य की महिमा, और आश्रम-व्यवस्था, जिस काल और देश मे व्याप्त थी, उस मे इस प्रकार के अनाचार-दुराचार का संभव कम था। आजकाल, बालक-बालिकाओं, युवा-युवतियों, के सह-अध्ययन की चाल, जो बढ़ते वेग से चल रही है, उस से अविवाहित मैथुन, गर्भाधान, गर्भपातन, रोग-भोग, आत्म-हनन, सहोढ (गर्भेण-सह, दूसरे के वीर्य से गर्भ मे आये जीव के साथ, स्त्री का) विवहन, (अन्य से गर्भ रह जाने पर, छिपा कर, दूसरे से विवाह करा कर)

भी झेलनी पड़ीं; और कचहरियो से दण्ड भी सहना पड़ा; पर अंत मे, जनता ने, तब पीछे 'जज्जो' प्राड्विवाको ने भी, पहिचाना, कि इन को दंड नही, आदर देना चाहिये; मनुष्य-जीवन के प्रधान अंग के शास्त्र की नीवी उन्हो ने पुनः डाली है, भारतवर्ष के लुप्तप्राय प्राचीन विशाल काम-शास्त्रीय वाङ्मय का (जिस के कुछ ही बृहत्काय ग्रंथों का नाम वात्स्यायन के उपलभ्यमान अति स्वल्प 'कामसूत्र' के आरम्भ मे लिया गया है) पुनः नये रूप मे उज्जीवन किया है, ज्ञान-विज्ञान बढ़ाया है, अंधेरे मे प्रकाश किया है। सुधारकों की सदा ऐसी दुर्दशा होती रही है; पति-वंचन, आदि, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन को आधि-व्याधि-मय और नितान्त भ्रष्ट कर रहे हैं, और सामूहिक घोर-चित्त-विकार उत्पन्न कर के तीव्र कलहों और महायुद्धों के कारण हो रहे हैं।

देश-देश मे, शासकों ने, सेनाओं के साथ, कभी वेश्याएँ रखने की, कभी ब्याहुता (विवाहिता) स्त्रियां रखने की, तरह-तरह की आजमाइशें कीं; पर एक दुष्फल कुछ रुका, तो दूसरे दुष्फल, अधिक तीक्ष्ण, उत्पन्न हो गये।

ऊपर, 'अप्राकृतिक', 'अस्वाभाविक' ('ऐब-नार्मल' abnormal) आदि शब्द लिखे गए हैं। व्यापक 'सार्विक' 'सामूहिक' दृष्टि से तो महा-प्रकृति, पारमात्मिक मूल-दैवी-प्रकृति, के बाहर कुछ हो ही नहीं सकता; पर देश-काल से अवच्छिन्न, परिमित, आपेक्षिक, ('रेलेटिव', relative) खंड-ग्राहिणी व्यावहारिक दृष्टि से, 'प्राकृतिक', स्वाभाविक' ('नार्मल' normal) का अर्थ इतना ही है, कि उस देश और काल मे, वह जीवन प्रकार, वह रहन-सहन, आचार-विचार, आहार-विहार, बोल-चाल, दुआ-सलाम, स्त्री-पुरुष के परस्पर व्यवहार की मेंड-मर्यादा, अधिकतर समाज मे प्रचलित और मान्य है; जो प्रचलित वा मान्य नहीं है, निन्दा वा शंका की दृष्टि से अधिकतर देखा जाता है, वह 'अप्राकृतिक' कहलाता है।

'उपस्थ' शब्द पुरुष के लिंग, शिश्न, मेढ़्, मेहन, शेफ, का भी वाचक है, तथा स्त्री के लिंग, योनि, भग, वराङ्ग, मदन-मंदिर, का भी; 'योनि' भी दोनो का; पर रूढ़ि यही है, कि 'लिंग' पुरुष-चिह्न के लिए, 'योनि' स्त्री-लक्षण के लिए, कहा जाता है।

राजस-तामस जन्तु जिस हाथ से रोटी पाते हैं, उसी हाथ को काटते हैं। "सतत-दुर्गत. सज्जनः।"

अब इस विषय पर, पश्चिम मे, हजारों छोटे और मोटे ग्रन्थ निकल चुके हैं और निकलते जाते हैं; तथा प्रायः सभी राष्ट्रों मे, एक एक, दो दो, वा अधिक, प्रतिष्ठित मासिक पत्र भी छपते रहते है; जैसे अन्य शास्त्रों के। पर मनुष्य की प्रकृति की द्वंद्वमयता के हेतु से, नये ज्ञान-विज्ञान का घोर दुरुपयोग भी बढता जाता है। इन पाश्चात्य ग्रन्थों मे, जो अति 'काम' वा विषम 'काम' से प्रेरित पापो का वर्णन मिलता है, उस को पढ़ कर, हृदय दहल जाता है; यह पृथ्वी नहीं, साक्षात् नरक है, यही जान पड़ने लगता है; ऊपर का कोमल चमड़ा जरा सा छीलो, तो नीचे मल ही मल देख पड़ता है; स्त्री और पुरुष, परस्पर, जितना सताते है, उस से अधिक यातना यमराज की दंडधानी मे भी नहीं हो सकती है; आपात-रमणीय, देखने मात्र को ऊपर से चिकना, स्निग्ध, भीतर नितांत मलमय, चित्त भी, शरीर भी, धारण करना नहीं अच्छा; छोड़ देना ही अच्छा— ऐसे वैराग्य के उत्कट भाव, मृदु-वेदी सुकुमार चित्त के जीव के भीतर उत्पन्न होते हैं। परन्तु,

महामाया-प्रभावेण, संसार-स्थिति-कारिणा,

संसार की स्थिति बनाए रखने वाली महामाया की पूर्वार्धरूप अविद्या देवी के प्रताप से; अथ च परार्धरूप विद्या देवी की आज्ञा से, कि

अनासक्तः फले नित्यं, कृत्यं कर्म समाचर,
(परेषां सेवनार्थाय, ऋणोद्धाराय चात्मनः), (गी०),

फल की इच्छा आशा मे मन अँटकाये बिना, कर्तव्य कर्म करो; दूसरो की सेवा सहायता विविध प्रकारों से कर के अपने देव-ऋषि-पितृ-ऋणों को चुकाओ, तथा दूसरों का अपराध रूपी दुष्कर्म कर के इस जन्म और पूर्व जन्म मे काढे-ओढे ऋणो का, दूसरों के लिए दुःख उठा कर, मानो दंड भोग कर, निर्यातन निर्मोचन करो; तथा वेदान्त के इस सिद्धात को याद कर के, कि सृष्टि मे पुण्य और पाप की मात्राएँ, अंततो गत्वा, कांटा-तौल तुल्य हैं; पुनः कार्य मे लगना पड़ता है। अन्न से खाद, और खाद से अन्न, पैदा होते ही रहते हैं। 'संसार-चक्र' का अर्थ ही यही है।

यु० स्टे० अमेरिका मे, शारीरशास्त्र, प्राणिशास्त्र, सचेतनशास्त्र ('बायालोजी' 'फिजियालोजी') के एक अग्रगण्य विज्ञाता और नये नये अद्भुत आविष्कार करने वाले उपज्ञाता, श्री अलेक्सिस कैरेल का देहावसान, ७१ वर्ष की उम्र मे, नवम्बर, १९४४ मे हुआ। आप ने 'नोबेल' पुरस्कार, तथा अन्य राष्ट्रो से भी अर्हणा की उपाधिया, पाई। सन् १९३५ मे इन का एक ग्रन्थ, 'मैन—दि अन्नोन' (Man-the Unknown, 'पुरुष—अज्ञात'), छपा। बहुतेरे पाश्चात्य उत्कृष्ट विद्वानो के सिद्धांतो का हवाला देती हुई, तीन सौ पृष्ठ की, इस पुस्तक की पुकार और चेतावनी यही है, कि आधुनिक सभ्यतम मनुष्य अन्य बहुत विषयो को जानता है, पर 'अपने' को ही ठीक-ठीक नही जानता, 'आपणे' ('आत्मानं') को आप 'अज्ञात' है, और'माडर्न सिविल-जेशन' ('नूतन पाश्चात्य शालीनता सभ्यता'), अधि-आत्म से अति विरक्ति, और अधि-भूत मे अति आसक्ति अनुरक्ति, के हेतु, सार-हीन, निस्सत्व, पोली, विनाशोन्मुख हो कर, अन्ध कूप मे गिरने जा रही है; तथा इस आसन्न विपत्ति से बचने का एक मात्र उपाय यही है कि, अधि-भूत की अति रुचि का नियमन, नियंत्रण, मर्यादन (सर्वथा उत्सा-दन नही) किया जाय; और अधि-आत्म की प्रसुप्त उच्छिन्नप्राय रुचि पुनः जगाई जाय। सो उन का, तथा सब देशो के सभी विचारशील, विवेकी, दूरदर्शी, शातिप्रिय, अध्यात्म और अधिभूत का यथोचित समन्वय चाहने वाले सज्जनो का, यह भय सत्य हो ही गया; और १-९-१९३९ को, यूरोप मे, प्रजाविनाशी विश्व-युद्ध शुरू हो ही गया। प्रायः छः वर्ष तक, एक ओर प्रजा की यमयातना, दूसरी ओर युद्ध की तीव्रता और उग्रता, बढ़ती ही गई। मई, १९४५ में, जर्मनी ने, सितम्बर, १९४५ मे, जापान ने, हार माना। यू० स्टे० अमेरिका के अपार धन और अद्वितीय विज्ञान के आगे, जापान का अद्वितीय शौर्य और बहुत बढ़ा हुआ भी विज्ञान, धन और रण-सामग्री की कमी से, निष्फल हो गया। कई कोटि 'डालर' के व्यय से, कई वर्ष के नितान्त छिपाए हुए परिश्रम से, यू० स्टे० अ० के वैज्ञानिको ने 'ऐटम-बम' (atom bomb) तैयार

किए। ८ अगस्त, १९४५, को जापान के हिरोशिमा नगर पर, और ९ अगस्त, को नागासाकी नगर पर, एक-एक ऐटम-बम गिराया गया। ढाई-ढाई तीन-तीन लाख आदमियों की बस्ती सहित, दोनो नगर मानो धूल हो कर हवा मे उड़ गए। उन का कुछ निशान भी नहीं बचा जापान के सम्राट् और शासकों ने देखा कि अब भी लड़ते रहना तो सारी जापानी जाति को मिटा देना है। देखिये, अब विजेताओं के हाथ जापान जाति और देश की क्या दशा होती है। अत्यन्त आभिजात्य-मद (race-pride) ने ही जर्मनी का भी और जापान का भी नाश किया।

अपने भीतरी कलहों से छिन्न-भिन्न जीर्ण-शीर्ण इस अभागे भारतवर्ष मे तो अन्धस्वार्थ, अन्धकलह, परा काष्ठा के दम्भ, दैन्य, छल-कपट, मिथ्यावादिता, दगाबाजी, परस्पर नितान्त अविश्वास, शंका, भय, चापलूसी, चर्ब-जबानी, चाटुकारिता, का राज्य हो रहा है। और न सच्चा शौर्य है, न सच्चा धर्म, न धन, न विज्ञान-कौशल। पर, जैसे वृद्ध शरीर मे, अनुभव से पक्व बुद्धि और प्राण की अवशिष्ट सूक्ष्म ज्योति भी, जरा (बुढ़ापा) देवी की सहचरी व्याधियों की मडली के साथ-साथ अन्त तक कुछ न कुछ बनी रहती है, वैसे ही आत्म-विद्या, अध्यात्म-विद्या, योग-विद्या की कुछ थोड़ी सूक्ष्म स्वल्प प्रभा आभा अब भी जहा-तहा भारत मे बच रही है। ऐसे भारतवर्ष मे, बीस पच्चीस वर्ष से, यह भविष्य वाणी फैल रही है कि, घोर कष्टों के अनन्तर, सम्वत् २००० की समाप्ति (अप्रैल १९४४ ई०) के बाद, अस्सी वर्ष का एक बहुत छोटा सत्ययुग के ऐसा अवातर युग होगा। सम्वत् २००० वि० बीत गया; अभी तक सत्ययुग के लक्षण कोई देख नहीं पड़े; किन्तु परमात्मा जगदात्मा की अनन्त 'काम' शक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नहीं; एक क्षण मे सारी हवा बदल सकती है। अस्तु; अनादि अनन्त काल और आकाश मे जो कुछ हुआ, हो रहा है, होगा, वह सब ही 'कामस्य विक्रीडितं', 'अकामस्य, सर्वकामस्य, महाकामस्य, निष्कामस्य, मूलकामाधिपतेः, सर्वकामातीतस्य, देश-काल-क्रिया-रहितस्य, अक्रियस्य, सर्वक्रियस्य, अविद्या-विद्या-मयस्य, सर्व-द्वंद्व-गर्भस्य, सर्व-द्वंद्व-ातीतस्य, लीला-कैवल्य-धारिणः, भगवतो जग-

दात्मनः परमात्मनः कामस्य लीलायितम्' ।

महाभारत मे पाडव-कौरवीय प्रजानाशक घोर 'महा-युद्ध' ('ग्रेट वार',) के कारणो मे (यमराज को अणीमाडव्य ऋषि के शाप, और पृथ्वी पर विदुर के रूप मे जन्म, के) रूपक से भी, और स्पष्ट शब्दो मे भी, दो मुख्य कारण कहे हैं ।

आपूर्यंत मही कृत्स्ना प्राणिभिर् बहुभिः भृशं;
असुराः जज्ञिरे राज्ञां क्षेत्रेषु, (बहवः तथा) ।

कुछ वर्षो तक राजा धर्मात्मा हुए; प्रजा को सुख मिला; मैथुनीय काम की और मनुष्य संख्या की अति वृद्धि हुई; परस्पर संघर्ष, जीवन संग्राम, घोर कलह, का बीज, अंखुए निकाल कर, बाहर आया और बढ़ने लगा। दूसरी ओर, धर्मात्मा राजाओ के घरों मे असुरो, दैत्य-राक्षस जीवों, ने जन्म लिया; अति वीर्य-मद, लोभ, क्रोध, मत्सर आदि के 'गुलाम', और प्रजा के 'राजा' । संसार मे दुःख भर गया; महाभारत युद्ध हुआ । मात्स्य-न्याय चला; जैसे मछलिया, एक एक बेर मे लाखों अण्डे देती हैं, फिर एक दूसरे को खा जाती हैं, वह हाल मनुष्यो का हुआ । वही हाल आज समग्र मानव-जगत् का हो रहा है ।

काहे दुख संसार छयौ रे, काहे दुख संसार छयौ ?
काम क्रोध मद लोभ मोह भय मत्सर कौ जब राज चल्यौ,
तब ही जग मे दुःख छयौ ।
प्रेम प्रीत मुसक्यान विनोद रु हंसिबो स्वप्न भयौ ।
हाहाकार, परस्पर नाशन, चहुं दिसि होइ रह्यौ ।

ऊपर कहा कि द्वितीय विश्व-युद्ध अधिकाधिक फैलता और जगत्-प्रमाथी होता गया; यहा तक कि जल, स्थल, अनिल मे सर्वत्र व्याप्त हो गया; कोई महा द्वीप या लघु द्वीप इस से बचा नहीं; साक्षात् रक्तपात और मास-कर्दम से; वा परम्परया, रण की सामग्री एकत्र करने के हेतु किये गये शोषण मोषण से । पुराणो के देवासुर संग्रामो को भी इसने मात कर दिया; चारो ओर रुधिर की नदिया बही; कोटियों मनुष्यों की शक्ति का, घोर अपव्यय हुआ; एक ओर युद्ध के उपकरण,

स्थल-यान, जल-यान, अन्त-र्जल-चर-यान, वायु-यान, गोला, बारूद, 'बम', 'टैंक', सौ सौ फुटतक लम्बी और बारह बारह हजार मन तक भारी तोपों, को बनाने मे; और दूसरी ओर बिगाड़ने, तोड़ने, फोड़ने, समुद्र और नदियों मे डुबाने मे। बड़ी बडी नगरियां, राजधानियां, बम-वर्षा अग्नि-वर्षा से ध्वस्त कर के, उजाड़ी, और खंडहल और राख के ढेर बनाई, गईं; जहां जहां पेट्रोल, तेल, बारूद, वा 'गेस' के विशाल संचयों (गोदामो, 'गो-डाउन', खजाना, गंज) मे बमो से आग लगाई गई, वहां वहां हजारो गज ऊंची आग की लपटें और कोसों ऊंचे धूएं के बादल उठते रहे; और बिजली की तड़क और गरज को अति क्षुद्र बना देने वाले धड़ाके, विस्फोट, होते रहे; दस दस, पंद्रह पंद्रह, बीस बीस, और तीस तीस करोर रुपयों की, वा इस से भी अधिक, लागत के[1] सैकड़ों

[1] जापानी जल सेना के एक अफसर, किनोआकी मात्सुको ने, जापान मे, अपनी भाषा मे, १९४० ई० मे एक ग्रन्थ छपवाया; उस का अनुवाद, अंग्रेजी मे 'हाउ जापान प्लान्स टु विन्' ('How Japan Plans to Win), नाम से, एक जापान विद्रोही कोरिया-देशी पुरुष, किल्सु-हान ने यू० स्टे० अमेरिका मे १९४२ मे छपाया; उस के पृष्ठ ४२ पर छपा है कि ४५००० (पैंतालीस हजार) टन् (बारह लाख मन) के जंगी जहाज का मूल्य सौ मिलियन (दस करोर) डालर (बीस मिलियन पौंड वा तीस करोर रुपया), और पैंतीस हजार टन् के युद्ध-वहित्र का सात करोर रुपया होता है। सिंगापुर, मलाया, बर्मा आदि पर, जापानियों ने, १९४१ के अन्त और १९४२ के आरम्भ मे कब्जा कर लिया; १९४२ के अन्त मे कलकत्ता पर बम-वर्षा की; और तब से भारत की पूर्वी सीमा पर, (आसाम बर्मा के बीच मे उन की और ब्रिटिश गवर्नमेंट की सेनाओं मे सतत युद्ध होता रहा। १४ अप्रैल १९४४ को बम्बई के जहाजी बन्दरगाह मे, अमेरिका से आए हुए, फौजी सामग्री, बहुत सा सोना, बारूद, बम गोला, आदि से भरे हुए, एक भारी जहाज मे भीतर भीतर आग लग गई, भारी विस्फोट हुआ, अग्नि के गोले शहर पर फैल-फैल कर गिरे; मीलों तक मकान टूट गए; हजारों

मुसाफिरी और जंगी जहाज, जल के भीतर से 'टार्पीडो' अस्त्र की मार से, और वायुमण्डल के भीतर से 'बम' अस्त्र के प्रहार से, आध-आध घन्टे मे, हजारों मुसाफिरों, सिपाहियों, खलासियों, अपार अन्न वस्त्रादि सामग्रियो समेत डुबा दिये गए; छोटे जहाज तो हजारो; लाखो मनुष्य, (न केवल युद्ध के पेशे वाले फौजी, बल्कि दूसरे पेशे वाले आदमी, अपने देश छुड़वा कर, मजबूरन (अगत्या, बेबसी, विवशता से, सेना मे भरती किये गये, और दो तीन महीने मे आरम्भिक फौजी 'कवायद' सिखा कर युद्ध मे झोक दिये गये। ये तो मृत्यु के मुख मे 'सशस्त्र' बन कर गये ही; इन के अलावा गांवों और शहरों मे बाकी बचे, निःशस्त्र, दूसरे पेशे करते हुए पुरुष, घर गिरस्ती का काम करती हुई स्त्रिया, स्कूलों मे पढ़ते खेलते लड़की लड़के भी, इन शहरो और गावो पर की गई बमवर्षा, अग्निवर्षा, गोली-वर्षा, से लाखो की संख्या मे हताहत हुए, जान से मारे गये, वा आमरण, मारी बाकी उम्र के लिए, अन्धे, लंगड़े, लूले, बहिरे, हस्तहीन, पादहीन, नासिकाहीन, बनाये गये। इस प्रकार से, इस घोर कलि के तांडव मे, पचासों कोटि मनुष्यो की प्राणशक्ति का, साक्षात् वा परम्परया, दारुण दुर्व्यय दुष्प्रयोग हुआ; परम्परया भी, क्योंकि खेती-बारी, पशु-पालन, वाणिज्य आदि के व्यापारो मे, मनुष्य जीवन की आवश्यकीय वा निकामीय वस्तुओं के उत्पादक कार्यों मे, जो लगे हैं, उन के उत्पादित द्रव्यों का भी, अन्न वस्त्र, फल-मेवा, गुड़-चीनी, घी-तेल, लकड़ी कोयला, धातुओं के बर्तनों का, खनिज पदार्थों का, ऊन चमडे का, औषध का, सभी का, गवर्मेन्टों की आज्ञा-शक्ति से, युद्ध के बड़वानल मे होम-हवन, सभी देशो मे होता रहा है। इस हेतु से साधारण जनता को, एक ओर, आवश्यकीय वस्तुओं का घोर अभाव, नीवाक, प्रयाम, दुष्काल, अकाल होता रहा; दूसरी ओर, शासक शक्तिया, गवर्नमेंटें, सोना-चादी-तांबा आदि धातुओं के सिक्कों को, व्य-वसाय व्यापार मे सहायक होने के उन के स्वाभाविक कार्य से हटा कर,

आदमी हताहत हुए; एक तखमीना किया गया कि जहाज का और शहर का नुकसान मिला कर, प्रायः पाच सौ कोटि रुपयों के तुल्य सम्पत्ति का ध्वंस हुआ; स्यात् कुछ अत्युक्ति हो।

बाजार से खींच कर, युद्ध-सम्बन्धी युद्ध-सहायक कार्यों मे लगाती रहीं; तीसरी ओर, इन सिक्कों के स्थान पर 'करेंसी नोटों' के कागजी घोड़े, गवर्नमेंट ने अपने छापाखानों मे यथेष्ट छाप छाप कर चौतरफा दौड़ाया; चौथी ओर, सब प्रकार के कर, 'टेक्स', दिन दूने रात चौगुने करती रही हैं; पांचवीं ओर, गवर्नमेंट तो, इस शंका और भय (सेन्स आफ इनसिक्यूरिटी, sense of insecurity) से कि भविष्य मे युद्धोपयोगी किसी वस्तु की कमी न हो जाय, सब प्रकार के अन्न वस्त्र-खनिज-तेल आदि द्रव्यों के लाखों करोरों मनो के विशाल संचय ('होर्डिङ', hoarding), अपने ही निर्णीत दामो पर खरीद खरीद कर, स्थान स्थान पर, जमा करती रही, (आटा व अन्य खाद्य पदार्थों को, वर्षा आदि मे खराब हो जाने पर, 'मुफ्त मोल' बेच भी देती रही है); पर, उसी शंका और भय से भीत साधारण प्रजा-जनो और दूकानदारों को, अपने निजी ही अन्न आदि का संचय कर के घरों दूकानो मे रख लेने ('होर्डिङ्') के लिए, तथा रेज़गी-पैसे का रोज़गार ('मनी-चेंजर्स बिज़िनेस', money-changer's business) करने वालों की भी, छोटे छोटे संचयों के लिए भी, नये नये विधान बना कर, कठिन कठिन कारावास और जुर्माने के दंड देती रही हैं; और 'राशनिङ्' (rationing 'सम-भक्त', प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन के लिए इतने ही नियत निर्धारित हिसाब से, अन्न, वस्त्र, तेल आदि को एक बेर मे खरीद सके, 'प्रयाम'), तथा 'प्राइस-कंट्रोल' (price-control, मूल्यनियमन), और 'ट्रांस्पोर्ट-कंट्रोल' (transport-control, एक स्थान से दूसरे स्थान को, अपने ही कुटुम्ब के उपयोग के वास्ते भी, वा तिजारती क्रय-विक्रय खरीद-फ़रोख्त के वास्ते भी, लाने ले जाने के नियमन-नियंत्रण वा सर्वथा निषेध) के, नित्य बदलते नियम, प्रजा के चित्त मे तीव्र उद्वेग, परीशानी, और किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ता पैदा करने वाले, निकालती ही है।[1] ऐसी अवस्था मे, प्रजा के कष्ट का क्या कहना है?

१ याद रहे कि इन सब प्रकारों की कार्रवाइयां, प्रजा के शोषण पीडन की, और राजाओं, नवाबों, शासकों के स्वार्थ-साधन और स्वेच्छा-पूरण की, जब से इतिहास का पता चलता है तब से, पूरब के भी, पच्छिम के

देश का साधारण दैनंदिन जीवन नितरा उलट-पलट गया है, अस्तव्यस्त और त्रासमय हो रहा है; सशस्त्रों को एक प्रकार का घोर कष्ट, तो निःशस्त्रों भी, देशों मे सदा होती रही हैं; कभी कम, कभी ज्यादा; पर उन के नाम और रूप बदलते रहे हैं। प्रजा-जनो, शासितों, मे भी, परस्पर शोषण मोषण का, विविध रूपों से यत्न सदा होता रहा है; कभी थोड़ा, कभी बहुत। यदि पिछले ज़मानो के मुकाबिले (अपेक्षा से) अब कुछ भेद है, तो शायद (स्यात्) इतना ही, कि अब 'कायदे-कानून से जायज', 'ला-फुल-नेस' (lawfulness), 'विधिपूर्वक-अनुमति', की ऊपरी दम्भात्मक शिष्टता (तहज़ीब) अधिक दिखाई जाती है। पहिले तो राजा नवाब बादशाह महाराजा लोग, पूरब मे, और 'राबर् बैरन्स' (robber barons), 'लुटेरे शासक', आदि पच्छिम मे, खुले अधखुले रूप से दस्यु-पोषक होते थे; पूरब मे अब भी हैं; 'नागाओं', 'उदासियों', 'बैरागियों', विविध-वेश-धारियों, के झुंड के झुंड, सेना के ऐसे, राजाश्रय पा कर, स्वयं जीवन-निर्वाह कर, दूसरे राजाओं के देशों मे लूट पाट कर के, अपने राजाओं का कोष बढाते थे, और हैं। पच्छिम मे, कोटिपतियों के 'फाडके' 'कार्नरिङ्', 'स्पेक्युलेटिङ्' (cornering, speculating), के रोजगार का भी मर्म वही हैं जो 'होर्डिङ्' (hoarding), का। 'ईति' के छः प्रकार, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहों, टिड्डियों, पतंगों चिडियों के झुंड, के साथ, 'प्रत्यासन्न,' अति पास रहते या यात्रा करते हुए, छठे, 'राजा' भी (जैसे 'दौरा' करते हुए 'हाकिम' लोग) गिने गये हैं। भर्तृहरि ने भी "वित्ते नृपालाद् भयं" कहा है, 'जिस के पास कुछ धन का संचय हो गया, उस को नृ-पाल से, राजा से, डर उत्पन्न हुआ। नरों के जो 'पालक' वे ही भय-दायक 'घालक', जो 'रक्षक' वे ही 'भक्षक'! और भी पुराना श्लोक है,

> नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके;
> जनपदहितकारी द्विष्यते पार्थिवेन;

जो (प्रजा-द्रोही) राजा के मन की करता है, उस से प्रजा द्वेष करती है; जो प्रजा का भला चाहता है, उस को राजा अपना दुश्मन

को दूसरे प्रकार का घोरतर कष्ट, पृथ्वीमात्र मे, युद्ध की समाप्ति के बाद भी, भर रहा है; यह सब, सभी राष्ट्रों के शासकों के भी, और सामान्य प्रजा के भी, काम-क्रोध-लोभ-मोह-(भय)-मद-मत्सर के अति-आस्वादन से जनित महापातकों और कुनीतियो का फल है । जो अति तीव्र सुख की लालच करते हैं, उन को अति तीव्रतर दुःख भोगना पड़ता है।

यत् तद् अग्रे विषं इव, परिणामे ऽमृतोपमं;
यत् तद् अग्रे ऽमृतं इव, परिणामे विषोपमं,
धर्माविरुद्ध कामो ऽस्मि; सेवेत् कामं अनुद्धतः । (गीता, म० भा०)

जो आगे ज़हर जान पड़ता है, वह पछे आबि-हयात होता है; जो पहिले अमृत मालूम होता है, वह पीछे विष हो जाता है । इस लिये, यदि दुःख मे कमी चाहो, तो कम सुख मे संतोष करो; जितना 'काम'-सुख, धर्म के, क़ानून के, अनुकूल हो, उतना ही भोगो; बहुत उद्धत हो कर, मद-माते (मद–मत्त, बद–मस्त) हो कर, अति हर्षित हो कर, दुराचार समझता है । जब काम-क्रोध-लोभ का नियमन, सच्चे धर्म से नहीं किया जाता, तब ऐसे ही उपद्रव उत्पन्न होते हैं; वर्त्तमान विश्व-युद्ध के कारण ऐसे ही हैं । आपस मे, दुर्बल को सबल प्रजा खा लेती है; दोनो को, अधिक प्रबल राजा, बलात् भी, 'टैक्स' के बहाने भी, खा लेता है; छोटे राजा को बड़ा राजा, सम्राट्, 'डिक्टेटर', खा जाने का यत्न करता है। मृत्यु-देव सब ही को खाते रहते हैं ।

हिरण्याक्ष, बाणासुर, रावण, बचे न काल बली ते;
हम-हम करि धन-धाम संवारे, अन्त चले उठि रीते ।

यह सब काम ही की लीला है ।

त्रिविधं नरकस्य इदं द्वारं नाशनं आत्मनः,
कामः, क्रोधः, तथा लोभः, तस्माद् एतत्त्रयं त्यजेत् ।
धर्माविरुद्धो भूतानां कामोऽस्मि प्रीतिवर्धनः । (गीता)

काम-क्रोध-लोभ, यह तीन नरक के द्वार हैं; इन को काबू मे, अपने वश मे, रक्खो; इन के वश मत हो जाओ; धर्म से अविरुद्ध जो और जितना 'काम' है, वह तो प्रीति को बढ़ाता है ।

व्यभिचार बलात्कार द्वारा 'कं-दर्प' के दर्प की गुलामी मत करो।

कोटियों नही, अरबो नही, अब खरबो रुपयो से सम्मित, कोटियो कोटि मनुष्यों की प्राणशक्ति और जी-तोड़ परिश्रम का जो दारुण अपव्यय, सामरिक और वैनाशिक कार्यो मे हुआ और अब भी हो रहा है; उस के कारण, ब्रिटेन और यू. स्टे. अमेरिका ऐसे महा धनाढ्य, रावण और कुबेर की भी समृद्धि को तिरस्कार करने वाले देशो की भी साधारण जनता को, तथा लखपतियो, करोड़पतियो, बड़े भूमिपतियो (ज़मीदारों) को भी, दिन दिन बढ़ती तंगी, खाने पहिरने के 'नीवाक' 'प्रयाम' से उठानी पड़ी, और अब भी पड़ रही है।[1] पश्चिम के अखबारों मे छपी सूचनाओ से ऐसा अनुमान होता है। नितान्त पादाक्रान्त, पराधीन, परमुखावलोकी, परस्पर कलहायमान, आभ्यंतर भेदों से छिन्न-भिन्न, अभागे भारतवासियो की, प्रतिदिन वेग से वर्धमान सभी आवश्यकीय द्रव्यों की नितात तंगी की कहानी क्या कही जाय? सब युध्यमान राष्ट्रों के शासको को 'विजय' (विक्टरी, 'victory') ही चाहिये; शाति और प्रजा का सुख, किसी को भी नहीं! अहो माया-विडम्बना!

पश्चिम के ही विद्वानो ने गणना की है, कि यदि इस सब अप-वीत, दुर्वीत, पौरुष शक्ति और महा परिश्रम की, (जिस मे, फौजी सामग्री बनाने वाले कारखानो के काम मे विवश जोत दी गई पचासो लाख स्त्रियो का प्राण-परिश्रम भी शामिल है), तुलना, रुपयों मे की जाय, तो सब युध्यमान राष्ट्रों का खर्च जोड़ कर, प्रत्येक दिन का अपव्यय, सौ करोड़ रुपयो के बराबर होता रहा है।[2] पृथ्वी-तल पर, इस समय, प्रायः साठ (६०)

१ 'न अस्ति, न अस्ति, लभ्यं वा, देयं वा, अन्नादि, इति न-कारमयं निकारऽात्मकं वाक्यं यदा सर्वत्र श्रूयते, तदा 'नीवाकः' ('स्केर्यासिटी', 'फ़ेमिन' scarcity, dear-th, dear-ness, famine, महर्घता, दुष्प्राप्यता, अलभ्यता); 'अन्नादि-वितरणस्य संकोचनं, प्रकृष्टं यमनं, नियमनं, नियंत्रणं, 'प्रयामः', ('कंट्रोल,' control)।

२ यू. स्टे. अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन नगर से, ता० २० मार्च १९४३ ई० को, सरकारी खबर छापी गई कि अकेले यू. स्टे. अमेरिका का

पृथक्-पृथक्, 'स्वतन्त्र' कहलाने वाले, तथा स्वतंत्रों के अधीन, राष्ट्र हैं। उन मे से इकतीस (३१) एक पक्ष मे रहे हैं, और चार (४) दूसरे पक्ष मे; प्रथम पक्ष मे प्रधान राष्ट्र चार (४), ब्रिटेन, युनाइटेड स्टेट्स् आफ़ अमेरिका, रूस, चीन; बचे सत्ताईस (२७), इन चार के सहायक, वा उपनिवेश, वा अधीन (जैसे भारत) है, वा शत्रु-विजित (जैसे फ्रांस, हालंड, बेल्जियम, नारवे, ग्रीस आदि महा-राष्ट्र वा मध्यम श्रेणी के राष्ट्र) हो गये थे। इन के प्रति-पक्ष मे प्रधान राष्ट्र तीन (३), जर्मनी, इटली, जापान; तथा इन के सहायक छोटे राष्ट्र कई रहे। यह सब प्राण और शक्ति रूपी धन, यदि सत्-प्रज्ञान, सद्-धर्म, सद्-बुद्धि, सद्भाव, सदाचार के अनुसार, मानव जीवन के उपयोगी पदार्थों के बनाने मे, मनुष्य के उचित और धर्म्य सुख की साधने वाली, आवश्यकीय, निकामीय, विलासीय वस्तुओं के उत्पादन मे, लगाया जाय, तो समस्त पृथ्वीतल हरा भरा रमणीयतम उद्यान, बाग़, हो जाय; सुन्दर घरों से भर जाय; चारों ओर प्रसन्नमुख, प्रियवादी, हंसते, खेलते, परस्पर प्रीतिमय सौजन्यमय स्त्री पुरुष बालक देख पड़ें; किम्बहुना, पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आवै।

यह सब वर्त्तमान इतिहास, 'कामाध्यात्म' के सम्बन्ध मे क्यों कहा? इस हेतु से कि, (जैसे पृ० १९३-४, २५६, प्रभृति पर सूचित किया है), परमात्मा के अंतर्गत, मूल-प्रकृति दैवी-प्रकृति रूपिणी अविद्या-अस्मिता का रूपान्तर नामान्तर परिणाम जो काम-संकल्प है, उसी का कार्य समग्र विश्व है। इसी 'काम' के धर्म्य और सात्त्विक रूप से चारो ओर सुख, प्रीति, सहायता, उपकारिता फैलती है। इसी के अधर्म्य और राजस-तामस-भावों से, कामान्धता, क्रोधान्धता, लोभान्धता, मोहान्धता, (भयान्धता, मिथ्यास्नेहान्धता, किंकर्तव्य-

प्रतिदिन का खर्च, युद्ध की सामग्री की तैयारी पर (? व युद्ध पर) करीब २८ करोड़ डालर, अर्थात्, प्रायः ८४ (चौरासी) करोर रुपये के तुल्य, हो रहा है।

विमूढ़ता), मदान्धता, मत्सरान्धता, वा इन्ही मुख्य प्रकारों के, वा अवान्तर बहुतेरे प्रकारों विकारों के, उन्माद, चारो ओर बढ़ते हैं, और कलि का साम्राज्य पृथिवी मात्र को ग्रस लेता है; जैसा आजकाल प्रत्यक्ष देख पड़ रहा है।

पृ० २०८ पर गीता का जो श्लोक उठाया है, उस मे 'जायते' के तीन प्रयोग, तीन भिन्न उपसर्गों के साथ, किये हैं। किसी विषय का ध्यान, संकल्पन, स्मरण करने से, उस मे संग 'उप-जायते' उपजता है; संग से काम 'सं-जायते', समन्तात्, उस विषय के 'चारो ओर', मन के 'आगे' रक्खे हुए सम्-अग्र विषय से, 'स'-जाता है; काम से क्रोध 'अभि-जायते' काम के 'अभितः' आस पास, जो कुछ या जो कोई उस का, चारो ओर, बाधक जान पड़ता है, उस पर, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

सारा संसार, योग दर्शन के दो सूत्रों की व्याख्या है—"अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः; अविद्या क्षेत्रं उत्तरेषां" (अ० २, सू० ३-४)। पारमात्मिक काम-संकल्प के ही एक अर्ध भाग का नाम 'अविद्या' है, दूसरे अर्ध का नाम 'विद्या' है; 'महामाया' मे दोनो अन्तर्गत हैं; मानव काम का पर्याय, राग है; और क्रोध का, द्वेष है; अन्य सभी सैकड़ो भाव, विभाव, अनुभाव, अस्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, इन्हीं दो मूल भावों के अवान्तर भेद और शाखा, प्रशाखा, पल्लव, वृन्त, पुष्प, फल रूप कार्य हैं; अविद्या मूल, और 'अस्मिता' स्कंध, हैं। इन का वर्णन, पूर्वगत 'रस-मीमासा' नामक अध्याय मे कुछ किया गया है। समस्त मानव इतिहास, विद्यामिश्रित अविद्या-अस्मिता से उपजे हुए इन्हीं दो राग-द्वेष के स्वार्थी-परार्थी अनन्त प्रकार, आकार, विकार, संस्कारों की कथा है, नाटक, रूपक, लीला है। गीता मे 'काम' शब्द तेंतीस बार आया है।

इन हेतुओं से 'काम' के आध्यात्मिक तत्त्व का जानना, मानव जीवन के कल्याण-साधन के लिए, आवश्यक है। यदि बाल्य और यौवन मे

इस सब का ठीक-ठीक समझना कठिन, किंवा असम्भव, है, तो वयस्थों,[1] प्रौढ़ों, और वृद्धों को तो अवश्य जानना चाहिए, जिस से वे अपनी सन्तति को, अगली पुश्त को, समय समय पर, उचित शिक्षा देते रहें, और विविध प्रकारों के अधःपात से बचावैं।

"गइ सो गई, अब राखु रही को"

एवं, जो युवा-युवती स्वयं भूत-भवद्-भविष्य, (पीछे-सामने-आगे, बीते-होते-आते, गुज़श्तः-मौजूदः-आइन्दः, पुराभव-तदात्व-आयति), को कुछ समझने सोचने विचारने की उमर को पहुँच चुके हैं; उन को चाहिए कि निःसंकोच हो कर, अपने हितैषी विद्वान् विशेषज्ञ अनुभवियों से साक्षात् पूछ कर, वा ऐसों के लिखे उत्तम ग्रंथों को पढ़ कर, उपकारी ज्ञान पा कर; अपनी और अपनी भावी संतति की रक्षा करैं, दुराचार से बचैं बचावैं, और धर्म्य और समान-शील विवाह कर के, पवित्र गार्हस्थ्य जीवन बितावैं ('वि-इत', 'वीत' 'व्यय' करैं)। यदि, दुर्भाग्य से, भूल हो ही जाय, तो उन्हीं वृद्ध विद्वान् अनुभवियों के, तथा अच्छे सच्चे वैज्ञानिक चिकित्सकों के, बताए हुए, भूल के दुष्फलों के प्रतिकार के उपायों को काम मे लावैं; पुनः वैसी भूल मे न पड़ने का, पातक प्रलोभनो से सदा लड़ते रहने का, दृढ़ निश्चय करैं; चित्त को बुराई से भलाई की ओर, अधः से ऊर्ध्व की ओर, पलटैं; स्वभाव को बदलैं, दुष्ट से शिष्ट बनैं; 'सवेरे का भटका शाम को घर लौटा, तो भूला नहीं कहाया।'

अपि चेत् सुदुराचारः भजते मां अनन्यभाक्,
साधुर् एव सः मन्तव्यः; सम्यग् व्यवसितो हि सः। (गी०)

बहुत पतित दुराचारी भी यदि सच्चा पश्चात्ताप, पछतावा,, करै; ('अहं'-पद-वाच्य परमात्मा पुरुषोत्तम को) 'अन्-अन्य' होकर ('अन्य' सब को निषेध कर; मन से छोड़ कर), भजै, ('मै', परमात्मा से 'अन्य',

१—'वयस्थ' शब्द का संस्कृत मे वही अर्थ है जो अंग्रेजी मे 'मेजर' (major), 'अटेन्ड टु दि एज आफ़ मैजोरिटी' (attained to the age of majority), का; 'वयःप्राप्त', 'व्यवहारक्षम', 'व्यवहारं प्राप्तः', आदि का भी अर्थ यही होता है।

भिन्न, कोई उपासनीय इष्ट नहीं है, अथ च कोई 'अन्य' भिन्न पदार्थ ही नहीं है, जो कुछ है वह परमात्मा ही है, 'मै' ही है, ऐसी भावना सदा हृदय मे करै), तो उस को 'साधु' ही, भला सत्पुरुष ही, जानना मानना चाहिए; क्यों कि अब उस ने सम्यक्, समीचीन, अच्छा, पुण्यात्मक, सदाचार रहने का, व्यवसाय, दृढ़ निश्चय, कर लिया है; सब जीवों मे 'अपने' को, 'आत्मा' को, देख कर, पहिचान कर, सब के साथ उचित ही 'आत्मवद्' व्यवहार करने का निश्चय कर लिया है।

यदि कभी कदाचित्, स्वस्थ तन्दुरुस्त पुष्ट शरीर वाले प्राणवान् बलवान् मनुष्य को, किसी ऐसी भूल से, गुप्त रोग लग जाय, और अच्छे सच्चे वैद्य हकीम डाक्टर से सच्चा हाल कह कर औषध ले, तो निस्सन्देह जल्द ही अच्छा हो सकता है। मेरे पास कभी-कभी ऐसे युवा, परामर्श के लिए, आते रहे हैं; कुछ तो केवल परहेज की, वर्जनीय वस्तुओं और क्रियाओं के वर्जन की, और शुद्ध आहार की, सलाह पर चलने से ही रफ्ता-रफ्ता अच्छे हो गए। कुछ मेरे जाने हुए अच्छे वैद्यों, डाक्टरों के नाम मुझ से जान कर, उन के पास जा कर, दवा ले कर, अच्छे हो गए; थोड़े से ऐसे भी हुए, जिन्हों ने, परामर्श मे शर्मा-शर्मी से, बहुत देर कर दी, मर्ज को बढ़ा लिया, दुःख भोगते ही रहे, अल्पायु हुए, और यहां ही प्रकृति देवी का ऋण चुका कर परलोक को चले गए। आयुर्वैदिक औषध प्रायः विशेष उपयोगी होते हैं, और प्रायः बहुत महर्घ, महंगे, भी नहीं होते। हां, अमीरों के अमीरी वैद्यों की कथा न्यारी।

"कपटी लोकन तें बचियै"

'सच्चे वैद्य डाक्टर हकीम' इस लिए कहा कि एक ओर बुभुक्षा देवी, दूसरी ओर उन की बहिन गर्धा-तृष्णा-लालच देवी, के फेर मे पड़ कर, शरणार्थियों को भी, कुटिल प्रकारों से धोखा दे कर, धन कमाने के लोभ से, कुछ चिकित्सक, सभी देशों मे, भुलावा देते हैं, और रोग बढ़ा तक देते हैं; कि ये दीन हो कर सदा हमारे अधीन बने रहैं, दवा कराते रहैं, धन देते रहैं। ऐसे कपटी चिकित्सकों की गुटबंदियों और चालबाज़ियों की पोल, समय समय पर, यु. स्टे. अमेरिका के पत्र (जैसे 'रीडर्स

डाइजेस्ट') खोलते रहे हैं; सुश्रुत, चरक, आदि मे भी ऐसे मिथ्या-वैद्यों का वर्णन किया है; पर जनता पुनः पुनः उस चेतावनी को भूलती और उन के फेर मे पड़ती रहती है। इस लिए, यदि रोग से बचना है तो भुलाने और झुलाने वाले, वैद्यों हकीमों डाक्टरों का रूप धरे, ठगों से,, जो रोगी को अपनी स्थायी दूकान या ज़मीदारी ही बना लेना चाहते हैं, पहिले बचना चाहिए। मेरी जानकारी मे ऐसे कई 'अमीर', 'नवाब', 'राजा', 'लखपति' युवा और मध्यवयस्क पुरुष भी रहे हैं, जिन के यहा नित्य कोई न कोई चिकित्सक बैठे ही रहते थे, और उन की नाड़ी थामे और थर्मामीटर लगाये ही रहते थे, या पच्छिम के नये तरीकों से उन के शरीर के निस्स्यन्दों की, कफ, मूत्र, विष्ठा, रुधिर आदि की, परीक्षा करते कराते ही रहते थे। दूसरों को भय और आशा, चुटकी और बढ़ावा, साथ ही साथ, दे दिला कर, अपना स्वार्थ साधने वालों के उदाहरण, केवल उन्हीं लोगों मे नहीं जो चिकित्सा से जीविका करते हैं, अपि-तु सभी तरह के रोज़गारियों मे देख पड़ते हैं, ज्योतिषियों मे, तंत्र मंत्र झाड़ फूंक वालों मे, धर्मशास्त्रियों, कर्म-कांडियों, 'औलिया-फकीरों', वेश-धारी साधु संन्यासी महन्तों, वकीलों, दूकानदारों, राजमंत्रियों, शासनाधिकारियों, बंक वालों, कुसीदजीवियों (सूदखोरों), कम्पनियों, विज्ञापन (ऐडवर्टिज़्मेंट) छपाने वालों, सभों मे ही मिलते हैं, स्वयं परमात्मा की प्रकृति के नियम मे द्वंद्व-मयी 'ड्यु्अल-पालिसी' (dual policy), द्वैध-नीति, सुख दुख दोनो के मिश्रण की, काम कर रही है; साधारण मनुष्य के लिए यह विवेक करना, कि कौन रोज़गारी कपटी है और कौन उचित मात्रा मे ही स्वार्थी है, बहुत कठिन होता है; पर यथाशक्ति यथासम्भव ऐसा विवेक करने का प्रयत्न करते रहना, अपने उचित स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए, आवश्यक है।

रोग-शेष से सावधान रहो

यह कहना कठिन है, किसी भी उग्र रोग के विषय मे, विशेष कर उपस्थीय दुश्चरित्र से जनित रोग के, कि ज़ाहिरा बिल्कुल अच्छा हो जाने पर भी, शरीर मे कोई भी विकार का 'शेष' नहीं रह जाता, और बाद की

संतति पर कोई असर नहीं डालता। मसल मशहूर है कि जवानी की चोट बुढ़ापे मे ठंढी हवा लगने पर फिर दर्द करने लगती है। पहिले कह आये हैं, और सब को प्रत्यक्ष ही है, कि संतान का, नये जीव नये प्राणी का, 'स्मर', ('स्मरण' से, संकल्प-ध्यान-संग से, जाग उठता, सं-जायमान), 'काम', ही मूल है; इसलिए, इस के गुण का भी, दोष का भी, प्रभाव, बहुत दूरगामी और चिरस्थायी होता है; पुराणो और आयुर्वेद और धर्म के ग्रन्थों के कर्म-विपाक-सम्बन्धी अंशों से विदित होता है, कि इन रोग-शेषों के कारण, पुश्त-दर-पुश्त, परुष्-परुष् (पुर्खा-पुर्खा) की शृङ्खला मे, चर्म, नख, दन्त, आदि के विविध रोग देख पड़ते हैं। 'बाइबूल' मे भी कहा है कि 'पिता पितामहों के पापों का दंड, पुत्र पौत्रों पर पड़ता है'; उस का आशय, कुलों मे ऐसी रोग की परम्पराओं से, प्रत्यक्ष प्रकट हो जाता है। इस हेतु से, जैसा रोग वैसा ही उस का प्रतिरोधी भेषज होना उचित है; 'दुः-स्मरण', दूषित ध्यान, अधःपातक राजस तामस भावों की भावना, की चिकित्सा, 'सु-स्मरण', पूत पवित्र सात्त्विक ऊर्ध्वउन्नायक भावों का धारणा-ध्यान-समाधान, मानस प्रायश्-चित्त, चित्त की तपस्या। इस चिकित्सा और सत्संग से साधित मानस-शुद्धि, मानस-स्वस्थता, लोक-हितैषिता, मनःस्थैर्य, और तदनुकूल आहार-विहारादि शारीर चर्या, दूषित अस्वस्थ देह को भी बहुत कुछ सुधार सकती है, और सुधारती ही है। पहिले कह आये (पृ० १६०, २००) कि बड़े बड़े ऋषियों से, देवी देवों से, भूल हो जाती है; पर, उस को पहिचान कर, पश्चात्ताप-प्रख्यापन-प्रायश्चित्त से, और पहिले से भी कठिनतर तपस्या करने से, उस भूल का मार्जन वे कर डालते हैं; और इस से उन का महत्त्व और गौरव बढ़ता ही है, घटता नहीं। यह भी विचारने की बात है कि, भूल कर के सुधरना, सच्चा सुधरना है, सयाना (सज्ञान) होना है; कभी भूल न करना, यह तो बच्चों का अयाना-पन (अज्ञानता, अन-जान-पन) है। महाभारत मे अणीमांडव्य ऋषि और यमराज की कथा के रूपक से यह कहा है, कि पांच वर्ष तक के बच्चे का कोई कर्म न पुण्य ही है न पाप ही, और ऐसे कर्म के लिए दंड देने को, यमराज

को भी, मना किया गया है।[1] 'खाय तो पछताय, न खाय तो पछताय'—तो खाय के पछताय, ज्ञानवान् ज्ञानी हो जाय; अविद्या का, प्रवृत्ति मार्ग का, उचित मात्रा मे अनुभव कर के, विद्या का, निवृत्ति मार्ग का अनुभव करै, और दिन दिन 'कम कम खाय' और कम कम पछताय; अन्त मे सर्वथा निरीह निःस्वार्थ हो कर शरीर को भी और संसार को भी छोड़ कर, परम धाम को चलाजाय; "स शांतिं आप्नोति, न काम-कामी," "ध्यानात् शांतिर् अनन्तरं" (गी०)।

बुद्धि-पूर्वक कुराह मे पैर मत रक्खो

भूलने वाले के मन मे, दुष्फल के कड़ुए अनुभव के कारण, पश्चात्ताप के साथ नम्रता और विनय उत्पन्न होते हैं; तथा अन्य भूलने भटकने वालों के लिए अनु-कम्पा, सहाय-बुद्धि, सद्-उपदेश-शक्ति, संचित होती है; एवं भूल भी सच्चरित्र और ज्ञान का साधन हो जाती है; यदि प्रकृत्या चित्त कुछ कोमल हो। यदि कठोर हो, तो फिर-फिर ठोकर खा कर, "अनेक-जन्म-संसिद्धः, ततो याति परां गतिं", अन्त मे चेतैगा। अविद्या मे से डूबते उतराते, गोते खाते-खाते, एक दिन निकल कर ही तो विद्या की दृढ़ भूमि पर पैर धरैगा। "सैकड़ों टांकी खा कर, ढोंके से महादेव बनते हैं"। इसलिए, एक बार वा अनेक बार भी भूल कर के, किसी को भी, कभी भी, सर्वथा हताश नहीं होना चाहिए; भूल के बाद, पुनः पुनः दृढ़ निश्चय बांधना चाहिए कि फिर ऐसा न होने पावे। याद रहै कि इन वाक्यों का उद्देश्य, उन्हीं लोगों को सान्त्वना, ढाढ़स, देने का है, जो अविद्या की विक्षेप-शक्ति से प्रेरित हो कर अबुद्धि-पूर्वक कुराह मे पड़ गए हैं; इन का आशय यह कदापि नहीं है, कि बुद्धिपूर्वक भी, कोई, इस 'आगे अमृत पीछे विष' का आस्वादन करै।

१ इस का यह अर्थ नहीं कि अनजान बच्चा अपथ्य वस्तु खा ले तो बीमार न पड़ैगा, तीव्र विष पी ले तो मरैगा नहीं, आग छू ले तो जलैगा नहीं; बल्कि इतना ही, कि बुद्धि-पूर्वक 'दुष्कर्म' का बुद्धि-पूर्वक 'दंड', और अबुद्धिपूर्वक 'भूल' का अबुद्धिपूर्वक 'दुष्फल', होता है।

निश्चिन्त बेफिक्र मत हो जाओ

दृढ़ निश्चय कर के भी सर्वथा निश्चिन्त नहीं होना; प्रलोभनो से सजग और डरते ही रहना; 'विरक्तम्मन्यानां भवति विनिपातः प्रतिपदं';इस अभिमान के फेर मे जो पड़ जाते है, कि हम तो पक्के अटल विरक्त हो गए, वे पद-पद पर चूकते,लड़खड़ाते, गढ़ों मे गिरते रहते हैं। पहिले कहा है, कि ऋषियों, मुनियों, देवी देवों, प्रजापति ब्रह्मा तक के ऊपर 'काम' ने हमला किया, और सत्पथ से उन को हिला-डुला चला कर कुमार्ग पर फेंक ही दिया। पुराणो के अन्य रूपक मे कहा है कि शिव पर भी 'काम' ने चढ़ाई किया; और शिव भी केवल अपनी शान्तता शिवता से ही उस को परास्त न कर सके;तबउन्होंने 'काम' के सगे छोटे भाई क्रोध को ("कामात् क्रोधो अभि-जायते") अपनी तरफ फोड़ लिया, और उस से सहायता ले कर, दुनियावी भावों की ओर से तीव्र क्रोधात्मक वैराग्य की अग्नि से प्रज्वलित तृतीय चक्षु, प्रज्ञान चक्षु, को खोल कर, उस की ज्वाला से काम को जलाया; "वितर्क-बाधने प्रतिपक्ष-भावनं" (योग-सूत्र २.३३)। परन्तु इस पर भी काम निःशेष नहीं मरा, बीज रूप बना ही रहा; 'अनङ्ग' हो गया; शिव को उमा-पार्वती (उ-मा, मा-या, संसार-निषेधिनी विद्या, और पार्वती, पर्व-मयी, शरीर की नीवी, तेंतीस गुरिया, तेंतीस 'देवता', वाली मेरु-दंडिका, नाडी-त्रय-मयी त्रिगुण-मयी अविद्या) के साथ धर्म्य विवाह मे, उस ने बांध ही दिया। जीवात्मा का देह से सम्बन्ध करा ही दिया।

जब निवृत्ति-मार्गियों का यह हाल है, तब प्रवृत्ति-मार्गी मनुष्य यदि सचेत, हर वक्त होशदार, होशियार, खबरदार, न रहै, तो साधु-वेश-धारी बारीक प्रलोभनों के फंदे मे जरूर ही फंस जाता है; हल्की सीढ़ी से, ('इतना ज़रा सा चख लेने मे बदहज्मी अजीर्ण का क्या डर हो सकता है'), नीचे नीचे अधिकाधिक गहरी खड़ी श्रेढियों (श्रेढी, श्रेणी, निःश्रेणी, नसेनी, स्तर, अंग्रेजी 'सीरीज', 'स्टेयर्स', फारसी 'सतर', सतह) पर खिसकता उतरता ही जाता है; और, अन्त मे, भीषणतम नरक मे मुंह के बल गिरता है। साधारणतः, प्रवृत्ति-मार्गी की आन्तःकरणिक मानसिक तूप्राकृतिक प्रवृत्ति यही होती है, कि "लाभा लोभः प्रवर्धते"। निश्चित न

रहने के लिए मनु की यहां तक आज्ञा है कि—

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति;

हविषा कृष्णवर्त्मा इव, भूयः एव अभिवर्धते। (मनु)

लाभ से लोभ और बढ़ता है; घी से आग ज्यादः तेज बलती है; उपभोग से 'काम' अधिक जोर पकड़ता है; जितना मिलै उतना ही थोड़ा[1]।

यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं, हिरण्यं, पशवः, स्त्रियः,

तत् सर्वं न-अलं एकस्य; इति मत्वा शमं व्रजेत्। (म० भा०)

पृथिवी भर में जो कुछ अन्न-धन, गो-धन, सोना, चांदी, हीरा, मोती, और सुन्दर स्त्रियां हैं, वह सब ही यदि एक मनुष्य को मिल जायं, तो भी उस को संतोष नहीं हो सकता है; इस को खूब अच्छी तरह मन में बैठा कर, समझदार आदमी को चाहिए कि शांत हो जाय, अत्यन्त लोभ, लालच, तृष्णा, हिर्स, तमन्ना, 'ग्रीड' (greed), गर्धा, को छोड़ दे। हां, 'अति' करने से, अति भोजन आदि से, पाचन आदि की शक्तियां थक जाती हैं, अरुचि ग्लानि हो जाती है, कुछ काल के लिए वैराग्य भी होने लगता है; परन्तु यदि पूर्वापरदर्शिनी विवेकिनी बुद्धि, प्रज्ञा, नहीं जागी है, और उस वैराग्य का संतत पालन पोषण उपोद्बलन नहीं करती है, तो पुनः पुनः हिर्स ही जोर पकड़ेगी; इसी लिए तो पाचकों और पौष्टिकों के इतने अधिक विज्ञापन और इतनी अधिक बिक्री, ठग लोग कर ही लेते हैं।

निश्चिन्त न रहने के लिए, मनु की यहां तक आज्ञा है कि,

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तऽासनो भवेत्;

बलीयान् इन्द्रिय-ग्रामः, विद्वांसं अपि कर्षति। (मनु०)

माता, बहिन, बेटी के भी साथ, पुत्र, भाई, पिता भी, अकेले न बैठें; इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान् है; विद्वान्, गुण-दोष को

१ अंगरेजी में भी कहावतें हैं, "दि मोर वी हैव, दि मोर वी वांट," "दि एपिटाइट्स् डू ग्रो विथ ह्वाट दे फ़ीड अपान्", 'the more we have, the more we want', 'the appetites do grow with what they feed upon'; **इत्यादि।**

पहिचानने वाले जानकार, की भी आंखों पर पर्दा डाल देता है, और उस को धक्का दे कर, खींच कर, घसीट कर उत्पथ चला देता है, पापिष्ठ कुचाल मे डाल देता है। साधारण लोग, मनु जी के इस आदेश पर अचरज (आश्चर्य) करते हैं; पर जिन्हों ने भारत के इतिहास-पुराणों को, और पश्चिमीय राष्ट्रों और जातियों के इतिहासों को, ध्यान से पढ़ा है; तथा पूर्व पश्चिम की अदालतों मे पेश हुए, दंड-विधान की उन धाराओं ('सेक्शन्स' sections) के मुक़द्दमों का पता रखते हैं, जिन-धाराओं मे इस प्रकार के ('इन्सेस्ट' incest के) अपराधों की सज़ा नियत किया है;[1] तथा अपने आंख कान बन्द न कर के, अपने चारो ओर साधारण

१ पृ० २०१ के फुट-नोट को देखिये। (Letourneou's Evolution of Marriage) लिटूर्नो के 'इवोल्युशन आफ मैरेज' नामक ग्रन्थ मे, विवाह के सम्बन्ध मे, बहुत देशों और जातियों की रिवाजों का वर्णन किया है। यथा, "अमेरिका के आदिम निवासियों की एक जाति, बिल्कुल पशुओं के ऐसा स्वच्छन्द मैथुन करती है; अरबों मे एक सम्प्रदाय, यजीदी नाम का है, जो अंधेरे मे मैथुन करते हैं, और उस समय, मा, बहिन, बेटी, पिता, पुत्र, भाई आदि का कुछ भी विवेक नहीं करते; प्राचीन पार्थिया-पर्शिया (फ़ारस) मे, माता और पुत्र का विवाह धार्मिक-विधि से भी कर दिया जाता था; अमेरिका की, आदिम निवासी चिप्पेवे, कादियाक आदि जातियों मे, मा, बहिन, बेटी के साथ मैथुन जायज है; कारिब्री जाति मे स्त्री के साथ उस की बेटी से भी एक ही पुरुष विवाह कर लेता है; यूरोप के बहुत देशों मे, पंद्रहवीं शती ई०के अन्त तक यह रिवाज रही कि किसी प्रजा का विवाह होने पर, नव-विवाहिता वधू, पहिली रात, उस स्थान के राजा या जमीदार के साथ बितावै; इत्यादि। भारत की कई देसी रियासतों में भी, ऐसा कहत है।

भारत मे, वाम मार्गी 'करौलों' मे, तथा 'वज्रयानी' बौद्धों मे, उसी चाल की प्रथा है, जैसी 'यजीदी' अरबों की। बहुत वर्ष हुए मै ने एक मुसलमान मित्र से सुना था कि भारत मे भी कुछ मुस्लिम सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनमे, खास खास त्योहारों पर, वैसी ही रस्म रिवाज पूरी की जाती

गृहों मे, छोटे तथा यौवनोन्मुख लड़के लड़कियों मे, नासमझी और अज्ञान से, कैसे शोचनीय घोर अनाचार हो जाते हैं—उन का हाल जानते और विचारते हैं; वे मनुष्य, मनु जी के इस दूरदर्शी सूक्ष्मदर्शी उपदेश का महत्त्व गुरुत्व समझेंगे।[1] हज़ारों विधवा स्त्रियां, वा अन-ब्याही युवतियां, प्रायः 'ऊंच जातों' की, अपने घर वालों के ही दुष्कर्म से गर्भवती हो कर, उन्हीं हृदयहीन, क्रूर, नृशंस पुरुष-वृकों पुरुष-व्याघ्रों के पंजों से क्षतविक्षत हो कर, घर से बाहर निकाल दी जाती हैं, और या तो कूए नदी मे कूद कर डूब मरती हैं, ज़हर खा लेती हैं, फांसी लगा लेती हैं, या रोती सिसकती हुई, 'रंगरूट' ('रेक्रूट') कुली भरती करने वालों के हाथ अपने को बेच कर 'मिरिच' ('मारिशस') या 'फ़ीजी' टापू आदि को चली जाती हैं।

सावधानः सदा सुखी

इन हेतुओं से, यह आवश्यक है कि जो लोक अपनी संतति और अपने समाज का शरीर और बौद्ध उत्कर्ष चाहते हैं, वे सदा सावधान और 'धर्म-भीरु', अधर्म से डरते, रहें; समय समय पर अपने को, अपने कुटुम्बियों को, और सहवासियों को, यथोचित चेतावनी देते रहें; विशेष कर यह उपदेश कि, किसी से भूल हो जाय, तो उस के मार्जन शोधन का उचित उपाय करें; हल्की भूल का हल्का मार्जन 'प्रायश्चित्त' है, जैसी यज़ीदियों मे। इस सब 'इतिहास' से यही शिक्षा दृढ़ होती है जो मनु ने दी है; अपने चित्त और इन्द्रियों से सदा सावधान रहना चाहिए; इस मूढ़ता को कभी मन मे न आने देना चाहिए कि हम ने तो कामदेव को जीत लिया है। प्रजा-जन की नव-विवाहिता पहिले राजा को अर्पण की जावै, इस 'मध्य-काल, के क़ानून को यूरोप में Jus primae nocte कहते थे।

१. मार्च १९४४ मे मुझे एक पत्र मिला; प्रतिष्ठित कुल के एक पढ़े लिखे युवा ने लिखा कि उस का विवाह भी प्रतिष्ठित कुल की सोलह सत्रह वर्ष की कन्या से हुआ; किसी कारण से संदेह होने पर, युवा ने पत्नी से पूछा, तब उस ने आंसू बहा कर कबूला कि उस के सगे बड़े भाई ने ही विवाह से प्रायः एक वर्ष पहिले, उस को भ्रष्ट किया।

(चित्त शोधने वाले व्रत, उपवास, जप आदि) से; भारी रोगजनक भूलों का अच्छे वैद्य, डाक्टरों की शरण ले कर; पुनः वैसी भूल से बहुत परहेज़ करें और इस घोरतर भूल मे न पड़ें कि ऐसी ग़लतियों का शोधन सरलता से हो सकता है। अक्सर देखा जाता है कि चोर सज़ा से बच गया तो फिर चोरी करता है। मंदाग्नि (ज़ोफ़-मेदा) का मरीज़, 'पाचक' खा कर, कुछ अन्न पचा कर, परहेज़ नहीं सीखता, बल्कि थोड़ी भी भूख जागने पर, रोचक दवा खा कर, फिर बद-परहेज़ी करता है; अति-अशन, अधि-अशन, विषम-अशन करता है; और अधिक बीमार पड़ता है। अति-अशन का अर्थ है उचित मात्रा से अति अधिक खाना; अधि-अशन, पहिले का खाया पचा नहीं, और भूख नहीं लगी, तौ भी जिह्वा-लौल्य से पुनः खा लेना; विषम-अशन, जो पदार्थ 'सम' नहीं हैं, वि-षम हैं, बे-मेल हैं, जिन का एक साथ खाना आयुर्वेद से मना है, उन को एक साथ खा लेना। व्यभिचारी, ज़िनाकार, वेश्यागामी, विषमाचारी मनुष्य, मरज़ की बला मे मुब्तला हो कर इलाज करता है, अच्छा हो जाता है; फिर पौष्टिक, वाजीकरण (aphrodisiac), औषध खाता है, 'मेषवृषण' बनता है; फिर वैसे ही दुष्कृत करता है; खुद ज़्यादा बीमार पड़ता है, और चारों तरफ़ 'वेबा' (संचारी संक्रामक रोग, 'महामारी', जैसे हैज़ा, प्लेग, इन्फ़्लुएंज़ा, 'शीतला' वा मसूरिका, विशूचिका, आदि, वैसे उपस्थीय आतशक, सूज़ाक, कुष्ठ आदि) फैला कर मर जाता है।[1]

१. पृ० २१३-२२१, २२६-२३२, मे इस के घोर उदाहरण दिये हैं। पृ० २३४ पर 'मेष-वृषण' शब्द के अर्थ की सूचना की गई है; उसी रूपक के दूसरे अर्थ की सूचना पृ० १६०-१६१ पर की है; 'तन्त्र-वार्त्तिक' नाम के प्रसिद्ध मीमांसा-शास्त्र के ग्रन्थ के रचयिता कुमारिल भट्ट ने एक और अर्थ लगाया है, कि इन्द्र की हज़ार आंखें, इन्द्र अर्थात् राजा की सभा के हज़ार अर्थात् बहु-संख्यक सभासदों की सूचक हैं। पृ० २२० पर, जिस 'सर्जिकल-आपरेशन', surgical operation, शल्य-शालाक्य-कर्म, की चर्चा की है, अर्थात् जीवद् वानर-वानरी के (तथा मेष-मेषी, बकरा-बकरी, उक्षा-गौ आदि के भी) वीर्यकोष-

वैज्ञानिकों की अंतर्मुखता की दूसरी धारा

ऐसे हेतुओं से पश्चिम देश के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों की चित्त-नदी, जो अधि-भूत से उलट कर, (सर्वथा नहीं, प्रत्युत उस की अत्यन्तता, 'एक्स्ट्रीमिज़्म', extremism, से ही), अधि-आत्म की तरफ़ घूमी है, उस घुमाव की एक धारा की सूचना, प्रसंग-प्राप्त विविध विचारों की लपेट में, पृ० २२६ पर आरम्भ कर के, यहाँ तक की गई।

(२) अब दूसरी धारा की सूचना कर देना चाहिए। १९ वीं शती ई० के अंत और २० वीं के आदि में, यूरोप मे, विशेष कर जर्मनी आस्ट्रिया मे, कुछ वैज्ञानिक चिकित्सकों ने, विशेष प्रकार के 'नर्वस डिसीज़ेज़' (nervous diseases), के निदान का पता लगाने के लिए, शरीर की विकृतियों की परीक्षा कम कर के चित्त की विकृतियों की जाँच, विविध उपायों से, शुरू किया। 'नर्वस् डिसीज़' मे 'न्यूरोसिस', 'साइकोसिस', 'साइको-न्यूरोसिस', 'न्यूरो-साइकोसिस', (neurosis, psychosis, psycho-neurosis, neuro-paychosis), आदि शामिल किये जाते हैं। अभी तक इन शब्दों के ठीक अर्थ और प्रयोग के प्रकार निश्चित नहीं हो पाये हैं। पर इतना साधारण रूप से निश्चित है कि इन सब मे, एक ओर मानस विकार, और दूसरी ओर, ज्ञान-इच्छा-क्रिया का धारक और वाहक जो नाड़ी-व्यूह है उस का विकार, परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। यदि नाड़ी व्यूह का विकार अधिक है, तो रोग

रजःकोष ('टेस्टिकल','ओवरी', testicle, ovary) के टुकड़े काट कर मानव पुरुष-स्त्री की जांघ, या उस के पास, उदर के निचले भाग पेड़ू मे, ऊपरी चर्म काट कर, उस के भीतर सी देना—इस चिकित्सा का आविष्कार, और प्रचार, यूरोप मे, वर्तमान २० वीं शती ई० के आरम्भ मे, वोरोनाफ़ नामक जर्मन वैज्ञानिक चिकित्सक ने किया; किन्तु, जैसा पहिले लिख चुके, इस प्रकार की चिकित्सा की महिमा अब लुप्तप्राय हो रही है। ऐसे ही, अन्य बहुतेरे नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों मे, पहिले गुण ही गुण सूझते हैं; पीछे भारी दोष देख पड़ते हैं।

को 'न्यूरोसिस' वा 'न्यूरो-साइकोसिस' नाम देते हैं; यदि मानस विकार प्रबल है, तो 'साइकोसिस' वा 'साइको-न्यूरोसिस'।

चित्त के विकारों की सूक्ष्मेक्षिका करने वाले इन (यूरोप मे) आदिम परीक्षकों ने, कुछ अतित्वरा, उजलत, से, यह मान लिया कि, सभी मानस रोगों की जड़ मे, उपस्थीय कामीय वासनाओं का किसी न किसी प्रकार का व्याघात वा अवरोध, मूल कारण के रूप मे, रहता है। धीरे-धीरे, इस अति-व्याप्ति का संशोधन, पीछे के गवेषकों ने किया।

दोनो धाराओं के प्रस्थान मे भेद है; मार्गों और उपायों मे भी फ़र्क़ है; कुछ अभ्युपगमो (माने हुए सिद्धान्तों, 'हाइपाथेसिस', 'थियोरी', hypothesis, theory, 'अक़ीदः') मे भी वैदृश्य वैमत्य जान पड़ता है। परन्तु लक्ष्य के, मक़सद के, एक हो, अर्थात् रोग का निर्मूलन और स्वस्थता का अनुकूलन, होने से, ज्यों-ज्यो दोनो धारा आगे बढ़ती हैं, और अपनी-अपनी भूल-भटक का शोधन करती हैं, त्यों-त्यों एक दूसरे के पास आ रही हैं। आशा होती है कि एक दिन, सर्व-विद्या-प्रतिष्ठा, परमात्म-निष्ठा, विस्मृत-प्राया, ब्रह्मविद्या की सरस्वती की सच्ची झलक पा कर, एक दूसरे से मिल कर, जगत्कल्याणकारिणी गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम से वर्धित त्रि-वेणी, महा नदी, हो जायंगी।

('सर्वं सर्वेण सम्बद्धं', 'पंडिताः समदर्शिनः',
समानं नियमं, च एकं विधिं, जगति, सर्वदा,
सर्वत्र, आवर्त्तमानं, ये पश्यंति, एते हि पंडिताः);
प्रयोजनेषु ये सक्ताः न विशेषेषु, भारत !,
तान् अहं पंडितान् मन्ये, विशेषास्तु प्रसंगिनः। (म० भा०)

प्रकृति के सभी विभाग परस्पर सम्बद्ध हैं; अतः, जो विद्वान्, संसार मे, सभी चक्र के सब देशों और कालों मे, एक ही द्वंद्वाऽत्मक महा-नियम महाविधि को आवर्त्तमान प्रवर्त्तमान, चक्कर खाते, देखते पहिचानते हैं, वे ही समदर्शी पंडित हैं। जो मनीषी, मुख्य प्रयोजनो पर, लक्ष्यों साध्यों पर, अधिक ध्यान देते हैं, विशेष-विशेष, छोटी-छोटी, बातों पर कम, वे ही पंडित हैं; विशेष तो बदलते रहते हैं, प्रयोजन स्थिर रहते हैं।

इस के निदर्शन (नमूना, उदाहरण) के लिए, विचार-जगत् के एक और प्रवाह-द्विक की चर्चा यहाँ पुनः की जाती है।

व्यक्ति-वाद से 'समक्ति -(समाज)-वाद की ओर

राग-द्वेष काम-क्रोध के भी जेठे भाई 'लोभ' नाम के रोग की, (जिस के उद्रेक और प्रकोप को 'इंडिविज्युअलिस्ट कैपिटलिज़्म', (Individualist Capitalism) पूँजीवाद', 'थैलीशाही', कहते हैं, उस की) चिकित्सा के लिए, ('सोशलिज़्म' Socialism), 'समाजवाद', रूपी औषध की परीक्षा, तरह तरह से अनुपानो और प्रकारों मे रद्दोबदल कर के, पिछले सौ वर्षों मे (अर्थात्, स्थूल गणना से, १६ वीं शती ई० के मध्य से) पाश्चात्य देशों मे होती रही है। इस बीच मे, तीव्र रोग और वीर्यवद् औषध के परस्पर भयंकर संघर्ष सम्मर्द से, विश्व-युद्ध-रूपी जगद्विप्लवकारी घोर ज्वर दूसरी बार मानव-संसार पर चढ़ रहा है। इस का निदान, विशेष काम-क्रोध-लोभ आदि सब का पितामह, एषणात्रय-आत्मक 'काम'-सामान्य है—यह पूर्व ग्रन्थ मे बहुधा कहा गया है। अब इस सब घोर संघर्ष संग्राम के फल के रूप मे, इस निष्कर्ष निश्च्योत (निचोड़) के लक्षण दिखाई पड़ते हैं कि, सोवियट रूस मे, मध्यमावृत्ति-अनुसारिणी, ज्ञानी-शस्त्री-धनी-श्रमी-चतुर्वर्ण-(वर्ग-व्यूह)-समन्वायिनी, (वि-अक्ति) 'व्यक्ति'-(सम्-अक्ति)-'समक्ति'-सम्मेलनी,* सर्व-वाद-

* 'वि' उपसर्ग से, जिस का एक अर्थ 'विशेष' है, और 'अञ्ज्-अनक्ति', धातु से, जिस का अर्थ 'अंजन' करना, 'आँजना', 'रंगना' है, वि-अक्ति, व्यक्ति, बना है; इस का मूल अर्थ है, अ-व्यक्त परमात्मा का एक विशेष व्यंजन, व्यक्तिकरण, आविष्करण; अब व्यक्ति शब्द, एक मनुष्य, 'इंडिविजुअल' Individual, पुरुष वा स्त्री, के अर्थ मे बहुत प्रयुक्त होने लगा है। इस के प्रतियोगी, प्रतिद्वंद्वी, 'समाज'-वाचक, 'सोशल' (social) के अर्थ के सूचक, शब्द की भी आवश्यकता है; जैसे वि-ग्रह का सं-ग्रह, वि-भिन्न का सं-भिन्न, वि-हित का सं-हित, वि-पत्ति का सं-पत्ति है, वैसे ही वि अक्ति का द्वंद्वी सम्-अक्ति बना लेने से, बहुविध प्रयोग द्वारा, नये (प्रायः पश्चिम से इधर आये हुए) भावों

सम्वादिनी, चतुर्विध-जीविका-कर्मऽात्मक-चतुर्वर्णता की नीति और रीति की ओर, उस औषध का रूप अधिकाधिक बढ़ता जाता है। तथा, ऐसे नवीन, प्र-णवी-भूत, पुनरुज्जीवित, रूस देश और सोवियेट समाज की आचरणात्मक आचार्यता को मुँह से न मानते, पर मन से तो मानते ही, सभी अन्य देशों पर, उस आचार्यता के प्रभाव की छाप अधिकाधिक छपती जाती है।

अधि-भूत से अधि-आत्म गुरुतर

प्र-कृत मे (अर्थात् इस प्र-करण मे, इस प्रसंग मे) यह दर्शनीय और विचारणीय है कि, रोगियों की परीक्षा और चिकित्सा के सम्बन्ध मे पच्छिम के डाक्टर लोग, इधर प्रायः सौ वर्ष से (सन् १८५० ई० के पीछे, साधारणतः), मनुष्य के आधिभौतिक, शारीरिक (जिस्मानी, 'फ़िज़िकल', Physical) अंग (अंश, पक्ष, पहलू, 'आस्पेकृट', aspect) पर ही अधिकाधिक ध्यान जमाते आये थे; आध्यात्मिक, मानसिक, चैत्तिक, आन्तःकरणिक (रूहानी, 'मेंटल', 'स्पिरिचुअल', mental, spiritual) अंग की अधिकाधिक उपेक्षा करते रहे। प्रायः पचास वर्ष हुए, फ़्राइड् नाम के चिकित्सा-शास्त्री ('मेडिकल्-सायंटिस्ट', medical scientist) ने, सन् १९०० ई० के आस पास, 'साइको-ऐनालिसिस्', psycho-analysis, नाम के, पच्छिम मे नूतन समझे जाने वाले, शास्त्र का प्रवर्त्तन किया। तब से, रोगों मे मानस क्षोभों और विकारों का कितना भारी प्रभाव, अधिकार, और निदानत्व होता है, इस ओर पाश्चात्य वैज्ञानिक चिकित्सकों का ध्यान दिन दिन बढ़ता जाता है। ग्रीक भाषा मे 'साइकी', psyche, शब्द का अर्थ, जीवात्मा, चित्त, अन्तःकरण, रूह, 'सोल़', soul, होता है, और 'एना-लाइ-आइन्' ana-ly-ein, का, ढीला करना, सुलझाना, जैसे ग्रन्थि (गांठ) का; 'साइको-ऐना-लिसिस' शब्द का अर्थ, तन्नामक शास्त्र के प्रयोजन और साधनीय कार्य का बोधक है। चित्त की अन्तर्लीन प्रसुप्तवत्

के प्रकट करने मे सुविधा होगी। 'समाज' शब्द, 'सं' साथ, 'अज्' 'अजति', चलना, से बना है।

अव्यक्त दुर्ज्ञेय अवस्थाओं का, गांठों का, गूढ़ गुप्त हृदय-ग्रन्थियों और काम-जटाओं का, चित्त-वृत्ति-संकरों भाव-संकरों का, छिपे छिपाये मनस्-तत्वों चित्तावयवों का, अन्वेषण, प्रत्यभिज्ञान, और विश्लथन, विश्लेषण, विवेचन, विघटन, वि-शकलन, पृथक्करण, और उन दबी दबाई ग्रन्थियों की उत्पत्ति के गुप्त कारणो का निश्चयन, निर्णयन, यह इस शास्त्र का कार्य है।

फ्राइड् की कृति की त्रुटि

'सैको-ऐनालिसिस' के विषय मे, प्राचीन संस्कृत दर्शन शास्त्र की दृष्टि से लिखने का प्रयत्न दूसरे ग्रन्थ मे मै ने किया है* । फ्राइड और उन के अनुयायियो ने बड़े परिश्रम किये; विविध रोगों के निदानो और गूढ़ मानस वृत्तियों का, विविध प्रकारों से, अन्वेषण गवेषण और सूक्ष्म अध्ययन किया। उस का निर्विवाद-प्राय सार भूत निष्कर्ष इतना ही है, कि सब या अधिकांश मानस रोगों का नहीं, तौ भी जिन ऐसे रोगों के कारण सुतरां-निश्चेय नहीं हैं, जिन का कोई अन्य प्रत्यक्ष और स्पष्ट कारण नहीं जान पड़ता, उन मे से बड़ी संख्या का, वा अधिकांश का, निदान कारण, किसी-न-किसी प्रकार की कामीय वासना, मैथुनीय तृष्णा, रतीच्छा, का किसी प्रकार का, व्याघात, प्रतिबन्ध, निरोध होता है। फ्राइड को, तथा उन के शिष्यों को, आरम्भ मे, यह विश्वास हा गया कि 'सैकोसिस' 'न्यूरोसिस' 'साइको-न्यूरोसिस' आदि रोग, (अपस्मार उन्माद आदि के बहुविध मानस विकार, ज्ञान-क्रिया-वाहिनी नाड़ियों के विकारों से कार्यतया वा कारणतया संबद्ध), सभी, केवल कामीय तृष्णाओं की अ-पूर्ति व्या-हति से होते हैं। धीरे धीरे उन्हों ने पहिचाना, कि क्रोधीय वासनाओं के व्याघात से भी तीव्र रोग उत्पन्न हो जाते है; और क्रोध, स्त्री-पुरुष-मैथुन्य 'काम' के ही भङ्ग से नहीं होता; किसी प्रकार के 'काम' के, इच्छा के, अर्थ-काम, धन-काम, आदर-संमान-काम, स्वच्छन्द-भ्रमण-विचरण-आदि-काम, वा अन्य किसी भी प्रकार से स्व-शक्ति-प्रदर्शन-प्रवर्त्तन के 'काम' के (मोक्ष-इच्छा के भी), भंग से भी पैदा होता है; तीव्र भय से भी ऐसे

* "दर्शन का प्रयोजन" के अध्याय ३ मे।

रोग हो जाते हैं, यह निश्चय डाक्टरों को तब हुआ जब उन्हों ने प्रथम विश्व-युद्ध (१६१४-१८ ई.) के अस्पतालों मे काम किया; पर याद रहै कि, भय भी क्रोध के प्रकारों की एक राशि मे पड़ता है, और प्राण-एषणा, प्राण-काम, पर आपत्ति आने से उपजता है[1]; यह तो, फ्राइड ने अपनी अन्तिम पुस्तकों मे संकोच करते, सकुचाते, उकस-पुकस करते, क़बूला भी है; पर यह कह कर अपनी टेक की रक्षा करने का यत्न भी किया है, कि 'काम' शब्द से मतलब उन का केवल मैथुन्य काम से नहीं, अपितु सब प्रकार के काम से है; (यह विस्तृत अर्थ अध्यात्मशास्त्र-सम्मत है); पर उन के, तथा उन के शिष्यों के, आदिम लेखों और ग्रन्थों से, उन के इस नये दावे, प्रतिश्रव, की पुष्टि नहीं होती; और उन लेखों ग्रन्थों से पाठक जगत् के चित्त पर यही अंकन, 'इम्प्रेशन', Impression, छाप, प्रभाव, हुआ, और होता है, कि उन का आशय, प्राथमिक लेखों मे, मैथुन्य 'काम' से ही था।

फ्राइड, यहूदी, और हिटलर

सन् १६३१ ई० से, जब से जर्मनी मे हिटलर को पूर्ण अधिकार हुआ और हिटलर-शाही का आरम्भ हुआ, तब से यहूदी ('ज्यू', Jew) जाति के लोगों पर भारी आपत्ति विपत्ति आई। हिटलर ने यह घोषणा कर दी कि इधर चालीस पचास वर्ष के भीतर, जो भी मुसीबतें जर्मनी पर आईं, वह सब यहूदी जाति के रोज़गारियों के चक्रकों पेटकों (चाल-बाज़ियों, अमलासाज़ियों, 'इन्ट्रीगज़', 'क्लीक्स्', कोटरीज़्', intrigues, cliques, coteries) के कारण आईं; इन रोज़गारियों ने, सभी मुख्य धनाढ्य देशों मे, यथा ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस, ज़ेको-स्लोवाकिया, यु. स्टे. अमेरिका आदि मे युद्ध की सामग्री बनाने वाले बड़े-बड़े कारख़ाने

१. पुर्वगत 'रस-मीमांसा' अध्याय के पृ० १३०—१३४ आदि पर इस विषय का विवरण किया है; 'दि सायंस आफ़ दि ईमोशंस' मे विस्तार से; थोड़े मे यह कि, जब दुःख देने वाले शत्रु पर 'क्रोध' होता है, पर साथ ही उस की अधिक बलवत्ता और अपनी अशक्तता का ज्ञान होता है, तब 'क्रोध' का रूपान्तर 'भय' हो जाता है।

जारी किये, और सभी देशों के हाथ तुल्य रूप से सौदा बेचा; तथा ऐश-आराम, भोग-विलास, मद्य-मांस, शराब-कबाब, अश्लील सिनेमा थियेटर, अश्लील कोक-शास्त्रीय ग्रन्थों, के प्रचार से, काम-शास्त्र-संबंधी दुष्ट-भाव और असज्-ज्ञान को जनता मे फैलाया, जिस से उन मे दुराचार व्यभिचार बहुत बढ़ा, और मानव-संसार की आध्यात्मिक हवा काम-क्रोध-लोभ-मत्सर-कलह से भर गई; तथा, भीतर-भीतर राष्ट्र-नायकों को और जनता को, झूठी 'प्रोपेगेंडा', झूठे प्रचारो, से एक दूसरे के विरुद्ध, भड़काया; जिस से पहिला विश्वयुद्ध भी हुआ, जिस मे जर्मनी मारा गया। हिटलर ने यदि 'यहूदी जाति' न कह कर, 'भिन्न जातियों और देशो के थोड़े से धनकुबेरों का एक अन्तर्राष्ट्रीय गुट्ट' कहा होता, तो यह घोषणा अक्षरशः सत्य होती। वकील लोग, आपस मे मेल रखते हैं, मगर मुवक्किलो को भड़का कर लड़वा देते हैं, और कचहरी मे मुकद्दमा दायर करा कर, उन को चूसते हैं। जब हिट्लर ने अपने अधिकार की पहुंच के भीतर, यहूदियों का उत्पीड़न और विनाशन आरम्भ किया, तब फ्राइड, जो जात्या यहूदी था, और आस्ट्रियावासी जर्मन था, अपने देश से भाग कर ब्रिटेन मे आ बसा; ऐसे ही और भी बहुतेरे बड़े नामी, प्रोफ़ेसर ऐनस्टैन आदि, यु० स्टे० अमेरिका आदि देशों मे छितरा गये, जहाँ हिट्लर की पहुँच न थी, और साधारण व दरिद्र कोटि के बहुतेरे यहूदी, रूस देश के सोवियेट राष्ट्र की अंग-भूत छोटी यहूदी-रिपब्लिक मे जा बसे, या 'लीग आफ़् नेशंस', League of Nations, की अनुमति से ब्रिटेन के द्वारा बसाई हुई, (और अरबो से लड़ाई जाती हुई, यथा भारत मे हिन्दू और मुसल्मान एक दूसरे से), फ़िलिस्तीन-जरूसलेम की यहूदी-रिपब्लिक को भाग गये।

सन् १६४० ई० मे, लंदन नगर मे फ्राइड का शरीर छूटा। पर अंत तक उन्हों ने यह नहीं पहिचाना कि मानस एषणा, वासना, कामना, सब, तीन राशियों के भीतर पड़ती हैं, और प्रत्येक के साथ राग और द्वेष की मुख्य और अवांतर वृत्तियाँ बँधी हैं; जिन की चर्चा इस कामाध्यात्म अध्याय के आरम्भ मे (पृ० १६४-१७३) की गई है; और जिन में से किसी के भी उत्कट हो कर खंडित होने से मानस और शारीर रोग उत्पन्न होते हैं।

फ्राइड के विचार का तथ्य अंश

जैसा ऊपर कहा, फ्राइड के विचार मे तथ्य अंश इतना ही है; सब नहीं, कुछ मानस और शारीर रोग, विविध प्रकार के छोटे बड़े उन्माद, दुःस्वप्न, मूढ़ग्राह, और उस प्रकार की (चक्के, ईंट, पत्थर के टुकड़े, मल-मूत्र, आदि फेंकने की) चेष्टाएँ जो बहुधा भूत प्रेत-पिशाचादि की बाधा के कारण समझी जाती हैं, और जो बाल्य और यौवन की वयः-सन्धि के काल मे, किशोर-अवस्था ('ऐडोलेसेन्स', Adolescence) मे, लड़कियों (को विशेष कर) तथा लड़कों को सताती हैं—यह सब मैथुनीय काम-वासना के व्याघात से, उत्पन्न होती हैं; तथा, इस किशोरा-वस्था मे अंकुरित होती हुई ऐसी वासनाओं को स्वयं न समझ सकने से, और भयभीत और भ्रान्त होने से, ऐसी असाधारण चेष्टाएं उत्पन्न होती हैं; तथा, सयानो (स-ज्ञानो, प्रौढ़ो, 'ऐडल्ट्स', adults) की दर्प-पूर्ण कामीय चेष्टाओं को देख कर, बालक-बालिकाओं वा किशोर-किशोरियो के हृदय मे साध्वस (हदस), उद्वेग, कम्प, होने से उत्पन्न होती हैं।

इस विषय का समग्र तथ्य

सम्पूर्ण तथ्य का जो अंश फ्राइड के ध्यान मे नहीं आया, वह यह है कि, न केवल उपस्थीय काम के, अपितु, जीव के भीतर बैठे सर्व-वासना-मय सर्व-इच्छा-मय मूल-काम-सामान्य के किसी भी उद्रिक्त प्रचण्ड विकार के, विशेष काम-क्रोध-लोभ-(मोह)-भय-मद-मत्सर आदि के उद्वेग से, ऐसी विकृतियाँ और अस्वाभाविक चेष्टाएँ होने लगती हैं, जो साधारण जन के समझ मे नहीं आतीं, और उन को हैरान-परीशान, चिताग्रस्त, खिन्न और किंर्त्तव्य-विमूढ़ कर देती हैं। जिन विचारशील सज्जनो को स्वयं अपने यौवनारम्भ मे ऐसे विकारों का अनुभव हो चुका है, और जो उन को सर्वथा भूले नहीं है, वे इन चेष्टाओं के हेतु को समझते हैं, और मानस विकारों से विकृतों को पुनः स्वस्थ करने मे सहायता दे सकते हैं। प्रायः सभी चिकित्सक लोग ऐसे विकारों का कामीय वासनाओं से सम्बन्ध जानते हैं, और स्थूल रीति से तो साधारण जन भी इस को पहिचानते हैं। अपठित ग्राम-स्त्रियाँ, इस सम्बन्ध को, प्रायः अव्यक्त बुद्धि ('प्रातिभ'

बुद्धि, 'इन्ट्युइशन' Intuition) से ही जानती हैं; यौवनोन्मुख किशोर किशोरियों की असाधारण नवीन चेष्टाओं को देख कर झट समझ जाती हैं, और, (अनावृत ग्रामीण शब्दों मे), कहती हैं कि अब ये वैवाहिक (मैथुन) क्रिया के योग्य हैं और उस को चाहते हैं । "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेद्"; जब बेटा सोलह वर्ष का हो जाय, तब उस के साथ बराबरो के मित्र के ऐसा व्यवहार करना चाहिये; इस प्रसिद्ध श्लोक का भी संकेत यही है कि, जैसा स्थूल रीति से सभी जनता जानती है, सोलह वर्ष के बाद किशोर को युवा समझना चाहिए।

यदि सम्पूर्ण तथ्य को संस्कृत शब्दो मे एकत्र कहना हो तो कुछ मध्यकालीन और अर्वाचीन कवियों के तथा प्राचीन ऋषियों के वाक्यों का सकलन करना चाहिये ; यथा,

कृशः, काणः, खञ्जः, श्रवण-विकलः, पुच्छ-रहितः,
व्रणी, पूय-क्लिन्नः, कृमि-कुल-शतैर् आवृत-तनुः,
क्षुधा-क्षामो, जीर्णः, पिठरक-कपाल-अर्पित-गलः,
शुनीं अन्वेति श्वा; हतं अपि निहंति एव मदनः । (भर्तृहरि)

सूखा, भूखा, बूढ़ा, लगड़ा, लूला, बिना कान, बिना पूँछ, घायल, सड़ा, कीड़ों से भरा, हांडी के टुकडे को गले मे पहिने हुआ भी कुत्ता, कुत्ती के पीछे दौड़ता है; उन्-मत्त पागल करने वाला 'मदन', मरे को भी मारता है ।

स्त्री-मुद्रां झष-केतनस्य परमां, सर्वार्थ-सम्पत्-करीं,
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियः, स्वर्गादि-लाभ-इच्छया,
ते तेन एव निहत्य निर्दयतरं, नग्नीकृताः, मुंडिताः
केचित् पंचशिखीकृताश् च, जटिलाः, कापालिकाश्
चापरे । (भर्तृहरि)

स्त्री के लिये पुरुष, पुरुष के लिये स्त्री, संसार-सर्वस्व भी है, सब सुख सम्पत्ति का सार भी है; इस को त्याग कर, स्वर्ग आदि के लोभ से, जो स्त्री वा पुरुष असमय विरक्त होना चाहते हैं, उन पर कामदेव की मार पड़ती है, और तरह तरह से विरूप कुरूप बना दिये जाते हैं; कोई, भिक्षु

भिक्षुणी नग्न फिरते हैं, कोई मुंडे हो जाते हैं, कोई पांच शिखा कर लेते हैं, कोई जटा बढ़ा लेते हैं और भस्म लपेटते हैं; कोई 'अघोरी' हो जाते हैं, नर-कपाल खप्पड़ हाथ मे लिये फिरते हैं, विष्ठा तक खा लेते हैं; कोई इन्द्रिय-च्छेदन कर डालते हैं, कोई कनफटे 'अलख'-जगाने वाले हो जाते हैं; तरह तरह के 'बैरागी', 'फकीर', कथड़ी गुदड़ी 'सूफ' कम्बल ओढ़ने वाले 'सूफी' आदि, विविध पंथों के विविध वेशधारी हो जाते हैं; कोई जंगल बियाबान मे चले जाते हैं और अकेले पड़े रहने का, और कंद मूल फल पर गुज़र करने का, जतन करते हैं; कोई शहरों गांवों मे भीख मागते फिरते हैं; इत्यादि।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि, मनसो रेतः प्रथमं यद् आसीत्,
सतो बंधुम् असति निरविन्दन्, हृदा प्रतीष्य, कवयो मनीषिणः। (वेद)

इसका अर्थ, पृ० १८१ पर लिखा गया है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः (उपनिषत्),
(बन्धाय कामऽाविष्टं हि, निष्कामं मुक्तये तथा)।

बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है; 'काम' से भरा, बंध का; 'काम' से छूटा, मोक्ष का। हिन्दी कहावत है, 'शहर का मारा जंगल; जंगल का मारा शहर'; अर्थात्, अविद्या के बाद विद्या, विद्या के बाद अविद्या; सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय के बाद सृष्टि; जागने से थका सोवै, सोने से थका जागै; 'एका भार्या सुन्दरी वा दरी वा' (भर्तृहरि), मनुष्य को एक भार्या चाहिये, या तो सुन्दरी हो, या फिर पर्वत की कंदरा दरी ही हो। गीता मे 'काम' शब्द तेंतीस बेर आया है।

सच्ची वर्णाश्रम-व्यवस्था से सर्व-समन्वय

पृ० १८० के आगे, कई पृष्ठों मे, काम-सामान्य और काम-विशेष की चर्चा की जा चुकी है, तथा इच्छा के दो त्रिकों, लोक-वित्त-दार-(सुत)-एषणा और आहार-धन-रति-इच्छा, की भी; जिन्हीं के सम्बन्ध मे काम क्रोध आदि के बहुविध द्वन्द्वमय चित्तविकारों की उत्पत्ति होती है। प्रसंग-वश, 'साइको-ऐनालिसिस' के वर्णन के साथ, यहां, दूसरे शब्दों मे, वह आशय दुहरा दिया गया; क्योंकि, आज काल, जहां जहां आधुनिक

पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान आदि का सम्पर्क है, वहां वहां फ्राइड (और उन के अनुयायी और संशोधक, यूंग, ऐडलर, आदि) के 'साइको-ऐनेलिसिस'-वाद की, और मार्क्स (और उन के अनुयायी और संशोधक, एंजेल्स, लेनिन, ट्राट्स्की, स्टैलिन, आदि) के 'काम्युनिज़्म-सोशलिज़्म' वाद Communism-Socialism, की चर्चा, और उन मे श्रद्धा, किंवा अन्ध-श्रद्धा, अपरीक्ष्य-विश्वासिता, भेंड़ी-धसान, मेषी-प्रपातवत् गतानुगतिकता, बहुत देख पड़ती है। यहां इतना कह देना चाहिये कि, जैसे लेनिन स्टैलिन आदि को, व्यावहारिक (अमली, 'प्रैक्टिकल', Practical) अनुभव के बाद, मार्क्स के मत (नय, अभ्युपगम, 'थियरी' Theory, ख़याल) मे शोधन परिवर्तन (तर्मीम, 'कर्रेक्शन' Corection) करना पड़ा है, वैसे ही, यूंग, ऐड्लर आदि को, फ्राइड के विचार का परिष्कार करना पड़ा है; और दोनो प्रतिसंस्करणो से दोनो ही के विचार और व्यवहार, वैदिक दर्शन के आध्यात्मिक सिद्धांतो के पास, (यद्यपि अभी तक 'अ-प्रति-अभि-ज्ञात', बिना 'पहिचाने', रूप से), अधिकाधिक आ रहे हैं; और आशा होती है कि दोनो, निकट भविष्य मे, उन्ही वैदिक सिद्धान्तों के व्यावहारिक-प्रयोग-('प्रैक्टिकल् ऐप्लिकेशन' Practical application)-रूपी वर्ण-आश्रम-धर्म-ऽात्मक समाज-व्यवस्था मे, संग्रथित, समन्वित, परिणत हो जायंगे।[1]

१ सन् १९३४ ई० के अन्त मे, मै ने, 'एन्शेंट वर्सस माडर्न सायंटिफ़िक् सोशलिज्म', Ancient versus Modern Scientific Socialism, नाम का, अंग्रेज़ी मे लिखा, ग्रन्थ छपवाया। इस मे यह दिखाने का यत्न किया कि आज काल, चालीस पचास वर्ष से वा सौ वर्ष से, पच्छिम के देशों मे, जो पूंजीवाद और तत्सहायभूत साम्राज्यवाद, शस्त्रवाद, आदि चल रहे हैं, उन का, और उन के प्रतियोगी समाजवाद-साम्यवाद का, किन अंशों मे सादृश्य है और किन अंशों मे वैदृश्य; तथा इस नवीन समाजवाद का और भारतीय प्राचीन समाजवाद का कितना सादृश्य वैदृश्य है। ऐसे ही, "थियोसोफ़िस्ट" नाम के मासिक पत्र मे (जो आड्यार, मद्रास से निकलता है), सन् १९३७ के अंकों मे,

साधारण रीति से, 'आधयो मानसीव्यथाः' और 'व्याधयो दैहिकी-व्यथाः', ऐसा व्यवहार हो रहा है; आयुर्वेद का निर्विवाद सिद्धांत है कि 'आधि से व्याधि, और व्याधि से आधि;' एक दृष्टि से समग्र आयुर्वेद को, तथा सांख्य-योग-वेदांत को, इसी सूत्र का भाष्य कह सकते हैं; योगोक्त विधियों से चित्त का प्रसादन, परिमार्जन, विशोधन, परिष्करण, स्वस्थापन, आधि-शमन; आयुर्वेदोक्त दिन-रात्रि-ऋतु-चर्या से, शौचऽाचार से, विशेष रोगों के लिए विशेष औषध उपचार आदि से, शरीर-शोधन, व्याधि-शमन; आधि-व्याधि के शमन से सत्त्व (प्राण-और बुद्धि) की शुद्धि, परमात्मस्मृति का लाभ, सब हृदय-ग्रन्थियों का वि-प्र-मोक्ष (विशिष्ट प्रकृष्ट मोचन), परम-शांतिरूप स्थित-प्रज्ञता-रूप निरतिशय-आनन्द की प्राप्ति (छांदोग्य उप०)।

आधि-व्याधि के सम्बन्ध के वैज्ञानिक उदाहरण

व्याधियों के उत्पादन में आधियों के प्रभुत्व को पाश्चात्य वैज्ञानिक कितना मानने लगे हैं, इस के उदाहरण के अर्थ, "दि रीडर्स डाइजेस्ट" (न्यू-यार्क, यु. स्टे. अ.) के अक्तूबर, १९४२ ई० के अङ्क से कुछ संक्षिप्त उद्धरण यहाँ लिखे जाते हैं। इन से सिद्ध होता है कि, न केवल मस्तिष्क

तथा "दर्शन का प्रयोजन" नाम के हिन्दी ग्रन्थ में, सन् १९४० ई० के अन्त में, 'साइको-ऐनालिसिस' की समीक्षा परीक्षा की। इसी समीक्षा का उपबृंहण कर के, 'एनशेंट साइको-सिंथेसिस वर्सस माडर्न साइको-ऐनालिसिस' Ancient Psycho Synthesis versus Modern Psycho-Analysis **(अर्थात् 'प्राचीन चित्त-संगठन, संश्लेषण, संघाती-करण, व्यूहन, सम्बन्धन, सम्पूरण, संग्रंथन, एकीकरण, और नवीन चित्तविघटन, विश्लेषण, विश्लथन, विशकलन, अनेकीकरण, का परस्पर सम्प्रधारण, मुक़ाबिला, मीमांसन, संतोलन, सं-परि-अप-ईक्षा') नाम के ग्रन्थ का आरंभ किया; आशय यह दिखाना था, कि नवीन वाद ऐकपाक्षिक अर्ध सत्य है, और प्राचीन, सर्वांगीण, सर्वसंग्राहक, सम्पूर्ण सत्य है; पर यह ग्रन्थ अधूरा पड़ा है; अंतरात्मा की इच्छा हुई, और आयुःशेष बुद्धि-शेष पर्याप्त हुआ, तो पूरा होगा।**

और नाड़ी-'नर्व' (nerve)-व्यूह की आधि-व्याधियां, अपि-तु सब प्रकार के शरीर रोग, तीव्र मानस क्षोभ से पैदा हो सकते हैं। ठीक ही है; वात-पित्त-कफ, रजस्-सत्त्व-तमस्, (क्रिया-ज्ञान-इच्छा), सभी सदा साथ रहते हैं; नितान्त पृथक् नहीं किये जा सकते हैं; हां, एक समय मे एक अधिक व्यक्त और बलवान्, दूसरे दो कम; ऐसा घटाव बढ़ाव ही उन मे होता रहता है; एक के विकार का असर भी दूसरो पर पड़ता हो है; 'वैशेष्यात् तु तद्वादः तद्वादः'; विशेष मुख्य लक्षण की प्रबलता से, वैशेष्य से, वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, ऐसे विशेष नाम से रोग कहे जाते हैं; अन्यथा, सभी रोगों मे, तीनों के विकार कम बेश देख पड़ते हैं।

"पन्द्रह सौ रोगियो की परीक्षा, न्यू-यार्क महानगर के एक अस्पताल मे, की गई; आधे से ज़्यादः के रोग का कारण मानस क्षोभ साबित (सिद्ध) हुआ। नौकरी छूट जाने से, आर्थिक चिंता से, दूसरे के पेट के दर्द का हाल सुनने से, मचली और पेट का दर्द शुरू हो गये; दो सौ पाच रोगियों के पेट मे निनावें, मानस क्षोभो से, अधिक चिंता, रोजगार मे नुक़सान, पति-पत्नी के गृह-कलह आदि से; हो गये, तीव्र क्रोध के ऊपरी दमन और भीतरी जलन से तत्काल 'हाइ ब्लड प्रेशर' (रुधिर-वाहिनी शिराओं मे विकार, रुधिर-चाप-वृद्धि) हो गया; 'डायाबीटिस' (बहुमूत्र के विविध प्रकार, इक्षु-मेह, मधु-मेह, उदकमेह, आदि), यक्ष्मा, दन्तरोग, हृदय के रूप आर गति के विकार, आदि, विविध रोग, विविध क्षोभो के कारण, विशेष कर गत विश्व-युद्ध मे अप्रकाशित भय के तीक्ष्ण वेग से, और घर वापस जाने की घोर उत्कण्ठा से, उत्पन्न हुए। इन अन्वेषणो का यहां तक प्रभाव पड़ा है कि, प्रगतिशील चिकित्सक अब यह कहने लगे हैं—'किस प्रकार का रोग है, यह जानना कम आवश्यक है, किस प्रकार का रोगी है, यह जानना अधिक आवश्यक है" ।[1] भारत के, तथा

1. "Mental conditions can upset normal physical functions, weaken our resistance to infection, even actually cause physical change in vital organs;.... nausea, stomach pains,....stomach cancer,....stomach ulcer, ...mucous colitis,........high blood pressure,.... tuberculosis,....diabetes,....arthritis, tooth decay,....

पश्चिम के, चिकित्सकों को यह विदित है कि कभी-कभी 'जानडिस' (Jaundice, पांडुरोग, कामला, यर्कान, जिस मे यकृत् की विकृति से पित्त सारे शरीर मे फैल जाता है, और शरीर हल्दी ऐसा पीला हो जाता है), उग्र क्रोध के ऊपरी विरोध और भीतरी विरोध से, एक वा दो घण्टे से भी कम मे हो जाता है।

काम विषयक शिक्षा[1]

बिना सत्य ज्ञान के दुःख से मोक्ष नहीं

प्रकृत प्रकरण का आरम्भ पृ० २०३ पर, 'काम विषयक शिक्षा के प्रकार और प्रचार के सम्बन्ध मे कुछ विचार', इस शीर्षक से हुआ है। तात्कालिक साक्षात् उद्देश्य इस प्रकरण का वह जान पड़ेगा जिस की चर्चा पृ० २०६-२१२ पर की गई है। किंतु व्यापक और गुरुतर उद्देश्य, इस समस्त 'कामाध्यात्म' नामक अध्याय का, यह है, कि काम-शास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्वों का ज्ञान जनता मे फैले; विशेष कर गृहस्थों मे,

heart trouble....(are caused. because) most of us bury distressing problems in a secret crypt of our minds." (This is what the psycho-analyst calls 'repression'). "It is more important to know what sort of petient has a disease, than what sort of disease a patient has", *Reader's Digest* for Oct. 1942, pp. 49-51; New York. U. S. A.).

१. पुनः कुछ निजी निवेदन—

'श्रेयांसि बहु-विघ्नानि', अच्छे काम मे बहुत विघ्न होते हैं; १४ मई, १९४३, शाम को मैं कुर्सी से उठने लगा, मूर्च्छित हो गया; सामने रक्खो दूसरी कुर्सी पर गिरा; नाक से प्रायः दो सेर खून, अठारह घंटे मे, निकल गया, ऐसा डाक्टरों ने अनुमान किया; कठिनता से खून बंद हुआ, प्रायः पन्द्रह दिन मे जब फिर शरीर में कुछ प्राण-संचार हुआ, तब बिखरे छितरे प्रसुप्तवद् विचारों को एकत्र कर के, चारपाई मे ही बैठ बैठ कर, ग्रन्थ के कार्य का पुनः आरंभ किया। ऐसी अवस्था मे क्या कार्य और

जिन के ऊपर नई पुश्त की रक्षा शिक्षा भिक्षा (वा भक्षा) की जिम्मेदारी है; कि वे समय समय पर अपने बच्चों की बुद्धि, वयस्, स्वभाव, अवस्था आदि के अनुसार, उन को, भूलों और दुराचारों से बचाने के लिए, उचित हित उपदेश करें। इस लिये, इन आध्यात्मिक तत्त्वों के ज्ञान के अन्तर्गत, तथा उन से सम्बद्ध, बहुत सी बातों और विचारों का संग्रह यहां तक कर दिया गया। पक्ष प्रतिपक्ष दोनो पर विचार कर के, इस युग (जमाने) के लिये निष्कर्ष यही है, जैसा पृ० १६५ पर गीता के श्लोक से कहा गया, कि सत्य ज्ञान के प्रचार से ही 'हवा' पवित्र होती है, जनता का हृदय शुद्ध होता है, सारे समाज का भाव और विचार सात्विक होता है, और तदनुसार, आचार भी शुद्ध और सात्विक होता है; ऐसे समाज की नई पुश्त की उचित रक्षा शिक्षा भिक्षा, अनायासेन आप से आप होती रहती है।

इस का प्रमाण, भारत के प्राचीन इति-ह-आस से मिलता है। कचहरियों मे रोज़ देख पड़ता है कि एक ही मामले मे, दोनो पक्ष की ओर से, आख देखे गवाह परस्पर नितान्त विरोधी साक्षी देते हैं; तब अति दूर भूत काल मे, 'इदं इत्थं एव', ऐसा ही हुआ, 'इति-ह-आस', यह निश्चय से कहना कठिन है; तौ भी न्यायालय मे न्यायाधीश प्राड्विवाक् निर्णय करता ही है, और उस का निर्णय अक्सर ठीक भी होता ही है। यह देखते हुए, उपलभ्यमान स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों के सहारे से; तथा उन स्मृतियों के आदेशों पर आश्रित जो समयाचार आजकाल भी 'हिन्दू' समाज मे चल रहा है, चाहे अस्त-व्यस्त रूप ही मे, उस के सहारे से; यह अवश्य कह सकते हैं कि, प्राचीन काल मे,

कैसा हो सकेगा, यह अन्तरात्मा को ही विदित है! पर जब तक साँस (श्वास) तब तक आस (आशा)'; "कर्मणि एव अधिकारस् ते, मा फलेषु कदाचन"। पाठक सज्जन इस ग्रंथ के सब दोषों को क्षमा करेंगे; यदि कोई अंश इसका उन्हे उपयोगी उपादेय जान पड़े, तो उस का ग्रहण और प्रचार करें; जो दोषयुक्त अनुपयुक्त हेय जान पड़े, उस का त्याग और वर्जन अवश्य करें; यह प्रार्थना है।

भारत मे, अब से अधिक सात्त्विक भाव फैला था, और उस के अनुसार नई पुश्त को शिक्षा मिलती रही।

ब्रह्मचर्य के विषय मे प्राचीन काल की शिक्षा

आश्रमो के, विशेष कर ब्रह्मचारी विद्यार्थी आश्रम के, धर्मों के वर्णन मे, ब्रह्म-चर्य शब्द प्रतिपद आता है; अवश्य ही इस का अर्थ विद्यार्थी को समझाया जाता था; वेद और उपनिषद् के वाक्य, पृ० १६३ पर लिखे गये हैं; मनु की आज्ञा है,

एकः शयीत सर्वत्र, न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्;
कामाद् हि स्कन्दयन् रेतः, हिनस्ति व्रतं आत्मनः ;
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रं, अकामतः,
स्नात्वा, अर्कम् अर्चयित्वा, त्रिः 'पुनर् मां' इति ऋचं जपेत्। (म०)

कड़ी चौकी या भूमि पर, ब्रह्मचारी अकेला ही सोवै; एक बिछौने मे, दूसरे के साथ नहीं ; जान बूझ कर कहीं कभी वीर्य न गिरावै; यदि बुद्धि-पूर्वक गिरावैगा, तो उस के ब्रह्मचर्य व्रत की हिंसा होगी, वह भ्रष्ट हो जायगा, विद्यार्थी को यथेष्ट विद्या नही आवैगी; परन्तु, यदि सपने मे, निद्रा मे, आप से आप, बिना जाने बूझे, बिना इच्छा किये, बिना हस्तमैथुन आदि की चेष्टा किये, वीर्य गिर जाय, तो नहा कर, सूर्य को नमस्कार कर, 'पुनर्मां' इस वैदिक ऋचा को तीन बेर जपे; ऋचा के अर्थ की भावना करता हुआ; 'तज्जपः तद्अर्थभावन,' (योगसूत्र); बिना 'अर्थ' की भावना का जप, 'वि-अर्थ' है, व्यर्थ है; सात्त्विक भावना-रूप भावनाऽत्मक जप से चित्त शुद्ध होता है; यह सब बात, माता पिता, वा आचार्य, वत्सल और दयालु भाव से, स्नेहमय शब्दो मे, पुत्र को, शिष्य को, समझा देते थे, और इस सम्बन्ध मे उस को जो शंका और प्रश्न उठते थे, उन का उसी रीति से समाधान कर देते थे। शुक्र, रेतः, वीर्य क्या वस्तु है; क्यों और कैसे गिरता है; गिरने से क्या हानि है; रक्षा से क्या लाभ है, जिस लाभ के लिए उस की रक्षा, उस का शरीर मे संचय, करना उचित है; यह सब बातें बतलाना ही पड़ता होगा; और इस रीति से ज्यो ज्यों विद्यार्थी, किशोर अवस्था से यौवन की ओर बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उस, का

कामशास्त्र की साधारण और अधिक आवश्यक बातों का, ज्ञान अनायास बढ़ न जाता था। सारे समाज मे ब्रह्मचर्य के महिमा का ज्ञान फैला रहने से, ब्रह्मचारी की रक्षा स्वतःप्राप्त होगी। पृ० १६८ पर और भी श्लोक उद्धृत किये हैं; उन को भी इस स्थान पर पुनः देख लेना चाहिये।

यदि वृद्ध जन, हितैषी, नेकनीयती से भी, अच्छे आशय से भी, सद्-उद्देश्य से भी, अंतरात्मा की प्रेरणा से ही, ऐसे उपदेश दे, और तौ भी नई पुश्त के चित्त मे दोष ही उत्पन्न हो, तो कहने और सुनने वाले के भाग्य ही का दोष जानना मानना चाहिये; और क्या कहा जाय !

मातृजंघा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति दोहने। (रघुवंश)

बछवे के दुर्भाग्य से, गाय दूहने के समय, बछवे को बाधने के लिये, उस की माता गाय का ही पैर, स्तम्भ का, खम्भे का, काम देता है।

अल्पवयस्को को, ऐसे प्रश्नो के उत्तर मे, जिन की चर्चा पृ० २११ पर की है, क्या बतलाया जाय; इस विषय पर, पुनः, इस अध्याय के 'परिशिष्ट' मे, कुछ लिखने का यत्न किया जायगा।

ब्रह्मचर्य के गुण *

पृ० १६४ पर, इसी शीर्षक का अधिकरण ('सेकशन', 'टापिक', sec. topic), शरीर के तीन स्थूणो खंभों की, तथा ओजस् की, चर्चा से समाप्त किया गया। अव-रोह-मार्ग से, (अव-रोहण, 'नीचे उतरना', सर्जन, सं-चरण, प्र-वर्त्तन से), अनन्त ब्रह्म परमात्मा का ही प्रति-बिम्ब, व्यक्तीकृत, वि-वर्त्तित, उलटा किया, स्थूल रूप, 'शुक्र' (ब्रह्म सनातनं)' है; आ-

* इस 'कामाध्यात्म' अध्याय के आरंभ (पृ० १६४) मे बतलाया है कि पहिले लिखे एक छोटे निबन्ध का यह अध्याय उपबृंहण है; उस निबन्ध का प्रायः पंचम अंश इस के पृष्ठ १६२ तक मे समाप्त हुआ; उस पृष्ठ पर, 'ब्रह्मचर्य के गुण', इस शीर्षक से, एक अधिकरण आरंभ हुआ; तत्पश्चात्, प्रसंगवश, अन्य बहुत बातों की चर्चा की गई; उन सम्बद्ध बातों की परिक्रमा कर, अब घूम कर, विचार पुनः 'ब्रह्मचर्य के गुण' की ओर आ गया; स्मरण के सौकर्य के लिये, इस अधिकरण का शीर्षक पुनः वही दिया जाता है।

रोह-क्रम से, (प्रति-संचरण, प्र-लयन, नि-वर्त्तन,प्रति सर्जन-से), 'शुक्र'-शक्ति को उलटा फेरने से, नीचे उतारने के बदले ऊपर चढाने से, बहिर्मुख के स्थान पर अंतर्मुख करने से, जीव, पुनः सूक्ष्म सूक्ष्मतर भावों का अनुभव करता हुआ, अव्यक्त परब्रह्म परमात्मा के भाव को प्राप्त करता है। योग की विधियो के अभ्यास से निरोध कर के, यदि वीर्य-धातु आत्मलीन किया जाय, तो सिद्धियों मे परिणत होता है; ऐसी, योग के ग्रन्थों की सूचना है; वह शक्ति बाहरी कार्यों मे व्यय न हो कर, भीतर फिरती है, शरीर और मस्तिष्क के सुप्तप्राय चक्रों, पीठों, कन्दों का, दिव्य इंद्रियों का, उद्बोधन संचालन करती है; स्थूल संतान के स्थान पर सूक्ष्म शरीर का ('जिस्मि-लतीफ़' का) निर्माण करती है, जिस से 'खे-चर' सिद्धि होती है। 'खे', चित्ताकाश मे, विचरण की शक्ति; मानस शक्ति, कल्पना शक्ति, जिस के द्वारा सब प्रकार के काव्य साहित्य और विविध शास्त्रों के ग्रन्थो का निर्माण होता है, इसी 'खे-चर' शक्ति का एक साधारण रूप है। प्राणि-सृष्टि मे जितना ही नीचे जाइये, उतनी ही उदर-शिश्न-परायणता अधिक देख पड़ती है; आहरण (आहार) और प्रजनन, इन्हीं दो कार्यों मे जन्तुओं की शक्ति दिन रात, लगी रहती है, बुद्धि का विकास नहीं होता; मनुष्य सृष्टि मे आ कर, जितनी ही भोजन-सन्तानन-कार्यों की रोक होती है, उतनी ही बौद्ध-कार्यों की वृद्धि। ब्रह्म आनन्द का विवर्त्त काम-आनन्द है; "तद् ऐक्षत बहु स्याम्" "तत् सृष्ट्वा तद् एव अनु-प्राविशत्", "तद् यथा प्रियया भार्यया संपरिष्वक्तः न बाह्यं किंचन वेद नऽाभ्यन्तरं", इत्यादि वाक्यों से, उपनिषदों ने, जीवात्मा-परमात्मा के सम्मेलन का भी, और स्त्री-पुरुष के समाश्लेषण का भी, वर्णन किया है; पर यह न भूलना चाहिये कि जीव और ब्रह्म का ऐक्य उत्-तम है, मोक्ष है, शुद्ध अमृत है, एक-रस निश्चल निष्क्रिय अमरत्व है; स्त्री-पुरुष-संगम अधस्-तम अधम है, बंध है, विषाक्त अमृतऽाभास हैं, बहु-सुरस-कुरस-पूर्ण चंचल क्रियामय आगम-आपायित्व जनन-मरणत्व है। कामशास्त्र मे मैथुन को अष्टांग कहा है,

स्मरणं, कीर्त्तनं, केलिः, प्रेक्षणं, गुह्य-भाषणं,
संकल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिष्पत्तिर् एव च ।

इस के विपरीत, योग भी अष्टाग है, "यम-नियम-आसन-प्राणऽयाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः" । इस विषय का विस्तार, मै ने "मानव-धर्म-सारः" नाम के संस्कृत-पद्य-ग्रन्थ मे किया है ।

बहुकाम के दोष

स्त्री-वीर्य (जिस का नाम रजस् है, पर जो रजस्वला के बहिर्दृश्यमान 'रुधिर' से भिन्न है), जिस को अंग्रेजी मे 'ओवम्' ovum कहते हैं, और पुरुषवीर्य, 'स्पर्म' sperm, आहारादि का सार, और अहंता-ममता काम का विशेष आधार, हैं । इस का शरीर मे अधिक संचय, और सद्-बुद्धि की मात्रा कम, होने से, ऐश्वर्यमद का प्रधान आविष्कार यह होता है कि सम्पन्न पुरुष बहुत स्त्रियों को ब्याह लेते हैं, अथवा घर मे डाल लेते हैं । तथा स्त्रियाँ, जिन देशों मे ऐसी प्रथा है, बहुत पुरुषा को ब्याहती या रखेल कर लेती हैं, अथवा गुप्त जार बना लेती हैं * । पूर्व और पश्चिम देशों के प्राचीन अर्वाचीन पुराण-इतिहास मे, जो राजा-महाराजा-सम्राटों, शहनशाह-पादशाह-सुलतानो, किङ्-कैसर-एम्पररों की कथा मिलती हैं, उन से मालूम होता है कि एक एक 'अवरोध' ('हरम') मे कई कई हज़ार स्त्रियाँ तक समय-समय पर भरते भरते जमा हो जाती थीं । कृष्ण की सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियाँ प्रसिद्ध हैं । उन के बहुत पुराने पूर्वज राजा रजि की एक लाख लिखी हैं । यह सब पौराणिक अत्युक्ति हो सकती है, पर सर्वथा नहीं । ईरान के इतिहास मे सैकड़ों और हजारों स्त्रियों के हरम मिलते हैं । रोम के किसी किसी सम्राट् के भी सैकड़ों थे । ईसा से हज़ार वर्ष पूर्व, यहूदियों के सब से प्रतापी प्रसिद्ध बुद्धिमान् विद्वान् ('दि-वाइज़', the wise) किन्तु इस विषय मे अन्य राजों के ऐसे ही दुर्बुद्धि, हजरत सुलेमान की सात सौ बीबियाँ लिखीं हैं । ईसवी पंद्रहवीं शताब्दि

* वात्स्यायन ने ऐसे कुछ देशों की चर्चा की है । अंग्रेजी मे वेस्टर-मार्क' का 'हिस्टरी आफ् ह्यूमन मैरेज', तीन बड़ी जिल्दों मे, (पुनर्लिखित पंचम सस्करण, १६२१ ई०), विवाह के प्रकारों पर आकर ग्रंथ है ।

मे दक्षिण के विजयनगर के साम्राज्य मे, एक राजा के अवरोध मे बारह हज़ार स्त्रियों का रहना लिखा है; सोलहवी शताब्दि मे, अति धनसंचय, अति भोगविलास, अति मांस-मद्य-ऽाहार, अति गर्व के कारण, यह साम्राज्य, राष्ट्र के सु-प्रबंध की बुद्धि और नीति मे, तथा शूरता से प्रजारक्षण की शक्ति मे, शिथिल हो गया। इस की समृद्धि, यूरोप के अभ्यागतो के वर्णन से, महाभारत-हरिवंश आदि मे लिखित, युधिष्ठर की मयनिर्मित सभा और कृष्ण की सुधर्मा सभा की समृद्धि से भी अधिक आश्चर्यकारिणी जान पड़ती है। सो यह कई पड़ोसी मुसल्मान राजाओ के मिल कर आक्रमण करने से ऐसा विध्वस्त हो गया, कि कुछ वर्षों पीछे उस की स्मृति भी भारतवर्ष से भूल सी गई थी। अब इतिहास के गवेषको ने अपनी खोज के बल उस स्मृति को ताजा किया है; इस पर, सब से पहिले, और सब से अधिक, परिश्रम, सिवेल नाम के एक अंग्रेज़ सज्जन ने किया; १६०० ई० मे उन का ग्रन्थ छपा, जिस का नाम ही उन्हों ने 'एक विस्मृत साम्राज्य', A Forgotten Empire, रक्खा। उन के बाद भारतीय गवेषकों ने भी अच्छा परिश्रम किया है। मुश्किल से ढाई सौ वर्ष मे यह साम्राज्य जन्मा, बढ़ा, तपा, और, अति 'काम' के कारण ही, समूल नष्ट हो गया। मद्रास सूबा के बिलारी जिला मे, हम्पी नामक स्थान मे, इस के विशाल खंडहर पड़े हैं।

यह सोलहवीं शती ईसवी की बात है। ई० सन् १८५७ के सिपाही संग्राम के पीछे, अवध के नवाब वाजिद अली शाह के साथ, कलकत्ते के पास मटियाबुर्ज को, सात सौ बेगम गई; ऐसी किंवदन्ती, पचास साठ वर्ष पहिले, थी। ई० सन् १६०६ मे मुझे काशी के 'सेंट्रल हिंदू कालिज' के लिये दान माँगने को, हैदराबाद (दक्खिन) जाने का अवसर हुआ। वहाँ दो-मंज़िले मकानो का एक बड़ा भारी आहाता, क़िले के ऐसा, शहर के भीतर देख पड़ा; लोगों ने कहा कि इस मे भूतपूर्व निज़ाम के बयालीस सौ 'महल' थे। लखनऊ मे खुस्रौ बाग़ के बारे मे यही कहा जाता है, कि वाजिद अली शाह के 'महलों' का अहाता था, और उस की बावलियों मे 'चीरहरण लीला' की जाती थी; इत्यादि। परिणाम जो हुआ प्रसिद्ध

है। कुछ वर्ष हुए, काशी के 'आज' अखबार मे, कुँवर मदन सिंह नाम के एक देशभक्त उच्चवंशीय राजपुत्र ने, राजपूताने की एक रियासत के दुराचारों का हाल कई लेखो मे छपवाया, और वहाँ के राजा के 'अवरोध' की दशा का भी वर्णन किया।

'अवरोध' शब्द 'रुध्' धातु से बना है, जिस का अर्थ 'रूँधना', घेर कर रोकना, जैसे कारावास को दीवारों से, अथवा भेड़ बकरियों के झुंड को कांटे झंखाड़ के वा बाँस के घेरे से। अवरोधों से क्या विपत्तियाँ राजा पर पड़ती हैं, तथा राजा के कुल पर, और उस प्रजा पर जिस के दुर्भाग्य और दुष्कर्म से उस को ऐसे राजा मिलते हैं—यह, व्यास वाल्मीकि महर्षि ऐसे इतिहासकारों ने दिखाया है; इन्हों ने कार्य-कारण संबंध को देखने वाली सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से देख कर, वैयक्तिक तथा सामूहिक मानव जीवन को, राग-द्वेष, काम-क्रोध, और इन के अवान्तर भावों की ही, अनन्त माया-क्रीड़ा का प्रवाह पहिचाना और कहा है। कृष्ण के पुत्र साम्ब को कैसे अपनी विमाताओं के साथ व्यभिचार करने से कुष्ठ रोग हो गया, और कैसे तपस्या से अच्छा हुआ, यह कथा भविष्य पुराण मे कही है। तथा कृष्ण के पृथ्वी छोड़ने के बाद उन के अवरोध की क्या दुर्दशा हुई, यह भी प्रसिद्ध है। सब स्त्रियों और बचे हुए बालकों को ले कर, अर्जुन, द्वारका से मथुरा को जा रहे थे; रास्ते मे आभीरों ने छापा मारा, स्त्रियों को उठा ले गये; व्यास जी लिखते हैं कि बहुत सी स्त्रियां, आभीरों के साथ, राजी खुशी चली गईं; अर्जुन, कृष्ण के वियोग से ऐसे दुःखित विमूढ़ हो रहे थे कि कुछ रक्षा नहीं कर सके। प्रत्येक अवरोध की प्रायः ऐसी ही दशा होती रही है। आस-पास के तत्कालीन लोग जानते हैं, पर इतिहासकार प्रायः नहीं लिखते *। क्षत्रियों मे कितनी ही स्त्रियाँ, राजा के

* छः सात वर्ष के भीतर की बात है, भारत मे, एक पहाड़ी रियासत के राजा मरे; लड़का गद्दी पर बैठा; उस ने बाप के 'अवरोध' को महलों से एकदम निकाल बाहर किया; सारी सड़क इन स्त्रियों से दूर तक भर गई; जीयो या मरो, क्या तुम्हारे अन्न वस्त्र का उपाय होगा, इस से कुछ मतलब नहीं। यह कथा एक मित्र ने मुझ से कही जिस ने स्वयं इस दृश्य को देखा।

मरने पर, या राष्ट्र-विप्लव होने पर, एक साथ 'सती' स्वयं होती थीं, या ज़बर्दस्ती आग मे डाल दी जाती थीं। ऐसी घोर क्रूरताओं का फल, सारे समाज का पतन है। इतिहासकारों को ऐसे कार्य-कारण, विशेष रूप से दिखाना चाहिये। अन्यथा, इस विषय मे अज्ञान और स्मृति-भ्रंश होने से, बुद्धि-नाश और व्यभिचार, देश मे, समाज मे, बढ़ता है, और अन्त मे समाज को डुबाता है। काम-शास्त्र के ग्रन्थकारों को भी ये बातें ध्यान मे रख कर ही ग्रन्थ लिखना चाहिये, कि उन के ग्रन्थ, समाज के अधः-पात मे सहायक न हों।

वात्स्यायन ने काम-सूत्र मे ऐसे अन्तःपुरों के व्यभिचारों की कुछ चर्चा की है। पर उन के वर्णन की अपेक्षा से, वास्तविक अवस्था बहुत अधिक भयङ्कर और बीभत्स रही, और है। इस विषय की विशेष पुस्तकों से उन का हाल जाना जा सकता है।*

कामीय ईर्ष्या से, न जाने कितनी स्त्रियों, कितने पुरुषों, की हत्या राजमहलों मे की गई है; ज़हर से, फाँसी से, छुरे तलवार से, बन्दूक-पिस्तौल से, ज़िन्दा गाड़ देने और दीवार मे चुनवा देने से, अन्तःपुर की खिड़कियों के नीचे मगरों से भरे तालाबों मे फेंक देने से, इत्यादि। कितने ही राजवंश, ऐसे ही कारणो से बदल गये हैं; असली हकदार मार डाले गये, व्यभिचार के जने, जार-ज, पुरुष, उन के स्थान पर गद्दी पर बैठा दिये गये; इतिहासों की सूक्ष्मेक्षिका से ऐसी बातों का पता चलता है। एक राजा, अवध-प्रांत के, जिन को मरे प्रायः तीस वर्ष हुए होंगे, कहा करते थे कि 'बारी' (ख़िदमतगार) का लड़का राजा, और राजा का लड़का 'बारी' होता है। दैनिक समाचार पत्रों मे, मैथुनीय ईर्ष्या के कारण की गई हत्याओं के मुक़द्दमों की चर्चा अक्सर होती रहती है।

इन सब बातों को यहाँ लिखने का तात्पर्य यह है कि, कामशास्त्र के अध्येता को चेतावनी की कमी न हो, कि आहारेच्छा, परिग्रहेच्छा और

*** श्री कन्हैयालाल गौबा की 'दि पैथोलोजी आफ़ इण्डियन प्रिंसेज' मे वर्तमान रियासतों का हाल, और 'अङ्कल शैम' मे अमेरिका का, थोड़े मे बहुत कुछ दिखाया है।**

कामेच्छा के सुप्रयोग से सर्बस सुख, और दुरुपयोग से दुःखसर्वस्व, मनुष्य को मिलता है। दुष्ट-काम के कारण रावण का महावश नष्ट हुआ और सोने की लका जली; अत्याहार, अति लोभ, अति बलमद,अति शौर्यमद, अति ईर्ष्या से, भीम-दुर्योधन की, अर्जुन-कर्ण की, परस्पर प्रतिस्पर्द्धा से, महाभारत का युद्ध हुआ। अति परिग्रह-लोभ से, अति धन-मद से, तथा समाज-व्यापी इन्द्रिय-लौल्य, भोग-लोलुपता, विषय-मग्नता से, कलह बढ़ कर, १६१४–१८ ई० मे, महायूरोप का महा-समर हुआ, जो महाभारत के युद्ध से दस गुना दारुण, रोग-संचारक, प्रजा-विनाशक, सम्पत्ति-क्षय-कारक हुआ; और अब पुनः, १६३६-१६४६ मे, उस से भी अधिक घोर द्वितीय विश्व-युद्ध हुआ, जिस के अगार-शेष, अभी भी, 'इडोनीसिया' मे, फिलिस्तीन मे, चीन मे, (१६४६ मे) जल रहे हैं। महाभारतीय सग्राम मे अठारह अक्षौहिणी अर्थात् कोई चालीस लाख आदमी कटे; और यूरोपीय प्रथम विश्व-युद्ध मे (युनाइटेड स्टेट्स अमेरिका के विशेषज्ञो की गणना से) एक करोड़ तीस लाख मरे; इतने ही सारे जीवन के लिये लँगड़े, लूले, अंधे, काने, तरह तरह से अपाहज हो गये; और इस के पाच गुने छः गुने भूख और बीमारियों से मरे। सब देशों के चिकित्सकों मे यह प्रसिद्ध है कि, नब्बे फी सदी रोग, जिह्वा और उपस्थ के अतिलौल्य से और दुरुपयोग से होने हैं, और दस फी सदी बाहरी कारणो से।*

*** १६१४–१८ के विश्वयुद्ध मे, सवा चार वर्षों मे, यूरोप मे एक कोटि तीस लक्ष कटे; १६१८ के अंत और १६१६ के आदि मे, सवा चार महीनो मे, भारत मे, सरकारी गणना से, साठ लाख, और वस्तुतः सवा करोड़, आदमी, 'वार-फीवर', 'इनूफ्लुएंजा', 'न्युमोनिक प्लेग',** (war fever, influenza, pneumonic, plague) **से मर गये; मुख्य कारण यही था कि भारत से, जीवन की आवश्यकीय वस्तु, अन्न वस्त्र आदि सब, यूरोपीय युद्ध के लिये, ब्रिटिश गवर्मेंट ने खीच ली, और यहां भूख और शीत के निवारण के लिये नहीं बची। द्वितीय विश्व-युद्ध मे, पहिले की अपेक्षा से, सैनिक कम मरे, निःशस्त्र नागरिक अधिक मरे;**

उचित 'काम'-सेवन की उपयुक्तता।

यहां यह भी कह देना चाहिये कि, प्रवृत्ति मार्ग पर, तीनों इच्छाओं की, उचित मात्रा मे, उचित रीति से, तृप्ति करना भी आवश्यक है। अ-समय अत्यन्त निरोध से भी दोष उठते हैं, जैसे अत्यन्त व्युत्थान से। पर इतना जरूर है कि, अति निरोध से जनित आपत्ति प्रायः व्यक्ति ही पर पड़ती है; और अति व्युत्थान से उत्पन्न, बहुतों पर; इस लिये अति व्युत्थान से अति निरोध कम बुरा जान पड़ता है। अ-समय अति निरोध से विविध बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं; यथा,

शुक्राश्मरी च महतां जायते शुक्रधारणात्। (वाग्भट)

वीर्य की 'पथरी', शुक्रमेह, क्लीबता, शरीर की अतिस्थूलता, आदि, शुक्र के अति निरोध से कभी कभी हो जाते हैं।

हाँ, यदि सच्चा वैराग्य हो कर, मन मे काम-वासना उठे ही नहीं, या बहुत कम उठे, तब रोग का भय नही है। प्रतिपद, जीवन के सभी व्यवहारों मे,

आश्रयेन् मध्यमां वृत्तिं, अति सर्वत्र वर्जयेत्।

बीच का रास्ता पकड़ो, अति से सर्वथा, सर्वदा, सर्वत्र, दूर रहो। सब को, सारी उमर भर, हित और मित भोजन की, प्रत्येक इन्द्रिय के अपने विषयरूपी आहार की, उचित मात्रा मे, जरूरत है; आंख को सुन्दर रूप-रंग, कान को मधुर शब्द, नाक को सुगन्ध, इत्यादि। वैसे ही, युवा और प्रौढ़ अवस्था मे, स्त्री-पुरुष को हित, मित, धार्मिक, वैवाहिक, रति-प्रीति रूपी परस्पर आप्यायन तर्पण की भी आवश्यकता है। ऐसे आहार के बिना चित्त मे और शरीर में कृशता, दुर्बलता, आधि-व्याधि, उत्पन्न होती है। उचित ब्रह्मचर्य पूरा करने के बाद, विवाह और गार्हस्थ्य, साधारण स्त्री-पुरुष को

हवाई जहाजों से, विमानों से, बम के गोलों के गिराने से; और अपार सम्पत्ति का विनाश हुआ। भारत मे, भूख और बीमारियों से, जिन कारणो से पहिले विश्व-युद्ध मे, उन्ही से इस मे भी, कम से कम तीस, अधिक से अधिक पचास लाख तक मनुष्य मरे। इस विषय मे पहिले भी, पृ० २५४-२६४ पर लिखा जा चुका है।

करना ही चाहिये। यह उत्सर्ग है, नियम है। हां, अपवाद, कभी कदाचित्, सभी उत्सर्गों के होते है। लाख, दो लाख, या दस लाख मे एक स्त्री या पुरुष ऐसा होगा, जो नैष्ठिक आत्यन्तिक आमरण शुद्ध ब्रह्मचर्य के योग्य, अपनी प्रकृति से, हो। ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों को सच्चे ऋषित्व का और योगसिद्धियों का सम्भव होता है। ऐसे ही कारणो से मनु ने कहा है कि पूरा ब्रह्मचर्य छत्तीस वर्ष का होता है, जिस से 'ब्रह्म' का पूर्ण अनुभव और संचय, समग्र 'वेद' का, 'ज्ञान-सर्वस्व' का, पूर्ण धारण, हो जाय; जो इस को साध सकै वही जीव, सच्चा, तपस्या और विद्या से सम्पन्न, 'ब्राह्मण' होगा; पर यह बहुत कम लोगों के लिये सम्भव है, इस लिये अक्सर लोगों को, 'तदर्धिकं,' अठारह वर्ष मे ही, तथा बहुतों को, 'पादिकं वा', नौ वर्ष मे ही, अथवा, सर्वसंग्राहक शब्दो मे, 'ग्रहणातिकमेव वा', जो विद्या जिस को विशेष रूप से अभीष्ट हो उस का ग्रहण हो जाने तक ही, ब्रह्मचर्य निबाहना चाहिये।

काम-जनित उन्मादादि।

कामवासना के दुष्प्रयोग से परम्परया बहुतो को हानि पहुँचती है, भयंकर संचारी संक्रामक रोग, उपदंश*, फिरंग रोग (गर्मी), आदि, शारीर व्याधियाँ समाज मे फैलती हैं; संतति निर्बुद्धि, दुर्बुद्धि, पागल, पशुवत्, होती हैं; और मानस व्याधियाँ, उन्माद आदि, भी, प्रायः काम-दोष से होती हैं, जिन से चारों ओर दुःख का प्रसर्पण विषवत् होता है, और नयी पुश्तैं अधिकाधिक भ्रष्ट, आसुर-प्रकृतिक, पशु-प्रकृतिक, होती जाती हैं।

अध्यात्मशास्त्र मे षड्रिपु, अन्तरारि, के नाम से, प्रायः छः चित्त-विकार कहे हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह (भय), मद, मत्सर। इतर

* उपदंश के विषय मे वैद्यों मे कुछ मतभेद है; कोई कहते हैं कि यह आतशक, गर्मी, फिरंग-रोग ही है; दूसरों की राय है कि 'फिरंग'-रोग, यूरोपीय 'फ्रांक, फ्रेंच' लोगों के ही साथ भारत मे आया, और उपदंश, जिस की चर्चा पुराने ग्रन्थों मे है, वह दूसरा ही रोग है।

पाँच को, एक दृष्टि से, काम ही की सेना कह सकते हैं। कामसामान्य की सन्तति ये निश्चयेन हैं।

संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते,
क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः,
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति। (गीता)

संग से काम, काम के विघात से क्रोध, क्रोध से आँख पर पर्दा, मोह, उस से (क्रोध के वश हो कर, हिंसा का यत्न करने से क्या अनिष्ट फल होता है, इस) स्मृति का विभ्रम, उस से बुद्धि-भ्रंश, उस से सर्वस्व-नाश; यह अनुचित अति 'काम' के फलों की अनर्थ-परम्परा है। पर काम-विशेष से भी, क्रोधादिक की, विशेष रीति से उत्पत्ति होती है। कचहरियों मे देखो तो मामले मुक़द्दमे, या तो परिग्रह-जायदाद के हेतु, या 'काम'-विशेष के हेतु, देख पड़ते हैं। अस्पतालों मे 'काम'-विशेष से उत्पन्न रोगों से पीड़ित बहुतेरे रोगी मिलते हैं। 'ल्युनाटिक-असैलम', 'मेण्टल-हास्पिटल', (lunatic asylum, mental hospital), उन्माद-चिकित्सालयों, मे, प्रायः 'काम'-विशेष से उत्पन्न उन्माद के रोगी होते हैं।

पश्चिम के उन्माद-गवेषकों ने उन्माद के प्रकारों की कई मुख्य जातियाँ, राशियाँ, बनाई हैं। प्राचीन अध्यात्म दृष्टि से छः प्रधान जातियाँ होंनी चाहिये, उक्त छः क्षोभों की 'अति' से। पाश्चात्य गवेषक इन के पास पहुँचे हैं, पर अभी ठीक-ठीक इन तक नहीं आ गये हैं; न उन्हों ने अब तक इस की खोज की है कि क्यों इतनी ही राशियाँ मुख्य माननी चाहियें। इस पर विस्तार अन्यत्र किया गया है*। यहाँ थोड़े मे इन छः राशियों की सूचना उचित है; (१) कामोन्माद (पश्चिम के डाक्टर इसे 'एरोटो-मेनिया' कहते हैं); (२) क्रोधोन्माद ('होमिसाइडल-मेनिया'; यदि 'साइडो-मेनिया' नाम रखते तो अच्छा होता); (३) लोभोन्माद

* 'दि सायंस आफ दि इमोशन्स', 'दि सायंस आफ सोशल आर्गेनिज़ेशन', 'दि सायंस आफ दि सेल्फ' मे, तथा 'साइको-ऐनालिसिस' विषयक मेरे अन्य लेखों मे।

('क्लेप्टो-मेनिया'); (४) मोहोन्माद, वा भयोन्माद, (इस के लिये अंग्रेज़ी मे अभी कोई शब्द तजवीज़ नहीं हुआ है, यद्यपि, प्रायः बीस प्रकार के भयों के नाम, भय के कारणों के नामो के साथ 'फ़ोबिया' शब्द जोड़ कर बना लिये गये हैं; यथा, बन्द कोठरी से भय 'क्लास्ट्रो-फ़ोबिया'; खुले मैदान से भय, 'आगोरा-फोबिया', आदि ; यह सब मानस बीमारियां हैं ; सब प्रकारों के भयोन्मादों के लिये संग्राहक नाम, अंग्रेज़ी मे, 'फोबो-मेनिया' अच्छा होगा); (५) मदोन्माद ('मेगालो-मेनिया'); (६) मत्सरोन्माद, (इस के लिये भी कोई अंग्रेज़ी शब्द ठीक नहीं हुआ है, 'ज़ीलो-मेनिया' प्रायः अच्छा होगा)‡ । अन्य सब प्रकार, इन्हीं छः के अवान्तर भेद समझे जा सकते हैं। 'मेनिः, मेनयः', शब्द, तीक्ष्ण चित्त-विकार और उत्कट इच्छा के अर्थ मे, ऐतरेय ब्राह्मण मे आया है। पाश्चात्य उन्माद-शास्त्रियों का विचार है कि प्रायः सभी उन्मादों की जड़ मे मैथुन्य काम-विकार ही है। यह ठीक नहीं। ऐसे काम से असम्बद्ध, अति लोभ, भय, क्रोध, मद आदि भी कितनों के मूल-कारण होते हैं। किन्तु यह सत्य है कि अधिकांश उन्माद का हेतु मैथुनीय काम-विकार है, चाहे 'काम' की अति मात्रा, चाहे व्याहति, चाहे काम-सम्बन्धी साध्वस, ईर्ष्या, असन्तोष, भय, क्रोध आदि। *

संसारसुखसर्वस्वे, योषा-पुं-रागसम्भवे,
खंडिताः दुर्भगाः यांति विविधां वै विरक्तताम् ।

काम-प्रेम-राग के विषय मे जिन स्त्री-पुरुषों की आंकाक्षा खंडित हो

‡ Erotomania, cido-mania, klepto-mania, phobo-mania, megalo-mania, zelo-mania; Fere's *Pathology of the Emotions* मे विविध भयोन्मादों का विस्तृत वर्णन है।

* ग्रीक भाषा के 'मेनिया' शब्द का अर्थ 'उन्माद' है; तथा 'ईरोस' का, 'काम'; 'क्लिप्टीन' का, चोरी; 'फ़ोबास' का, भय; 'मेगास' का, बड़ा, बड़प्पन, (अपने को बड़ा जानना, अहंकार, अभिमान); 'ज़ीलोस' का, प्रति-स्पर्धा; लेटिन भाषा के 'साइडेरी' शब्द का, हत्या करना।

जाती है, उन को तरह तरह के मानस विकार, शंका, ग्लानि, उद्वेग, असूया, निराशा, विराग, उन्माद, मूर्छा, देहशोष, कामज्वर, मरण तक होते हैं❀; इन की चर्चा पृ० २८३-२८४ पर की गई है। पौराणिक रूपक में, काम-क्रोध-अहंकार के देवता भव-हर-रुद्र के गण, प्रमथ-भूत-यक्ष-रक्षः पिशाच आदि, उन्मत्त-प्राय प्राणी होते हैं; पृथ्वी पर इन्ही गणो के प्रति-रूपक, विविध-पन्थों के विविध-वेशधारी 'विरक्तों' को समझना चाहिये। इस विषय पर, इधर चालीस पचास वर्ष मे, जर्मन जातीय आचार्य, ब्रूअर, फ्राइड, तथा उन के शिष्य, युंग, ऐडलर, आदि ने, बहुत गवेषणा कर के बहुत ग्रन्थ लिखे; इन मे, स्वप्नो के वर्णन से, मनुष्य के मन के भीतर दबे छिपे, वा उन की स्मृति की, दुःख-कारकता के कारण, दबा छिपा दिये गये और भूल से गये, निरुद्ध, अव्यक्ती-भूत, काम-विकारो की, 'हृदय-ग्रन्थियो', 'काम-जटाओं', का पता लगाने का, (पच्छिम मे सर्वथा नया माना जाता) एक उपशास्त्र, 'सैको-ऐनालिसिस' के नाम से, खड़ा कर दिया है, जिस की चर्चा पहिले की गई है। (पृ० २०८-२८२) इस उप-शास्त्र को, भर्तृहरि के उक्त श्लोक की विस्तृत व्याख्या ही, एक दृष्टि से, मान सकते हैं। यह उप-शास्त्र बहुत उपयोगी है। अभी इस के सिद्धान्त पश्चिम मे स्थिर नहीं हो पाये हैं, वाद-विवाद-ग्रस्त हैं। पर, पूर्वीय वेदान्त-शास्त्र, योग-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र की सहायता से, यदि ये स्थिर कर लिये जायँ, तो काम-शास्त्र मे, सामान्य रीति से, इन की मूल बातो का समावेश करना बहुत लाभदायक होगा।

कामशास्त्र; तीन अंग

जब मानव-जीवन के अर्ध भाग, प्रवृत्ति मार्ग, का प्रधान पुरुषार्थ 'काम' है; और उस के पाने की राह, ऐसी सुख दुःख, आशा-भय, सम्पत्ति-आपत्ति, मानस-शारीर आधि-व्याधि, से पुष्पित-कण्टकित है; तो यथा-सम्भव फूलों के विकासन के भी, और काँटों के निष्कासन के भी, उपाय

❀ **"दश तु कामस्य स्थानानि; चक्षुःप्रीतिः, मनःसंगः, संकल्पोत्पत्तिः, निद्राच्छेदः, तनुता, विषयेभ्यो व्यावृत्तिः, लज्जाप्रणाशः, उन्मादः, मूर्छा, मरणं, इति तेषां लिङ्गानि"** । **(काम-सूत्र, ५-१-४,५)**

सीखना, मनुष्य को परम आवश्यक है। इन दोनो उपायों के सिखलाने वाले शास्त्र का ही नाम कामशास्त्र होना उचित है।

शास्ति यत्साधनोपायं पुरुषार्थस्य निर्मलम्,
तथा एव बाधनाऽपायं, तत्शास्त्रम् इति कथ्यते।

किसी पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम, या मोक्ष, के साधन के उत्तम निर्मल निर्दोष उपायों को, तथा बाधन के अपायों को, रोकने, दूर करने, वाले प्रकारों को, बतावै, शासन करै—यही शास्त्र की शास्त्रता है। जो ऐसा करै वही ठीक-ठीक शास्त्र कहला सकता है।

इस लक्षण को ध्यान मे रख कर कामशास्त्र का सर्वाङ्गीण ग्रन्थ तैयार किया जाय तो उस मे प्रायः ये अंग होने चाहिये—

१—ज्ञानांग, २—रसांग (इच्छा-भक्ति-स्थानीय), ३—क्रियाङ्ग वा कर्माङ्ग।

ज्ञानांग

अध्यात्म-स्थान

(१) **अध्यात्म-स्थान**। (१) पारमात्मिक, पारमार्थिक, दृष्टि से, स्त्री-पुं-भेद, काम, रति-प्रीति, सौंदर्य, यौवन, और रजो-वीर्य, के तात्त्विक स्वरूप का वर्णन होना चाहिये; ये सब क्या हैं और क्यों हैं। (इस के दिग्दर्शन मात्र का यत्किंचित् यत्न ऊपर किया गया है, और 'दि सायंस आफ़ पीस' तथा 'दि सायंस ऑफ़ इमोशन्स' मे कुछ अधिक किया है)। अंग्रेज़ी शब्दों मे इस अंश को 'दि फ़िलासोफ़ी, आर् मेटाफिज़िक, आफ सेक्स' (the Philosophy or Metaphysic of Sex) कहा जायगा। इस का संकलन, प्रायः वेदान्त-शास्त्र के बल से ही करना होगा। पाश्चात्य ज्ञान से इस मे सहायता कम मिलेगी। (२) जैवात्मिक, व्यावहारिक, दृष्टि से, काम के आकार, प्रकार, विकार, आविष्कारों का वर्णन आवश्यक है। इस पर सस्कृत के साहित्य-शास्त्र मे, तथा पच्छिम के 'दि सैकालोजी ऐण्ड पैथालोजी आफ सेक्स' the Psychology and Pathology of Sex, के अब विशाल साहित्य मे,

बहुत सामग्री है। अंग्रेजी मे इस अंश को 'दि सैकालोजी आफ सेक्स' कहते हैं।†

शारीर स्थान

(ख) शारीर स्थान। (१) स्त्री-पुरुष के प्रजनन इंद्रियों का, उन के सूक्ष्म अवयवो का, एक-एक के विशेष-विशेष रसो, निस्स्यन्दो, 'सीकीशन्स,' secretions, का, गर्भाधान और संतान-उत्पत्ति मे उपयोगों का, वर्णन होना चाहिये*। (२) तथा इन के रोगो का, रोगो के कारणो का रोगो से बचाये रखने के उपायों, अर्थात्, नित्य-शौच के प्रकारों, का। (३) इस सम्बन्ध मे, ओषधि वनस्पति-वृक्ष-गुच्छ-गुल्म-तृण-प्रतान-वल्ली रूप स्थावरो के, तथा विविध जगम जतुओं के, प्रजनन के प्रकारो का,

† Havelock Ellis, *The Psychology of Sex*, 7 vols; Iwan Block, *The Sexual Life of Our Time (Germany)* 1 vol., *(Britain)* 2 vols.; Krafft-Ebing, *Psychopathia Sexualis;* etc

* इस विषय पर, हिन्दी मे, वैज्ञानिक रीति से लिखे, अब ग्रंथ मिलने लगे हैं ; ऐसा, विज्ञापनो से, मालूम होता है; मेरे देखने मे एक आया, डाक्टर ए० ए० खां का लिखा 'जन्मनिरोध' (१६४० ई०, भार्गव पुस्तकालय, बनारस)। यद्यपि नाम 'जन्म-निरोध' है, पर पुरुष और स्त्री की प्रजनन इद्रियों का वर्णन, तीन अध्यायों मे, चित्र सहित, अच्छा किया है; जन्म-निरोध सम्बन्धी अन्य बातों का भी प्रतिपादन, प्रामाणिक रीति से किया है। इस के बाद, हाल मे, डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा का ग्रन्थ, "हमारे शरीर की रचना" (दो जिल्द, १६३८-१६४४ ई०) देखा ; इस की दूसरी जिल्द के अन्त मे, स्त्री पुरुष की प्रजनन इद्रियों का अच्छा और प्रामाणिक वर्णन किया है: तथा गर्भाधान, गर्भ मे शिशु की अवस्था, और प्रसव, का भी। वात्स्यायन के काम सूत्र का हिन्दी मे अनुवाद, श्री विजयबहादुर सिंह ने किया है (महाशक्ति प्रेस, बनारस); उसी के लिये, भूमिका के रूप मे "कामाध्यात्म" का प्रथम लघुरूप लिखा गया था, विजय बहादुर जी ने अनुवाद अच्छा किया है, पाश्चात्य ग्रन्थो के ज्ञान से भी, अनुवाद

वर्णन प्रसक्त है। तीन प्रकार मुख्य हैं;*पहला प्रकार, अलिग-अमैथुन,काड-प्ररोही, है; कितने ही पौधे ऐसे हैं जिन की एक टहनी काट कर ज़मीन मे गाड़ देने से, जड़ पकड़ लेती है; तथा जल मे रहने वाले कई चाल के अणु कीट भी ऐसे होते हैं जो फूल कर फटते और दो टुकड़े हो जाते हैं, और प्रत्येक टुकड़ा स्वतंत्र कीटाणु हो जाता है, और फिर फूलता है, फटता है, परम्परया। (२) सृष्टि का दूसरा प्रकार, उभयलिंग-अंतर्मैथुन, बीजप्ररोही, है, जैसा अधिकांश ओषधि-वृक्षादिकों का; इन के फूलों के बीच मे जो सूत्र या जीरे निकले रहते हैं, उन मे से कुछ पुरुष-लिंग और कुछ स्त्री-लिंग होते हैं; दोनों के मुख-भाग को सूक्ष्मेक्षिका से देखने से, उनमे भेद प्रत्यक्ष जान पड़ता है; पुरुष सूत्रो के मुख पर से पराग झड़ कर, अथवा विविध प्रकार के फनगों (पतंगों) मधुमक्खियो आदि के द्वारा, स्त्री-सूत्रों की नाली मे प्रविष्ट हो कर, बीज बनता है। पाशव और मानव पुरुष शरीरो मे, अव्यक्त रूप से स्त्री चिन्ह, और स्त्री शरीरो मे पुरुष चिन्ह, सभी को होते हैं; और किसी अति प्राचीन युगांतर मे उन की उभय-लिंगता, अर्धनारीश्वरता, का प्रामाणिक अनुमान कराते हैं। इन सब बातों का, संक्षेप मे, पर विशद रूप से, वर्णन होना चाहियें।

* अमैथुन्यः प्रजाः पूर्वं; न व्यवर्धन्त ताः ; ततः

† मिथुनं ससर्ज भगवान् ; बहुरूपाः ततोऽभवन् । (वायुपुराण, पूर्वार्ध, अ० ८ व ४७)। पुराणो मे कहा है कि आदिकाल मे अमैथुन सृष्टि होती थी; उन मे विचित्रता नहीं हुई; तब ब्रह्मा ने मिथुनता उत्पन्न किया, समैथुन सृष्टि बहुरूप हुई ।

का, स्थले स्थले, उपबृंहण किया है, और दुराचारों व्यभिचारों के विरुद्ध चेतावनी भी दी है; इन्हों ने प्रजनन इंद्रियों का वर्णन भी किया है, जो वात्स्यायन ने सर्वथा छोड़ दिया है; यद्यपि नामोल्लेख, विजय बहादुर जी ने नहीं किया, पर मिलाने से विदित होता है, कि डाक्टर त्रिलोकीनाथ के ग्रन्थ से ही बहुधा शब्दशः उद्धरण दिया है; एक जगह, "समीरणी, चांद्रमसी, गौरी", इन तीन नाड़ियों की चर्चा की है; कहाँ से इन का हाल मिला, सो नहीं लिखा; अभी थोड़े दिन हुये, "पंचसायक" नाम का

(३) तीसरा प्रकार, सृष्टि का, भिन्न-लिंग समैथुन है, जैसा इस युग मे, अधिकाश कीट, पतंग, दश, मक्षिका, सरीसृप, मत्स्य, पशु, पक्षियो मे, और मानवो मे है। इन के संयोग के और गर्भाधान के प्रकारो का वर्णन होना चाहिये। इस विषय मे पाश्चात्य आचार्यों ने भारी परिश्रम से बडी गवेषणा की है, और बड़े रोचक और शिक्षक ज्ञान एकत्र किये हैं। किन्ही किन्ही प्राणि-जातियो मे, जैसे विशेष प्रकार की मकड़ियो मे, नारी, गर्भाधान के बाद, नर को मार डालती है और खा जाती है; किन्ही मे स्त्री-वीर्य पानी पर उतरा आता है, तब नर उस पर पुरुष-वीर्य छिडक देता है; किन्ही मे, यथा मधुमक्षिका और दीमको मे, एक ही 'रानी' होती है, और वही गर्भ-धारण करती और हजारो बच्चे देती है, जिन मे से दस बीस ही, विशेष प्रकार का पदार्थ खिला कर, नर बनाये जाते हैं, बाकी नपुंसक और महापरिश्रमी, मधु आदि का सञ्चय करने वाले, शहद का छाता और दीमक की बॉबी (वमी, वल्मीक) बनाने वाले, होते हैं; इत्यादि। यह बात याद रखने की है कि, नर और वानर से नीचे दर्जे के प्राणियो मे मैथुन-काम, बँधे ऋतुओ मे, और गर्भाधान के लिये, ही होता है। तीसो दिन, बारहो महीने, रति के अर्थ, नही होता, जैसा सौभाग्य-दौर्भाग्य से मानवों मे होता है। पुराणो मे शिक्षाप्रद वृत्रासुर के वध और वर्षा के आरंभ के रूपक से बताया है कि क्यों और कैसे

ग्रन्थ मेरे देखने मे आया; इस के "नाड़ी-ज्ञान-समुद्देश-प्रकरण" मे इन नाड़ियों की चर्चा की है, और कहा है कि, स्त्री-योनि की समीरणी नाम की नाड़ी मे पुरुषवीर्य पड़ने से निष्फल होता है, चांद्रमसी मे कन्या जन्मती है, गौरी मे बालक; पर पंचसायक-कार ने यह किस प्रमाण पर लिखा, सो नहीं मालूम होता। आधुनिक पाश्चात्य शारीर-विज्ञान के ग्रन्थों मे ऐसी तीन स्त्री-नाड़ियों की कुछ चर्चा नहीं है; तथा उस ग्रन्थ मे, इन चार पांच श्लोकों के सिवा वात्स्यायन की बातों से अन्य, कुछ भी नहीं है। 'रति रहस्य', 'अनग-रंग', 'नागर-सर्वस्व' आदि अन्य ग्रन्थ भी, जिन से विजय बहादुर जी ने जहां तहां उद्धरण किये हैं, वात्स्यायन के कुछ अशों के प्रायः अनुवाद मात्र हैं।

'नित्यकामवराः स्त्रियः' (और 'पुरुषाः') हो गये; 'नित्यकाम' होते हुए भी, स्त्रियों को तो प्रत्यक्ष ही 'ऋतु' होते हैं; पाश्चात्य सूक्ष्म 'सायंटिफिक', scientifc, शास्त्रीय, गवेषणा से विदित हुआ है कि पुरुषों को भी 'सैक्लिक पीरियाडिसिटी', cyclic periodicity, 'चक्रवत् वीर्याधिक्य-काल' होता है; यथा, वसन्तोत्सव (होली, 'कार्निवल') सभी देशों मे मनाये जाते है, यद्यपि उन के प्रकार सात्त्विक-भाव वा राजस-भाव से भेदित होते हैं; कहीं अधिक ललित और आवृत वचनों, नृत्यों, और चेष्टाओं से हँसी ठठोली की जाती है, कहीं अधिक अश्लील, अश्रील, अभद्र, अनावृत गीतों, आवाज़ों, और मुद्राओं से। इन बातों का वर्णन भी होना चाहिये। इस अंश का, प्रायः पाश्चात्य ज्ञान के बल से ही, अधिकतर, संकलन हो सकता है। अति प्राचीन अतीत युगों मे, मानव-जाति मे भी अमैथुन और अंतर्मैथुन सृष्टि होती थी, इस का सूचन पुराणो मे, तथा कुछ अधिक स्पष्ट वर्णन अंग्रेज़ी के 'दि सीक्रेट डाक्ट्रिन' नामक ग्रन्थ मे मिलता है*। इस सब अंश का अंग्रेज़ी नाम 'दि फिसियालोजी आफ् सेक्स', the Physiology of Sex, है।

(ग) **विवाह के प्रकारों का वर्णन**; मुख्यतः तीन। (१) सात्त्विक प्रकृति के योग्य; मनुस्मृति के शब्दों मे, ब्राह्म-दैव-आर्ष-प्रजापत्य; इन सब का प्रधान और समान अंश यह है कि, वृद्धों की सलाह के साथ-साथ, वर-वधू की भी परस्पर अनुकूलता हो। (२) राजस-प्रकृति के अनुरूप, यथा (२-क) गांधर्व, अर्थात् स्त्री-पुरुष का परस्पर स्वयम्वरण, और (२-ख) राक्षस, अर्थात् स्त्री का बलात् अपहरण, और (२-ग) आसुर, अर्थात् स्त्री के माता-पिता को धन दे कर उस का मोल लेना; आसुर को रजस्-तमस्-मिश्रित भी कहा है†। (३) तामस, यथा पैशाच, अर्थात् सोती

* H. P. Blavatsky, *The Secret Doctrine*, 6 vols. (Adyar edition).

† **भारत मे तो अब इस द्वितीय प्रकार का एक नया चौथा भेद बहुत प्रबल होता जाता है, अर्थात वर के माता-पिता को धन दे कर, वर को**

हुई या प्रमत्त (अनजान, अबोध, प्रमादवाली, बेफिक्र, खेलती, बालिका कन्या, या नशे से ग़ाफ़िल) स्त्री पर बलात्कार । पौराणिक रूपक मे उमा-महेश्वर, पार्वती-परमेश्वर, गौरी-शंकर का जोड़ा सात्त्विक, भव भवानी का राजस, रुद्र-काली का तामस । वात्स्यायन ने गांधर्व विवाह को सब से अच्छा कहा है, (जैसी पाश्चात्य शिक्षितों की भी राय है); परन्तु, सात्त्विक राजस तामस प्रकृतियों का विवेक नहीं किया है, इस से वात्स्यायन का मत, भगवान् मनु की सर्वसंग्राहक दृष्टि से, ऐकपाक्षिक और न्यून है ।

इन सद् विवाहों और असद् विवाहों के गुण-दोष, सन्तति के ऊपर प्रभाव, आदि की, थोड़े मे, किन्तु पर्याप्त सूचना, मनुस्मृति और महाभरत मे की है;

अनिंदितैः स्त्रीविवाहैः अनिंद्या भवति प्रजा,
निंदितैर् निन्दिता नृणां, तस्मान् निंद्यान् विवर्जयेत् ।
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्षु एव, अनुपूर्वशः,
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्राः जायंते, शिष्टसमताः,
रूपसत्त्वगुणोपेताः, धनवंतो, यशस्विनः,
पर्याप्तभोगाः, धर्मिष्ठाः; जीवन्ति च शत समाः ।
इतरेषु अवशिष्टेषु, नृशंसा अनृतवादिनः
जायंते, दुर्विवाहेषु, ब्रह्म-धर्म-द्विषः सुताः । (मनु)
अविज्ञातासु च स्त्रीषु, क्लीबासु, स्वैरिणीषु च,
परभार्यासु, कन्यासु नाऽचरेन् मैथुनं नरः ;
कुलेषु पापरक्षांसि जायंते वर्णसंकरात्,
अपुमांसो, ऽङ्गहीनाश्च, स्थूलजिह्वाः, विचेतसः ;

खरीदना । इस का फल यह हो रहा है कि जब कन्या के दरिद्र या अल्प-वित्त माता-पिता, वर के माता-पिता को, उन का मुह मागा धन नहीं दे सकते, तो कन्या आत्महत्या कर लेती है । ऐसे इतिवृत्तों के समाचार, बीच बीच मे, अखबारों मे छपते रहते हैं ।

एते चान्ये च जायंते, यदा राजा प्रमाद्यति,
तस्माद् राज्ञा विशेषेण वर्तितव्यं प्रजाहिते।

(म० भा०, शांति, अ० ६०)

भगवान् मनु के, तथा भीष्म पितामह के, ये श्लोक, कामशास्त्र के मस्तक पर सदा लिखे रहने चाहियें, और अध्येता को सब से पहिले कंठ कर लेने चाहियें; तभी उस का अध्ययन, इस शास्त्र का, निर्दोष और गुण-मय होगा; अन्यथा, विपरीत होगा। सात्त्विक विवाहों से, और स्त्री-पुरुष के सयोग के समय सात्त्विक भावों के, प्रेममय भावों के, आधिक्य से, सात्विक सन्तति होती है; राजस से राजस; तामस से तामस। व्यभिचार से, कन्यादूषण से, घोर अप्राकृतिक पश्वादि के ऐसे संयोग से, नपुंसक, पशु-रूपी, अथवा हीनांग, स्थूल जीभ वाले, 'बौरहे', 'राक्षस' रूपी, भयङ्कर आकृति के, जीव पैदा होते हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों मे इस विषय पर विस्तार किया है। राजा के ही प्रमाद से, ऐसे व्यभिचार आदि पाप, प्रजा मे फैलते हैं; इस लिये राजा को सावधानी से इन्हें रोकना चाहिये; अपने मे भी, और दूसरों मे भी; "यद्यद् आचरति श्रेष्ठः तत् तद् एव इतरो जनः" जैसा बड़ा करता है, उसी की नक़ल छोटा करता है; राजा पापी है, तो प्रजा पापी होगी; राजा सदाचारी है, तो प्रजा भी सदाचारी।

पौराणिक रूपक मे, 'कामस्य द्वे भार्ये, रतिश्च प्रीतिश्च', कामदेव की दो पत्नी, रति और प्रीति। शरीर-प्रधान और अभिमान-प्रधान भाव 'रति' है; चित्त-प्रधान और प्रेम-प्रधान भाव 'प्रीति' है। प्रेम के पर्याय शब्द, अनुराग, स्नेह, प्रियता, हार्द, भक्ति, दया आदि हैं। भक्ति शब्द, केवल इष्टदेव के ही सम्बन्ध मे प्रयोज्य नहीं है। 'भजमानं भजस्व मां', ऐसी उक्ति उत्तम नायक नायिका के बीच, काव्यों मे मिलती है। तथा, 'दयिता', यह विशेषण प्रिय और सुकुमार भार्या का, प्रसिद्ध है। उत्तम दाम्पत्य वह है जिस मे पति-पत्नी, भर्त्ता-भार्या, (इन शब्दों के यौगिक अर्थ विचारने और हृदय मे रखने योग्य हैं[१]), एक दूसरे के लिये ऐसा

१. 'पाति इति पतिः', कुल की रक्षा करता है; 'पाति, बालकान् इति पतिनी=पत्नी', बालकों की रक्षा करती है, उनका पोषण करती है।

कह सकैं जैसा दशरथ ने कौशल्या के लिये कहा, कि 'वह देवी, दासी, सखी, भगिनी, भार्या, माता, सभी के ऐसा मेरा परिचार करती है',

यदा यदा हि कौसल्या दासीवत् च सखी इव च,
भार्यावद्, भगिनीवच् च, मातृवत् च उपतिष्ठते।
(वा० रामा०, अयो०, सर्ग १२)

शकुन्तला ने दुष्यन्त से,

सखायः प्रविविक्तेषु भवंति एताः प्रियवदाः,
पितरो धर्मकार्येषु, भवंति आर्त्तस्य मातरः;
अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा,
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, यः सभार्यः स बन्धुमान्,
भार्यावन्तः क्रियावन्तः, सभार्याः गृहमेधिनः,
यः सदारः सः विश्वास्यः, तस्माद् दाराः परा गतिः;
तस्माद् भार्या पतिः पश्येत् पुत्रवत् पुत्रमातरं;
अंतरात्मा एव सर्वस्य पुत्रो नाम उच्यते सदा।
(म० भा०, आदि० अ०, ८६)

योगवासिष्ठ मे, चूडालोपाख्यान मे, कहा है,

मोहाद् अनादिगहनाद्, अनन्तगहनाद् अपि,
पतितं, व्यवसायिन्यस्, तारयंति कुलस्त्रियः;
शास्त्रार्थ-गुरु-मंत्रादि तथा न उत्तारणक्षमं,
यथा एताः कुलशालिन्यः भर्तॄणां कुलयोषितः;
सखा, भ्राता, सुहृन्, मित्रं, गुरुर्, भृत्यो, धनं, सुखं,
शास्त्रं, आयतनं, दासः, सर्वं भर्त्तुः कुलाङ्गनाः;
सर्वदा सर्वयत्नेन पूजनीयाः कुलाङ्गनाः,
लोकद्वयसुखं सर्वं सम्यग् यासु प्रतिष्ठितं। (यो० वा०)।

'भरति, इति भर्त्ता', भरण पोषण करता है; 'भ्रियते इति भार्या', जिसका भरण पोषण किया जाय; 'भृत्य' का भी अर्थ यही है, 'भरण पोषण के योग्य' नौकर।

अनादि अनन्त गहन अविद्या मोह के मारे, पाप मे, नरक मे, गिरे, पति को, व्यवसायवती हिम्मतवर कुलस्त्री ही उबारती है। शास्त्र की बातें, गुरु, मंत्र आदि, पतित डूबते हुए के उत्तारण मे वैसी समर्थ नहीं होते जैसी कुलीन भार्या। भर्त्ता के लिये कुलीन भार्या तो सखा भी, भ्राता भी, नितान्त सहृदय मित्र भी, गुरु, भृत्य, धन, सुख, शास्त्र, शरणगृह, दास, सभी है। कुलाङ्गनाओं का सब प्रकार से, बहुत यत्न से आदर करना चाहिये, क्योंकि इहलोक परलोक दोनो का सर्वस सुख इन्हीं पर प्रतिष्ठित आश्रित है।

एक स्मृतिकार ऋषि ने कहा है,

व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्,
तथा पतिव्रता नारी भर्त्तारं अनुगामिनी,
अपि पातकिनं घोरं नरके पतितं पतिं;
तथा भर्त्तारं आसाद्य स्वर्गे लोके महीयते।

जैसे सँपेरा साँप को बिल मे से बाहर अपने बल से खींच लाता है, वैसे पतिव्रता पत्नी अपने पति को नरक मे से बाहर खींच लाती है, और स्वर्ग मे उस को लेजा कर, उस के साथ, स्वर्गवासियों से आदर पाती है।

अज ने, इन्दुमती के लिये विलाप करते हुए कहा,

गृहिणी, सचिवः, सखी मिथः,
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। (रघुवंश, अ० ८)

सीता ने राम का वर्णन करते हुए, अनसूया से,

किं पुनः यो गुणश्लाघ्यः, सानुक्रोशः, जितेन्द्रियः
स्थिरानुरागः, धर्मात्मा, मातृवत्, पितृवत्, प्रियः;

शकुन्तला ने दुष्यन्त को समझाया,

एकांत मे मीठी बात करने वाली सखी, धर्म कार्यों मे पिता, दुःख मे माता, पति के लिये पत्नी सब कुछ होती है; पुरुष का आधा शरीर पत्नी है; श्रेष्ठतम मित्र है, धर्म-अर्थ-काम के त्रिवर्ग का मूल है; जिस को भार्या है उसी को सच्चा बन्धु है, वही क्रियावान् है, वही, अपने अपने कुल के, अपने समाज के, हित के लिये व्यवसायऽात्मक कर्म करता है,

बेकार नही बैठा रहता, वही गृहस्थी रूप शाश्वत मेध, यज्ञ, करता रहता है वही विश्वासपात्र होता है। पिता की अंतरात्मा ही, पुत्र के रूप मे, पत्नी के द्वारा उत्पन्न होती है; इस लिये पति को उचित है, कि पुत्र की माता को अपनी ही माता जानै। अज के लिये इदुमती, गृहिणी भी, सचिव, सखी, कलाओं मे शिष्य भी, थी। सीता के लिये राम, सर्वगुण-सपन्न, परम दयालु, जितेन्द्रिय, स्थिर-प्रेमी, धर्मात्मा, माता और पिता के ऐसे प्रिय थे।

अद्वैत सुखदुःखयोः, अनुगुणं सर्वासु अवस्थासु यत्,
विश्रामो हृदयस्य येन, जरसा यस्मिन् न हार्यो रसः,
कालेन आवरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं,
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य, कथं अपि एकं हि तत् प्राप्यते।

(उत्तररामचरित)

वह स्नेह का सार, सच्चा प्रेम, जिस से, सब अवस्थाओं मे, एक को सुख तो दूसरे को सुख, एक को दुःख तो दूसरे को भी दुःख, एक सा होता है; थके मादे हृदय का जिस से विश्राम मिलता है; जिस के रस को बुढ़ापा कम नही करता है; बल्कि युवावस्था की लज्जा हट जाने से जो और अधिक परिपक्व हो जाता है—वह प्रेम, वह स्नेह का सार, भले दम्पतियों को ही, बड़े भाग्य से मिलता है। यौवन (जवानी) मे, 'रति' का भी अंश व्यक्त होने से, परस्पर 'आवरण' (पर्दा, त्रपा, हिजाब) रहता है; वृद्धावस्था मे, यदि शुरू से ही रति के साथ सात्त्विक 'प्रीति' भी प्रबल रही, तो प्रीति ही प्रीति रह जाती है, जिस मे कोई पर्दा नही।

इन उत्तम सात्त्विक परिष्कृत भावों को भूल कर, स्वार्थप्रधान और अभद्रप्राय शब्दों मे उन का आभास, राजस स्वभाव के पुरुष यो कहते हैं,

कार्ये दासी, रतौ वेश्या, भोजने जननीसमा,
विपत्तौ बुद्धिदात्री च, सा भार्या सर्वदुर्लभा।

गृहकार्य के लिये दासी, मैथुन मे वेश्या सी निस्त्रप, विपत्ति मे अच्छी सलाह देने वाली—ऐसी भार्या बहुत दुर्लभ होती है।

इस का प्रतिरूप और पूरक द्वितीय अर्ध नहीं सुनने मे आता; यदि यह भी कहा जाय तो आभास मे सद्-अंश अधिक हो जाय; यथा,

कार्ये दासो, रतौ जारो, पोषणे जनको यथा,
विपत्तौ रक्षिता चैव, स भर्त्ता सर्वदुर्लभः।

कार्य के लिए गुलाम, रति-प्रसंग मे जार (यार, उपपति, विट), विपत्ति मे रक्षा करने वाला—ऐसा भर्त्ता बहुत दुर्लभ होता है।

'पुरुष' की 'प्रकृति' होती है; पुरुष प्रकृतिमान् है। शिव, शक्तिमान् है; शिवा, शक्ति है। पुरुष धर्मी है; प्रकृति उस का धर्म, उस का स्वभाव, है। इस लिए पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्ति, एक ही हैं। तौ भी दो के ऐसे जान पड़ते हैं। यही आदि माया का मूल है। पारमार्थिक एकत्व मे इसी द्वित्व के कारण, उस का अनुकरण करके, स्त्री-पुरुषऽात्मक द्वित्व की उत्पत्ति होती है।[1]

स आत्मानं द्वेधाऽपातयत्, ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्।
तस्माद् इदं अर्धवृगलमिव। आपयतो वै तौ ऽन्योऽन्यस्य
कामान् सर्वान्। (उप०)
एतावान् एव पुरुषः, यज् जायाऽात्मा प्रजा इति ह;
विप्राः प्राहुः तथा च एतद्, यो भर्त्ता सा स्मृता ऽङ्गना। (मनु)

परमात्मा ने अपने दो टुकड़े कर दिए; एक पति हो गया, दूसरा पत्नी; इसी से, अकेला पुरुष, अकेली स्त्री, अधूरे से होते हैं; पति-पत्नी-संतान, यह तीन मिल कर सम्पूर्ण पुरुष बनता है; ऋषियों ने कहा है कि जो भर्ता है, वही अंगना है; पति और पत्नी मे भेद नहीं।

यह आदि-मिथुन, मूल-जोड़ी, एक दूसरे के लिए संसार-सर्वस्व हैं, इन्द्रिय-गोचर-सर्वस्व हैं, एक दूसरे के सभी 'कामो,' इच्छाओं, को पूरा करते हैं। इसी मूल-द्वंद्व-दाम्पत्य-भाव के अन्तर्गत, पति-पत्नी भाव, भर्त्ता-भार्या भाव, पिता-पुत्री भाव, माता-पुत्र भाव, भ्राता-स्वसा भाव, सखा-

1 दुर्गासप्तशती मे चिद्रूपिणी, चेतना-रूपिणी, अर्थात् चैतन्य-परमात्मा-रूपिणी, देवी के ही रूपान्तर, क्षुधा, तृषा, निद्रा, तुष्टि, पुष्टि, धृति, स्मृति, लज्जा, श्रद्धा, कांति, शांति आदि को कहा है।

सखी भाव, गुरु-शिष्य भाव, स्वामी-दासी और स्वामिनी-दास भाव, गृही-गृहिणी भाव, राजा-सचिव भाव, सभी हैं; इसी से सभी उत्पन्न होते हैं; सभी इस आदि-द्वंद्व-भाव मे समाहृत हैं। ऐसे ही, आदर्श मानव-दम्पती के बीच भी इन सब उत्तम भावों की चरितार्थता होनी चाहिए। अनार्य, अभद्र, भदेस, अश्लील, अश्रोल, पाशव-दम्पती के बीच मे जार-वेश्या के भाव होते है। वे भी, पुरुष प्रकृति के रजस्-तमस् के अधम अश के उद्गार हैं। मन मे अधिक रखने की बात यह है कि, आर्यदम्पती को, 'पति-पत्नी', 'स्त्री-पुरुष', भाव का जो अश शरीर-'रति'-प्रधान है, उस को (सर्वथा तो त्याग नहीं सकते, पर प्रायः) गौण रखना चाहिए, और अन्य सब भाव जो चित्त-'प्रीति'-प्रधान हैं, उन को मुख्य रखना चाहिए। तभी कौटुम्बिक सासारिक गार्हस्थ्य-जीवन कल्याणमय होगा; अन्यथा नहीं। रति-प्रीति, शक्ति-भक्ति, दोनो ही चाहिएं, पर रति-आत्मक शक्ति कम, प्रीति-आत्मक भक्ति अधिक।

त्वं हि सर्वशरीरी आत्मा, श्रीः शरीरेन्द्रियाऽऽश्रया,
नामरूपे भगवती, प्रत्ययस् त्वं अपाश्रयः।
(भागवत, ६–१६–१३)

परमात्मा शिवः प्रोक्तः, शिवा माया इति कथ्यते,
पुरुषः परमेशानः, प्रकृतिः परमेश्वरी,
मन्ता स एव विश्वात्मा, मन्तव्यं तु महेश्वरी,
आकाशः शंकरो देवः, पृथिवी शंकरप्रिया,
समुद्रो भगवान् ईशो, वेला शैलेन्द्रकन्यका,
वृक्षो वृषध्वजो देवो, लता विश्वेश्वरप्रिया,
शब्दजालम् अशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा,
अर्थस्य रूपं अखिलं धत्ते मुग्धेंदुशेखरः;
यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिर् उदाहृता,
सा सा विश्वेश्वरी देवी, स स सर्वो (शर्वो) महेश्वरः।
(शिव पु०, वायु सं०, उ०, अ० ५)।

परमात्मा पति है, दृश्य जगत् पत्नी है; शरीरी, जीवात्मा, पति है, शरीर पत्नी है; मंता, ज्ञाता, ध्याता पति है, मतव्य, ध्येय, ज्ञेय पत्नी है; आकाश पति है, पृथ्वी पत्नी; समुद्र पति है, वेलातट पत्नी; वृक्ष पति है, लता पत्नी; अर्थ पति है, शब्द पत्नी; द्रव्य पति है, गुण पत्नी; जिस पदार्थ की जो शक्ति कही जाती है, वह पदार्थ, महेश्वर, पति, है, और वह शक्ति, विश्वेश्वरी, पत्नी, है। ऐसे ऊँचे भाव, शिष्ट आर्य दम्पती को सदा अपने मन मे धारण करना चाहिए।

पचास पचपन वर्ष हुए होंगे, युवावस्था मे, मै ने अपनी गृहिणी से एक गीत सुना; बहुत आदर, बहुत भक्ति, बहुत नमस्कार से अपने हृदय मे रख लिया; उसी आदर और भक्ति से, नयी पुश्त के वधू-वरों के सात्त्विक आनंद के लिये, आज, वृद्धावस्था मे, उस को यहाँ लिखता हूँ। उक्त पौराणिक आर्ष श्लोकों के ही भावों का अनुवाद, सीधी सादी हृदयंगम बोली मे है; यदि भावों मे उतनी गुरुता गंभीरता नहीं है, तो मिठास उन से अधिक है।

तूं होयो दियना, हम हौबै बाती; तूं होयो कागद, हम हौबै पांती,
तूं होयो जंगल, हम होबैं मोरा; तूं होयो चंदा, हमहु चकोरा;
तूं होयो हिम-गिरि, हम हौबै गंगा; जनम जनम नहिं बिछुरै संगा।

पत्नी के गीत की तो इतनी ही कड़ियां याद पड़ती हैं, पर भाव ऐसा प्रिय है कि पुराण के श्लोकों का आशय, हिन्दी के शब्दों मे, चाहे टूटे-फूटे ही, अदल-बदल कर, कहने को मन चाहता है।

तूं होयो गागर, हम होबै पानी; हम होबै प्रेमी, तूं होयो ज्ञानी;
हम होबै चंदन, तुमहु भुअंगा; तूं होयो सागर, हमहु तरंगा;
तूं होयो पद्मिनि, हम होबै नीरा; तूं होयो सोना हम होबै हीरा;
तूं होयो सरिता, हम हौबै तीरा; तूं होयो गंध, (अ) रु हमहुं समीरा;
हम होबै ध्वजदंड, तुमहु पताका; तूं होयो बादर (वारिद), हमहु बलाका;
हम होबै वनिका, तुमहु कुरंगा; तूं होयो दीपक, हमहु पतंगा;
तूं होयो सूत्र, (अ) रु हम हौबै टीका; हम होबै पन्था, तूं रथ-लीका;
हम होबै प्रानी, तूं होयो स्वाँसा; तूं होयो तारा, हमहु अकासा;

तूं होयो यात्री, हम होवै नावा; हम होवै शब्द, (अ) रु तूं होयो भावा ;
तूं होयो हिरदय, हम होवै पीरा; तूं होयो चेतन, हमहुं शरीरा।

विवाह के वैदिक मंत्रों के उदार उत्कृष्ट सात्त्विक भावो को देखिए;
ॐ, सं-अञ्जंतु विश्वेदेवाः, सं आपो हृदयानि (हृदयेऽपि) नौ,
सं मातरिश्वा, सं धाता, सं उ देष्ट्री दधातु नौ।
अमो (प्राणो) ऽहं अस्मि, सा (वाणी) त्वं; द्यौर् अहं, पृथिवी त्वं;
साम अहं, ऋक् त्वं; तौ, एहि, विवहावहै, सह रेतो दधावहै;
प्रजां प्रजनयावहै; पुत्रान् (पुत्रौ) विन्दावहै बहून् (शुभौ);
ते (तौ) सन्तु जरदष्टयः (ष्टी); संप्रियौ, रोचिष्णु, सुमनस्यमानौ।
पश्येम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं,
प्रब्रवाम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, भवेम शरदः शतं,
मोदेम शरदः शतं, भूषेम शरदः शतं, रोहेम शरदः शतं,
अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्।
मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तं अनु चित्तं ते अस्तु,
मम वाचं एकमनाः जुषस्व, प्रजापतिस् त्वा नियुनक्तु मह्यं।
गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं, मया पत्या जरदष्टिर् यथासः,
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर् मह्यं त्वाऽदुर् गार्हपत्याय देवाः।
ॐ सह नौ अवतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै, तेजस्वि नौ
अधीतं अस्तु, मा विद्विषावहै, ॐ।

सब देवता हम दोनो का प्रेम बढ़ावैं; सब पवित्र जल हमारे हृदयों को मिलावैं; शुद्ध पवन, और बुद्धि के अधिष्ठाता ब्रह्मदेव, पावन प्रेरणा और उत्तम उपदेश हमारी अंतरात्मा को दे। मै प्राण (श्वास) हूँ, तुम वाणी हो; मै आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो; मै साम हूँ, तुम ऋक् हो; आओ, हम दोनों विवाह करैं, रेतस् (रजो-वीर्य) एकत्र करैं, प्रजा उत्पन्न करैं, एक जोड़, उत्तम पुत्र और उत्तम पुत्री; हम दोनो भी, और वे भी, मनुष्य की परम आयु पावैं, वृद्ध हों, परस्पर प्रिय, परस्पर रोचिष्णु, परस्पर सुमनाः; सौ वर्ष, अक्षीण इंद्रियों से देखैं, सुनै, बोलैं, जीयै, आभूषण धारण करैं, आनन्द करैं, अदीन रहैं; सौ वर्ष से भी

अधिक; हम दोनो एक दूसरे के व्रती हो, पत्नीव्रत और पतिव्रता हों, परस्पर चित्त मे चित्त मिलावै, एक दूसरे की बात को ध्यान से सुनैं, प्रजापति देव हम दोनो को एक दूसरे के साथ बाध दे। सौभाग्य के लिये हम दोनों एक दूसरे का हाथ पकडते हैं, एक दूसरे की सहायता कर के दोनो परम आयु पावै। सविता, सूर्य देव ने, अपने भग, अर्यमा, पूषा आदि द्वादश महीनो के द्वादश आदित्य-रूपों से, तथा महादेवी शक्ति देवी पुरंधि ने, जो इस शरीर रूपी पुर का आधान, निर्माण, और धारण करती हैं, इन सब ने हम दोनो को उत्तम गार्हस्थ्य के लिये, और प्रजातन्तु का उच्छेद न होने के लिये, सात्विक विवाह के बन्धन मे बाँधा है।

ये मन्त्र अब भी वैदिक विधि से किये जाते विवाहो मे, पाणिग्रहण के समय पढे जाते हैं; तथा अन्य पौराणिक श्लोक भी, जिन से पति पत्नी, एक दूसरे से, बहुत अच्छी-अच्छी प्रतिज्ञाएँ करते हैं (जो आगे लिखे जायंगे)। पर, इनके अर्थ की ओर वर-वधू का ध्यान नही दिलाया जाता।

प्राचीन युगों मे, जब बस्ती कम थी, तब 'पुत्रान्', बहुत से पुत्री-पुत्रों की कामना करना उचित था; अब इस कलियुग मे, जब बस्ती इतनी बढ़ गई है कि पृथ्वी माता उस का पालन पोषण धारण नहीं कर सकती, उस का भार नही सह सकती, तब व्याकरण के "रक्षा-ऊहा-आगम-लघु-असन्देहाः", नियम के अनुसार, 'पुत्रान्' के स्थान पर 'पुत्रौ' पढना, और (पत्री च पुत्रश्च पुत्रौ) एक बेटी और एक बेटा की आकाङ्क्षा करना उचित और पर्याप्त है; तथा 'बहून्' के स्थान पर 'शुभौ'। "सप्रियौ, रोचिष्णू, सुमनस्यमानौ", यह 'पुत्रौ' के भी, और 'पति-पत्नी' के भी विशेषण हो सकते हैं।

विवाह शब्द के पर्याय संस्कृत मे ये हैं—उद्वाह, पाणि-ग्रहण, परिणय उप-यम, उप-याम। 'विशेष' रीति से, विशिष्ट 'उत्कृष्ट' प्रकार से, एक दूसरे का 'वहन' करना, संग साथ निबाहना, निर्वाह करना; परस्पर हाथ पकड़ कर सहारा देना; 'परितः', सब अवस्थाओं मे, 'प्र-णय' से, प्रीति से, परामर्श से, एक दूसरे का 'नयन' करना; एक दूसरे का, प्रेम प्रीति से, यमन नियमन भी करना, परस्पर ग्रहण आस्वादन करना, एक दूसरे

को अच्छी-अच्छी वस्तु उपहार करना; यह इन पर्यायों के अर्थ हैं। ऐसे अर्थपूर्ण पर्यायों से विवाह की हिमा का द्योतन होता है।

पच्छिम के विद्यारसिक, विविध ज्ञानो का संग्रह करने वाले, स्वावलम्बी, नये शास्त्रा उपशास्त्रों के प्रवर्त्तक, स्फुरद्बुद्धिमान्, गवेषकों ने, जैसा अन्य विषयों मे, वैसा इस मे भी, पृथ्वीतल के सभी देशों, और सभ्य, असभ्य, और अर्धसभ्य जातियों, की विवाह-प्रथाओं की खोज कर के, बड़े बड़े ग्रन्थों मे उन का वर्णन विस्तार से किया है। कही एक जाति की सब स्त्रियां का दूसरी जाति के सब पुरुषो से विवाह, अर्थात् स्वच्छन्द मैथुन, जाति के भीतर के स्त्री-पुरुषों का परस्पर नही, (अँग्रेजी मे इस को 'एक्सो-गेमी' exogamy, कहते हैं); कहीं एक जाति के भीतर की सब स्त्रियों का उसी जाति के सब पुरुषो से अनिरुद्ध संयोग, किन्तु दूसरी जाति वालों से नहीं ('एण्डो-गेमी', endogamy); कहीं एक पुरुष का बहुत स्त्रियों से, ('पालो-जैनी', polygyny); कहीं एक स्त्री का बहुत पुरुषों से, ('पाली-ऐण्ड्री', polyandry); कहीं अन्य स्त्रियों और पुरुषों के साथ प्रसंग का अनुभव कर चुकने के बाद ही विवाह, (एक्सपीरियेन्स्ड मैरेज', experienced marriage); कहीं विवाह करने के बाद स्वच्छन्दता; कही गर्भ रह जाने के बाद गर्भाधायक पुरुष और गर्भिणी स्त्री का विवाह; कहीं अज़माइशी विवाह, अर्थात् कुछ काल तक सहवास के बाद, यदि मन मिला तो, पक्का ब्याह, नहीं तो पार्थक्य, ('ट्रायल', 'कम्पैनियनेट', या 'एक्सपेरिमेंटल मैरेज', trial, companionate, or experimental marriage); कहीं जाति ('ट्राइब', tribe) के मुखिया, प्रधान नायक, राजा ('चीफ़', chief) या पुरोहित ('मेडिसन-मैन', 'प्रीस्ट', 'मैजिशन' medicine man, priest, magician) के द्वारा कन्या को 'क्षतयोनि' और 'पवित्र' करा के किसी अन्य से विवाह; कहीं विवाह हो जाने के पश्चात्, 'प्रथम रात्रि' मे, उस एक रात्रि के लिये, ('जुस प्राइमी नोक्टी' jus primae nocte) नववधू का, राजा, पुरोहित, सम्प्रदायगुरु, को समर्पण*; इत्यादि।

* १८७०–७१ ई० के आस पास, बम्बई मे एक मुकद्दमा हुआ;

भारतवर्ष की हजारों जातियों मे खोज करने से, स्यात्, सभी न हों तो बहुतेरे प्रकार मिल जायेंगे। यथा शिमला के पास, सीपी नाम के एक स्थान मे प्रतिवर्ष मेला लगता है, वहा एक पहाड़ी जाति के जो पति-पत्नी

हाइकोर्ट की तजवीज, 'हिस्टरी आफ दि सेक्ट आफ दि महाराजाज्', (History of the Sect of the Maharajahs) के नाम से. एक जिल्द मे, किसी ने छपवाया; हाइ कोर्ट ने लिखा कि "वल्लभ सम्प्रदाय के गुरु लोग, 'गोस्वामी', 'महाराज' कहे जाते हैं; उस सम्प्रदाय मे यह रीति है कि भक्त-शिष्य लोग, नव-वधू को, पहिली रात के लिए, सम्प्रदाय-गुरु को समर्पण करते हैं; बम्बई मे इस सम्प्रदाय का जो मन्दिर था, उस के गुरु 'महाराज', 'गोशाईं' जी को ऐसी एक नव-वधू समर्पित की गई; उस वधू को भीषण 'आतशक' (शैंकर, 'Chancre', शब्द का प्रयोग जजों ने किया, जिस के स्थान पर अब सिफ़िलिस Syphilis, का प्रयोग अंग्रेजी भाषा मे होने लगा है) हो गया; सम्बन्धियों ने, कचहरी मे, गुरु जी पर मुकद्दमा चला दिया।" स्यात्, नये पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से, महा तामस अंध-भक्ति को, इस भीषण दुष्फल ने, महाक्रोध मे परिणत कर दिया। अदालत से 'गोशाईं' महाराज को दंड मिला। सारे देश मे चर्चा हुई; गुरु लोग भी और भक्त लोग भी शर्माए और डरे, और यह दुराचार कुछ कम हुआ, और छिपाया जाने लगा।

इसी वल्लभ कुल का जो प्रधान मंदिर, श्रीनाथद्वारा के नाम से प्रसिद्ध, उदयपुर राजपूताना के राज्य मे है, उस के गुरु ने एक वेश्या को, खुली रीति से, रख लिया, और, अनुयायियों मे शोर गुल होने पर, उस से एक प्रकार का विवाह भी कर लिया; अन्ततः अधिक आन्दोलन होने पर, गुरु जी गद्दी से अलग हुए, और उन के पुत्र उस पर बिठाये गये। यह मामला इधर दस पंद्रह वर्ष के अंदर अन्दर हुआ, और अखबारों मे इस की बहुत चर्चा रही। गुरु-'जी-महाराज गोस्वामी' जी का नाम दामोदरलाल और उन की वेश्या का नाम हंसा छपा था।

बम्बई के मुकदमे के सिलसिले मे यह भी विदित हुआ, कि देश

परस्पर असन्तुष्ट होते है, वे आपस मे पति-पत्नियो का विनिमय, बदलौवल कर लेते है; इत्यादि ।

मनुस्मृति मे पुनर्भू, सहोढ़, नियोग, आदि शब्दो से ऐसे प्रकारो की सूचना होती है । महाभारत, आदि पर्व, अ० १२८, मे अधिक स्पष्ट लिखा है,

अनावृताः किल पुरा, स्त्रियः आसन्, वरानने !,
कामचारविहारिण्यः, स्वतंत्राश्, चारुहासिनि !,

मे, भीतर भीतर, यह भी विश्वास प्रचलित है, कि यदि आतशक सूजाक का रोगी, शुद्ध नीरोग कन्या से प्रसंग करै, तो उस का रोग कन्या को लग जाता है और वह उस से छूट जाता है; तथा, इस विश्वास के हेतु से भी, वल्लभीय गुरु के घोर पाप के ऐसा पाप, देश में अक्सर होता है; ऐसा पापकारक विश्वास पच्छिम में भी रहा है; परन्तु पाश्चात्य सुपरीक्षित विज्ञान के मत से यह विश्वास मिथ्या ही है, पाश्चात्य अनुभव यह है कि नीरोग कन्या को तो रोग हो जाता है, पर रोगी पुरुष का रोग बना ही रहता है । ऐसे मिथ्या विश्वासों के प्रसार मे एक हेतु यह भी है, कि यह मिथ्या विश्वास (न केवल भारत मे, अपि तु सभी देशों मे) फैल गया है कि स्त्री भोग्य है, परिग्रह ('प्रापर्टी', Property, मिल्क) है, और पुरुष भोक्ता, परिग्रही, स्वामी । सांख्य योग-वेदांत की तथ्य-दृष्टि के विवर्त्तन अंशन से यह मिथ्या दृष्टि कैसे उत्पन्न हुई और फैली, जैसे अन्य सब माया का प्रपंच और जंजाल—इस पर विस्तार करने का यहां अवसर नहीं; विचारशील पाठक स्वयं विस्तार कर लेंगे । इस मिथ्या-भाव का खंडन, मनु के एक श्लोक के एक पाद से, 'यो भर्त्ता सा स्मृताऽङ्गना', हो जाता है, दोनो परस्पर सर्वस्व हैं, भोग्य भी हैं, भोक्ता भी हैं । ऐसे ही विवर्त्तन अंशन से प्रत्येक 'धर्म', वैदिक, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, इस्लाम, आदि के भीतर, पापिष्ठ घोर 'वाम-मार्ग' उत्पन्न हो गये हैं; पूछने पर 'वाम-शाक्त' लोग, पंच 'मकार' आदि का 'रहस्य' अर्थ बड़े आडम्बर और आटोप से बताते हैं; बौद्धों का 'वज्रयान' यही 'वाम-मार्ग' है; "गुह्य-समाज तत्र" नामक ग्रन्थ (१९३१ ई०,

तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्, सुभगे !, पतीन्,
नाधर्मोऽभूद्, वरारोहे !; स हि धर्मः पुराऽभवत्;
तम् अद्यापि विधीयंते तिर्यग्योनिगताः प्रजाः ;
उत्तरेषु च, रम्भोरु ! कुरुषु अद्यापि पूज्यते,
अस्मिस् तु लोके न चिरात्, मर्यादा इयं, शुचिस्मिते !,
उद्दालकस्य पुत्रेण स्थापिता श्वेतकेतुना।

'प्राचीन काल मे स्त्रियां अनावृत (बिना रोक-टोक छेंक के), कामचार से विहारिणी, स्वतंत्र, होती थीं, जैसे तिर्यग्योनि पशुओं की, तथा जैसे 'उत्तरकुरु' जाति के मनुष्यों मे अब तक; यही उस काल मे धर्म माना जाता था। बहुत काल नहीं बीता है जब से यह एक-पति-व्रत विवाह की मर्यादा, उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ऋषि ने स्थापित की', जब उन्हों ने देखा कि उन की माता को एक दूसरे ऋषि, अपने लिए पुत्र उत्पादन करने के हेतु, ले कर जाने लगे; इत्यादि। आज काल पश्छिम मे, 'स्वच्छंदचार', 'फ्री-लव्', 'कम्पानियनेट मैरेज', free love, companionate marriage, आदि की प्रथा ज़ोर कर रही है, और इस विषय पर ग्रन्थ बहुत लिखे जा रहे हैं, तथा अखबारो मे बहस होती रहती है।

सर्वाङ्ग कामशास्त्र मे इन सब प्रकारों की, थोड़े मे, चर्चा, तथा प्रत्येक के गुण-दोष का दिग्दर्शन, होना चाहिये।

निष्कर्ष यही निकलता है कि लाखों वर्ष की आयु मे, मानवजाति ने स्त्री-पुरुष-सग के सब प्रकार आज़मा डाले, पर अंत मे सब से उत्तम सात्त्विक प्रकार, अधिकतर सुख और अल्पतर दुःख का, यही पाया है कि

गायकवाड़ ओरियेंटल् सीरीज) मे इस का वर्णन, और 'रहस्य' अर्थों के प्रतिपादन का महा दांभिक यत्न, किया है; पर जिस अर्थ को तुम 'रहस्य' बताते हो, और नितरां घृणाजनक शब्दों मे लिखते और छिपा हुआ बताते हो, वह सात्त्विक अर्थ तो सब उत्तम धर्म-ग्रन्थों मे स्पष्ट लिखा है, फिर तुम को इतने आडम्बर आटोप से उस को 'रहस्य' बताने का क्या प्रयोजन ? यह तो केवल दम्भ, छल, कपट, धूर्त्तता और शठता है।

ब्रह्मचर्य अवस्था मे अविप्लुत अदूषित युवा, और वैसी ही अविप्लुत अदूषित युवती कन्या, का विवाह, उन की समान-व्यसन-शीलता का यथा-शक्य निर्णय, वृद्धों के परामर्श से, तथा परस्पर युवा-युवती की रुचि और प्रेम से, निश्चय कर के, किया जाय; और तब सारी ज़िन्दगी एक दूसरे के साथ वफ़ादारी, प्रेमव्रत, अव्यभिचार, से निबाही जाय।

अन्योऽन्यस्य अव्यभीचारो भवेद् आमरणांतिकः—
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्री-पुंसयोः परः;
तथा नित्यं यतेयातां स्त्री-पुंसौ तु कृतक्रियौ,
यथा न अभिचरेतां तौ वियुक्तौ इतरेतरम्। (मनु)

स्त्री पुरुष, पति-पत्नी, के धर्म कर्म का सार इतना ही है, कि सदा ऐसा जतन करते रहैं, कि एक दूसरे से चित्त कभी न फटै, न हटै, कभी तीसरे पर न सटै, कभी व्यभिचार न करैं। पृ० २६३ पर, टिप्पणी मे, वेस्टरमार्क के ग्रंथ की चर्चा की है; जज लिंड्से की 'दि रिवोल्ट आफ़ माडर्न यूथ' (१६२७ ई०) और 'कम्पानियोनेट मैरेज'[1] (१६२८ ई०) नामक पुस्तकों मे, पश्चिम देशों की वर्त्तमान कामिक और अति-कामुक अवस्था का थोड़े मे बहुत पूरा वर्णन, तथा गुण-दोष-दर्शन (पर कम सन्तोषकारी) किया है। इस विषय पर अन्य बहुत से ग्रन्थ, अंग्रेज़ी मे, इन ग्रन्थों के बाद छपे हैं; बहुत थोड़े से जो मेरे देखने मे आये, उन मे से दो विशेष उल्लेख्य जान पड़े, 'सेक्स इन सिविलजेशन' (१६२६ ई०) और 'दि सेक्स लाइफ़ आफ़ दि अन्-मैरिड् ऐडल्ट' (१६३४ ई०); पहिले ग्रन्थ मे बत्तीस, और दूसरे मे ग्यारह, विशेषज्ञों के लेख छपे हैं; इन मे स्त्रियाँ भी हैं, पुरुष भी; विविध शास्त्रों और जातियों के ये शास्त्री हैं, अन्तःकरण-शास्त्र, साइकालोजी, (Psychology) के विविध अंगों के ये विशेष अध्येता

[1] Judge Lindsay's 'The Revolt of Modern Youth' and 'Companionate Marriage.' 'Sex in Civilisation, a Symposium,' edited by Calverton and Schmalhausen; 'The Sex Life of the Unmarried Adult, a Symposium,' edited by Dr. Ira Wile.

और वेत्ता हैं; इन मे से कई, चिकित्सक, वा वकील, वा समाजशास्त्री, वा 'साइकोऐनालिस्ट' भी हैं। प्रायः सभी लेख ऊंची काष्ठा के हैं; एक दो अपरिपक्क बुद्धियों के लेखो को छोड़ कर, प्रायः सभी ज्ञान-वर्धक, विचार-कारक, हैं। इन तेतालीस लेखकों मे से दो या तीन को छोड़ कर, सब के अनुभव, विविध अध्ययन, विविध-विषय-परीक्षण, का निष्कर्ष यही है कि, उत्तम पक्ष वही है जो मनु ने कहा है; पर, साथ ही, जब इस 'कलियुग' मे उस का अविकल पालन प्रायः असम्भव हो रहा है, सौ मे अस्सी पचासी लड़के लड़कियों, विद्यार्थी विद्यार्थिनियों, का ब्रह्मचर्य अविप्लुत नहीं रहता, विशेष कर पश्चिम मे, जहाँ युवा-युवतियों के सह-अध्ययन की रीति फैल गई है—जब यह अवस्था है, तब, इन विशेषज्ञों की सलाह यह है कि, समानशीलव्यसनता को यथासम्भव निश्चय कर के विवाह करें, और बीती भूलो को भुला कर, आगे के लिए, परस्पर अ-व्यभिचार, परस्पर पतिव्रत-पत्नीव्रत, का दृढ़ निश्चय कर के, सदाचार से जीवन निर्वाह करें, और सन्तान को यथासम्भव उन भूलों से बचावें।

सन १९३९ ई० मे, डाक्टर हैना स्टोन और उन के पति डाक्टर एब्रहम स्टोन ने, "ए मैरेज मन्युअल" (Dr. Hannah Stone and Dr. Abraham Stone, "A Marriage Manual") नाम का ३२२ पृष्ठ का ग्रन्थ छपवाया। प्रश्न-उत्तर के रूप मे, यह पुस्तक लिखी गई है; लिखने वाले पति-पत्नी, दोनो, बहुत अनुभवी, इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् और चिकित्सक हैं। एक युवा और एक युवती, जो परस्पर विवाह करना चाहते हैं, दोनो डाक्टरों से प्रश्न करते हैं। ३९९ प्रश्न किये। उन के उत्तर दिये गये। कामशास्त्रीय और विवाहसम्बन्धी बहुतेरे विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है। कहने का ढंग रोचक, बुद्धयु-द्बोधक, निष्पक्षपात, शांत, विरुद्ध मतों के बीच का सम्वादी रास्ता दिखाता हुआ, है। इस ग्रथ मे ये वाक्य हैं—

"In spite of our changing values, it seems to me that a lasting union of one man with one woman is the most ideal form of human sex

relationship; an ideal marriage is one that meets most adequately the essential objects of the marital union (a) companionship, (b) sexual intimacy, (c) the establishment of a family." इसका अर्थ यह है—'जीवन के उद्देश्य क्या हैं, कौन वस्तु स्पृहणीय हैं, क्या पुरुषार्थ अभीष्ट होने चाहिए—इस विषय के विचारो मे, आधुनिक मानव जगत् मे, बहुत परिवर्त्तन हो रहा है। उस सब को देखते हुए भी, हम को यही समझ पड़ता है कि, एक पुरुष का एक स्त्री से शाश्वतक वैवाहिक सम्बन्ध ही उत्-तम, उत्कृष्टतम, आदर्शतम विवाह ही वैसा है जिस से तीन अभीष्टो की प्राप्ति हो, (१) सुख दुःख मे समवेदिता, तुल्यता, संग-साथ, सहचार, सख्य, मैत्री, (२) कामीय अंतरंगता, घनिष्ठता, दर्श-स्पर्श मे असंकोच, (३) संतति का उत्पादन पालन, कुल का प्रतिष्ठापन।'

सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर के, बहुत सा देशाटन कर के, बहुत-सी खोज और छान-बीन कर के, विविध प्रकार के हज़ारो स्त्रियो पुरुषो के कामीय सम्बन्धो के अनुभवों और फलों के ज्ञान का सम्पादन कर के, ये दोनो चिकित्सा-शास्त्री सज्जन, प्राचीन 'आर्य कुल के अपने गृह' को वापस आये हैं। 'सवेरे का भूला-भटका शाम को घर आया तो भूला नहीं कहाया।' विचारशील पाठक सद्यः पहिचान लेगे कि ये तीन वैवाहिक अभीष्ट वे ही हैं जिन की सूचना, सस्कृत मे पुराणो ने की है—प्रीतिः, रतिः संततिश्च, काम-भार्या-त्रयं स्मृत"। प्रीति, मित्रता, सुख दुःख मे ऐक्य, सहचार; रति, कामीय अन्तरङ्गता, घनिष्ठता, पारस्परिक शरीर-संमिश्रण, विश्रम्भ, संकोच का अभावः उत्तम संतान का प्रजनन, पालन-पोषण, एक 'कुल' का संस्थापन।

डाक्टर एक्सनर की "दि सेक्सुअल साइड आफ़ मेरेज" (Dr. M. J. Exner's "The Sexual Side of Marriage.") १९३२ ई० मे छपी, स्टोन की पुस्तक से छोटी है, प्रकार भी दूसरा है, पर गवेषण इस मे भी बहुत किया है; और निष्कर्ष इस का भी वही है जो उस का है। हज़ारों विवाहित और अविवाहित स्त्री पुरुषों के कामीय

अनुभवों की जाँच कर के यही स्थिर किया कि है (१) मानस प्रीति (२) विवाह के भीतर सुशिक्षित शरीर-मिश्रण, (३) उत्तम अपत्य, मे ही जीवन का आनन्द है।

श्री जेनी ली, १९२९ ई० मे ब्रिटिश पार्लमेंट की सदस्य हुई; अमेरिका, यूरोप, रूस मे बहुत घूमी, रूस मे प्रथम बार १९३० ई० मे गई, तब से और भी कई बार गई; ब्रिटिश मिनिस्ट्री के सेक्रेटेरियट (दफ़्तर) मे इन को एक जगह भी दी गई थी, परन्तु समाचार-पत्रों मे लेख छपाने का स्वातन्त्र्य रहे, इस लिए उस पद को त्याग दिया। १९४१ ई० के अगस्त मे पुस्तिका छपाई, "अवर ऐलाइ रशिया", Our Ally Russia; चौंसठ पृष्ठ की इस छोटी पुस्तिका के आठ अध्यायों मे, सोवियट शासन और रूसी सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के सभी मुख्य अंगों की सार सार बातें लिख दी हैं; लिखने के प्रकार से, पाठक के चित्त पर यह प्रभाव पड़ता है कि निष्पक्ष सत्य लिखा है। पुस्तिका के पृ० २४ पर लिखा है, "हाल मे, विवाह और तलाक़ के क़ानून कड़े कर दिए गए हैं, स्त्री और पुरुष का शाश्वतिक संग साथ, और अपने और अपनी सन्तान के लिए परस्पर-संबद्ध दृढ़-मूल (कौटुम्बिक) जीवन का साधन और निर्वाहण—इस समय रूस देश मे यही भावना धारणा बलवती है"। अर्थात्, विविध प्रकारों की परीक्षा और अनुभव कर के, रूसी जनता और शासक भी मनु के सिद्धांत के पास पहुंचे हैं।

(घ) विवाह सुखमय कैसे हो, इस के साधनो का वर्णन। कामशास्त्र का ठीक नाम तो 'सांसारिक-सुखशास्त्र', वा 'दाम्पत्य-शास्त्र', वा 'गार्हस्थ्य-शास्त्र' होना चाहिए। इस दृष्टि से, इस शास्त्र के ज्ञानाग मे, स्त्री और पुरुष के आदर्श शरीरों का वर्णन, चित्रों के साथ, होना चाहिए।

अर्थस्य मूलं निकृतिः, क्षमा च; कामस्य रूपं च, वयो, वपुश्च;
धर्मस्य यागादि, दया, दमश्च; मोक्षस्य चैव उपरमः क्रियाभ्यः।

काम का मूल, यौवन, रूप-सम्पत्ति, और दृढ़ शरीर है; अर्थ का, नीचा निकृष्ट व्यवहार और बर्दाश्त, नम्रता; धर्म का, यज्ञ याग आदि, इष्ट आपूर्त आदि, के द्वारा परार्थ कार्य, दया, और इन्द्रिय-दमन; मोक्ष

का, सब क्रियाओं से उपरम, निवृत्ति। कामशास्त्र की दृष्टि से, कामसूत्र मे, इन चार मे से प्रथम तीन पुरुषार्थों को नमस्कार किया है, और उन का लक्षण संक्षेप मे, किया है, वह पृ० १८५-१८६ पर ऊपर लिखा गया। मोक्ष का तो केवल नाममात्र लिया है; उस को काम-शास्त्र मे अनधिकृत।अनुपयुक्त समझा; पर यह ठीक नहीं; साक्षात् सम्बन्ध तो नहीं है, किन्तु परम्परया है। अध्यात्म शास्त्र के सिद्धान्त, एक ओर अभ्युदय के अन्तर्गत तीन पुरुषार्थों को, और दूसरी ओर निःश्रेयसात्मक चौथे पुरुषार्थ मोक्ष को, परस्पर बाँधे हुए हैं, उन सिद्धान्तो की सर्वथा उपेक्षा करने से, "आत्मवत् सर्वभूतेषु" को भुला देने से, न धर्म ही,न अर्थ ही, न काम ही, सुख अधिक (और दुःख कम) के रूप से सध सकता है; 'काम' का जो गुरुतर पक्ष वा अंश 'प्रीति' है, वह नहीं पनपैगी। गार्हस्थ्य मे, पापों से ही 'वैराग्य' होना उचित है, पुण्यात्मक सासारिक व्यवहारो से नहीं; पर ऐसे 'साराग्य' को भी धर्म्य बनाये रहने के लिए, उत्तम अध्यात्म भाव का कुछ न कुछ ध्यान, मन मे बना रहना, उपयुक्त ही, किंवा एक सीमा तक आवश्यक भी, है; इसी लिए, अक्षरारम्भ के पहिले संध्या वन्दन सिखाने की विधि है; अभ्युदयाभिलाषी युवा को, मोक्षोन्मुख शांत सद्वृद्धो के दर्शन पूजन से, अति अभिमान, अति काम, अति लोभ आदि नहीं होने पाता, और सभी सांसारिक कार्यों मे सहायता और अच्छे उपदेश मिलते रहते हैं। इस लिए वात्स्यायन अन्तिम पुरुषार्थ की सर्वथा उपेक्षा नही करना चाहता था।

कन्या वरयते रूपं, माता वित्तं, पिता श्रुतं,
बांधवाः कुलमिच्छन्ति, मिष्टान्नम् इतरे जनाः (लोकोक्ति)।
कुलं च, शीलं च, सनाथतां च, विद्यां च, वित्तं च, वपुर्, वयश्च,
एतान् गुणान् सप्त विचिन्त्य, देया कन्या बुधैः; शेष अचिंतनीयं।
(व्यास-स्मृति)

अव्यंगांगीं, सौम्यनाम्नीं, हंसवारणगामिनीम्,
तनुलोमकेशदशनां; मृद्वगीम्, उद्वहेत् स्त्रियम् (मनु)

युवा और कन्या दोनो का कुल, शील, विद्या, वित्त, वपु (शरीर

की सुन्दरता और स्वस्थता), वयस्, अच्छा नाम, अच्छी चाल, आदि का विचार कर के विवाह स्थिर करना चाहिये।

रूप—यौवन की प्राप्ति के बाद, 'काम' का उद्बोधक, सब से पहिले, सुन्दर 'रूप' है। प्रायः अनार्ष अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य मे, तथा हिन्दी-साहित्य मे, स्त्री का ही नख-सिख-वर्णन देख पड़ता है; वह भी अतिरंजित, यहाँ तक कि मिथ्या और भदेस। पुरुष-शरीर की शोभा का वर्णन बहुत कम मिलता है। इस का फल यह हुआ है कि, पुरुष के मुख और अन्य अंग के सुन्दर होने की कोई जरूरत नहीं, पुरुष भोक्ता, और स्त्री भोग्य है, भोग्य ही को सरस होना चाहिये—ऐसा दुर-भाव फैल रहा है। फलतः सुन्दर पुरुष-मुख कम देख पड़ते हैं; तथा, क्रिया-प्रतिक्रिया के नियम से, जब पिता सुन्दर न होंगे तो केवल माता के सुन्दर भी होने से कन्या सर्वथा सुन्दर नहीं हो सकती, इस लिये स्त्रियों का सौन्दर्य भी विरल हो रहा है, और समस्त जाति रूपहीन होती जाती है। पश्चिमीय देशों मे कभी कभी 'स्कल्पटर', sculptor, प्रतिमाकार, रूपकार, मूर्ति-उत्किरक, तथा 'पेण्टर', painter, चित्रकार लोगों मे बहुत रोचक बहस उठती रहती है; इस प्रश्न पर, कि स्त्री-रूप निसर्गतः अधिक सुन्दर और स्थायी है, कि पुरुष-रूप। सिद्धान्त यह है कि पुरुष को स्त्री-रूप और स्त्री को पुरुष रूप अधिक सुन्दर प्रकृत्या जान पड़ता है। इस का आध्यात्मिक कारण खोजना हो तो, काम के पारमार्थिक अध्यात्मतत्त्व से सम्बद्ध, स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आध्यात्मिक तत्त्व जानना होगा।

सौन्दर्य क्या है, इस पर, पूर्व मे भी, पश्चिम मे भी, बहुत विचार किया गया है ; आध्यात्मिक निष्कर्ष यही है,

यद् यस्य रोचते, तस्मै, तद् एव ननु सुन्दरं;

जो रूप जिस को रुचै, उस के लिये वह और वही सुन्दर है।

पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य–यह भाव असभ्य, अनार्य, असत्य है। यदि ऐसे शब्दों का प्रयोग करना ही हो, तो कहना चाहिये कि स्त्री-पुरुष दोनो परस्पर भोक्ता और भोग्य हैं। आर्ष ग्रन्थों मे यह नहीं देख पड़ता। यदि सीता की शोभा का वर्णन है तो राम की शोभा का

उस से अधिक है*। कृष्ण के रूप की महिमा तो पुराण इतिहास मे

* महर्षि वाल्मीकि ने राम जी के आध्यात्मिक गुणों का वर्णन तो किया ही है, उन के शरीर के एक-एक अङ्ग की भी आदर्श-प्रवीर-पुरुषोचित शोभा का भी पुनः पुनः वर्णन किया है। पर सीता देवी के स्त्री-शरीर का वर्णन कैसे करें?

अहो महर्षेः कारुण्यं, अहो वत्सदयालुता,
अहो बोधनकौशल्यं, अहो शिक्षाप्रवीणता!

परन्तु महर्षि की करुणा का, वात्सल्य, बोधन कौशल्य, शिक्षा-प्रावीण्य का, क्या कहा जाय! सीता के शरीर का भी वर्णन किया ही। इन्द्रजित् ने राम जी और लक्ष्मण जी को नागपाश से बांध दिया है; दोनो भाई मूच्छित, निश्चेष्ट, प्राणरहित से, पृथ्वी पर पडे हैं; रावण की आज्ञा से सीता देवी को विमान पर बिठा कर, उन्हें दिखानेके लिये, राक्षस लाते हैं; देख कर, सीता देवी, विह्वल रोती है; "जो जो लक्षण दैवज्ञो ने कहा है कि, जिस पत्नी के शरीर मे ये लक्षण हों, उस को वैधव्य कभी नहीं हो सकता, वे सब लक्षण मेरे शरीर मे वर्त्तमान हैं; फिर कैसे यह वैधव्य?" और सीता देवी अपने शरीर के लक्षणो का वर्णन करती है (युद्धकांड, सर्ग ४८)। इस प्रकार से महर्षि ने, ऐसे दारुण दुःख के समय मे, स्वयं देवी के मुख से अपने शरीर का वर्णन कराया, कि किसी के चित्त मे काम-विकार उत्पन्न हो ही नहीं सकता; देवी के दुःख से दुःखी ही होना पड़ता है। यह महर्षि का कारुण्य, वात्सल्य, उपदेश-प्रावीण्य है। जैसे, छोटा बच्चा, अपनी माता के साथ स्नान करता हुआ, उस के शरीर को निर्विकार भाव से देखता है, वैसे ही, सज्जन, इस वर्णन को पढ़ कर, चित्त का संस्कार ही पाता है, विकार नहीं।

यथा बालो हि सौन्दर्यं मातुः स्नान्त्याः निरीक्षते,
संस्कारं एव चऽायाति, विकारं न प्रयाति च,
विषीदन्त्या महादुःखैः सीतादेव्या हि वर्णनं
कृतं यत् स्वशरीरस्य, पठित्वा, सज्जनस् तु, तत्,
शुभं संप्राप्नुयाज् ज्ञानं, तथा भावं च सात्त्विकं।

बहुत ही प्रसिद्ध है। "बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निधानं", "त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं", "नेत्रोत्सवं विदधतं नगरांगनानां"; कृष्ण के शरीर मे मानो संसार के सब सुन्दर-तम पदार्थ एकत्र हुए थे; वह ऐसा था जिस को स्त्री-पुरुष आंख फाड़ फाड़ कर देखैं, जिस के देखने से आंख थकैं नहीं, अघायँ नहीं। पुराणो मे कथा है, स्वर्ग मे बहस चली, सब से सुन्दर कौन है ; उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि अप्सराओं की पंचायत बना कर, नारद ऋषि को मध्यस्थ, प्राड्विवाक्, सरपंच, नियत कर, सब लोकों मे धूम कर निर्णय करने को, इन्द्र ने नियुक्त किया ; राजा पुरूरवा को, स्नान के समय, अनऽावृतांग, नग्न, देख कर, पंचायत ने निश्चय किया कि ये ही सब से सुन्दर हैं; फिर उर्वशी उन पर, और वे उर्वशी पर, इतने मुग्ध हुए कि विवाह हुआ और चन्द्रवंश बढ़ा। स्नान के समय जांच इस लिए की गई कि, स्वाभाविक लावण्य पर, स्वेद आदि धुल कर, और भी 'आब', 'पानी', की चमक, आ जाती है। यह हुई पौराणिक कथा। इतिहास मे विख्यात सिकन्दर की भी, स्नान के समय, उस के योद्धा देखने को जमा हो जाया करते थे; उस का शरीर ऐसा ही सुन्दर और बलवान् था। उस की शोभा पर भी, और युद्धनेतृत्व के कौशल पर भी, मुग्ध हो कर, योद्धा उस के लिए अपने प्राण का बलिदान किया करते, और उस की विजयश्री को नित्य बढ़ाते रहते थे; अंत मे, पंजाब देश के राजा पौरव से युद्ध कर के, सिकन्दर का और उस के रणोद्भट भटों की युद्धश्रद्धा क्षीण हुई; कामसूत्र, अर्थशास्त्र, पंचतंत्र आदि ग्रन्थरत्नों के कर्त्ता, वात्स्यायन-चाणक्य महामंत्री, के बुद्धिबल से समुन्नद्ध, चंद्रगुप्त की साम्राज्य-शक्ति की कीर्ति सुन कर, वे और भी हिम्मत हारे, और अपने देश की ओर वापस चले* । राजा पौरव की शरीर-सम्पत्ति सिकन्दर से

*—ग्रीक जाति के इतिहास-लेखकों ने तो यही दिखाने का यत्न किया है कि 'पोरस' (पौरव) हारा और संधि का इच्छुक हुआ; पर इस के बाद सिकन्दर ने विजय-यात्रा समाप्त क्यों कर दी, और पीछे क्यों लौटा ? इस का कोई पर्याप्त हेतु नहीं बताया। नई गवेषणाओं से अधिकाधिक सिद्ध होता जाता है कि, सिकन्दर ही हारा, बहुत घायल हुआ, उस की

भी किन्हीं अंशों मे बढ़ी चढ़ी थी, ऐसा स्वयं ग्रीस देश के तत्कालीन इतिहास-लेखकों के ग्रन्थों से विदित होता है; साढ़े सात फुट से अधिक ऊंचे थे, हाथी की गर्दन पर सवार, बिना महामात्र (महाउत) के, स्वयं उस को चलाते दौड़ाते हुए, (जैसे महाभारत मे राजा भगदत्त), युद्ध करते थे ; ग्रीक लेखक प्लूटार्क कहता है कि पौरव, हाथी पर सवार नहीं, बल्कि घोडे पर सवार जान पड़ते थे, गजराज और नरराज के शरीरों की उंचाई की निष्पत्ति (अनुपात, 'निस्बत', 'प्रोपोर्शन', Proportion) से भी, और राजा के हस्ति-संचालन-कौशल से भी, ऐसा जान पड़ता था मानो अश्व पर अश्वारोही आरूढ़ है; दबे शब्दों मे सिकन्दर की हार भी प्लूटार्क क़बूलता ही है। पंजाब प्रांत अब भी शरीर-सम्पत्ति की खान है। खेद है कि महाभारत-ग्रन्थ के बाद, सच्चे, सविस्तर, बहुविषय-संग्राहक, बहुश्रुतता-संपादक, सर्वशास्त्रसार, सर्वकाव्यरसाधार, नवीन-नवीन इतिवृत्तों से पूर्ण, अतः अधिकाधिक मनोहर और ओजस्वी, इतिहासों के लिखने का स्रोत ही इस अभागे देश मे बंद हो गया। कामशास्त्र का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह ऊपर सूचना की जा चुकी है। प्रायः सभी असाधारण ऐतिहासिक घटनाओं के करने वाले, अलौकिक, अति विशिष्ट, धर्मावतारों और अधर्मावतारों, की उत्पत्ति मे, कोई विशेष आविष्कार, किसी विशेष काम-विकार का भी लगा रहता है; यह, पुराणो मे, रामादि और रावणादि, कृष्णादि और कंसादि, पांडवादि और कौरवादि, तथा उन के मुख्य सहायकों, की जन्म-कथाओं से बहुधा सूचित किया जाता है। आधुनिक पाश्चात्य पौरस्त्य लेखक अक्सर इस की चर्चा बचा जाते हैं, पर इस से, अध्येता के कार्य-कारण-संबंध-ज्ञान मे त्रुटि रह जाती है।

अच्छे अर्वाचीन कवियों ने भी, कभी-कभी, पुरुष-नायकों का भी कुछ वर्णन कर दिया है ; यथा रघु का कालिदास ने,

युवा युगव्यायतबाहुर् अंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकंधरः,
वपुःप्रकर्षाद् अजयद् गुरुं रघुम्, तथापि नीचैर् विनयाद् अदृश्यत।

सेना भागी, और उस ने राजा पौरव से सन्धि की प्रार्थना की, और लौटने की अनुमति पाई।

वृषभों पर रक्खे जाने वाले युग (जूआ) के ऐसे मोटे और लम्बे बाहु, भारी कन्धे, दुर्ग के फाटक के ऐसा विशाल और दृढ़ वक्षःस्थल, मांसपेशियों से नद्ध ग्रीवा, इस प्रकार के उत्कृष्ट शरीर से, रघु, अपने पिता दिलीप से भी बढ़ गये; किन्तु विनय से मानो दबे हुए ही रहते थे।

तथा श्रीहर्ष ने, नल का, दूसरे प्रकार से,

अधारि पद्मेषु तदंघ्रिणा घृणा, क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे,
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्वणशर्वरीश्वरः। (नैषधं)

राजा नल ने जब यौवन मे प्रवेश किया, तब उन के पैरों ने कमलों का तिरस्कार किया; उन के हाथों की सुन्दरता की छाया भी, अच्छे से अच्छे पल्लवों ने नहीं पाया; पूर्णिमा के चन्द्रमा की शोभा तो उन के मुख की शोभा की दासी होने के भी योग्य नहीं थी।

एक अन्य नाटककार ने बहुत ललित शब्दों मे, राम और सीता के परस्पर भाव, एक दूसरे के सौन्दर्य के विषय मे, विवाह से पहिले के, कहे हैं,

यौवनोद्गमनितांतशङ्किताः, शीलशौर्यबलकांतिलोभिताः,
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे, जानकीनयननीरजश्रियः।
उत्तरङ्गय, तरङ्गलोचने ! लोचने कमलगर्वमोचने,
अस्तु सुन्दरि कलिन्दनन्दिनीवीचिडम्बरगभीरम् अम्बरम्।

यौवन के आरम्भ के कारण नितान्त सकुचाते; पर राम जी के शील, शौर्य, बल, कांति से लुभाते भी, सीतादेवी के नयन चंचल हो रहे हैं; (यह, विवाह के पहिले, मिथिला के उद्यान मे दोनों की भेंट के समय की बात है) ; राम जी सीतादेवी से कहते हैं :

आप के लोचन, जल की तरङ्गों के ऐसे चंचल हो रहे हैं, सो इन को स्थिर कीजिये, कि मै इनकी शोभा मन भर के देख सकूं ; अभी तो मानो स्वच्छ श्वेत आकाश मे कलिन्दनन्दनी यमुना की तरङ्गे दिखा रही हैं।

तथा मृच्छकटिक नाटक के नायक का वर्णन है,

घोणोन्नतं मुखम्, अपाङ्गविलासिनेत्रं, नैतद् विभाजनम् अकारणदूषणानां;
नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु, नैवऽाकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्।

ऊंची नाक, विशाल नेत्र, जिस की आकृति मे हों, वह पुरुष दोष लगाने योग्य, दुष्कर्मा, प्रायः नही होता ; हाथी, घोड़े, वृषभ, और मनुष्यों का वृत्त, प्राय: उन की आकृति के अनुसार होता है, उदार आकृति-वालों का स्वभाव और चरित्र भी प्रायः उदार ही होता है।

हिन्दी-साहित्य मे तुलसीदास जी ने भी प्रायः आर्ष भावो का प्रदर्शन किया है, यद्यपि कहीं कहीं, भक्ति की अति कर दी है।

आदर्श पुरुष और आदर्श स्त्री के, बालक-बालिका, कुमार-कुमारी, युवा-युवती, प्रौढ़-प्रौढ़ा, वृद्ध-वृद्धा अवस्थाओं के चित्र, घर-घर मे रहने चाहियें, जिन को देखते-देखते विवाहित दम्पतियों के मन मे वे रूप ऐसे बस जायं कि उन की सन्तान वैसी ही होने लगे। राम और सीता, कृष्ण और रुक्मिणी, बलराम और रेवती, वसिष्ठ और अरुंधती, नल और दमयन्ती, सत्यवान् और सावित्री, बुद्ध और यशोधरा की, बाल्यादि सब अवस्थाओं की तस्वीरों या प्रतिमाओं की घर-घर मे पूजा बड़ी उपकारक हो, यदि ये तस्वीर और प्रतिमा सचमुच सुन्दर हों। मूर्तिपूजा की युक्तिमत्ता, उपादेयता, चरितार्थता, तभी है जब इष्टदेव की मूर्ति और भाव सुन्दर और सात्विक हों, और, 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' के नियम से, उपासक और उस की संतान के देह और चित्त भी ध्यान और भक्ति के बल से, वैसे ही सुन्दर और सात्विक हो जायं। 'जिस की जिस पर श्रद्धा होती है, उस का रूप वैसा ही हो जाता है'। खेद है कि मूर्तियां प्रायः सुन्दर के स्थान पर भद्दी रहती हैं। ग्रीस देश मे, दो सहस्र वर्ष पहिले, सौन्दर्य की उपासना बहुत हुई, और उस समय वहां स्त्री-पुरुष बहुत सुन्दर होते थे। उस समय की जो बची-खुची सङ्गमर्मर की टूटी-फूटी भी प्रतिमा, खंडहलों मे दबी-दबाई मिली हैं, उन को, और उन के फोटो चित्रों और प्रतिकृतियों को भी देखते आंख नहीं थकती। हिमालय पर्वत की किन्हीं-किन्हीं द्रोणियों मे अब भी ऐसी जातियां हैं, जिन के विषय मे, स्वयं अंग्रेज़ों ने, अपना जात्यभिमान भुला कर, मुक्तकंठ लिखा है, कि इन से अधिक सुन्दर स्त्री-पुरुष अन्यत्र कहीं नहीं हैं।[1]

१—वात्स्यायन ने, इस प्रकार से, स्त्री और पुरुष के शरीर की सुन्द-

वपुः— वपुष्मत्ता, शरीर-सम्पत्ति, अर्थात् बल और दृढ़ता, भी काम-सुख के लिए आवश्यक है; केवल सुन्दर-रूद पर्याप्त नहीं; यदि बहुत नाजुक, सुकुमार,रोगी है, तो सुन्दर ही होकर किस काम का ? इस लिए, कामशास्त्र मे, उपयुक्त आहार तथा व्यायाम की भी चर्चा होनी चाहिये।

रता के लक्षण तो कहे नहीं ; उन की गुह्य इन्द्रियों के परिमाण के भेद से, तीन-तीन भेद लिख दिये हैं. यथा,

शशो, वृषो, अश्वः, इति नायक-विशेषाः ;
नायिका पुनः मृगी, बड़वा, हस्तिनी, चेति ;
(साम्प्रयोगिक अधि०, २ अ०) ।

पीछे के लेखकों ने चार भेद किये हैं,

शशो, मृगो. वृषो, वाजी, पुरुषास्तु चतुर्विधाः ;
पद्मिनी, चित्रिणी चैव, शङ्खिनी, हस्तिनी, स्त्रियः ।

शशी, मृगी, गौ, बड़वा, कहना था ; पर ऐसा नहीं किया। इस प्रकार के भेद, मैथुन मे शरीर सुख की अधिक दृष्टि से किये गये हैं ; सर्वथा उपेक्षणीय तो नहीं है ; क्योंकि समान-शील-व्यसनता मे शरीर-समता भी अन्तर्गत है ; किन्तु, शरीर के अन्य, और अ-गुह्य, अवयवों के सौन्दर्य का, और उत्तम चारित्र्य के गुणो का, अधिक वर्णन होना चाहिये, क्योंकि पहिले परिदृश्यमान साक्षात् आकर्षक तो ये हैं। वाल्मीकि रामायण मे, कई स्थानो मे, राम और सीता के जो वर्णन किये हैं, वे देखने योग्य हैं ; 'न्यग्रोधपरिमंडलः' और 'श्यामा' विशेषण दिये हैं; इन दो शब्दों के ठीक अर्थ आज काल प्रायः भूले हुए हैं; पुराणो के वाक्यों के आधार पर यहां लिखे जाते हैं।

प्रसारितभुजस्य इह, यस्य बाहुद्वयान्तरं
उच्छ्रायेण सम, सः स्यात् न्यग्रोधपरिमडलः ;
महाधनुर्धराश् चैव, त्रेतायां, चक्रवर्त्तिनः
सर्वलक्षणसम्पन्नाः, न्यग्रोधपरिमंडलाः ;
न्यग्-रोधौ तु स्मृतौ बाहू, व्यामो न्यग्रोधः उच्यते ;
व्यामतुल्योच्छ्रयो यस्यअस्ति अधः ऊर्ध्वं च देहिनः ,

ऊपर कहा कि शरीर-सम्पत्, वपुष्मत्ता, अब भी पंजाब मे बहुत है। अफ़ग़ानिस्तान मे भी है; याद रहै कि मुहम्मद और इस्लाम धर्म के जन्म के पहिले, उस देश का नाम 'गांधार था, (अब 'क़ंदहार' है), और वहां

> सम-उच्छ्रय-परीणाहो, न्यग्रोधपरिमंडलः ।
> स्तनौ सुकठिनौ यस्याः, नितम्बे च विशालता,
> मध्ये क्षीणा भवेद् या, सा न्यग्रोधपरिमंडला ।
> शीते सुखोष्णसर्वाङ्गा, ग्रीष्मे तु सुखशीतला,
> तप्तकांचनवर्णाभा, सा स्त्री श्यामा इति कथ्यते ;
> अप्रसूतांगनायाः च श्यामा (सोमलतौषधौ····) ।
> (अग्नि पु०, मत्स्य पु०, विश्वकोष, शब्दकल्पद्रुम आदि)

जिस पुरुष की छाती-पीठ अर्थात् धड़ की, और उँचाई की, नाप बराबर हो, वह 'न्यग्रोधपरिमंडल'; ऐसे, त्रेतायुग मे महाधनुर्धर चक्रवर्त्ती होते थे ; बाहु को न्यग्रोध कहते हैं; (न्यक्, नीचे, रुह्, बढ़ना, लटकना, जैसे वट के बरोह; वटवृक्ष को भी न्यग्रोध कहते हैं); फैलाई हुई बांह का जो परिमाण, वही सिर से पैर तक का, जिस का हो,तथा छाती का घेरा और उँचाई भी बराबर हो, वह न्यग्रोधपरिमंडल । जिस स्त्री के स्तन कठिन, नितम्ब विशाल, कमर पतली हो, वह 'न्यग्रोधपरिमंडला'; जिस का शरीर शीत काल मे उष्ण, और ग्रीष्म काल मे ठंढा हो, और जिस का रंग तपाये सोने के ऐसा हो, वह 'श्यामा'। यहां श्यामा का अर्थ सांवली, काली, नहीं ; रामायण मे सीता का वर्ण गौर लिखा है। जिस स्त्री को प्रसव नहीं हुआ है, उस को भी श्यामा कहते हैं ।

सभी अंग पुष्ट और सुन्दर होने चाहियें ; तौ भी स्त्री शरीर में स्तनो की, और पुरुष शरीर मे बाहुओं की, शोभा पर, साहित्य मे अधिक ध्यान दिया है। क्यों ? अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से हेतु यह जान पड़ता है, कि मनुष्यों के चित्त मे, अव्यक्त रूप से यह भाव बैठा हुआ है कि, अच्छे स्तनो से बालकों का पालन, और अच्छे बाहुओं से कुटुम्ब और समाज का-रक्षण, अच्छा हो सकता है ; काव्यों मे, 'पीनपयोधरा' और 'महाबाहु' 'महाभुज' शब्द, इस हेतु से, बहुधा स्त्री-पुरुष के विशेषण लिखे गये हैं।

के बाशिंदे सब 'हिन्दू' और बौद्ध थे; बुद्ध, चंद्रगुप्त, सिकंदर, अशोक, आदि के समय मे, तक्षशिला का विद्यापीठ परम प्रसिद्ध था; पाणिनि, पतंजलि, आदि का जन्म इसी प्रान्त मे हुआ; अस्तु। सिख-मंडली मे कहा जाता है कि महाराज रणजीत सिंह जब हाथी पर निकलते थे, तब सर्दार हरिसिंह नड़वा, उन के हाथी के पुट्ठे पर एक हाथ रक्खे हुए साथ-साथ बात करते चलते थे, जैसे किसी घुड़सवार के साथ उस का आत्मीय, उस के घोड़े के पुट्ठे पर हाथ रक्खे बात करता चलै; ऐसे विशालकाय थे। इन्ही हरिसिंह और मेलाराम ने अफ़गानिस्तान और काबुल फ़तह किया; हरिसिंह ने उसी युद्ध मे अपना शरीर छोड़ा। एक पंजाबी सज्जन से मै ने सुना कि अब तक अफ़ग़ानी लड़ाकू जातियों की स्त्रियां, अपने शोर करते बच्चों को यह कह कर चुपाती हैं कि "हरिसिंह आया, नड़वा आया"। ऐसा विशाल शरीर होना असम्भव नहीं, और किंवदन्ती को अत्युक्ति और मिथ्या हठात् नहीं समझ बैठना चाहिए; साढ़े छः फुट के सिख और अफ़ग़ानी मै ने कई देखे हैं। ७ जनवरी १९३० ई० के 'पायोनियर' नाम के दैनिक मे, (जो उस समय इलाहाबाद से निकलता था), एक चित्र छपा है; इस मे जे० जी० टार्वर नाम का अतिकाय पुरुष, एक हाथी के पुट्ठे पर हाथ रक्खे और अपनी दाहिनी कुक्षि मे एक साधारण पुरुष को दबाये, दिखाया है। टार्वर का उच्छ्राय (उँचाई, क़द) आठ फ़ुट चार इंच लिखी है; और शरीर की तौल एक हजार 'पाउंड', अर्थात् साड़े बारह मन। 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' मे 'जायन्ट्स' (Encyclopedia Britannica, article 'Giants') पर लेख है, और दैनिक पत्रों मे समय-समय, ऐसों के हाल छपते रहते हैं। गिबन ने, अपने लिखे "रोम-साम्राज्य के इतिहास" मे, मैक्सिमिन नाम के एम्परर का सुप्रमाणित हाल लिखा है, कि आठ फुट से अधिक ऊंचा था, उसी अनुपात से मोटा, अति बलवान्, दिन मे बीस सेर मांस और तीस सेर मदिरा खा-पी लेता था; दूसरा वृकोदर भीम ही था। भारतवर्ष को ऐसे बलशाली भीम, अर्जुन, पौरवों की आवश्यकता है। जैसे सूखे भूखे, मर्कट-आकृति, मर्कट-प्रकृति के, जीव देश मे भर रहे हैं, वे भारत का उद्धार नहीं कर सकते।

वयस्—तीसरे; उपयुक्त वयस् भी कामोपभोग का आवश्यक अंग है। इस सम्बन्ध मे, किस वयस् मे विवाह होना चाहिये, इस का भी विचार कामशास्त्र मे होना आवश्यक है।

मुक्ताफलस्य छायायास् तरलत्वं इव अन्तरा
दृश्यते यद्युवांगेषु, तल् लावण्यम् इह उच्यते।

मोती के 'आब', पानी, के ऐसी, लवण, नमक, के डले के ऐसी, तरल चमक, जो युवा अंगों पर देख पड़ती है, उस को लावण्य, लुनाई, नमकीनी, सलोना-पन कहते हैं। (स-लोना शब्द भी स-लवण का ही रूपान्तर है)। यह पूर्वोक्त (पृ० १६७) शुक्रकला का फल है। लावण्य और तारुण्य का साथ है। आयुर्वेद, सुश्रुत आदि मे,

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता,

इत्यदि से, बीस और सोलह वर्ष का वयस्, पुरुष और स्त्री के विवाह (संगम) के लिये उचित है, ऐसी सूचना की है। इस से कम तो किसी प्रकार होना ही नहीं चाहिए। इतने वर्ष तक अविप्लुत-ब्रह्मचर्य से रहने से शरीर मे लावण्य तारुण्य की यथा-कथंचित् कांति और दीप्ति आ जाती है। पुराणो मे, स्वर्ग और नन्दन-वन के आदर्शों के वर्णन मे, ऐसा रूपक बनाया है कि, स्वर्गवासी पुरुषो और स्त्रियों का, पच्चीस और सोलह वर्ष का स्थिर यौवन रहता है। मनुस्मृति की प्रचलित लिखी छपी प्रतियों मे पाठ यों देख पड़ता है,

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीं;
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा, धर्मे सीदति सत्वरः।

'तीस वर्ष का पुरुष बारह वर्ष की कन्या से, अथवा, यदि ब्रह्मचर्य धर्म के अवसाद के भय से त्वरा हो तो, चौबीस वर्ष का पुरुष आठ वर्ष की स्त्री से विवाह करै'। निश्चयेन यह पाठ भ्रष्ट है। पुरुष की अवधियां तो विज्ञान-सम्मत हैं, पर स्त्री की स्पष्ट ही विज्ञान-विरुद्ध हैं। बारह वर्ष की अनभिव्यक्तांग बालिका से तीस वर्ष के प्रौढ़ पुरुष का, अथवा आठ वर्ष की अबोध बच्ची से चौबीस वर्ष के तरुण का, संयोग तो घोर बाल-हत्या और महापातक है।

मै एक ऐसे कुटुम्ब का हाल स्वयं जानता हूं जहां(१६२० के आसपास) कोई पैंतीस वर्ष हुए होंगे, एक हृष्ट-पुष्ट व्यायाम-शील (और प्रायः सदा-चारी भी) बीस वर्ष के युवा का दूसरा विवाह, पहिली पत्नी के किसी रोग से मर जाने पर, एक ठीक आठ वर्ष की बच्ची से कर दिया गया । उस अनजान बच्ची को, प्रथम प्रसंग मे ही अत्यन्त पीड़ा हो कर,गर्भ भी रह गया; गर्भ की वृद्धि से अति व्याकुल, वह बच्ची अपने साथ खेलने वाली बालिकाओं से कहती फिरती थी, 'अभी हमे ऐसा नहीं होना चाहिये था','अभी हमे ऐसा नही होना चाहिये था' ; सातवें मास असमय प्रसव-वेदना उठी ; भयंकर यातना के साथ मृत बालक हुआ ; उस को, वह बालिका, अपनी स्तनहीन दुग्धहीन छाती पर दोनो हाथों से चपका कर, परलोक को चली गई, परमेश्वर से पूछने को, 'आप ने ऐसा क्यों किया', 'आप ने ऐसा क्यों किया', 'मनुष्यों की ऐसी तामस बुद्धि क्यों बनाई' ।

अवश्य ही मनु के श्लोक का पाठ भ्रष्ट हो गया है; स्यात् कारण यह होगा कि विदेशियों के आक्रमणो से, अथवा स्वदेशी राजों के ही दुराचार, परस्पर कलह, युद्ध, लूट पाट से, और उन की और उन के सैनिकों की,

पुरीं अवस्कन्द, लुनीहि नन्दनं, मुषाण रत्नानि, हर-अमर-ङ्गनाः (माघ),
'नगर पर धावा करो, उस मे घुस जाओ, बाग बागीचों को नोच खसोट डालो, सब रत्न और अच्छी चीजें लूट लो, और स्त्रियों को उठा लाओ'— इस पाशव रीति से भीत हो कर, 'शास्त्री' लोगों ने, कन्याओं की रक्षा के लिये ही, उन के ब्याह की उमर कम कर दी, और पर्दे की प्रथा भी चला दी, कि विवाहित हो जाने से स्यात् कम हरी लूटी जांय; फिर, सामान्य जनता की साम्यबुद्धि ने पुरुषों की भी ब्याह की उमर तदनुसार घटा ही दी, यद्यपि 'शास्त्रियों' को तीस और बारह, तथा चौबीस और आठ, की असमंजसता नहीं सूझी। बीच-बीच मे रुपये वाले बूढ़े,बालाओं से जो ब्याह कर लेते हैं, उन को अपवाद ही जानना चाहिये। अब जन-मत इस के बहुत विरुद्ध हो रहा है । यदि 'विवाह' का अर्थ 'वाग्दान', सगाई, समझा जाय, तो कम उमर मे सगाई क़र देने मे दोष नहीं, बल्कि गुण है ; बाल्य और कैशोर अवस्था का, कुमार-कुमारी का, स्नेह अधिक

सात्विक 'प्रीति'-मय पवित्र होता है। 'द्विरागमन , गौना,की चाल भी,इन्ही हेतुओं से चल पड़ी; वही असली 'विवाह' है; उस से, 'प्रीति' के साथ 'रति' भी मिलती है।

प्रबलतम प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण है;सब अन्य प्रमाण उस पर प्रतिष्ठित हैं; वही उन सब की नीवी, नीव, प्रतिष्ठा है। आयुर्वेदशास्त्र, प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। ऐसे आयुर्वेद शास्त्र से विरुद्ध, मानव-धर्म-शास्त्र कभी नहीं हो सकता; अन्यथा, अ-शास्त्र हो जायगा। आयुर्वेद-सम्मत शुद्ध पाठ, मनुस्मृति के उक्त श्लोक का, निश्चयेन यही हो सकता है,

त्रिंशद्वर्षो(उ)द्वहेत् कन्यां हृद्यां द्वि-दश-वार्षिकीम्।
अष्टवर्षोऽष्टिवर्षां वा, धर्मे सीदति सत्वरः।

'तीस वर्ष का पुरुष, हृदय-ग्राहिणी, हृदय को प्रिय, बीस वर्ष की स्त्री से; अथवा चौबीस वर्ष का पुरुष, 'अष्टि' अर्थात् सोलह वर्ष की स्त्री से, विवाह करै। इस विषय का पाश्चात्य विज्ञान भी, अब प्रायः इन्हीं अंकों को उचित मानने लगा है। इन अंकों के गुण स्पष्ट हैं; शरीर और बुद्धि दोनो पुष्ट परिपक्व हो जायंगे। मनु के कहे हुए, मध्यम श्रेणी के, अर्थात् अठारह वर्ष के, ब्रह्मचर्य का,और उपयुक्त विद्याग्रहण का, सम्पादन, कुमार कर लेगा; तथा कुमारी भी भविष्य मे अपने कर्त्तव्य के साधक और उचित, गृह-कर्म-सम्बन्धी ज्ञान, कला, विद्या, आदि का संचय कर लेगी; एक दूसरे को देख कर समान-शील-व्यसनता और परस्पर रुचि का भी दोनो यथासंभव निश्चय कर ले सकेंगे।[1]

[1] (निर्णयसागरीय) डल्हणकृतटीकोपेत सुश्रुत, शारीर-स्थान, अ० १० मे कहा है, "अथाऽस्मै पंचविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीं आवहेत्, पित्र्य-धर्म-अर्थ-काम-प्रजाः प्राप्स्यति, इति।

ऊनषोडशवर्षायां अप्राप्तः पंचविंशतिं,
यदि आधत्ते पुमान् गर्भं, कुक्षिस्थः सः विपद्यते,
जातो वा न चिरं जीवेत्, जीवेद् वा दुर्बलेन्द्रियः;
तस्माद् अत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्। (सुश्रुत)
बाला इति गीयते नारी यावद् वर्षाणि षोडश। (भावप्रकाश)

एक बात इस स्थान पर याद रखने की है, जिस की सूचना पूर्वोक्त इस कथन से हो चुकी है, कि ब्रह्मचर्य से शरीर मे प्राणसंचय और बलसंचय होता है। देखा जाता है कि जिस उमर मे प्राणी वीर्य-विसर्जन और संतानन आरम्भ करते हैं, उस की चौगुनी उन की आयु होती है। कुत्ते बिल्ली दूसरे वर्ष बच्चे देने लगते हैं, सात आठ दस वर्ष मे मर जाते हैं ; गाय बैल तीसरे चौथे वर्ष मे, और बारह चौदह सोलह तक

> पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्ण(पच ?)विंशेन संगता,
> शुद्धे गर्भाशये, मार्गे, रक्ते, शुक्रे, अनिले, हृदि,
> वीर्यवन्तं सुत सूते ; ततो न्यूनाब्दयोः पुनः
> रोगी अल्पायुर् अधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा।
>
> (वाग्भट, शारीर० अ० १)

श्री यादव शर्मा आचार्य द्वारा संशोधित सम्पादित सुश्रुत के उक्त संस्करण (१९३८ ई०) के पृष्ठ ३९२ पर, ऊपर उद्धृत श्लोकों के नीचे टिप्पणी मे लिखा है—"षोडशवर्षा इति तालपत्रपुस्तके पठ्यते; द्वादशवर्षा इति इतरेषु हस्तलिखितपुस्तकेषु।'·····'वृद्धवाग्भटे तु,'पुमान् एकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्षदेशीयां उद्वहेत ; तस्यां षोडशवर्षीयां पचविंशतिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थे यतेत ; तदा हि तौ प्राप्तवीर्यौ वीर्यान्वितं अपत्यं जनयतः', इति पठ्यते"। अर्थात् 'तालपत्र की प्रति मे सोलह वर्ष की स्त्री, अन्य हस्तलिखित पुस्तकों मे बारह वर्ष की लिखा है। वृद्ध वाग्भट मे लिखा है कि २१ वर्ष का पुमान्, १२ वर्ष की स्त्री से विवाह तो चाहे कर ले, पर संगम, ४ वर्ष बाद, जब २५ और १६ वर्ष के हों, तब करें।'

श्री राजेश्वरदत्त मिश्र शास्त्री आयुर्वेदाचार्य के रचे "स्वस्थ-वृत्त-समुच्चयः" (१९३० ई०) नामक ग्रन्थ के पृ० ८२ पर 'गर्भाधानकालः' शीर्षक के नीचे, यह श्लोक भी, अन्य श्लोकों के साथ, लिखा है,

> पंचविंशे ततो वर्षे पुमान्, नारी तु षोडशे,
> समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्।

'षोडश' और 'द्वादश' के पाठभेद के ऊपर, बहुत वाद-विवाद किया जाता है; उस सब का परीक्षण करने के लिये, न यहां अवसर है, न कोई

जीते हैं ; घोड़े पांचवें वर्ष और बीस वर्ष ; सिंह व्याघ्र आदि दस बारह वर्ष और चालीस पचास वर्ष ; हाथी 'साठा तब पाठा', और दो सौ ढाई सौ वर्ष तक जीता है। यह अनुगम प्रायः जरायुजों पर ही लागू है; अंडजो पर नहीं; यथा कछुए, और कई प्रकार के पक्षी, बहुत जल्दी बच्चा देना शुरू करते हैं, तौ भी बहुत वर्षों तक, मनुष्य से अधिक जीते हैं। मनुष्य की वेदोक्त आयु, साधारण रीति से, 'शतायुर्वै पुरुषः' है ; पचीस वर्ष शुद्ध ब्रह्मचर्य निबहै तो यह प्रायः सधै। अक्सर लोग कहा करते हैं कि निबहना (निर्वहण) कठिन है ; तो फिर अधिक जीना कठिन है। परन्तु निभना ऐसा कठिन नहीं है ; यदि सारे समाज मे सच्चा ज्ञान, सच्चे भाव, ब्रह्मचर्य के आदर की बुद्धि, कुमारो कुमारियों की आचारभ्रंश से रक्षा करने की बुद्धि, एक बेर चारों ओर फैल जाय, तो यह बात नितांत सहज हो जाय। पति पत्नी के वयस् मे चार पांच से आठ नौ वर्ष तक का अन्तर तो होना ही चाहिये ; पुरुष का वयस् अधिक; इस से बहुत ज़्यादा अन्तर, शास्त्र और विज्ञान के विरुद्ध है , तथा आध्यात्मिक और उपयोगी प्रयोजन ही। पाठक सज्जन स्वयं ही, पक्ष-प्रतिपक्ष के गुण-दोष को विचार कर के, निर्णय कर लें, कि कौन अधिक युक्तियुक्त है; मेरा तो विश्वास यही होता है कि धर्माभास के फेर मे पड़ कर, वा विदेशियों के आक्रमणो के कारण अस्थिर बुद्धि, विचलित-मति, किंकर्तव्य-विमूढ़, हो कर, 'धर्माधिकारियों' ने 'षोडश' के स्थान पर 'द्वादश' लिखना-लिखाना आरभ कर दिया। जो कुछ हो; युग का, जमाने का, प्रभाव आप निर्णय कर रहा है; लिखित-पठित कुलों मे, स्वयं द्विजम्मन्य, द्विजब्रुव. घरों मे, विविध कारणो से, विवाह का वयस् बढ़ता ही जा रहा है। यदि इस विषय के बहु-विध अति विचित्र आचारों, रीतिरिवाजों का, जो भारत मे पूर्वकाल मे प्रचलित थे और अब हैं, वर्णन किया जाय, तो बड़ी पुस्तक हो जाय। एक श्लोक, जो वाल्मीकि जी ने एक स्थान पर सीता देवी से कहलाया है, इस प्रसंग मे लिखना उचित है ;

मम भर्त्ता महातेजाः, वयसा पचविंशकः,
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते।

सामाजिक दृष्टि से भी ।

"भावप्रकाश" नामक वैद्यकग्रन्थ मे दो श्लोक कहे हैं,

सद्योमांसं, नवं चान्नं, बाला स्त्री, क्षीरभोजनं,
घृतं, उष्णोदके स्नानं, सद्यः प्राणकराणि षट् ;
पूतिमांसं, स्त्रियो वृद्धाः, बालार्कः, तरुणं दधि,
प्रभाते मैथुनं, निद्रा, सद्यः प्राणहराणि षट् ।

(कुछ पाठ भेद भी किया जाता है) ; आशय यह है—ताजा मांस, नया अन्न, (वा धारोष्ण दूध), बाला स्त्री, दूध (-सहित, वा स्निग्ध, स्नेह-युक्त, घी-तेल-आदि 'चिकने' पदार्थ सहित, भोजन), घी, उष्ण जल से स्नान, ये छः तत्काल प्राण बढ़ाते हैं । पुराना सड़ा मांस, वृद्धा स्त्री, बाल (अर्थात् कुमार) आश्विन कार्त्तिक की घाम, अहोरात्र से कम का कच्चा दही, सवेरे का मैथुन भी और निद्रा भी, ये छः तत्काल प्राण घटाते हैं । "वृद्धस्य तरुणी विषं", "बालायाः जरठो विषं", "बाला तु प्राणदा प्रोक्ता, तरुणी प्राण हारिणी", "सद्यः प्राणहरा वृद्धा", आदि अन्य वाक्य भी बहुत कहे सुने जाते हैं । स्वार्थी दुर्बुद्धि पुरुष इन का दुरुपयोग कर के वृद्धावस्था मे प्राणवान् बनने की तृष्णा से बाला स्त्री (सोलह वर्ष से कम) से विवाह करते हैं ; जो चतुर विशेषज्ञ नहीं हैं, उन पर तो उलटा ही असर होता है , अधिक प्राणक्षय होता है, और जल्दी ही मर जाते हैं ; जो चतुर हैं, वे पौष्टिक रसौषधों का सेवन करते हैं, जिस से बाला स्त्रियां ही मर जाती हैं, और वे पुनः पुनः विवाह करते जाते हैं। काशी के ऐसे एक विशेषज्ञ वैद्य के बारे मे, जिन को परलोक गये बहुत वर्ष नहीं हुए, कहा जाता है कि प्रायः सत्तर वर्ष की उमर तक मे, छः वा सात विवाह ऐसी ही लड़कियों से, एक के मरने के बाद दूसरी से किया ; स्वयं कोई उग्र पौष्टिक का सेवन करते थे, जिस से उन के शरीर मे इतनी और इस प्रकार की गर्मी उत्पन्न होती थी कि वे स्त्रियां उस के प्रभाव से ही जल्दी मर जाती थीं, इत्यादि ।

यहां, यह भी स्मरण रखने की बात है कि, जैसे अधिक वयस् का पुरुष, बाला स्त्री के प्राण का शोषण करता है,वैसे ही अधिक वयस् की पत्नी,

या व्यभिचार या बाल-पति के प्राण का शोषण करती है। कुमार-कुमारी का सात्विक प्रेम, युवा युवती की रजो-मिश्रित सात्विक रति-प्रीति, वृद्ध और वृद्धा का पुनः सात्विक प्रेम, और दोनों का, संतान के लिए, सात्विक दयामय स्नेह, वात्सल्य—यह सब परस्पर प्राणपोषक और आयुर्वर्धक हैं।

सात्विक आचार यह है कि, प्रथम आश्रम मे ब्रह्मचर्य, द्वितीय मे नियमित मैथुन और एक पति-पत्नी-व्रत, तृतीय चतुर्थ मे पुनः ब्रह्मचर्य; इस सदाचार से मनुष्य, स्त्री भी पुरुष भी, दीर्घजीवी और स्वस्थ हो सकते हैं। याद रहे कि स्त्री-शरीर के लिए गर्भ-धारण का कार्य भारी परिश्रम और प्राण पर खींच का है; गर्भावस्था में मैथुन प्रायः वर्जनीय ही कहा है। दुनिया जानती है कि गर्भधारण और प्रसूति से स्त्री का यौवन क्षीण होता है, तथा, "वयसि गते कः कामविकारः", ढली उमर में काम-विकार, काम-चेष्टा, का अपहास ही होता है। साथ ही एक और वास्तव है, जिस का ज्ञान जनता में कम है, कि वृद्धावस्था के मुख की शोभा, यौवन के मुख की शोभा से किसी तरह कम नहीं है, यदि उचित सदाचारी जीवन से उस का आवाहन, निमंत्रण, संचयन, किया जाय; हां, वह शोभा, सात्त्विक शांति की शोभा है; यौवन और बाल्य की कान्ति, राजस चापल्य चांचल्य की है। सफ़ेद (श्वेत) बाल, प्रशांत मुख, उज्ज्वल दयामय स्नेहपूर्ण नेत्र, स्वच्छ देह आदि का, वार्धक्य मे अनुभव यदि इष्ट हो, तो गार्हस्थ्य और मैथुन को उचित समय से समाप्त कर देना चाहिये। स्त्री के लिये तो प्रकृति ने प्रत्यक्ष अवधि, गार्हस्थ्य (मैथुन) काल की, बांध दी है, अर्थात् पचास वर्ष की उमर के आस पास मासिक रजो-दर्शन का बन्द हो जाना; समझदार सदाचार सुचरित्र पुरुष को भी तदनुसार 'गार्हस्थ्य' समाप्त कर देना चाहिये। सात्विक काम सब पुण्यों का मूल है, जैसे राजस तामस काम सब पापों का।

उत्तम-संतान—संतान, विवाह के सुख का बड़ा और आवश्यक साधन है, जो पति और पत्नी के प्रेम को परस्पर दृढ़ करता है।

अर्थागमो नित्यम्, अरोगिता च, प्रिया च भार्या, प्रियवादिनी च,
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या, षड् भागधेयस्य सुखानि, राजन्!(म.भा.वि.)

रथाङ्गनाम्नोर् इव, भावबन्धनं, बभूव यत् प्रेम परस्परऽाश्रयम् ,
विभक्तं अपि एकसुतेन, तत्, तयोः, परस्परस्य उपरि पर्यचीयत ।
त अङ्कं आरोप्य, शरीरयोगजैः सुखैर् निषिंचन्तं इव अमृतं त्वचि,
उपान्तसम्मीलितलोचनो नृपः चिरात् सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ। (रघु०)
अपि बालांगनासंगाद्, अपि, साधो !, सुधारसात् ,
राज्यादपि सुखायैव, पुत्रस्नेहो, महामते ! (योगवासिष्ठ, प्र० १, अ० ८)

'शरीर नीरोग हो, अन्न वस्त्र के लिये अर्थ (आय, आमदनी) की कमी न हो, भार्या प्रिया भी हो, और प्रीति करनेवाली मीठा बोलने वाली भी हो, (अर्थात् दो-तरफ़ा प्रीति हो, यह नहीं कि एक तो दूसरे पर लट्टू हो और दूसरा तो मुंह फेरे रहै), सन्तान अनुकूल मनोहर गुणवान् हो, तथा इहलोक परलोक की, और चारो पुरुपार्थों की, साधने वाली विद्या हो—ये छः बातें बड़े सौभाग्य से मिलती हैं। कुछ लोग इस धोखे मे पड़े हैं कि सन्तान होने से पति पत्नी का परस्पर प्रेम कम हो जायगा; संतान के ऊपर चला जायगा; ऐसा नहीं है; प्रत्युत और दृढ़ हो जाता है; बच्चा एक छोटे हाथ से माता की अंगुली और दूसरे से पिता की अंगुली पकड़ कर गंठजोड़ा ताज़ा कर देता है; उस का स्नेह रेशमी मख़मली डोरी का काम करता है, दोनो को एक दूसरे से बांध देता है; रस्सी, दो पदार्थों मे, आधी आधी बंटी हुई भी, दोनो को एक दूसरे से कस देती है ! यूरोप में और उस से भी अधिक, यु० स्टे० अमेरिका मे, पति-पत्नी, पहिले तो बड़े लाव-चाव से ब्याह करते हैं, पर थोड़े ही दिनों मे एक दूसरे से अति तृप्त हो कर उद्विग्न होने लगते हैं, और विवाह विच्छेद करने वाली कचहरियों (डाईवोर्स कोर्ट्स, Divorce Courts) मे दौड़े जाते हैं; पर जिन के आगे बच्चे रहते हैं, वे प्रायः नहीं जाते; वा जाते हैं तो तभी जब परस्पर बहुत ही उद्विग्न हो जाते हैं, और बच्चों के लिये स्वतंत्र प्रबंध कर सकते हैं। 'दिलीप ने अपने बालक रघु को गोद मे लिया; उस के स्पर्श से मानो सारे शरीर मे अमृत भीन गया'। दशरथ से राम को, यज्ञ मे विघ्न करने वाले राक्षसों के निवारण के लिए, विश्वामित्र मागने आये; दशरथ देना नहीं चाहते थे; कहा कि, 'नवविवाहिता अतिप्रिया अति सुन्दर अंगवाली

अंगना के स्पर्श से भी अधिक सुख देने वाला, सुधा अमृत के स्वाद से भी अति मीठा, राज्य और ऐश्वर्य के सब भोग विलासों से भी अधिक प्यारा, अपत्य का स्नेहमय स्पर्श होता है; कुमार को कैसे जोखिम में डालें'। बहुत समझाने पर जाने दिया। प्राचीन आर्ष श्रुति स्मृति के और अर्वाचीन काव्यों के सात्त्विक भाव कुछ और देखिये; ये भाव विज्ञान-समर्थित भी हैं। माता-पिता अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हैं,

ॐ अङ्गाद् अङ्गाद् प्रभवसि, हृदयाद् अधि जायसे,
आत्मा वै पुत्रनामाऽसि, वर्धस्व शरदां शतं, ॐ।

'हे पुत्र! मेरे अंग अंग के सार से, विशेष कर हृदय से, तू उत्पन्न हुआ है; आत्मा ही पुत्र के नाम-रूप से जन्मा है; सौ वर्ष तक तू जीवे!'

पतिर् भार्यां संप्रविश्य, गर्भो भूत्वा हि जायते;
जायायास् तद् हि जायात्व, यद् अस्यां जायते पुनः। (मनु)।
शिशोर् आलिंगनं तस्माच् चंदनाद् अधिक भवेत;
न वाससां, न रामाणां, न अपां, स्पर्शस् तथाविधः,
शिशुनाऽलिंग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्, यथा सुखः;
ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठः, गौर्वरिष्ठा चतुष्पदां,
गुरुर् गरीयसां श्रेष्ठः, पुत्रः स्पर्शवतां वरः;
पुत्रस्पर्शात् प्रियतरः स्पर्शो लोके न विद्यते।(म० भा० शकुन्तलोपा०)
आलक्ष्य-दन्त-मुकुलान् अनिमित्तहासैर्,
अव्यक्त-वर्ण-रमणीय-वचः-प्रवृत्तीन्,
अंकाऽश्रय-प्रणयिनस् तनयान् वहन्तो,
धन्यास् तद्अंगरजसा मलिनी-भवन्ति। (कालिदास, शकुन्तला)
अंतःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः, स्नेहसंश्रयात्,
आनंदग्रंथिर् एकोऽयं अपत्यं अभिधीयते।
अंगाद् अंगाच् च्युतः इव निजो देहजः सत्त्वसारः,
प्रादुर्भूय स्थितः इव बहिश् चेतनाधातुर् एव,
सांद्राऽनंद-क्षुभित-हृदय-प्रस्रवेण इव सृष्टः
गात्रश्लेषे यद् अमृतरसस्रोतसा सिंचति इव।(भ०, उ०रा० चरित)।

'पति ही भार्या मे प्रवेश कर के गर्भ बनता है, और पुनः पुत्र रूप से जायमान होता है; इसी से पत्नी जाया कहलाती है'। 'चन्दन के लेप से भी अधिक प्यारा, शिशु का आलिंगन होता है; कोमल वस्त्रो का, स्त्री के कोमल अंगो का, ग्रीष्म मे शीत जल का, स्पर्श वैसा सुखद नही'। 'सद्ब्राह्मण जैसे द्विपाद मनुष्यों मे, चतुष्पादो मे गौ, आदरणीयो मे गुरु, जैसे श्रेष्ठ होते हैं, वैसे सुखद स्पर्श वालो मे पुत्र श्रेष्ठ है; पुत्र स्पर्श से प्रियतर स्पर्श कोई नही।' 'निष्कारण हँसी से दतुली दिखलाते हुए, तोतली बोली बोलते हुए, गोद मे बैठने के प्रेमी बच्चो की धूलि से धूसर अगो से जिन के शरीर और वस्त्र धूसर होते है, वे जन धन्य हैं'। 'दम्पति के अन्तःकरणो की आनन्द-ग्रन्थि ही का नाम पुत्र है; अंग-अग से बाहर आया देह का सत्त्वसार, मानो चेतना-धातु ही बाहर आया, यही पुत्र है, जो घने आनन्द से क्षुब्ध माता पिता के हृदयो का रस बाहर निकल कर, अपने स्पर्श से पुनः अमृत द्रव के ऐसा आनन्द उन को लौटा देता है'।

इस प्रस्तुत विषय से अतिप्रसक्त दो अवान्तर विषयो का उल्लेख यहां आवश्यक है। **सन्तान-उत्कर्ष, और सन्तान-निरोध।**

सन्तानोत्कर्ष—पश्चिम के वैज्ञानिक शास्त्रियो ने, इधर पचास-साठ वर्ष से, क्रमिक सृष्टि-विकास-वाद ('इवोल्युशन' evolution) के विकास के साथ-साथ, इस विषय पर, कि अपत्य सुरूप, शक्तिशाली, वपुष्मान्, कैसे हो, और समाज मे सौंदर्य कैसे फैले, बहुत विचार किया है, और ग्रथ लिखे हैं; एक नया उपशास्त्र बन रहा है, जिस का नाम 'यूजेनिक्स eu-genics' (ग्रीक 'यु', संस्कृत 'उत्', उत्तम; लैटिन 'जेनिटम्', सं० 'जन्', प्रजनन) रक्खा गया है। पर इन विद्वान् शास्त्रियो का ध्यान प्रायः शारीर गुणो की ही ओर रहा है।

पशुओ मे, चुन चुन कर, उत्तम रूपवान् वृषभ और रूपवती तथा बहुदुग्धवती गाय के, उत्तम रूप बल वेग वाले अश्व-अश्विनी के, एवं श्वा-शुनी के, कुक्कुट-कुक्कुटी के, तथा अन्य पालतू पशुओ के, जोड़ो का संयोग करने से, संतति अधिकाधिक उत्कृष्ट होती है, यह उन्हों ने प्रत्यक्ष

सिद्ध कर लिया है। ऐसी युक्तियों से, उन्हों ने, घोड़ों, कुत्तों, कुक्कुटों, भेड़-बकरियों की, विशेष विशेष कार्य के लिये विशेष उपयुक्त, उपजातियां भी तैयार कर ली हैं; यथा घुड़दौड़ी घोड़े, शिकारी घोड़े, छकड़े खींचने वाले घोड़े, गाड़ी खींचने वाले घोड़े, आदि, (जिन का उपयोग अब मोटरों के कारण कम होता जाता है),उमदा ऊन की भेड़ तथा शिकारी कुत्ते,चौकी-दारी कुत्ते, चूहा पकड़ने वाले कुत्ते, बर्फ़ान मे यात्रियों को बचाने वाले कुत्ते, खिलौने कुत्ते, आदि। ऐसे ही, फूलों, फलों, गेहूँ चावल आदि धान्यों, मे , चुने हुए पुमान्-केशर से पराग ले कर, चुनी हुई स्त्री-केसर के भीतर डालने से, बहुत उत्कर्ष किया गया है; रंग, गंध, स्वाद, परि-माण बढ़ाया गया है; तथा नयी नयी क़िस्में, उपजातियां, तैयार की गयी हैं। यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध होते देख कर, इन वैज्ञानिकों की धारणा यह होती रही है, कि सुन्दर बलवान् स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीर एकत्र करने से संतति सुन्दर होनी चाहिये। 'नय' (सिद्धांत, शास्त्र, 'उसूल', नीति, 'थियरी') तो यह ठीक है, पर इस के 'चार' (प्रयोग, व्यवहार, 'अमल', रीति, 'प्रैक्टिस') मे कठिनाई है। पहिली बात यह है कि, मानव योनि मे पहुंच कर, जीव मे अंतःकरण, मनो-बुद्धि-अहंकारऽात्मक चित्त, अहंता-ममता, स्व-च्छन्दता, अपनी-अपनी अलग राह चलने और मनमाना करने की इच्छा, एक ओर, और, दूसरी ओर, लोक-संग्रह-युक्त 'समाज' (समं अजन्ति जनाः यस्मिन्) मे दूसरों के साथ रहने और चलने की इच्छा, विशेष रूप से विकसित होती है; इस से एक ओर 'कामः स्वभाव-वामः' देख पड़ता है; दूसरी ओर 'धर्मानपेतः कामोऽस्मि भूतानां, भरतर्षभ !', मनमाना वाम-स्वभाव वाला होते हुए भी काम, धर्म और अर्थ के साथ बंध गया है; सभ्य कहलाने वाले सब देशों मे, इस समय, विवाह के सम्बन्ध मे, कानून-कायदे, मर्यादा,धर्म, बंध रहे हैं। तथा, जिस को एक स्त्री या पुरुष सुन्दर कमनीय जानै मानै, उस को दूसरे कभी कभी ऐसा नहीं समझते। फ़ारसी मे कहावत है, "लैला रा ब चश्मि मजनूं बायद दीद", लैला पर मजनू आशिक, आसक्त, था; लैला उस से विवाह करना नहीं चाहती थी, मजनू शोक से मरणासन्न हुआ;

देश के बादशाह ने दोनो को बुलवाया; देखा लैला मे कोई विशेष रूप नहीं; मजनू से पूछा, क्यों ऐसा मरा जाता है; तो उस ने कहा, 'लैला को मजनू की आख से देखना चाहिये'। गाय बैल का तो, अपने वैज्ञानिक प्रतिमानो के अनुसार 'विवाह' करने मे प्रभुत्व, पश्चिम देश के शास्त्रियों को है, पर मनुष्यों का नहीं। पूर्व देश मे, यदि वृद्धों को ऐसा प्रभुत्व है, तो प्रायः उसी अवस्था मे जब वधू-वर वयःप्राप्त नहीं है; ऐसी अवस्था मे उन का स्वरूप व्यक्त ही नही है, इस लिए शास्त्रानुसार परीक्षा की शर्तें पूरी नहीं हो सकतीं; तथा, यदि वयः-प्राप्त, परिपक्व-बुद्धि, हो जायं तो वह प्रभुत्व नही हो सकता। इस कारण से, तथा मर्यादा के कारण से, मानवों मे वैज्ञानिक परीक्षा के लिये यथेष्ट सयोग-वियोग नहीं कराया जा सकता। दूसरी बात देखने की यह है कि, मानव प्रकृति को ध्यान मे रख कर, न केवल शरीर के सौन्दर्य की चिन्ता करना चाहिये, किंतु चित्त के सौन्दर्य की भी। वैवाहिक सुख और संतानोत्कर्ष, दोनो, के लिये आवश्यक है कि, 'समान-शील-व्यसनेषु सख्यम्', 'विशिष्टायाः विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत्', इन न्यायों के अनुसार, वृद्धों के परामर्श, और युवा-युवती की अन्योन्य के प्रति अनुकूलता, दोनो, को मिला कर, सब प्रकार का 'वर्ण', (जिस से व्यक्ति के स्वभाव और तदुचित जीविका का 'वर्णन', व्यञ्जन, होता हो), जिन का 'समान' हो, शरीर भी और मानस भी जिन का सुन्दर हो और मिलता हो, उन का परस्पर विवाह किया जाय। शील, व्यसन, जीविका, आदि के सच्चे 'वर्ण' और 'गुण' के निर्णय मे, अध्यात्म-शास्त्र से प्रभासित ज्योतिष-शास्त्र से सहायता मिल सकती है। ऐसा होने से विवाह सुखमय होंगे, और सन्तानोत्कर्ष भी होगा। इस विषय पर मै ने, "मानव-धर्म-सार" नामक संस्कृत ग्रन्थ मे विस्तार करने का यत्न किया है।

ऐसा हो सकना और होना, देश मे, समाज मे, अनुकूल हवा बांधने, शिक्षा फैलाने, सद्भाव जगाने, की बात है। ऊपर (पृ० ३०८-३०६) उद्धृत मनु महाभारत आदि के श्लोकों मे जैसी सूचना की है, यदि राजा उत्तम हो, प्रजाभक्त प्रजाहितचिन्तक हो, स्वयं सदाचार हो और सत्

शिक्षा का प्रचार करावै, और प्रजा उस से सर्वथा प्रसन्न हो और राजभक्त राजानुयायिनी हो, अर्थात् दोनो परस्पर अनुव्रत हों, तो यह बात सहज मे हो जाय; क्योंकि राजा प्रजा-भक्त और प्रजा राज-भक्त होने से दोनो अवश्य धर्म-भक्त होंगे। तथा दोनों यदि धर्मभक्त है तभी दोनों परस्पर-भक्त भी होंगे। आज काल के भारतवर्ष के सामाजिक-जीवन मे देख पड़ता है कि पाश्चात्य सभ्यता के दोषों की नकल अधिकाधिक होती जाती है और गुणो की कम। विषय-लोलुपता, विलास-प्रियता, आर्थिक लोभ-द्रोह-स्पर्द्धा-अभिमान, धनार्जन के अधार्मिक प्रकार, जूआ-चोरी के रोजगार, 'फाड़का', कम्पनी आदि के नाम से धोखा देने वाले मिथ्या विज्ञापन, अफीम-शराब का अधिकाधिक प्रचार, तथा सिनेमा थियेटर, कहानी, कविता, चित्र आदि मे अश्लील कामोद्दीपक दृश्य और लेख, जिन मे अष्टांग वा दशांग मैथुन के केवल अंतिम दो-तीन अंग भी बचाये जाते हों या न हों, युवकों से रुपया ठगने वाली, उन को कुराह मे लगानेवाली, रोग बढ़ानेवाली, बल्कि हत्या करने वाली, 'कोक-शास्त्र' की पुस्तकों और 'पौष्टिक' औषधियों के इश्तिहार— इन ही की चारों ओर भरमार देख पड़ती है। ऐसी दशा मे, इन वर्धमान अज्ञान-जन्य दुर्भाव दुर्बुद्धि रूप रोगों का उपाय यही है, कि सद्ज्ञान का उपदेश करने वाले सद्-ग्रन्थों का, और उन मे 'धर्म से अनपेत,' धर्मयुक्त, अर्थपरिष्कृत, ललित कलाओं से परिमार्जित, काम के सद्-ग्रन्थों का, अधिकाधिक प्रचार किया जाय।

सन्तान-निरोध—जहां एक ओर यूरोप और अमेरिका के शास्त्री, सन्तान उत्कर्ष के उपायों की खोज पचास-साठ वर्ष से कर रहे हैं, वहां पचीस-तीस वर्ष से संतान-निरोध के उपायों की खोज भी प्रकट रूप से कर रहे हैं। इस खोज के प्रेरक, कई कारण,ऐतिहासिक,आध्यात्मिक,आधिभौतिक, हो रहे हैं। मनुष्य संख्या बहुत बढ़ गई है; भोजन आच्छादन की पर्याप्ति नहीं है; इतने प्राणियों के योग्य पेट भर अन्न और पीठ भर कपड़ा उपजाने लायक़ उर्वरा भूमि की मात्रा पर्याप्त न होने से, अथवा शासकों और पूंजीपतियों के दुष्प्रबन्ध से, या दोनो से, जीवन-संग्राम, परस्पर

आर्थिक द्रोह, बहुत बढ़ गया है; यहां तक कि प्रथम विश्व युद्ध मे, तथा घोरतर द्वितीय विश्व-युद्ध मे, यह आर्थिक लोभ और तज्जनित स्पर्धा और द्रोह, प्रधान कारण हुए। सभ्यता, यन्त्र-प्रधान हो गई है; आये दिन एक नया यंत्र ऐसा निकलता है, जिस के सहारे एक होशियार आदमी दस, बीस, पचास, सौ तक मज़दूरों का काम अकेला कर लेता है; और वे मज़दूर बेकार हो जाते हैं; इस से बेरोज़गारी बहुत बढ़ती जाती है। एक ओर, धनिकों मे स्वार्थांधता और भोगलोलुपता भी बहुत बढ़ गई है, जिस से अपने ही तन पर, सुख भोग पर, इंद्रिय तर्पण पर, सब धन व्यय कर लेना चाहते हैं, और अपत्यों तक को इस मे विघ्नकारक मानते हैं; जैसा कालिदास ने, सूर्यवंशी हो कर भी दुश्चरित्र राजा अग्निवर्ण के विषय मे लिखा है,

इंद्रियार्थपरिशून्यं अक्षमः सोढुम् एकं अपि स क्षणांतरम्,
अंतर् एव विहरन् दिवानिशं, न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः। (रघु० अ० १९)

'इंद्रियों के विषयों के बिना एक क्षण भी नहीं सह सकता था, हर वक्त मुख मे 'सिगार', या बीड़ी या पान, या तम्बाकू, या इलायची या सुपारी, या शराब, या 'कॉकटेल,' या मिठाई, या 'चॉकोलेट', कुछ न कुछ पड़ा ही रहना चाहिये, या गाना, या बाजा, या 'रेडियो' सुनते ही रहना चाहिये; दिन रात हज़रत अग्निवर्ण महलों के अन्दर ही पड़े रहते थे; रय्यत को कौन पूछता है'। दूसरी ओर, अल्पवित्त या मध्यवित्त वालों मे यह समझ भी बढ़ रही है, कि अपत्य तभी और उतने ही होना चाहियें, जब और जितने अच्छी तरह से पाले, पोसे, पढ़ाये, लिखाये जा सकें। उन्मत्त, 'अचेतसः' अर्थात् बौरहे, बावले, 'वैधेय' ('इम्बेसील', 'इडियट', 'मोरन', imbecile, idiot, moron) आत्म-घाती, तथा पाप-रोगी, गर्मी, सुज़ाक, कुष्ठ आदि संक्रामक ('इनफ़ेक्शस', infectious,) और सान्तानिक (आनुवंशिक, हेरेडिटरी, hereditary) रोग वाले मनुष्यों की प्रतिशत संख्या भी प्रतिवर्ष यूरोप अमेरिका मे बढ़ती जाती है। इन सब कारणो से, पहिले छिपे छिपे, अब इधर अधिकाधिक अ-गुप्त, खुली प्रवृत्ति हुई है, कि ऐसे उपाय उपज्ञात किये जायं, जिन से वर्तमान स्त्री-

पुरुषों के रति-सुख मे बाधा भी न हो, और उक्त आपत्तियां भी बढ़ने न पावैं। पहिले कह चुके हैं कि पश्चिम मे विवाह की 'धार्मिक' संस्कारता, (सैक्रेमेन्टल क्वालिटी, sacramental quality) उपयोगिता, औचिती, पर से नागर-वर्ग की आस्था हटती जाती है, और स्वच्छंद, अ-नियंत्रित, अनियमित, काम-प्रेम (फ्री लव्, free love)की ओर बढ़ती जाती है; यह आस्था-परिवर्त्तन और संतान-निरोधोपाय, अन्य कारणों की भी उपस्थिति से, और भी लाज़िम-मलज़ूम, परस्परानुग्रही, हो रहे हैं।

निरोध के उपाय आयुर्वेद मे भी कुछ कहे गये हैं। अब पश्चिम मे नये, कई प्रकार के, ईजाद किये गये हैं। यहां पर पहिले यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि सन्तान-निरोध के दो पहलू, प्रकार, सूरतैं, हैं, (१) गर्भ का आधान ही न हो; (२) यदि हो गया,तो ठहरने और जीने न पावै। पहिले प्रकार के उपायों का चार राशियों मे विभाजन हो सकता है। (१) भक्ष्य-पेय औषध; (२) लेप्य औषध; (३) जननेन्द्रियों का शस्त्र-कर्म से चिकित्सन; (४) जननेन्द्रियों पर लपेट देने के बाह्य उपकरण। एक पांचवां प्रकार भी इन के साथ गिना जा सकता है, अर्थात्, संगम होने पर, वीर्यपात से पहिले ही पुरुषेन्द्रिय को बाहर हटा लेना; पर यह क्रिया ऐसी अनिश्चेय है, काबू मे अक्सर नहीं ही रह सकती, और इसकी सफलता ऐसी सन्दिग्ध है, कि इस उपाय को अनुपाय ही समझना चाहिये। दूसरा प्रकार गर्भ का स्राव करा देने का है।

पूर्वोक्त प्रथम प्रकार के प्रथम तीन उपाय, सैंकड़ों, हजारों, वर्ष से, पूर्व देशों मे भी, पश्चिम मे भी, लोग,छिपा कर, काम मे लाते रहे हैं; पर ये सब बहुत भयावह, बहुदोषयुक्त, रोगकारक, बहुधा प्राणघातक, हैं; और दूसरा प्रकार, जानबूझ कर गर्भस्राव करना कराना, धर्म-विरुद्ध,क़ानून के ख़िलाफ़, अदालत मे दंडनीय, भी है। गर्भस्राव के विषय मे, पश्चिम मे, जनमत अब बहुत बदल गया है;अतः कानून भी अमल मे ढीले होते,या रूपतः बदलते, जाते हैं; नये रूस मे तो खुला नियम हो गया है, कि जाने हुए डाक्टरों की सलाह से, विशेष कारण होने पर, गर्भस्राव करा देना जायज़ है;बिना विशेष कारण, और बिना ख्यात डाक्टरों की मंजूरी के, दंडनीय है। अन्य देशों मे

भी धीरे-धीरे इस का अनुकरण, प्रकट वा अप्रकट रूप से, होता जाता है। ऐसा होते हुए भी, एक प्रामाणिक लेखक ने पुस्तक मे लिखा है कि, केवल युनाइटेड स्टेट्स आफ़ अमेरिका मे, प्रतिवर्ष दस लाख से अधिक गर्भस्राव किये जाते हैं।

प्रथम प्रकार का चतुर्थ उपाय, रबर के बने हुए बाह्य उपकरणो का, जिन से पुरुष की जननेन्द्रिय और स्त्री के गर्भाशय (कमल) का मुख वेष्टित हो जाय, कम दोषयुक्त समझा जा रहा है। इस की चर्चा 'कांट्रासेप्टिव्ज़' (Contraceptives) के नाम से, अखबारों मे बहुधा होती रहती है, तथा दूकानदारों के इश्तिहार भी समाचार-पत्रों मे अब अक्सर देख पड़ते हैं। इस विषय पर से समाज ने प्रायः लज्जा का आवरण हटा लिया है, और कानून मे भी इस की दंडनीयता नहीं कही जाती। खुली तरह से बिकती हुई अंग्रेजी पुस्तकों मे, अन्य उपायों के साथ इस की तुलना समीक्षा कर के, इस की प्रशंसा की जा रही है। यूरोप मे तो बहुत प्रचार इस का है ही; यहां तक कि कई देशों मे, शासक वर्ग की ओर से, प्रकाश रूप से, अस्पतालों मे प्रबन्ध कर दिया गया है, कि डाक्टर और डाक्टरनी. इन उपकरणो के उपयोग करने के विषय मे आवश्यक शिक्षा, विवाहित स्त्री-पुरुषों को दें। भारतवर्ष मे भी, अप्रकाश रूप से, इस उपाय का प्रयोग बहुत होने लगा है, और अब यहां की गवर्मेंट मे भी, ब्रिटेन की सरकार-का अनुकरण करने का विचार हो रहा है। ऐसी अवस्था मे, कामशास्त्र के ग्रन्थ मे इस के गुण-दोष पर विचार करना न्याय-प्राप्त है।

विचार का निष्कर्ष यह समझ पड़ता है कि, यदि विवाह की परिधि के भीतर, पति-पत्नी ही, मर्यादित नियमित रूप से, इस चतुर्थ उपाय का प्रयोग करें, तो धर्म से विरुद्ध न होगा, दोष कम और गुण अधिक देख पड़ेंगे। सर्वथा गुणमय तो कोई प्रकार हो सकता ही नहीं;

सर्वाऽरम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽवृताः। (गीता)

नात्यंतं गुणवत् किंचित्, नात्यंतं दोषवत् तथा। (म० भा०)

देश-काल-अवस्था को देख कर, जिस आरम्भ मे दोष कम, गुण

अधिक, देख पड़े, वही करना चाहिए; क्योंकि बिना कर्मारम्भ के भी संसार-यात्रा असम्भव है,

न कर्मणां अनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते । (गीता)

निरपत्यता मे भी दोष है, बह्वपत्यता मे भी बहुत दोष है। ऊपर कही आपत्तियां, वर्तमान मानव जगत् मे प्रत्यक्ष हैं; अधिकांश मनुष्य उन से पीड़ित हैं। काष्ठवत् ब्रह्मचर्य भी, इने गिनो को छोड़-कर, मानव शरीर के लिये असम्भव है। ऐसी दशा मे, इस युग मे, 'रबर' का उपाय, आध्यात्मिक वैज्ञानिक मर्यादाओं का पालन करते हुए, विवाहित पति-पत्नी के बीच, कथंचित् उपादेय है। दोष इस के, पाश्चात्य ग्रन्थों से विदित होते हैं, यथा—निरोध निश्चित नहीं; मैथुन के प्राकृतिक सम्पूर्णता मे विघ्न हो जाने से स्त्री-पुरुष को शारीर और मानस तृप्ति नहीं होती, असन्तोष रह जाता है; पौराणिक कथा मे, भव-पार्वती के 'विघ्नितेच्छ', असम्पूर्ण 'रत', के पश्चात्, पार्वती के कोप, और केवल भव-वीर्य से कार्त्तिकेय के जन्म का आख्यान, इस का निदर्शन है। गर्भाधान का और संक्रामक रोगों का भय कम हो जाने से, अविवाहित युवा-युवतियों मे, विशेष कर उन स्थानो मे जहां लड़की-लड़के साथ ही स्कूल कालेज मे पढ़ते हैं, मैथुन बहुत होने लगा है; तथा विवाहितों मे व्यभिचार। अक्सर, समाचार पत्रों मे, विवाह-प्रथा के विश्वासी पक्ष की ओर से शिकायत छपती है, कि वैवाहिक स्त्री-पुरुष का धर्म-भाव और परस्पर प्रतिपालन का भाव लुप्त हुआ जाता है, और स्त्रियों के पहिरावे मे भी लज्जा नहीं रह गयी है; दूसरी तरफ, स्वाच्छंद्य-विश्वासी पक्ष की ओर से यह कहा जाता है, कि वैवाहिक आमरण बला-त्कृत गंठबन्धन से सच्चे प्रेम का वध हो जाता है, पति-पत्नी एक-दूसरे से विवाह के थोड़े ही दिन पीछे उद्विग्न हो जाते हैं, और अमेरिका के बड़े नगरों मे तो यहां तक दशा पहुंची है कि, यदि वर्ष मे सौ वैवाहिक गंठ-जोड़ा होता है तो पचास अन्योऽन्य त्याग, गंठ-तोड़ा, 'डैवोर्स' divorce विवाह-विच्छेद होता है। यह सब उथल-पुथल अधिकतर पश्चिम के बड़े नगरों मे ही देख पड़ती है, जहां जीवन के प्रकार नितान्त कृत्रिम हो रहे हैं; देहात मे ऐसा नहीं है; वहां विवाह और परस्पर निर्वाह की श्रद्धा अभी भी

पूर्ववत् कुछ बनी है; यद्यपि नगर और ग्राम के परस्पर वर्धमान सम्पर्क के कारण अब ग्रामो की हवा भी बदलती जाती है ।

पश्चिम के नगरों के सामाजिक कामिक जीवन की भयङ्कर तस्वीर, इस विषय की पुस्तकों से, तथा अखबारों मे जो खबरें निकलती रहती हैं उन से, आंखों के सामने आती है । इस प्रकार का जीवन सुखावह नहीं है, आपात-रमणीय है, थोड़ी सी दूर-दृष्टि से महा दुःखावह जान पड़ता है। मानव जीवन के जो विशेष विकास और परिष्कार हैं, वे, बिना मर्यादित 'अहंता' ('इंडिविजुऐलिटी' Individuality) के, अर्थात् अंतःकरण-रूप अहंकार-बुद्धि-मनस् के, उपोद्बलन संवर्धन विकासन के; बिना नियंत्रित परिग्रहात्मक, स्वत्वात्मक, अर्थ-सम्पत्ति, 'ममता'('प्रापर्टी' Property)के; बिना नियमित एक-स्त्री एक-पुरुष के विवाह ('मोनो-गेमस मैरेज' mono-gamous-marriage) के; बिना इन के, वे परिष्कार ऊंची कोटि को नहीं पहुंच सकते । मैथुन-स्वाच्छंद्य-वाद का और परिग्रह-विषयक साम्यवाद का, प्रायः साथ देख पड़ता है। पर यही पशुओं मे देख पड़ता है । इस ओर जाना, मनुष्यों के लिये मानो प्रतिसंचर करना है, ऊंचे से नीचे गिरना है । हां, अतिपरिग्रह, बहुविवाह, अत्यहंकार आदि के अति वैषम्य मे भी वैसे ही अति भयंकर दोष हैं, जैसे अति साम्य मे । इस लिये बीच का रास्ता पकड़ना चाहिये। जांच कर, समान-शील-व्यसनो का विवाह हो, उस के बाद श्रद्धा से एक-दूसरे का आमरण निर्वाह करैं, नाता तोड़ने की, तलाक की, नौबत न आवै, तथा अति परिग्रह का भी लोभ न हो, तभी विवाह मे और गार्हस्थ्य मे सुख मिल सकता है ।

कुछ लोग, आत्यन्तिक अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह पर जोर देते हैं; उन की भ्रान्ति इतने से ही प्रत्यक्ष सिद्ध है कि यदि वे स्वयं आत्यंतिक अहिंसा वा अपरिग्रह का आचरण करैं, तो उन का शरीर एक क्षण भी जी न सकै । अध्यात्मशास्त्र से सर्वथा सिद्ध है, कि जीवन के पूर्वार्ध के दो आश्रमो मे, 'बुभुक्षा' की एषणात्रय की, 'स्वार्थ'-त्रिक की, त्रिमूर्ति का नियन्त्रित उपासन, परमात्मा की प्रकृति की, ब्रह्म के स्वभाव की, अतः जीवात्मा के स्वभाव की, 'ह्यूमन नेचर, ह्यूमन साइकालोजी,

human nature, human psychology,' की, अनुल्लङ्घनीय आज्ञा है; तथा, उत्तरार्ध के दो आश्रमो मे, 'युयुत्सा' 'मुमुत्सा' के 'परार्थ' का वर्धमान उपासन। यदि ऐसा न हो तो सृष्टि चल ही नहीं सकती; अथ किं, हो ही न सकती। परमात्मा ने स्वयं मूलप्रकृति-दैवीप्रकृति-रूपिणी देवी 'अविद्या' (मूर्खता, बेवकूफी !) से विवाह किया; "अनित्य अशुचि-दुःख-अनात्मसु नित्य-शुचि-सुख-आत्म-ख्यातिः अविद्या" (योगसूत्र), अपने नित्य-शुचि-सुखमय आत्मता को जान बूझ कर भुला दिया, और अनित्य-अशुचि-दुःखमय अनात्मा, शरीर रूपी जीवात्मा, बन गया; खुदा ने खुदी बीबी को अपने सर पर चढ़ा लिया। जब सृष्टि के आरम्भ की यह दशा है, तो हाड मांस के मनुष्य के लिये, अपने शरीर को पालते हुए भी, आत्यंतिक अहिंसा अपरिग्रह आदि की पुकार करना, अपने को और दूसरों को धोखा देना है। हां विशेष देश-काल-अवस्था मे, विशेष कारणो से, हिसा-असत्य-स्तेय-(चौर्य)-व्यभिचार-परिग्रहलोभ की आत्यंतिक वृद्धि को रोकने के लिए, इन के प्रतियोगी प्रतिद्वंद्वी विरोधी, अहिंसा आदि भावों की आत्यंतिक पुकार, उतने काल तक जब तक अवस्था न सुधरै, उचित और न्याय्य, नीतियुक्त, कर्तव्य हो सकती है।

पाश्चात्य देशों मे, विवाह के बरस दो बरस, या अक्सर महीने दो महीने, ही बाद, वधू-वर एक-दूसरे से ऊब(उद्विग्न हो)जाते हैं, और तलाक की कचहरी मे दौडे जाते हैं। उस मे विशेष हेतु यह है कि 'हनी मून' honey-moon, ('मधु-चंद्र' विवाह के बाद का एक पखवारा, जैसे भारत मे 'सौभाग्य रजनी','सोहाग रात') की प्रथा के अनुसार, स्त्री-पुरुष दस पन्द्रह दिन, एक दूसरेके साथ निरन्तर रहते हैं, सन्तान निरोधक उपायों का प्रयोग करते हैं, एक दूसरे के शरीर के अनवरत संभोग से सब इन्द्रियों को अति-तृप्त, और वीर्यादि रसों के अति-व्यय से नितान्त म्लान-ग्लान, कर डालते हैं। सुस्वादु, सुमधुर, भोज्य पदार्थों के भी अति-भोजन से वमन होने लगता है।

यदि विवाहित वधू को गर्भ रह जाय, तो उस की भी और वर की भी मनोवृत्ति तत्काल बदल जाती है, गर्भ रक्षा की चिन्ता होने लगती है,

चित्त, स्वार्थी से परार्थी हो जाता है । सब संसार ही दूसरा और नया हो जाता है; परस्पर स्नेह, दया, रक्षाभाव बढ़ता है । इस लिए, परिमित संख्या मे, अपत्य नितान्त आवश्यक है । बिना विवाह के गर्भाधान होने पर, प्रायः यही देखा जाता है, इस देश मे भी और अन्य देशों मे भी, कि पुरुष, हृदय-हीन शठता और क्रूरता से, स्त्री का परित्याग कर देता है, और स्त्री को, या तो मरण मे शरण लेना पड़ता है, या वेश्या आदि वृत्ति मे ।

इस सम्बन्ध मे, इस प्रश्न का आध्यात्मिक उत्तर विचारणीय है कि, वर्त्तमान युग मे, प्रकृति देवता ने, रजो-वीर्य-विसृष्टि-रूप, अपत्य-सृष्टि-रूप, 'आनंद-सार' को उन्हीं इन्द्रियोंसे क्यों बांध दिया है जिन से मूत्र-पुरीष के उत्सृष्टि के 'घृणा-सार' को भी बांधा है । पुराण और वेदान्त का निर्णय है कि 'मोक्षस्तु मानवे देहे', मनुष्य देह मे ही पहुंच कर जीव को मोक्ष हो सकता है; क्योंकि इसी योनि मे उस को यह बुद्धि होती है कि, 'मै बँधा हूँ, कैसे छूटूँ' । अन्य शरीरों मे इस प्रकार का विवेक और वैराग्य नहीं होता । पशु योनियों मे तमो-बाहुल्य से विवेकिनी बुद्धि नहीं: देव-योनियों मे सूक्ष्म दिव्य इन्द्रियों का सुख इतना तीव्र है कि उस को छोड़ने की इच्छा का, उस से 'मुमुक्षा' का, संभव ही नहीं । इस विवेक वैराग्य का सम्भव तभी होता है जब तीव्रतर द्वन्द्व का, सुख-दुःख का, आनन्द-घृणा का, साथ ही अनुभव हो; इस के साधन के लिये, प्रकृति देवी ने, मनुज देह मे निज-(आत्म)-बोधोपयोगिनी प्रत्यक्‌चेतना के, प्रत्यगदृष्टि के, समर्थ,बुद्धि भी रक्खी है, और मूत्रेन्द्रिय को आनन्देन्द्रिय भी बनाया है; कि जीव, अति-आनन्द से पलटा खा कर, तृतीय चतुर्थ आश्रम मे, अति-घृणा, संसार से अति-वैराग्य, की पराकाष्ठा को पहुंच जाय । योग भाष्य मे, वैराग्य की दो काष्ठा कही हैं, आरम्भ मे 'अपर' और अंत मे 'पर'; 'पर वैराग्य' और 'परम-प्रज्ञान' 'मोक्ष', एक ही पदार्थ के दो पक्ष वा नाम हैं । (योगसूत्रभाष्य, १, १६) ।

इस सम्बन्ध मे, भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक की याद करा देना उचित है,

स्तनौ मांसग्रन्थी कनकघटवत् श्लिष्यति मुहुः,
मुखं लाला-क्लिन्नं पिबति चषकं सऽासवं इव,
अमेध्यक्लेदऽार्द्रे पथि च रमते स्पर्शरसिकः,
अहो मोहान्धानां किं इव रमणीयं न भवति ।

मांस की लोथ जो स्तन है, उस को सोने के घटों के ऐसा समझता है और गले लगाता है; थूक से, लार से, भरे मुख को, आसव, शर्बत और शराब, से भरे प्याले के ऐसा चूसता है; मूत्रादि अशुचि वस्तुओं से सने मार्ग के स्पर्श से आनन्द मानता है; मोहान्ध पुरुष को क्या नहीं रमणीय है !

यह हुई स्त्री शरीर की निन्दा और घृणा, पुरुष दृष्टि से; इस की पूर्ति के लिये, स्त्री-दृष्टि से पुरुष देह की भी वैसी ही निंद्यता और घृण्यता है, जिस को कहना भर्तृहरि भूल गये,

मांसास्थिपंजरं इयं मनुतेऽतिकान्तं,
आनन्दधाम गणयति अपि मूत्रकाङ्गं,
बीभत्समांसपरिघर्षणं अपि उपास्ते,
लालां सुधां इव च, संमदमोहमत्ता ।

हाड़ मांस के ठट्ठर को परम सुन्दर कमनीय कान्त वस्तु समझती है, मूत्र के स्रोत को आनन्द का स्रोत मानती है; मांस के टुकड़ों के परिघर्षण की उपासना करती है; मोह की मारी स्त्री बेचारी, लार और थूक को अमृत मानती है ।

संसार की द्वन्द्वता, अमृत-विष-ता, अन्न-पुरीष-ता, उपादेय-हेय-ता, प्रतिपद प्रत्यक्ष है । चित्त जब एक ओर अधिक झुकता है, इन्द्रियों के विषयों मे सुख मानता है; तब प्रवृत्ति, स-रागता, होती है । जब दूसरी ओर झुकता है, और उन विषयों मे दुःख मानने लगता है, तब वि-रागता और निवृत्ति ।

उक्त प्रश्न के इस उत्तर से समझ मे आवेगा, कि क्यों काम का परिपाक, परिणाम, यदि अपत्य-वात्सल्य-रूप नहीं हुआ तो, परस्पर घृणा-रूप हो जायगा । यह माया की द्वंद्व-निर्माण-शक्ति का, जगत् के द्वन्द्वात्मक

स्वभाव का, फल है। पुण्य-पाप मिले हुए हैं। जीव, या एक ओर या दूसरी ओर, चलता ही रहता है। यदि फल बहुत कच्चा हरा तोड़ कर रख दिया जाय, तो खट्टा कसैला कड़ुवा हो कर, कठवायगा और सड़ जायगा; यदि सूर्य की कल्याणमय किरणों से यथासमय पक जाने पावेगा, तो खाने पर सुस्वाद और तुष्टि-पुष्टि-कारक होगा। ऐसे ही दैह्य रति, कामिक शारीर क्षोभ, 'कार्नल पैशन', carnal passion, यदि मातृत्व पितृत्व के वात्सल्य मे, 'स्पिरिचुअल् ऐफ़ेक्शन', spiritual affection, मे, परिणत न होने पाया, बलात् रोका गया, तो विष हो जायगा, विषय-तृष्णा-पूर्ण ब्रह्म-राक्षस ब्रह्म-पिशाच, अर्थात् ज्ञान-पूर्वक बुद्धि-पूर्वक पापाचारी, हो जायगा; चारो ओर जार-वेश्या, अप्सरा-गन्धर्व, यक्ष-यक्षिणी, राक्षस-राक्षसी, पिशाच-पिशाची के भाव को फैला कर समाज को दारुण उन्माद मे डालेगा और नष्ट-भ्रष्ट करेगा।

यूरोप के महायुद्ध मे, भीतर-भीतर, यह एक प्रधान कारण हुआ है। जो ही अग्नि, नियम के, शास्त्र-सायंस के, अनुसार, प्रयोग करने से खाना पकाती है, जाड़ा (जाड्य, जड़ता) दूर करती है, एञ्जिन मे रह कर लाखों यात्रियों और लाखों मन माल असबाब को दूर दूर के देशों मे पहुंचाती है, वही अग्नि, दुष्टता या मूर्खता से, प्रयोग करने से, नगर के नगर जला डालती है, लाखों मनुष्यों के प्राण ले लेती है, करोड़ों की जायदाद भस्म कर देती है। कामाग्नि का यही हाल है।

मनु ने कहा है,

> यस्मिन् ऋणं संनयति, येन चाऽऽनन्त्यम् अश्नुते,
> स एव धर्मजः पुत्रः; कामजान् इतरान् विदुः।

'ज्येष्ठ पुत्र, जो माता-पिता को देव-ऋषि-पितृ-ऋण से छुड़ाता है, जिस के द्वारा माता पिता अमरता पा सकते हैं, वही धर्म-ज पुत्र है; पीछे के पुत्र कामज हैं।' इस श्लोक से, आदि प्रजापति, नितान्त प्रजावत्सल, "वात्सल्ये मनुवन्नृणां" (भाग०), अपने वंश की वृद्धि चाहते हुए भी, बहु-प्रजत्व का दोष देखते हुए, सूचना मात्र कर देते हैं, कि अपत्य होना भी आवश्यक है, पर बहुत अपत्य होना अच्छा नहीं, ""विस्तरं तु न

कारयेत्"। इस कल्याण-कारक धार्मिक उपदेश को मन मे रख, विवाहित दम्पती को चाहिये कि संतान अवश्य उत्पन्न करें, पर पांच सात वर्ष मे एक। बीच मे यदि शुद्ध ब्रह्मचर्य नही बन सके तो, अगत्या, गर्भाधान-निरोध के अल्पतम दोष वाले चतुर्थ उपाय को काम मे लाना अनुचित नही कहा जा सकता। यो एवं, उन के शरीर और चित्तके स्वस्थ रहने की आशा है, और अपत्य-पालन भी यथावत् हो सकेगा, अपत्य-स्नेह से परस्पर स्नेह भी बढ़ेगा, अपत्य के हित-चिन्तन मे दिन बीतेंगे, कामाग्नि कम सतावेगी, उस का परिणमन, स्नेह और प्रीति मे निरन्तर होता रहेगा।

सौशील्य—सब से उत्तम और सब से आवश्यक साधन, दाम्पत्य-सुख का सौशील्य है। शील के तीन अंग इस सम्बन्ध मे कहे जा सकते हैं।

(१) पहिला अङ्ग यह कि, पति-पत्नी अपने अपने अलग अलग 'स्वार्थ' सुख का ध्यान कम करें, और 'एक दूसरे के अर्थ' का, सुख का, ध्यान अधिक करें। यह तो महाभारत (शांतिपर्व) मे कहे, शील के मौलिक मार्मिक लक्षण का ही अनुवाद मात्र है—'जो अपने लिये न चाहो, सो दूसरे के लिये भी मत चाहो; जो अपने लिये चाहो, वह दूसरे के लिये भी चाहो; जिस कर्म से दूसरो का हित बिगड़ता हो वह मत करो; जिस कर्म को करते स्वयं अपने मन मे लज्जा, त्रपा, शर्म आती हो वह मत करो; जिस कर्म के करने से भले आदमी, सभा मे एकत्र हो कर, प्रशंसा करें, वह करो। थोड़े मे शील का तत्त्व यही है'।

संक्षेपतस्तु शीलस्य तत्त्वं शृणु, नरेश्वर !;
यद् अन्येषां हितं न स्याद्, आत्मनः कर्म, पूरुषः,
अपत्रपेत वा येन, न तत्कुर्यात् कथंचन;
तत् तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि।

(म० भा० शांति० अ० १२४)

(२) दूसरा अङ्ग, दाम्पत्य शील का, पहिले अंग का प्रसारण ही है। वह यह है कि, एक दूसरे से सर्वथा निर्लज्ज न हो जांय; एक दूसरे की ओर, विनय, आदर, कुछ लज्जा, का भाव सदा बनाये रहैं; प्रीति अधिक और रति कम करैं। स्वयं वात्सायन ने भी, कामसूत्र मे, यह सलाह दी है।

परस्पर-ानुकूल्येन तद् एवं लज्जमानयोः,
संवत्सरशतेन-ापि, प्रीतिः न परिहीयते।

भर्तृहरि ने भी कहा है,

एतत्कामफलं लोके यद् द्वयोः एकचित्तता;
अन्यचित्तकृते कामे, शवयोः इव सङ्गमः।

'सदा एक दूसरे के अनुकूल होते हुए भी, जो पति-पत्नी एक दूसरे से कुछ लजाते भी रहते हैं, उन की परस्पर प्रीति सौ वर्ष मे भी कम नहीं होती। दोनो का चित्त एक होना चाहिये; यही इस संसार मे काम का उत्तम फल है। बिना चित्त एक हुए, कामना दूसरे की, शरीर दूसरे का, ऐसे शरीरों का मिश्रण तो मुर्दों का मिश्रण है।'

प्रीति की नवता, ताजगी, तभी बनी रहेगी, जब 'रति' की 'अति' न की जायगी। अन्यथा, नी-रस, बासी, फीकी, अथच कु-रस शीघ्रही होजायगी।

युवा पाठक सज्जन! वृद्धावस्था मे, अगली पुश्त के लिये, वात्सल्य-मोह अधिक हो जाता है; 'वृद्धस्तावच् चिंतामग्नः'; यह चिंता वृद्धों को सदा सताती रहती है कि बच्चे अच्छे रहैं, इन को क्लेश न हो। इस वात्सल्य-मोह से प्रेरित हो कर, तुम लोगों की भलाई की उत्कट कामना से, फिर-फिर यह कहता हूँ, कि पश्चिम देशों की इस वर्धमान भयानक भूल मे मत पड़ना, यह मत समझना कि स्त्री-पुरुष के शरीरों का संयोग केवल, क्षणिक इन्द्रिय-सुख की बात है, जैसे स्वच्छंद रुचि के अनुसार खट्टा-मीठा खा लेना, गंध सूंघ लेना, रंग देख लेना। यह मत समझना, कि इस संयोग से, धर्म का, मर्यादा का, क़ानून-क़ायदे का, कुछ संबंध न होना चाहिये। ऐसा समझना भारी भूल है। साधारण इंद्रिय-सुख भी, खाना पीना भी, बड़े व्यापक धर्म का, प्राकृतिक भी मानुषिक भी क़ायदे-क़ानून का, विषय है; यहाँ तक कि 'आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः.... ध्रुवा स्मृतिः.... मोक्षः' (छाँदो० उप०); योगाभ्यास और मोक्ष की सीढ़ी का पहिला भी और अंतिम भी डंडा, जिह्वा-शिश्न का जय, उदर-उपस्थ का मर्यादित निग्रह, ही है; आहार मे भूल करने से प्राण का नाश तक हो सकता है, और बहुधा हो जाता ही है। सात्त्विक आहार से

सात्विक-बुद्धि, उस से मोक्ष-सिद्धि। वैसे ही, या उस से बहुत अधिक, स्त्री-पुरुष के संयोग के विषय मे भूल होने से तो, महा-समाज के महा-प्राण का सामूहिक नाश हो सकता और होता है। लंका के, और राक्षस और वानर वंशो के, महासंहार का निदर्शन देखा ही है। स्त्री-पुरुष संयोग भी क़ायदे-क़ानून का नितरां विषय है; स्वाच्छंद्य का नही। इस क्रिया को 'क्षणिक' मत समझो; इस 'क्षण' मे अनंत भूतकाल, अनंत भविष्यकाल, भरा हुआ है; अनंत ब्रह्मशक्ति का कार्य, और अनंत संतान-परम्परा का कारण, स्त्री-पुरुष का वीर्य है। ऐसा वीर्य जिस 'क्षणिक' क्रिया से सम्बद्ध हो, वह, साधारण चाखने, सूंघने, थूकने, छीकने, खॉसने की-सी क्रिया नही है; जीव का समग्र अंतःकरण इस से सम्बद्ध है। पश्चिम के देशो मे, बुद्धिमान् विद्वान् भी माने हुए मनुष्य, पर इस विषय मे दुर्विद्वान्, दुर्बुद्धिमान्, अदूरदर्शी, अनध्यात्मवित् लोग, कहने लगे हैं, कि काम-सुख मे परस्पर ईर्ष्या-द्वेष न करना चाहिए। ये लोग मानव प्रकृति के अध्याम-तत्त्व की ओर आँख बद किये है, और, "न हि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलम् उपाश्नुते" (मनु), समाज को गढे मे गिरा रहे हैं। यदि नया जगत् और अपूर्व स्वभाव के जीव, ये लोग बना सकेंगे, तब उन का विचार स्यात् ठीक हो सकेगा; अन्यथा, मानव-स्वभाव से, जगत् की द्वन्द्वात्मक प्रकृति से, निसर्ग से, यह सिद्ध है कि, बिना मर्यादा बाँधे, बिना धर्म का व्यवस्था किये, बिना स्वाच्छंद्य की परिधि और सीमा घेरे, दूषित काम से क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष, आदि अवश्य उत्पन्न हो कर, समाज मे घोर उपद्रव खड़ा करेंगे; और अर्धसभ्य, असभ्य, जातियो की, और फिर पशुओ की अवस्था की, ओर, वापस ले जायंगे।[१]

१—पच्छिम मे हवा बदल रही है, इस का उदाहरण देखिये। मई, १६४४, के 'रीडर्स डाइजेस्ट', (The Reader's Digest, New York, U.S.A.) मे, ग्लाडिस डेनी शुल्ट्ज (Gladys Denny Schultz) नाम की महिला का एक लेख छपा है। उस का शीर्षक यह है—'क्या तुम्हारी बेटी समझती है कि किसी पुरुष पर उस को प्रेमासक्ति हो गई है?' (Does your daughter think she is in love?)। इस मे

(३) सौशील्य का तीसरा अंग,दूसरे अंग का सम्पूरण और साधन है। परस्पर शरीर के भोग मे अति न होने पावै, सब रति-शक्ति थोड़े ही दिनो उस ने माताओं को सलाह दी है, कि अपने पुत्र वा पुत्री को किस प्रकार का परामर्श, कामीय वासना के विषय मे,देना चाहिये। संक्षेप से, उस का आशय यह है—"जवान लड़के, इस दारुण विश्व-युद्ध के समय मे, फौज मे भर्ती हो कर, देश के बाहर जा रहे हैं; फिर लौटेंगे, या नहीं? कौन जानता है? किन्ही स्त्रियों से उन को,उन से किन्ही स्त्रियों को, स्नेह प्रीति है; विदा होने के पहिले, एक बार, मन भर के मिल भेंट लें; बस, 'पेटिङ्', petting, स्पर्शन, आश्लेषण, चुम्बन से बढ़ते बढ़ते, मैथुन की अंतिम क्रिया भी निष्पन्न हो जाती है, लजाते खिसियाते एक दूसरे से विदा होते हैं। यदि कन्या को गर्भ रह गया, तो उस के लिए तरह तरह की महा मुसीबत; प्रायः गर्भस्राव कराना पड़ता है; पुरुष तो अक्सर भूल ही जाते हैं। [जैसे क्षुद्र-प्रकृतिक कामुक दुष्यन्त, अपनी क्षणिक वासना को तृप्त कर के, सीधी सादी शकुन्तला को भूल गया]। इन हेतुओं से, लड़कियों को 'पेटिङ्' से,पुरुषों के 'लाड़ प्यार' से, बहुत डरते बचते रहना चाहिये। सच्चा प्रेम, युवा और कुमारी को, जिन का शील व्यसन मिलता हो, परस्पर, अवश्य करना चाहिये; पर सच्चे प्रेम मे तो रतिवासना कम, प्रीतिवासना ही अधिक रहती है; एक दूसरे के लिये आदर की भावना, एक दूसरे की शुद्धता, पुण्यता, 'वर्चू', virtue, को अखण्डित बनाये रहने की इच्छा अधिक रहती है। जो कुमारी अपने शरीर को, सहज मे, पुरुष के वश हो जाने देती है, उस कुमारी का तिरस्कार, वह पुरुष ही, करने लगता है, और, अवसर रहते भी, उस से विवाह नहीं करता; समझता है कि 'यह तो बहुत सस्ती है'। जहां परस्पर आदर नहीं, वहां परस्पर प्रीति स्थायी नहीं, परस्पर विश्वास नहीं, कुलीनता की मान-मर्यादा का गौरव नहीं।"

इतना और कहा जा सकता है कि कौमार्य, 'वर्जिनिटी', virginity, का हरण करने वाला पहिला प्रसंग, स्त्री पर भी, पुरुष पर भी, सदा के लिये, अच्छा या बुरा असर, प्रभाव, संस्कार वा विकार, डाल देता है,

मे, दिवालिये के धन के ऐसी, खर्च न हो जाय एक दूसरे का रस समाप्त न हो जाय, परस्पर नवीनता सदा बनी रहे—यही तीसरा अङ्ग है।

तदेव रूपं रमणीयतायाः, क्षणे क्षणे यत् नवतां विभर्त्ति। (माघ)
जगति मिथुने चक्रौ एव स्मरऽागमपारगौ,
नवम् इव मिथः सम्भुञ्जाते वियुज्य वियुज्य यौ;
सततम् अमृताद् एवऽाहाराद् यद् आपद् अरोचकम्,
तद् अमृतभुजां भर्त्ता शम्भुर् विषं बुभुजे विभुः। (नैषध)

'चकवा-चकई ही काम-शास्त्र, स्मरऽागम, के पार पहुँचे हैं, उस के मर्म को जानते हैं; कि प्रति दिन, संध्या मे बिछुड़-बिछुड़ कर, सवेरे, एक दूसरे के लिये, पुनः नये हो जाते हैं। नित्य-नित्य अमृत पीते पीते ऊब कर, शिव जी ने हालाहल, मनफेर के लिये, पी लिया। रमणीयता का मर्म यही है कि प्रति क्षण नई जान पड़े, नित्य नई दिखाय।'

परस्पर शील बनाये रहने के लिये आवश्यक है, कि यह भाव दूर कर दिया जाय कि पुरुष स्वामी और स्त्री दासी; पुरुष मालिक और स्त्री मिल्कीयत जायदाद, पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य-परिग्रह; पुरुष इष्टदेव, स्त्री भक्त उपासिका; नर उच्च, नारी नीच। दुर्भाग्यवश, इधर सैकड़ो, स्यात् सहस्रो, वर्ष से, भारतवर्ष मे, तथा अन्य देशो मे भी, यह भाव फैला हुआ था और है। अब यह पाश्चात्य देशो मे इस तेज़ी से बदल रहा है, कि दूसरी आत्यन्तिक कोटि तक उस के बहक जाने का भय उत्पन्न हो रहा

चाहे वह बुरा दाग़ हो, चाहे सुन्दर रंग हो; एक प्रकार का 'इन्फेक्शन', infection, चाहे बीमारी का, चाहे तन्दुरुस्ती का। यदि वैवाहिक प्रीति पूर्वक कौमार-हरण है, तब तो सुसंस्कार है, समस्त जीवन पर उत्तम रंग चढैगा. आरोग्य स्वास्थ्य का ही परस्पर संक्रमण होगा। अन्यथा, शरीर मे भी कोई विकार, और चित्त पर भीदाग़, स्मृति मे कांटा, लग जायगा। "यन् नवे भाजने लग्नः, संस्कारो नऽन्यथा भवेत्।" पर हां, भूल चूक के बाद भी, दूसरे स्त्री पुरुष से भी प्रीति हो, विवाह हो, परस्पर विश्वास हो, और पुरानी भूल का प्रख्यापन और पश्चात्ताप हो, तो नया गाढ़ा प्रेम, पुराने विकार को भी दबा मिटा सकता है।

है। स्यात् इस का ही रूपक, तन्त्र के ग्रन्थों मे, यह किया है, कि शिव तो शव के ऐसे पृथ्वी पर पड़े हैं, और नग्नप्राय, खड्गधारिणी, मुंडहस्ता काली, उन के ऊपर पैर रख कर खड़ी हैं। यह दोनों आत्यन्तिक भाव, आर्ष काल मे नहीं थे; अथवा यों कहना चाहिये कि, उपलभ्य आर्ष ग्रंथों के सात्त्विक अंशों मे नहीं देख पड़ते हैं। सत्य और आर्य भाव, जो, अनुमानतः, आर्ष काल मे था, उस को फिर से हृदय मे धारण करना और फैलाना चाहिये; अर्थात्, यदि पति स्वामी तो पत्नी स्वामिनी, पति देव तो पत्नी देवी, नर आर्य तो नारी आर्या। देवों और महापुरुषों के नामोच्चरण मे, अधिक आदरार्थ, देवा का नाम पहिले और देव का पीछे अब भी लिया जाता है, यथा लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश्वर, सीता-राम। उस भाव का उत्तम सूचक रूपक तो, शिव-पार्वती की अर्ध-नारीश्वरता है। भागवत मे कहा है, कि स्त्री और पुरुष परस्पर, तुल्य रूप से, भोग्य, और बंधन मे डालनेवाली माया के रूप, हैं। महाभारत मे, पुरुषसार, अत्युदार, प्रवीर, आजीवन अच्युत ब्रह्मचारी, भीष्म पितामह ने कहा है कि, व्यभिचार जब होता है तब "नर एव-ऽपराध्यति"; पुरुष का ही दोष अधिक होता है। इन बातों को ध्यान मे रख कर, जहाँ जहाँ, अच्छे ग्रन्थों मे भी, ऐकपाक्षिक नारी की निन्दा या भोग्यता के सूचक शब्द हों, वहाँ पाठ को शोध देना चाहिये। यथा, उदाहरणार्थ, भर्तृहरि के श्लोक,

शम्भु-स्वयम्भु-हरयो (हरिणेक्षणानां) ऽपि च, तत्स्त्रियश्च,
येनाऽक्रियन्त सतत (गृहकर्मदासाः) गृहदासदास्यः,
वाचाम् अगोचरचरित्रपवित्रिताय,
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय।
द्रष्टव्येषु किम् उत्तमं, (मृगदृशां) जगति, हे!, प्रेमप्रसन्नं मुखं;
घ्रातव्येषु अपि किं, तद्ऽास्यपवनः; श्रव्येषु किं, तद्वचः;
किं स्वाद्येषु, तद्ओष्ठपल्लवरसः; स्पृश्येषु किं, तत्तनुः;
ध्येयं किं, नवयौवनं, सहृदयैः, (च सततं) सर्वत्र तद्विभ्रमः।
दम्पत्योः परस्परमिति।

विरक्ति और निवृत्ति की अवस्था मे, दोनो प्रकार के शरीरों की समान बीभत्सता भी, पृ० ३५६ पर कही जा चुकी है।

वैवाहिक सुखसाधन के प्रकरण के अंत मे, पुनरपि यह कहना चाहिये कि, संसार के और मनुष्य के द्वंद्वात्मक स्वभाव से उत्पन्न, यदि दैववशात् कभी पति-पत्नी के बीच मे सौमनस्य के ठिकाने वैमनस्य, किसी हेतु से, आ ही जाय, तो अपने अपने चित्त के क्षोभ के शमन के लिए, परस्पर पाणिग्रहण के समय की, पवित्र वैदिक मंत्रों से की हुई (पृ० ३१४-३१६) प्रतिज्ञा को याद करना चाहिये, और यह ध्यान मे लाना चाहिये कि केवल अपनी ही रुचि ने नहीं, किंतु माता-पिता ने, साक्षी देवताओं ने, भी, यह सम्बन्ध जोड़ा है, और दोनों को एक दूसरे के साथ बाँधा है; और उन का अनादर होगा, उन के वात्सल्य को पीड़ा होगी, यदि यह वैमनस्य और अमर्ष बढ़ा, और परस्पर सम्मर्श, सहिष्णुता, निर्वाह, सौमनस्य, सौशील्य, न स्थिर किया गया।[1]

१—परन्तु, "मुण्डे मुण्डे मतिर् भिन्ना", "भिन्नरुचिर् हि लोक"। कुछ तबियतदार लोगों का कहना है कि 'वह स्त्री पुरुष कैसे, जिन को कभी क्रोध नहीं आया, जो कभी आपस मे लड़े नहीं? वह तो मिट्टी के पुतले हैं! दूध पीते बच्चे भी छैला जाते हैं, खुशामद चाहते हैं, और उनको मनाना ही पड़ता है! जिस ने सारी उमर ऊख का पतला रस ही चूसा, कभी खट्टा तीता नमकीन कड़ुआ कसैला चक्खा ही नहीं, उस को चीभ का स्वाद और जिन्दगी का रस क्या मालूम? और क्रोध आवै और दबाता ही रहै, तो बीमार ही हो जाय! इसलिये, जान-दार, जीवन वाले मियां-बीवी कभी कभी आपस मे लड़ भी लेते हैं, एक दूसरे पर क्रोध निकाल देते हैं, और फिर खूब मेल कर लेते हैं!' जरूर, यह भी एक पक्ष है! समन्वय यों होता है, कि जिन पति-पत्नी की प्रकृति मे, रजस्-तमस् की मात्रा किंचित् बहुत नहीं, अधिक हो, उन के लिये यह प्रकार भी ठीक है। सात्त्विक प्रकृति के लिये मूल में कहा प्रकार उचित है। देखिये रीडर्स डाइजेस्ट, मई, १९४४, Have a good marital quarrel' 'फाणितेषु मरिच-अवचूर्णना" !

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते, न (केवलं)इच्छयाऽऽत्मनः;
तां साध्वीं बिभृयात् नित्यं,देवानां प्रियमाचरन् । (मनु० ६,६४)

आर्य जीवन मे, आर्य सभ्यता शिष्टता मे, 'काम' नामक पुरुषार्थ का, 'अर्थ' और 'धर्म' नामक पुरुषार्थों से अभेद्य सम्बन्ध है ; अतः, -'सौशील्य' के साथ, विधवा-विवाह और विधुर-(विभार्यक)-विवाह पर भी विचार होना उचित है । आज काल, जिस 'व्यक्ति-वाद', 'वैयक्तिकता', 'व्यक्ति-स्वाधीनता', प्रातिस्विकता, प्रात्येकिकता, ('इंडिविजुअलिज़्म', 'इंडिविज्युएलिटी', 'फ्रीडम आफ दि इंडिविजुअल', individualism, individuality, freedom of the individual) की लहर बह रही है. उस पर आरूढ़ व्यक्तियों की दृष्टि से, प्रत्येक स्त्री पुरुष के स्वच्छंद आहार विहार के हक़ मे, अधिकार मे, कोई बाधा होना उचित नहीं है । इस दृष्टि से, ऐसे विवाहों का कोई नियमन नियंत्रण नहीं होना चाहिये; बल्कि 'फ्री-लव', 'free-love', स्वच्छंद-'मुक्त'-अनवरुद्ध-'काम' का (यथा 'वाम-मार्गियों' मे) पोषण होना चाहिये । परन्तु, प्रतिपक्ष यह कहता है, कि कोई भी व्यक्ति सर्वथा 'स्व-तंत्र' नहीं है; केवल अपने बल से ही नहीं जीता; समाज के बल से भी जीता है; इस से, समाज का, देव-ऋषि पितृ-ऋण-रूप त्रिविध ऋण में, ऋणी है; इस लिये, यह प्रश्न केवल वैयक्तिक दृष्टि से ही नहीं देखा जा सकता; सामाजिक सामूहिक दृष्टि से भी देखना आवश्यक है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और तज्जनित संतान,यह समाज का बीज है,मूल है; जड़ है। अतः, दोनो पक्षों पर विचार करने से यह निष्कर्ष होता है, कि विधवा और विधुर का विवाह न होना, वा कम होना, अच्छा है; विशेष कर ऐसे स्त्री वा पुरुष का, जिस को पहले विवाह से संतान मौजूद है । इस से, मनुष्य-संख्या की अति-वृद्धि रुकैगी: और विधवा और विभार्यक को, परार्थी सामाजिक कार्यों मे शक्ति लगाने का सुअवसर मिलैगा: ऐसों को समझना चाहिये, कि भाग्य ने वानप्रस्थता हम को दे दी, चाहे प्राकृतिक समय से पहिले ही । सब को सब सुख ही सुख मिलै—यह न कभी हुआ और न होगा; एक सुख के साथ, एक दुःख, वैयक्तिक भी और सामाजिक भी, लगा ही है । कुछ

लोगों को, परार्थ के लिये, त्याग करना ही पड़ेगा, और पड़ता ही है। सांसारिक विषय, किसी न किसी दिन, अवश्य ही हम को छोड़ देंगे, और तब उस को हम दुःख मानेंगे: तो यदि, हम ही, अपनी आज्ञा से, उन को हटा दें, छोड़ दें, तो बहुत शोभा है,बहुत शांति का आनन्द मिलेगा।

> अवश्यं यातारः, चिरतरं उषित्वाऽपि, विषयाः:
> वियोगे को भेदः,त्यजति न मनो यत् स्वयं अमून् ?
> व्रजन्तः स्वातंत्र्याद्, अतुलपरितापाय मनसः;
> स्वयं त्यक्ताः हि एते, शमसुखं अनन्तं विदधति। (भर्तृ०)

'मनुष्य कितने भी वर्ष जीयै, एक न एक दिन सब विषय उस को छोड़ कर चले ही जायगे। तब फिर, हे मन!, तू स्वयं ही इन को, उचित समय पर, क्यों नहीं छोड़ देता ? वियोग तो होना ही है ; क्या दो प्रकार के वियोगों मे कुछ भेद है ? हां, बडा भेद है; यदि तेरी इच्छा के विरुद्ध, तुझे छोड़ कर वे चले गये, तो तू रोता ही रहेगा, अनंत परिताप भोगेगा; यदि तू स्वयं, अपनी इच्छा से, उन को दूर कर दे,तब तू सदा ही हँसता ही रहैगा, और अनन्त शांतिसुख पावैगा।'

अपनी ही बुद्धि से, स्व वशता से,अपनी स्वार्थ-सुखेच्छाओं का दमन करना, और यह समझ लेना कि भाग्य ने, पूर्व कर्म ने, परमेश्वर ने, आपत् के रूप मे संपत् दिया है, अनुग्रह किया है, परार्थ मे लग कर पाप-क्षय और पुण्य-संचय का अवसर दिया है—यह उन व्यक्तियों के लिये भी, और उन के समाज के लिये भी, अच्छा है; पृ०८६-६० पर परीक्षित और नारद की कथा देखिये। समाज उनका आदर करेगा और वे समाज काभला करैंगे: इस परस्पर चित्त-सम्बन्ध का आनन्द कम नहीं है।

परन्तु, यदि इतना क़ाबू (वशिता) अपनी तबियत पर नहीं ही हो, यदि इतना सत्त्व अपनी प्रकृति मे न हो, रजस्-तमस् कुछ अधिक हो, तो प्रायः समवयस्क विभार्यक और विधवा का परस्पर पुनर्विवाह होना कथंचिद् अनुमंतव्य है। उन की निन्दा न की जाय, पर उतना आदर भी नहीं जितना सर्वजनीन समाज-सेवी विधवा और विधुर 'वनस्थों' का।

(ङ) गर्भस्थान—कामशास्त्र के ज्ञानांग मे गर्भाशय का, गर्भऽधान से

प्रसव तक की गर्भ और गर्भिणी की परिवर्तमान दशाओं का: गर्भरक्षण के उपायों का; प्रसवोपयोगी सामग्री का; तथा सूतिकागृहचर्या का; स्थूल रूप से, सर्वसाधारणोपयोगी, वर्णन रहना चाहिये। पुराणो मे रूपक कहा है,और हिन्दूजनता मे विश्वास फैला हुआ है, कि गर्भ मे,जीव, पिछले जन्मो में अनुभव की हुई, अपनी चौरासी लाख योनियों की याद करता है, जिन को पार कर के मनुष्य-योनि मे आया है; और परमात्मा से अपराध-क्षमापन और प्रार्थना करता है, कि 'अब फिर पाप न करूंगा, इस आवागमन से, इस गर्भरूप कारागृह से, हथकड़ी-बेड़ी बंधन से, नरक से, छुड़ाइये; मुक्ति दीजिये'। पाश्चात्य विज्ञान ने अद्भुत परिश्रम से यह सिद्ध किया है, कि सचमुच मानवभ्रूण, चतुर्विध भूतग्राम के, (जिन मे सब, लाखों की संख्या मे, अवान्तर योनियाँ अन्तर्गत, विभक्त, राशी-कृत, हैं), मुख्य मुख्य लाक्षणिक ('टिपिकल') रूपों की, नौ-दस महीने मे उद्धरणी कर जाता है। पहिले (पृ० १६५) लिख चुके हैं कि, जन्म के पीछे भी,दो तीन वर्ष मे यह उद्धरणी करता है। उस से भी अधिक सूक्ष्म और सविशेष रीति से, गर्भाशय के भीतर उद्धरणी करता है। कुछ सप्ताहों तक बुद्बुद् कलल के रूप मे, जैसे उद्भिज्ज भ्रूण (embryo) का, फिर मछली के भ्रूण का, फिर सरी-सृप के, फिर पशु के, फिर वानर के, फिर स्वलक्षण नर के भ्रूण का,आकार धारण करता है। यह एक निदर्शन मात्र है, कि कैसे वेदों पुराणो के वैज्ञानिक और ऐतिहासिक, आधिदैविक और आधिभौतिक,अंशों की व्याख्या,बिना पाश्चात्य विज्ञान की सहायता के, अब ठीक ठीक हो नहीं सकती। इस देश से वह आवश्यक ज्ञान लुप्त हो गया है। एवं पाश्चात्य ज्ञान को भी बद्धमूल और(मनुष्य-घातक,मनुष्य-अपकारक, नहीं) मनुष्य उपकारक, मनुष्य-पालक, होने के लिये, अभी भी यत्-किंचित् उपलभ्यमान्, भारतवर्ष के प्राचीन अध्यात्मज्ञान, की, नितान्त आवश्यकता है। स्यात् इसी इच्छा से, परमात्मा, जगदन्तरात्मा, ने, दोनो का, भारतभूमि मे, सम्मेलन किया है। पर मानवप्रकृति के दोष से, यदि एक ओर कुछ लाभ इस मिश्रण से हुआ है, तो दूसरी ओर बहुत हानि भी होती देख पड़ती है; दोनो जातियां, एक दूसरे के दोषों का अधिक,

गुणो का कम, ग्रहण करती हैं। परन्तु,

"यत्ने कृते, यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषो"
यत्नेऽभवद्, भृशम् इदं तु विचारणीयम्;
निश्चित्य तच्च, यतितव्यम् अहो पुनश्च,
यावद् भवेन् न खलु तोषकरी इष्टसिद्धिः।

ऐसी कहावत है कि, 'यदि किसी ने यत्न किया, पर फल सिद्धि नही हुई, तो (उस का) क्या दोष ?': पर नहीं; कहावत का अर्थ यों लगाना चाहिये कि, 'क्या दोष, यत्न मे,हुआ, जिस के कारण सिद्धि नहीं हुई'-- इस को विचार कर के, और निश्चय कर के, उस दोष को दूर कर के, पुनः यत्न करना चाहिये, जब तक इष्ट की सिद्धि न हो ।

इस सम्बन्ध मे विविध जन्तुओं के भ्रूणो के परिवर्त्तन की कथा,कथा-सरित्सागर और अलिफलैला से बहुत अधिक मनोहर हैं। कई कीट पतंग ऐसे हैं जो परभृत (कोकिल) से परभृतता मे कहीं अधिक बढ़े हुए हैं। एक प्रकार की बिलनी को एक षष्ठ कर्मेन्द्रिय होती है, नालीदार पोली सुई के रूप मे, ('ओवी-पोजिटर', ovi-positer), जिस से वह दूसरे, अपने से बडे, कीट के चर्ममांस मे छेद कर के, उसी नाली द्वारा, अपना अंडा रख देती है, और अंडा फूटने पर, भ्रूण, आस पास के उसी चर्ममांसादि को खा कर पुष्ट होता है, फिर निकल कर उड़ जाता है। एक चाल की टिड्डी होती है,('सेवन्टीन-इयर लोकस्ट',seventeen-year locust),जिस के भ्रूण सत्रह वर्ष तक पृथ्वी के बिलों मे, गुफाओं मे, पडे रहते हैं, फिर एक दिन अनगिनत करोरों की तादाद मे निकल कर उड़ने फिरते हैं, और थोडे ही दिनो मे हरियाली का भारी आहार संहार कर के, और नये अंडे दे के, नष्ट हो जाते हैं। एक ऐसा कीट है जिस का भ्रूण, घास पात के साथ, बकरी आदि के पेट मे हो कर, उस की आंत मे परिपुष्ट होता है, और तब पुरीष के साथ निकल कर अपना स्वतन्त्र अल्पकालिक जीवन बिताता है। एक प्रकार का मेढक दक्षिण अमेरिका मे होता है, जो मण्डूकी से निकले भ्रूणो को अपनी पीठ पर, अपने मुख के लसदार रस से, चपका कर, इधर उधर घूमता रहता है,

जब तक वे पुष्ट और स्वतन्त्र हो कर अलग न हो जायं। कोई कीट पतंग ऐसे होते हैं जिन में केवल स्त्रीलिंग होता है, और उन्हीं से बच्चे होते हैं ('पार्थेनो-जेनेसिस', partheno-genesis); किन्हीं पशुओं को, यथा कुत्ती, शूकरी, आदि को, छः छः, आठ आठ, स्तन होते हैं, और एक एक प्रसव मे इतने इतने बच्चे भी होते है। इस सब के कारण भी खोजे गये हैं। विविध प्रकार की मछलियों, दंश, मशक, मक्षिकाओं, के गर्भाशयों और भ्रूणो और जन्म के बाद के रूप-परिवर्तनो की कथा नितान्त रोचक है। आर्ष उपनिषदों तक मे 'मधुकर-राजानं उत्पतंतं अनु उत्पतंति, निविशंतं अनु निविशंति, मधुमक्षिकाः', लिखा है। संभव है कि यह पंक्ति क्षेपक हो। योगभाष्यकार(व्यास-नामक)ने, इसी मूल की नकल करते हुए, अपने योग-सिद्धि-विषयक प्रमातृत्व, प्रामाणिकत्व, को शंका मे डाल दिया है। अर्वाचीन शारीरक-भाष्य कार शंकराचार्य आदि ने भी इसी पंक्ति की यदि नकल की तो क्या आश्चर्य है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने, सूक्ष्मेक्षक यंत्र ('मैक्रास्कोप', microscope) के अखंड्य बलवत्तम प्रत्यक्ष प्रमाण से, सिद्ध किया है कि, यहां 'मधुकर-राजानं' नहीं, 'मधुकर-राज्ञीं' कहना चाहिये। दूसरी बड़ी भूल जो सैकड़ों वर्ष की परम्परा से, वेदान्त-विषयक संस्कृत ग्रन्थों मे, चला आ रही है, वह 'भृंगी-कीट-न्याय' की है। शंकर आदि ने लिख दिया है कि, जब भृंगी कीड़े को पकड़ कर, मिट्टी के खोंते मे रख कर, खोंते का मुंह मिट्टी से बन्द कर देती है, तब वह कीट, भृंगी का ध्यान करते करते तन्मय और तद्रूप हो जाता है, और फिर खोंते को फोड़ कर उड़ जाता है; और, ऐसे ही, जीवात्मा को, भक्ति ध्यान के बल, परमात्मरूप हो जाना चाहिये। यहां उपमेय तो शुद्ध है, पर उपमान अशुद्ध है। कीड़ा, भृंगी नहीं बन जाता; बल्कि, भृंगी के अडे पहिले से उस खोंते मे दिये रहते हैं, और अंडों को फोड़ कर, निकल कर, उस के भ्रूण, उस कीड़े के शव को खा कर, पर (पंख) निकाल कर, खोंता तोड़ कर, उड़ जाते हैं। पाश्चात्य ग्रन्थों मे ऐसा पढ़ कर, मै ने स्वयं इस का प्रत्यक्ष अनुभव किया। एक बड़ी, चमकते हुए हरे रंग की, बिलनी को, एक लम्बा, रेंगने वाला, कीड़ा पकड़े हुए, उड़ती देख पड़ी;

उस के पीछे पीछे, उस के मिट्टी के खोंते तक मैं पहुंचा। जब खोंते मे उस कीड़े को ठूंस कर बिलनी उड़ गई, तब छुरी से खोते को, सम्हाल कर, मै ने काटा, और उस मे चार अंडे बहुत बारीक, छोटे चावल के ऐसे, बिना सूक्ष्मेक्षक यंत्र के भी आंखों से देख पड़ते हुए, देखे। शुद्ध उपमान यह है कि, कुछ प्रकार के कीड़े ('कैटर-पिलर') रेंगते रेंगते, किसी पेड़ के पत्ते पर पथरा जाते हैं, फिर फूलते हैं, आकार परिवर्तन कर के, चांदी ऐसे चमकते अंडे, जामुन के छोटे बीज के परिमाण के, हो जाते हैं, और, कुछ दिनो के बाद, अंडा फोड़ कर, उस मे से वितली के रूप मे उड़ जाते हैं। इस को भी मै ने स्वयं, कई दिनो तक, ताक और अनुसंधान मे रह कर, देखा है। अंग्रेजी मे इन तीन अवस्थाओं को 'कैटर-पिलर—क्राइसेलिस—बटरफ्लाइ', caterpillar chrysalis butterfly, कहते हैं। ऐसे ही तीन रूप-परिवर्तन मच्छड़ के होते हैं, जिन को 'लार्वा—प्यूपा—मास्किटो', larva-pupa-mosquito, कहते हैं। मच्छड़ के अंडे पानी पर दिये जाते हैं, और तेल की फांफी ऐसे, झुण्ड मे, तैरते रहते हैं, पानी को दूषित करते हैं, और बीमारी फैलाते हैं।

ऐसी गवेषणाओं का खजाना, पाश्चात्य शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी और वैद्यक-सम्बन्धी साहित्य मे भरा है। उस के बल से, पुराणो की कितनी ही अद्भुत बातें समझ मे आने लगती हैं और श्रद्धेय हो जाती हैं, जिन पर पहिले बुद्धि नहीं जमती थी। यथा, याज्ञिक चरु के भोजन से गर्भाधान; उपस्थेन्द्रियों के स्थान पर, कान से, आंख से, नाक से, मुंह से, बांह से, जांघ से, माथे से, चैतन्याधिष्ठित अहंताऽऽत्मक जीवऽऽविष्ट, अपने शरीर के एक खंड का, अपने शरीर से विसर्जन; या (जैसा महाभारत मे, उपरिचर-वसु की, और व्यास की माता सत्यवती के मछली के उदर से जन्म की, कथा मे) पुरुषवीर्य को, बिना साक्षात् स्त्री से संयोग के, दूर भेज कर गर्भाधान, इत्यादि। पश्चिम मे परीक्षा द्वारा सिद्ध किया गया है कि मनुष्यों मे भी, और पशुओं मे भी, नरवीर्य, कृत्रिम पिचकारी द्वारा, नारीगर्भाशय मे पहुंचा देने से भी, गर्भाधान हो जाता है; इत्यादि। रूस देश मे, पशुओं की

नस्ल को उत्कृष्ट करने के लिए, यह अंतिम प्रकार अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है; उत्तम नर-पशुओं के वीर्य, दूर दूर तक, उत्तम नारी-पशुओं के लिये भेजे जाते हैं।

सृष्टि करने वाली परमात्मा की माया के अकांड-तांडव, स्वच्छन्द-नृत्य, को, विनय, भक्ति, पूजा के भाव से देखने के लिए, और स्त्री-पुं-संयोग, तथा गर्भाधान, गर्भरक्षा, आदि को, केवल कामदृष्टि से नहीं, अपि तु धर्मदृष्टि से भी, देखने के लिए, इस प्रकार के, इस विषय के, ज्ञान को प्रजा मे बढ़ाने फैलाने का प्रयोजन है। यों तो, विधेयैः क्रीडंत्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः; अनन्त प्रकार की लीला क्रीड़ा के लिये, असंख्य प्रकार के उपकरणो, साधनो, विधेयों की निरन्तर नित्य नई रचना करने वाली, सर्वप्रभु परमात्मा की शक्तियों का पूरा ज्ञान, कब किस को संभव है ?

(च) पारदारिक, और (छ) वैशिक—

"रोगो, रोगहेतुः, रोगहानं, रोगहानोपायः, इति चतुर्व्यूहं चिकित्सा-शास्त्रं;" रोग, रोग का हेतु, रोग से मुक्ति, रोग से छूटने का उपाय—चिकित्सा शास्त्र के ये चार अङ्ग हैं; इन चारों का सविशेष सविस्तर ज्ञान तो चिकित्सक वैद्य आयुर्वेदाचार्य को होना आवश्यक है; पर सभी स्वस्थ जनो को, अपने को और अपने आश्रितों को रोगों से बचाने के लिये, इन चार का सामान्य ज्ञान होना उपयुक्त है। एवं, यामिकों(पुलिस),सैनिकों, को, शस्त्र-अस्त्र चालन की तरकीबों का, और बदमाशों, चोरों, लुटेरों, दस्युओं, विविध प्रकार के पापियों और अपराधियों की चालों का, विशेष ज्ञान आवश्यक है; पर सभी साधु ('साह') गृहस्थों को, अपने और आश्रितों के जान माल की रक्षा करने के लिये, उन तरकीबों और चालों का सामान्य ज्ञान उपयुक्त है। ऐसे ही, सद्‌गृहस्थों को, अपने दारा-अपत्यों की रक्षा के लिये, दुराचारी, व्यभिचारी, समाजध्वंसकारी पारदारिकों और वेश्या-विटों के चरित्र का भी सामान्य ज्ञान अपेक्षित है। इस विषय के ज्ञान का भी, पाश्चात्यों ने, नयी खोज से, 'सैकालोजी आफ़ सेक्स', 'हिस्टरी आफ प्रास्टिटयूशन', 'सैकोपेथिया सेक्सुऐलिस', 'पैथालोजी आफ

सेक्स', 'लाइफ आफ अवर टाइम',[1] आदि नाम के, महाभारत सदृश बृहदाकार, अथवा उस से भी बडे, बहुतेरे ग्रंथों मे महासंग्रह किया है। वात्स्यायन ने जो इस विषय मे लिखा है उस की चर्चा आगे की जायगी।

यहाँ पर यह चेतावनी दे देना आवश्यक है कि,पारदारिक,पारपुरुषिक, व्यभिचार के सम्बन्ध मे, स्त्रियो की ही निन्दा करने की अति क्षुद्र, अति दुष्ट, अति अनार्य, प्रथा, इस देश मे प्रचलित है, तथा पश्चिम के देशों मे भी कुछ काल पहिले तक थी। इस का हेतु केवल इतना ही है, कि प्रायः पुरुषों के हाथ मे लेखनी रही है, और वे पुरुष, इस विषय मे, प्रायः क्षुद्र-बुद्धि रहे। प्रत्यक्षसिद्ध है कि अकेले स्त्री व्यभिचार नहीं कर सकती; जब व्यभिचार होगा, तो कम-से-कम एक स्त्री और एक पुरुष, दो मिल कर, व्यभिचार करेंगे। भीष्म के उदार वाक्य की चर्चा, इस सम्बन्ध मे, अन्यत्र की जा चुकी है।

एवं स्त्री नऽपराध्नोति, नर एवऽपराध्यति।
व्युच्चरंश्च महादोषं, नर एवऽपराध्यति;
नऽपराधोऽस्ति नारीणां, नर एवऽपराध्यति;
सर्वकार्येऽपराध्यत्वात्, नऽपराध्यति चाऽङ्गना।

(शांति पर्व, अ० २७२)

'पुरुष ही अपराध करता है, स्त्री नही; पुरुष ही घोर महा दुष्ट व्यभिचार करता है; स्त्रियाँ तो सदा अपराध्य हैं, अपराधक नहीं; उन के ऊपर पुरुष अपराध करते हैं; पुरुष ही अपराधक हैं।'

शारीरक-भाष्य के कर्त्ता शङ्कराचार्य ने, अपनी माता को भूल कर, ('मोहमुद्गर' नाम की) 'प्रश्नोत्तरी' मे लिख दिया, "द्वारं कि एकं नरकस्य ? नारी !"; इस का अर्थ क्या लगाया जाय,कि उन की माता ने, उन के ऐसे 'क्षुद्रः नरः नर-कः' को जन्म दिया ? भागवत के स्कं० ३,

1—Psychology of Sex; History of Prostitution; Psychopathia Sexualis; Pathology of Sex; Life of Our Time; etc.

अ० ३१ मे, अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हुए, कपिल महर्षि ने, दोनो पक्ष निष्पक्षता से कहे हैं; नर के लिये नारी, तो नारी के लिये नर, तुल्य रूप से, परमात्मकृत माया के बन्धन हैं;

> यां मन्यते पतिं मोहात् मन्मायां ऋषभायतीं,
> स्त्रीत्वं स्त्रीसंगतः प्राप्तो, वित्तऽपत्यगृहप्रदां,
> तां आत्मनो विजानीयात्, पति अपत्य-गृहाऽत्मकं,
> दैवोपसादितं मृत्युं, मृगयोः गायनं यथा ।

'स्त्री का ध्यान करते करते, स्त्रीत्व को प्राप्त(जीव),पति का रूप धरे हुए मेरी माया को, घर-धन-संतान देने वाला सुखदायक पति समझती है; यह नहीं समझती कि यह तो मेरी मृत्यु का, महा दुःख का, कारण है, जैसे व्याध, बहेलिया, मधुर संगीत से हरिण को लुभा कर, मार डालता है'। उक्त 'प्रश्नोत्तरी' मे यह पंक्ति बढ़ा देनी चाहिये,

> द्वारं द्वितीयं खलु तस्य ना, वै ।

('नृ' शब्द का, प्रथमा मे, एक वचन 'ना' होता है, जिसका अर्थ 'नरः' है)। इस 'प्रश्नोत्तरी' मे बहुत सी बातें अच्छी-अच्छी भी लिखी हैं; पर स्त्री के सम्बन्ध मे कई बार ऐकान्तिक अनुचित शब्द आये हैं,यथा— "संमोहति एव सुरा इव का ? स्त्री"; "किम् अत्र हेयं ? कनकं च, कान्ता"; "विज्ञात् महाविज्ञतमोऽस्ति को वा ? नार्या पिशाच्या न च वंचितो यः"; "ज्ञातुं न शक्यं च किम् अस्ति सर्वैः ? योषिन्मनो, यत् चरितं तदीयं"; "विश्वासपात्रं न किमस्ति ? नारी"; "त्याज्यं सुखं किं ? स्त्रियमेव सम्यक्"; "किं तद् विषं भाति सुधोपमं ? स्त्री"; इत्यादि। पर एक बार, यह सब लिखते-लिखते, शंकर को अपनी माता की याद आ ही गई; तब यह भी लिख दिया—"माता इव का या सुखदा ? सुविद्या ।" वराह मिहिर ने, 'बृहत्संहिता' के 'स्त्री प्रशंसा' नामक ७४ वें अध्याय मे लिखा है,

> येऽपि अंगनानां प्रवदंति दोषान्, वैराग्यमार्गेण, गुणान् विहाय,
> ते दुर्जनाः, मे मनसो वितर्कः; सद्भाववाक्यानि न तानि तेषां ।
> प्रब्रूत सत्यं, कतरोऽङ्गनानां दोषोऽस्ति यो नऽाचरितो मनुष्यैः ?
> धार्ष्ट्येन पुंभिः प्रमदाः निरस्ताः; गुणाधिकाः ताः;मनुनाऽत्र चउक्तं,

सोमस्तासां अदात् शौचं, गंधर्वाः शिक्षितां गिरं,
अग्निश्च सर्वभक्षित्वं, तस्मान्निष्क समाः (निःकल्मषाः) स्त्रियः;
ब्राह्मणाः पादतो मेध्याः, गावो मेध्यास्तु पृष्ठतः,
अजऽश्वाः मुखतो मेध्याः, स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वतः;
स्त्रियः पवित्रं अतुलं, नैताः दुष्यंति कर्हिचित्,
मासि मासि रजो यासां दुष्कृतानि अपकर्षति;
जामयो यानि गेहानि शपंति अप्रतिपूजिताः,
तानि, कृत्या-हतानि इव, विनश्यति समन्ततः ।[1]

'जो पुरुष, वैराग्य का रूप ला कर, स्त्रियो के गुणो को भूल, दोष ही दोष बताते हैं, वे दुर्जन हैं; स्त्रियो का कौन सा दोष है जो पुरुषो मे नही है ? यह तो पुरुषों की ढिठाई मात्र है, जो स्त्रियों का तिरस्कार करते हैं;

१—माधवकृत 'शंकर-दिग्-विजय' नाम के ग्रन्थ मे, शङ्कर और मडन मिश्र के 'शास्त्रार्थ', वा 'विवाद', का वर्णन किया है। अभद्र शब्दों मे एक दूसरे को गालियां दीं। तौ भी, मंडन की ही बातें अधिक जंचती हैं; मनु के अनुसार हैं। शंकर की उक्तियां बहुत कच्ची हैं, मनु के चातुराश्रम्य धर्म के सर्वथा विरुद्ध हैं। और जो आचरण शङ्कर ने स्वयं किया; मंडन मिश्र की भार्या शारदा से सत्रह दिन 'शास्त्रार्थ', विवाद, जल्प, वितंडा किया; उस के बाद, अमरु राजा के काय मे प्रवेश कर के उन की रानियों के साथ मैथुन किया; पीछे, 'मंत्रों से बांधकर', शारदा को ले जा कर, शारदा-मठ मे 'स्थापित' किया; (इन कथाओं का जो भी अर्थ लगाया जाय, उन के भक्त अनुयायियों ने तो इस को भी योग-विभूति योग-सिद्धि का ही रूप दे दिया है !); इस सब से, शंकर की उक्तियों की स्वतो-व्याहतता, तथा 'मनसि अन्यद्, वचसि अन्यत्, कर्मणि अन्यत्', का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। कश्मीर के शारदापीठ मे, शङ्कर ने, 'सरस्वती देवी' के अभियोग पर, कि 'तुम दुराचारी व्यभिचारी हो', जो उत्तर दिया, वह भी उन वाक्यों के सर्वथा विपरीत है जो उन्होंने मंडन मिश्र से कहा। मंडन के आगे शंकर ने जब स्त्रियों की और गार्हस्थ्य की निन्दा की, तब मंडन ने कहा,

हर तरह से स्त्रियां पुरुषों से अच्छी हैं; स्वयं मनु जी ने कहा है, "चंद्रमा ने स्त्रियों को शुचिता दी, गंधर्वों ने मीठी बोली, अग्नि ने सब पदार्थों को

स्थितोऽसि योषितां गर्भे, ताभिरेव विवर्धितः,
अहो ! कृतघ्नता, मूर्ख !, कथं ताः एव निन्दसि।

'स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए हो, स्त्रियों ने तुम को पाला पोसा है, उन्हीं की निन्दा करते हो ! कैसी मूर्खता, कैसी कृतघ्नता है !' यही बात, बहुत पहिले, वराह मिहिर ने कही थी। शङ्कर ने जो अभद्र, अश्लील, 'वितंडा-निग्रहस्थान-छल-जाति-हेत्वाभास' आदि से पूर्ण उत्तर दिया, उस को भी, माधव का ही लिखा हुआ, देखिये—

यासां स्तन्यं त्वया पीतं, यासां जातोऽसि योनितः,
तासु, मूर्खतम ! स्त्रीषु पशुवद् रमसे कथं ?

यह भी कोई उत्तर हुआ ? मंडन ने शङ्कर से यह नहीं कहा था कि 'तुम अपनी माता से ही विवाह कर लो !'। मंडन से जो उत्तर, माधव ने, दिलवाया है, वह दृढ़ नहीं है; कैसे होता ? माधव तो शङ्कर के भक्त थे। स्यात् ठीक होता यदि यह उत्तर दिया जाता,

न अहं वदामि यद्, विद्वन् !, उद्वह स्वां तु मातरं;
भार्यायाश्च, जनन्याश्च, विवेकं कर्तुं अर्हसि।
अन्यथाऽऽलिंग्यते कांता, अन्यथाऽऽश्लिष्यते सुता।
न अरंस्यत भवन्मात्रा सार्धं यदि भवत्पिता,
न उदपत्स्यत वै, जातु, भवान् एवं कुशाग्रधीः !

'पत्नी के साथ पति के वेद-विहित रमण की भी निन्दा करते हो, तो ज़रा विचारिये, यदि आप के पिता ने आप की माता के साथ रमण न किया होता, तो आप ऐसे कुशाग्र बुद्धि वाले पुरुष कैसे पैदा होते !' शङ्कर ने अच्छे भी ग्रन्थ लिखे, कुछ लोगों का विश्वास है कि कापालिक, वज्रयानिक, वाम-तांत्रिक, आदिकों का दमन करा के, 'जीविका-कर्मणा वर्णाः' के अनुसार, वर्णाश्रम व्यवस्था का, भ्रष्ट अवस्था से, जीर्णोद्धार भी किया; यह सब कार्य अवश्य प्रशंसनीय है; पर जब अन्ध-भक्त लोग, श्रद्धा-जड़ हो कर, अपने 'इष्ट देव' के दोषों को भी गुण कहने लगते हैं, तब उन को रोकना

शुद्ध करने की शक्ति;इस लिए स्त्रिया(निष्क के)सोने के ऐसी निष्कल्मष हैं। सच्चे ब्राह्मणों के पैर, मेध्य (मेधावर्धक) होते है, (प्रणाम से प्रसन्न होकर, द्विज, उत्तम सद्ज्ञान देते है); गाय का पिछला भाग (दूध देने से) मेध्य है; बकरे और घोडे का मुख भाग शुद्ध है; सती स्त्री सर्वांग मेध्य हैं। स्त्रियो से यदि कोई दुष्कर्म हो भी जाय, तो (चद्रमा के प्रभाव से) प्रति मास के आर्तव से वह धुल जाता है; जिस घर को पीडित स्त्रिया शाप देती हैं,वह मानो बिजली का मारा, तुरन्त नष्ट हो जाता है। (इन चार अनुष्टुप् श्लोको मे से अन्तिम तो प्रचलित मनुस्मृति मे मिलता है; अन्य तीन, वराह मिहिर के समय की मनु की प्रति मे रहे होगे; पीछे लुप्त हो गये; अत्रि स्मृति मे, कुछ पाठ भेद से, अब भी मिलते हैं)। मनु के उद्धरण के बाद, वराह मिहिर पुनः अपना मत लिखते है,

> जाया वा, जनयित्री वा, सभवः स्त्रीकृतो नृणां;
> हे कृतघ्नाः !, तयोर् निंदां कुर्वतां वः कुतः सुखं ?
> दम्पत्योः व्युत्क्रमे दोषः समः शास्त्रे प्रतिष्ठितः;
> नराः न तं अवेक्षन्ते; तेन अत्र वरं अगनाः;
> अहो धाष्टर्यं असाधूनां, निन्दतां अनघाः स्त्रियः,
> मुष्णतां इव चौराणां, 'तिष्ठ चौर' इति जल्पतां।

'पत्नी रूप से, माता रूप से, स्त्री से ही पुरुषों का जन्म होता है; स्त्री की निन्दा जो पुरुष करते हैं, उन को कही सुख नहीं मिल सकता। सत् शास्त्र से सिद्ध है, और प्रत्यक्ष है, कि व्यभिचार मे स्त्री और पुरुष, दोनों आवश्यक होता है; अन्यथा, यशस्वी आदमी के दोष दिखाने मे, किसी भले आदमी को सुख नहीं हो सकता।

> सभा वा न प्रवेष्टव्या, वक्तव्यं वा समंजसं;
> अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी। (मनु)

'सभा मे जा कर, प्रश्न के उठने पर, यदि मनुष्य चुप रह जाय, वा जान-बूझ कर अनुचित उत्तर दे, तो वह किल्बिषी होता है।' अन्धश्रद्धा फैलने देने से जनता की बडी हानि है।

ही तुल्य रूप से दोषी होते हैं; पुरुष अपना दोष तो देखते नहीं; स्त्रियों को ही दोष लगाते हैं; अहो धृष्टता इन की ! जैसे चोरी कर के भागता हुआ चोर पुकारता है, 'पकड़ो चोर !, भागा चोर !' ।

मनुजी ने, ऊंचे-उदात्त शब्दों से, सती स्त्रियों की प्रशंसा की है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवताः,
यत्रैतास्तु न पूज्यंते, सर्वास्तत्र अफलाः क्रियाः ।
पितृभिर्भ्रातृभिश्च एताः पतिभिर्देवरैस्तथा,
पूज्याः भूषयितव्याश्च, बहु कल्याणं इप्सुभिः ।
प्रजनार्थं महाभागाः पूजाऽर्हाः गृहदीप्तयः;
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ।
संतुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च,
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवं ।

'जहां नारियों का आदर है, वहां देवता रमते हैं; जहां नहीं, वहां सब क्रिया, सब यत्न, सुख के लिये, निष्फल होते हैं। पिता, भाई, पति, देवर, सब को इन की पूजा करना चाहिये, भूषण आच्छादन देना चाहिये; तभी सब कल्याण उन को मिलेंगे। गृह की दीप्ति, प्रकाश, रौशनी, चमक, शोभा, स्त्रियों से ही है; स्त्री मे और श्री मे कोई भेद नहीं; प्रजा का पैदा होना और पलना, सब तीनो ऋणों का शोधन, सब सुख, इन्हीं से है; जिस कुल मे भार्या-भर्त्ता परस्पर संतुष्ट हैं, वहां ही स्वर्ग है ।'

देवल स्मृति, अत्रि संहिता, अत्रि स्मृति, बृहस्पति, वसिष्ठ, बौधायन, पराशर (माधव) आदि स्मृतियों मे, बलात्कार से दूषित स्त्रियों की शुद्धि के लिये, सरल प्रायश्चित लिखे हैं ।

संस्कृत भाषा, इस अंश मे, अब अ-संस्कृत ही है, कि उस मे 'कुलटा' और 'पुंश्चली' ऐसे शब्द हैं, और 'कुलटः' और 'स्त्रीचलः' नहीं हैं; होने चाहियें। १६१५ ई० मे, मै वृन्दावन गया था; एक विशेष सम्प्रदाय वाले वृद्धप्राय कृष्णभक्त 'गोशाईं' जी ने, राधा और कृष्ण के प्रेम की चर्चा उठाई; मै ने पूछा, राधा का नाम तो, भक्ति-ग्रन्थों के चूड़ामणि-भूत ग्रन्थरत्न श्रीमद्विष्णु भागवत मे नहीं आता है, राधा-

कृष्ण का जप गान क्यों होता है ? रुक्मिणी ने क्या पाप किया है जो रुक्मिणी-कृष्ण का ध्यान मान नहीं होता ? उन्हों ने कहा कि, प्रेम की परा काष्ठा जैसी पर-पुरुष से होती है वैसी स्वकीय से नहीं; मैं ने पूछा, तो फिर रुक्मिणी के ही साथ किसी पर-पुरुष का ध्यान आप क्यों नहीं करते हो ? इस पर वे सज्जन, कानो पर हाथ रख कर, 'हरे' हरे' कहते हुए, चले गये। मद्रास प्रान्त मे तो प्रायः विष्णु की, वा लक्ष्मी-नारायण, की, उपासना होती है, कृष्ण की नहीं; महाराष्ट्र देश मे भी, कृष्ण और रुक्मिणी की पूजा है, राधा की नहीं। हाँ, राधा और कृष्ण को, बहिन भाई की, या बाल सखा-सखी की, दृष्टि से देखे तो उचित है; पर-पुरुष पर-स्त्री आदि भाव, अधार्मिक और निंद्य हैं। क्यों ऐसे अधार्मिक सम्बन्ध से प्रेम की 'परा काष्ठा' का आभास जान पड़ता है, क्यों वह मिथ्या और दोष-युक्त है, यह अन्यत्र ('दि सायंस आफ़ दि इमोशन्स' The Science of the Emotions मे) कहा गया है। इसी यात्रा मे, एक अन्य 'गोस्वामी' जी ने भी यही प्रसंग उठाया; संस्कृत के विद्वान् थे; मैं ने उन से भी वही प्रश्न किया। शुक ने, राजा परीक्षित् को जो उत्तर दिया था, वही उन्हों ने मुझ को सुनाया,

ईश्वराणां वचः सत्यं, तथैव आचरितं क्वचित् ;
तेजीयसां न दोषाय, वह्नेः सर्वभुजो यथा।

तुलसीदास जी ने भी इस का अनुवाद कर दिया है,

समरथ को नहिं दोस, गुसाईं !,
रवि पावक सुर सरि की नाईं।

'बड़े तेज वाले ईश्वर लोगों की आज्ञा, उपदेश, आदेश, सच्चा होता है, मानने योग्य होता है; उन का सब आचरण अनुकरणीय नहीं होता।'

मैं ने गोस्वामी जी से कहा था कि, परीक्षित ने शंका की, कि रास-लीला मे कृष्ण ने पराई स्त्रियों का स्पर्श किया, सो यह तो पाप किया; धर्म के संस्थापन के लिए अवतार लिया और स्वयं अधर्म किया,

स कथं धर्मसेतूनां कर्त्ता, गोप्ता, अभिरक्षिता,
जुगुप्सितं वै कृतवान्, परदाराभिमर्शनं ?

परीक्षित ने निश्चयेन इस सब रासलीला आदि को अधर्म माना; और शुक ने जो उत्तर दिया, उस से स्वयं शुक को ही संतोष नहीं था, यह स्पष्ट जान पड़ता है; परीक्षित को कैसे होता ? ठीक उत्तर इस का पद्मपुराण मे विष्णु के मुख से ही कहलाया है,

ईश्वरैः अपि भोक्तव्य कृतं कर्म शुभाशुभं ;
(आभीराः मत्स्त्रियो जह्रुः, यथाऽभीरीः अदूषयं ;
शापाः अपि अवतारेषु प्रायशः सति कारण) ।

ईश्वरों को भी अपने शुभ-अशुभ कर्मो का फल भोगना ही पड़ता है, कृष्ण के शरीर छोड़ने के बाद उन की सोलह हज़ार स्त्रियां को आभीर उठा ले गये; इत्यादि । गोस्वामी जी यह सब सुन कर अप्रसन्न हुए, पर विचारने भी लगे । याद रखने की बात है, कि अवतारों का, अन्य कारणो के साथ साथ, एक कारण शाप भी अक्सर होता है । इसी यात्रा मे, एक वृद्ध चौबे जी ने, मुझे बहुत रोचक और शिक्षाप्रद इतिवृत्त सुनाया । अंग्रेजा अमलदारी जमने के पहिले, आगरा, मथुरा, वृन्दावन आदि प्रान्त मे, भरतपुर के जाट राजा का अधिकार रहा; राजा के पास शिकायत गई, कि वृन्दावन के एक 'गोस्वामी' जी चीरहरण लीला के बहुत शौकीन हैं, और भक्तों की बहू बेटियों को भ्रष्ट करते हैं । राजा स्वयं वृन्दावन आये; गोस्वामा जी को बुलाया; पूछा; उत्तर मिला 'हम तो कृष्ण-स्वरूप हैं; । हम को इस का अधिकार है' । 'तो फिर गोवर्धन लीला भी कीजिये' । आनाकानी करने लगे, 'इस समय आवश्यक अन्य कार्य है, फिर आऊँगा' । सिपाहियों को आज्ञा हुई, 'इन से गोवर्धन लीला अभी कराओ ।' एक लकड़ी से बाँध कर, हाथ उठवा कर, गोस्वामी जी खड़े कर दिये गये, और पचीस मन की चट्टान उन के ऊपर चढ़ाई गई । इहलोक की सब लीला यहीं विस्तार कर गोस्वामी जी परलोक चले गये । बहुत वर्षों तक उस प्रान्त मे चीरहरण लीला बंद रही ।

वेश्याओं के विषय मे भी ऐसी ही तामसी विपरीत बुद्धि प्रसृत है; वेश्या ही को गाली दी जाती है । वेश्या की निन्दा करना तो ठीक ही है, पर विटों की निन्दा भी, और उस से अधिक, करनी चाहिये । पुरुष यदि

वेश्याओं की खोज न करें, तो महाकुत्सित समाजभयकारी यह रोज़गार पैदा ही क्यों हो ? यदि यह ठीक है कि,

वेश्या नाम महावह्निः, रूप-इन्धन-समऽाचिता,
कामिभिर् यत्र हूयंते, यौवनानि धनानि च;

तो यह और भी ठीक है कि,

विटाः नाम वकाः घोराः, ये बालाः हरिणीर् इव,
दन्तैर्विदार्य रुदतीर्, भक्षयन्ति सहस्रशः ।

भर्तृहरि ने दोनो का समुच्चय किया है,

कः चुम्बति कुलपुरुषः वेश्याऽधरपल्लवं, मनोज्ञम् अपि,
चार-भट-चौर-चेटक-नट-विट-निष्ठीवन-शरावम् ?

'रूप के ईंधन से धधकती ज्वाला का नाम वेश्या है; कामुक अपना धन और यौवन उस मे स्वाहा करते हैं । विट हुँड़ार भेड़िये हैं, जो हरनी के ऐसी बालाओं को फाड़ कर खा जाते हैं । गोइन्दे, चोर, सिपाही, खि़दमतगार, नट, विट आदि की पीकदानी के ऐसे, वेश्या के मुख को, कौन भला आदमी चूम सकता है ?' जो पुरुष स्वयं दुष्ट भ्रष्ट हैं, वे ही इन के पास जाते हैं । संचारी रोगों का भय ऊपर से ।

कैसे कैसे व्याघ्र-निष्ठुर उपायों से फ़ुसला कर, बहँका कर, लुभा कर, झूठे इश्तिहारों विज्ञापनो द्वारा, नौकरी की आशा झूठी दिला कर, अबोध लड़कियाँ फँसाई जाती हैं; और तन-मन नष्ट कर के 'चकलों' की वेश्या वृत्ति की दहकती आग मे झोंक दी जाती हैं; इस का रोमांचकारी, हृत्कम्पकारी, वृत्तान्त, पश्चिम तथा पूर्व देशों के 'ह्वाइट स्लेव ट्राफिक', White Slave Traffic, के ग्रन्थों से, तथा विविध गवर्मेन्टों, और 'लीग आफ़ नेशन्स', League of Nations, की रिपोर्टों से जान पड़ता है । बम्बई के एक ऐसे 'चकले' की यमयातनाओं का हाल, लिखा जा चुका है (पृ० २३२-२३४) । जो हिंस्र पशु, दूसरे जीवों को मार कर खा जाते हैं, वे इन 'चकला' चलाने वालों के मुक़ाबिले दया की मूर्ति हैं । इस का वर्णन भी कामशास्त्र के सर्वाङ्ग ग्रन्थ मे होना चाहिये; जिस से सद्‌गृहस्थ को ऐसे कर्मो से भारी घृणा हो, और वह सावधान रहे

कि स्यात् उस के नगर मे भी कोई ऐसा भयङ्कर कारखाना चल रहा हो। हे भाई ! जो वेश्याओं की ओर मन उठाते हो ! ज़रा इस को जानो कि वेश्या कैसे बनती हैं; और फिर इस तस्वीर को अपनी भीतरी आँखों के सामने लाओ, कि आप ही की बहिन-बेटी को कोई मनुष्य-रूपी अजगर, अपने फंदों मे लपेट कर, निगल जाने का यत्न कर रहा है।

स्वर्ग और नरक के बीच का पर्दा बहुत ही पतला है; प्रांयः जितना ही बड़ा नगर होता है, उतने ही अधिक, ऐसे घोर, दारुण, 'भैरवी-चक्र' (चकले) वहां होते हैं। कोमल हृदय मे शूल गाड़ने वाले, इस सच्चे जीते दारुण करुणाजनक नाटक की ओर, जिस ने एक बार ध्यान किया, करुणा रस के नाटक आदि की बनावटी कल्पना देखने की इच्छा उस की मर जाती है; 'मन-बहलाव' के लिए इन को देखना, यह उस की समझ से बाहर हो जाता है। अन्य रसों के नाटक चाहे ठीक हों, पर करुण रस का 'नाटक' करना, यह तो जगन्माता जगत्त्राता करुणा देवी को बनावटी नटी और वेश्या बना डालना है। करुणा-शक्ति को सदा सच्चे दुःख के, सचमुच दूर करने मे, लगाना चाहिये; झूठे दृश्य देख कर 'करुणा' का 'स्वाद' लेना, और उस 'रसास्वादन' पर साहित्यिक नाज़-नख़रे करना, यह चित्त का घोर दूषण, तामसीकरण, मल से लेपन है।

पुराणो मे रूपक है, कि ब्रह्मदेव को एक समय क्रोध हुआ, और उन की आँखों से क्रोधाश्रु और शरीर से क्रोधस्वेद निकला, और ये अश्रु के और स्वेद के बिन्दु, एक एक, महा व्याधि हो गये; अब पाश्चात्य विज्ञान ने प्रत्यक्ष सिद्ध किया है, कि क्रोध, शोक, ईर्ष्या आदि दुष्ट पीड़ाकर भावों से, विविध प्रकार के रोगकारी 'विष', 'टाक्सिन्स', toxins, शरीर मे पैदा हो जाते हैं। व्याभिचारिक-काम-सम्बन्धी विविध दुष्ट क्षोभों से अवश्य यही होता है; यहां तक कि बिना संक्रमण के भी, स्वतः, व्यभिचार से पूर्व नीरोग भी, स्त्री-पुरुष के शरीरों मे, 'सिफिलिस', 'गोना-र्हिया', गर्मी, सूजाक, आदि के विष-कीट उत्पन्न हो जाते हैं। पुराणो मे कथा है, अहल्या से व्यभिचार करने के बाद इन्द्र को सहस्र व्रण हो गये; इस रूपक से यह बात सूचित की गई है। इस लिए सब चतुर्वर्ण, चतुरा-

श्रम, के अन्तर्गत सभी स्त्री-पुरुषो को सदा याद रखना चाहिये कि आदि प्रजापति भगवान् मनु ने यह चेतावनी दी है,

नहि ईदृश अनायुष्यं लोके किंचन विद्यते,
यादृश पुरुषस्य इह परदारोपसेवनम्। (मनु)

पारदारिक या पारपुरुषिक या वैशिक (वेश्या सम्बन्धी) व्यभिचार, जैसा प्राण-क्षय-कारक आयुः-क्षय-कारक, अनायुष्य, है, वैसा अन्य कोई कार्य नहीं। (वेशेन जीविकां करोति, इति वेश्या; वेश, भूषा, लुभावनी बना कर, जो जीविका कमावै वह वेश्या)।

मृगया, अक्षः, दिवा स्वप्नः, परिवादः, स्त्रियः, मदः,
तौर्यत्रिकम्, वृथाऽट्या च, कामजो दशको गणः।
पैशुन्यं, साहसं, द्रोहः; ईर्ष्या, असूया, अर्थदूषणं,
वाग्-दंड-जं च पारुष्यं, क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः।
द्वयोर् अपि एतयोः मूलं, यं सर्वे कवयो विदुः,
त यत्नेन जयेल् लोभं; तज्जौ एतौ उभौ गणौ।
(मनु, ७-४७,४८,४९)

'अति 'काम' से दस दोष उत्पन्न होते हैं, मृगया,द्यूत, दिन मे भी सोना, दूसरों का परिवाद (मिथ्या भी बुराई करना), व्यभिचार, मद्य, नाच, गाना, बाजा, व्यर्थ घूमना फिरना। दूसरों के मर्म का उद्घाटन, साहस के अनुचित कार्य, द्रोह, ईर्ष्या (दूसरों के गुणो की बात न सहना), असूया (दूसरों के गुणो मे भी दोष दिखाना), दूसरों के धन का अपहरण, वाक्-पारुष्य, दंड-पारुष्य, ये आठ दोष अति क्रोध से उत्पन्न होते हैं। आर्ष कवियों ने, अति लोभ को इन दोनों का मूल बताया है, विशेष कर राजा और शासनाधिकारी के लिये; जो लोभ को जीतैगा, वह प्रायः इन दोनो को भी जीतैगा'। यह मनु ने, विशेष कर राज-धर्म की दृष्टि से, राज-धर्म के प्रकरण मे कहा; सामान्य धर्म की दृष्टि से, काम-सामान्य ही सब विकारों का मूल है। आज-काल, 'सिनेमा' और 'थियेटर', व्यभिचार के शिक्षा-गृह हो रहे हैं। अति 'काम' से, 'काम' का निग्रह न कर सकने से,मरण हो जाता है; वात्स्यायन ने कामसूत्र मे लिखा है,

दश तु कामस्थानानि । चक्षुःप्रीतिः, मनःसंगः, संकल्पोत्पत्तिः, निद्राच्छेदः, तनुता, विषयेभ्यो व्यावृत्तिः, लज्जाप्रणाशः, उन्मादः, मूर्छा, मरणं, इति तेषां लिंगानि (पारदारिक अधिकरण. अ० १) ।

'काम के दस स्थान (दर्जे, काष्ठा) हैं; आँख मिलना, मन लगना, संकल्प (निश्चित इच्छा) होना, निद्रा-भंग, शरीर सूखना, अन्य किसी व्यवहार मे मन न लगना, लज्जा का नाश, उन्माद, मूर्छा, मरण ।'

पारदारिक व्यभिचार के सम्बन्ध मे यह चेतावनी विशेष लागू है, पर सब ही अनियंत्रित 'काम' इस के घेरे के भीतर आता है ।

इतना लिख कर, कामशास्त्र के ज्ञानांग की रूप रेखा के उत्किरण को समाप्त करता हूँ ।

अब रसाङ्ग का उल्लेख किया जाता है ।

रसाङ्ग

२—रसाङ्ग मे,

(क) वधू-वर के परस्पर आश्वासन विश्वासन, अनुरंजन, प्रणय-वर्धन, अनुकूलन, कामोद्दीपन, और शरीरसंयोग के उपायों और प्रकारों का वर्णन होना चाहिये । इस विषय मे भारतवर्ष को, पाश्चात्य ज्ञान से, कुछ लेने पाने की आवश्यकता प्रायः नहीं है । स्यात् पश्चिम को ही पूर्व से कुछ मिल सकता है । एकचारिणी पतिव्रता पत्नी की चर्या का जो कुछ वर्णन कामसूत्र मे किया है, वह सब उत्तम और प्रायः निर्दोष है । उस के सदृश, और उसी मात्रा मे, एकचारी पत्नी-व्रत पति की चर्या का वर्णन नहीं है; होना चाहिये । बहुभार्यक गृहस्थों के विषय मे जो कामसूत्र मे लिखा है वह, सात्त्विक दृष्टि से, निन्दनीय ही है; और क्या, एक प्रकार का व्यभिचार ही है । बहुविवाह के दोष पहिले कहे जा चुके हैं । आदि काव्य रामायण मे ही ये दोष चित्रित हैं; दशरथ के बहुविवाह के दोषों से ही राम जी को आपत्तियां झेलनी पड़ीं; उन का अनुभव कर के ही राम जी ने एक पत्नीव्रत का धारण किया । इन के दोषों के सम्बन्ध मे यहाँ अधिक लिखने का प्रयोजन नही ।

मैथुन के अष्टाङ्ग, पृ० २६३ पर सूचित किये; स्मरण, कीर्त्तन, केलि,

प्रेक्षण, छिपी बातचीत, सङ्कल्प, निश्चय, और शरीर-सम्मेलन; अन्तिम के आठ अवांतर अङ्ग, काम-सूत्र मे कहे है—"आलिंगन-चुम्बन-नखच्छेद्य-दशनच्छेद्य-संवेशन-सीत्कृत-पुरुषायित-औपरिष्टकानां अष्टानां अष्टधा विकल्प-भेदाद् अष्टौ अष्टकाः चतुःषष्टिः इति बाभ्रवीयाः," (२-२-५); इन आठ मे भी एक एक के आठ आठ भेद कर के, काम शास्त्र की एक और विशेष चौ-सट्ठी होती है, जो पहिले कही चतुःषष्टि कला वा विद्या से भिन्न है। इन मे अधिकांश राजस-तामस अनार्य हैं; उन का ओर न जाना ही अच्छा है। उदाहरणार्थ, 'सीत्कृत' मे अंतर्गत 'प्रहरण' के सब प्रकार महा बीभत्स हैं; तथा, नखकर्म, दन्तकर्म, औपरिष्टक, मुख-मैथुन, प्रायः सभी; 'संवेशन' के अंतर्गत चित्ररत मे पशुओं की 'लीलाओं' और चेष्टाओं और आसनो का अनुकरण (—वृष, कुक्कुर, हरिण, मेढ़ा, बकरा, गर्दभ, बिडाल, व्याघ्र, हस्ती, शूकर, घोटक, इत्यादि का उदाहरण, काम-सूत्र मे दिया है; यूथशः मैथुन भी कहा है—) महा घृणाऽऽस्पद है; ऐसे मैथुन से जो सन्तान होगी, वह भी प्रायः तत्तत् पशुवत् होगी। घोटक-मुख नामक ग्रन्थकार, जिन का नाम वात्स्यायन ने प्राचीन ग्रन्थकारों मे गिना है, स्यात् अपने पिता माता की 'घोटक लीला' के मैथुन से ही जन्मे होगे। वात्स्यायन के बड़े दोषों मे एक प्रधान दोष यह है, कि ऐसी बीभत्स क्रियाओं के वर्णन के साथ, विधिलिङ् के शब्दों का प्रयोग किया है, यथा, "यत्र-यत्र योगोऽपूर्वः तत् तद् उपलक्षयेत्," "रञ्जयेयुः," "अनुतिष्ठेयुः", 'अपूर्व योगो का अनुभव करैं', 'परस्पर रंजन करैं,-'इन प्रकारों का अनुष्ठान करैं'; इति प्रभृति। अ-योनि मैथुन (गुदा-मैथुन, मुख-मैथुन), वि-योनि मैथुन (पशुओं के साथ मैथुन), तृतीया-प्रकृति-मैथुन, यूथ-मैथुन,आदि की जो चर्चा वात्स्यायन ने की है, उस के सम्बन्ध मे भी यही घोर अपराध किया है; चाहिये था कि इन का तीव्र निन्दायुक्त वर्जन करते, पाठकों को मना करते, कि इन घृण्य क्रियाओं को मत करना; अन्यथा, मूत्रपान और विष्ठाभोजन भी 'अपूर्व योगों' के अनुभव के लिये करने की सलाह देते; जैसा 'अघोरी पंथ' के महापतित जीव करते ही हैं।

जैसे मैथुन के अष्टाङ्ग के सर्वथा विपरीत, प्रकार मे भी और फल मे

भी, योग के आठ अङ्ग हैं; वैसे ही, योग के 'आसन' नामक अङ्ग के अवांतर भेद, ८४, जिन मे अधिकांश पशुओं के अनुकरण हैं, प्रकार और फल मे विपरीत और भिन्न हैं; मैथुन के आसनो मे दो की, स्त्री और पुरुष की आवश्यकता है; योग के आसनो मे, एकाकिता की; एक का फल है पशुभाव की पुष्टि; दूसरे का, दिव्य भावों की तुष्टि। मैथुन के अष्टांग और योग के अष्टांग के बीच मे, नवधा भक्ति के, नवांग, नौ अंग पड़ते हैं;

श्रवणं, कीर्तनं, (विष्णोः) स्मरणं, पाद-सेवनम्,
अर्चनं, वंदनं, दास्यं, सख्यं, आत्मनिवेदन।

श्रवण को स्मरण के अंतर्गत समझें तो भक्ति भी अष्टांङ्ग हो जाती है; ऐसा ही सात्त्विक भक्ति (प्रीति, अनुराग, प्रियता, हार्द) का अंश, सात्त्विक पति-पत्नी की मिथुनता मे, जोड़े मे, अधिक होना चाहिये।

अष्टांग मैथुन के सम्बन्ध मे, कामसूत्र मे भी, अष्टम अंग के कुछ अवांतर भेदों के विषय मे कहा है, कि यह अनार्य हैं; विगीत निन्दित हैं; प्रामाणिक ग्रन्थ में इस विषय पर कुछ विस्तार होना चाहिये; यह बताना चाहिये कि ये-ये प्रयोग सात्त्विक हैं, ये राजस, ये तामस।

कामचेष्टा मात्र ही तामस है, आध्यात्मिक दृष्टि से;

तमसो लक्षणं कामः; रजसस्तु अर्थः उच्यते;
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः, श्रैष्ठ्यं एषां यथोत्तरम्।
सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्;
एतद् व्याप्तिमद् एतेषां सर्वभूतऽश्रितं वपुः। (मनु)

इन शब्दों के अर्थ का, और तीनो गुणों के तात्त्विक स्वरूप का, तथा नित्य अनुभव मे आते हुये आकारों का, विवेचन, विस्तार से, अन्यत्र किया गया है[1]; यहां इतना कहना पर्याप्त है, कि तीनो मे किट्टांश और प्रसादांश दोनो हैं; तथा स्वतः कोई गुण किसी दूसरे से भला या बुरा नहीं है; तीनो का एक दूसरे से सदा अभेद्य सम्बन्ध और परस्पर आश्रय है। सुप्रयोग से प्रसादांश, दुष्प्रयोग से किट्टांश, देख पड़ता है। शिव-शिवा तमःप्रधान, विष्णु-सरस्वती सत्त्वप्रधान, ब्रह्मा-लक्ष्मी

१—'दि सायंस आफ पीस', The Science of Peace, मे।

रजःप्रधान देवता हैं। शिव-शिवा अर्ध-नारीश्वर, विष्णु लक्ष्मी भिन्न लिंग, और गिरा-द्रुहिण निर्लिंग, विवाहित जोड़े, ("गिरामाहुर्देवीं द्रुहिण-गृहिणीम् आगमविदो"), कैसे हुए, इस की कथा, तथा रूपकों के रहस्यार्थ का सूचन, देवी-भागवत मे है। एव, काम यद्यपि तामस है, तौ भी इस मे, अवान्तर भेद से, सात्विक काम, राजस काम, तामस काम होते हैं। साहित्य-शास्त्र मे नायक नायिका के जो स्वभाव-भेद कहे हैं, वे इस स्थान पर भी उपयुक्त हैं। धीर, उदात्त, ललित, मधुर, गम्भीर, उदार आदि सात्विक गुणों से विभूषित जो नायक-नायिका पति-पत्नी हैं, उन के प्रयोग भी, सम्भोग के अवसर मे, 'चुम्बन', 'आलिंगन' आदि, तदनुकूल होंगे। जो प्रचण्ड, दृप्त, उद्धत, राजस हैं, उन के 'दन्त-नख-आदि' कर्म राजस होंगे। जो मायावी, शठ, ग्राम्य, अनार्य, तामस हैं, उन के 'प्रहणन 'औपरिष्टक' आदि तामस। 'जैसे भाव, स्त्री-पुरुष के चित्त मे, काम-क्रीडा के समय मे, रहेंगे, वे ही अपत्य के चित्त मे प्रधान हो जायंगे;

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद् दोषः उत्कटः,
प्रकृतिः जायते तेन, (अपत्यस्य; अनुगमो हि अयं)।
(सुश्रुत, शारीरस्थान)।

गीता मे कहा है,

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजति अंते कलेवरं,
तं तं एव एति, कौंतेय, सदा तद्भावभावितः।

'अंतकाल मे, शरीर को छोड़ कर, इस लोक से परलोक को जाने के समय, जो भाव जीव के चित्त मे, अधिक रहता है, वही, दूसरे जन्म मे, उस का प्रधान भाव होता है। तथा, जिस भाव का, नित्य नित्य, सच्चे हृदय से, आवाहन और अभ्यास किया है, वही भाव प्राय: अंत समय प्रबल होगा। एवं, संयोग के समय पति-पत्नी का भाव जैसा होता है, उसी भाव को रखने वाला जीव, उस गर्भाधान मे, परलोक से इस लोक मे आता है। तथा, वह जीव भी, कर्मवश, उन संयुज्यमान स्त्री-पुरुष के चित्त मे, अपने चित्त-बल से, अव्यक्त रूप से, अपने अनुरूप भाव को प्रबल करने का यत्न करता है। यह सब आध्यात्मिक, आधि-

दैविक, शास्त्र के रहस्यप्राय सिद्धान्त हैं ।

शुक्र और शोणित के संयोग के, अर्थात् गर्भाधान के, समय, पैत्तिक, वातिक, वा श्लैष्मिक, अर्थात् सात्विक, राजस, वा तामस, जो भाव स्त्री-पुरुष मे बलवान् हों, उन्हीं के अनुरूप गर्भ की प्रकृति होगी; इस हेतु से, बहुत प्रकार की मानव प्रकृतियों का वर्णन, सुश्रुत, आदि चरक, मे किया है । ज्योतिष के जातक ग्रन्थों मे भी यही अर्थ दूसरे संकेतों से दिखाया है, अर्थात् गर्भाधान के मुहूर्त मे जो ग्रह बलवान् होंगे, उन के अनुसार, संतान का स्वभाव, वर्ण, आदि होगा । बृहदारण्यक उपनिषद् मे भी कहा है कि, प्रसंग के समय जैसी वासना स्त्री-पुरुष की हो वैसी संतति होगी; पुराणो मे यही अर्थ, ऐतिहासिक उदाहरणो से प्रकट किया है ।

हे वर-वधू !, यदि अच्छे जीव को अपने कुल मे बुलाना चाहते हो, और कुल का उत्कर्ष करना चाहते हो, तो सात्विक भाव से ही, ऊंची उदार प्रेम-प्रीति से ही, परस्पर स्पर्श करो; नीच, भदेस, पशुवत्, अश्रील, अश्लील, 'होली' के राजस-तामस भावों से नहीं । संस्कृत मे दो धातु हैं, भज और जभ्; इन का बाह्य रूप भी एक दूसरे के विपरीत है, और आंतर अर्थ भी; भजन, भक्ति, का अर्थ प्रसिद्ध है । जभन का अर्थ, पशुवत् मैथुन-कर्म ।

पाश्चात्य देशों मे, विविध द्वंद्वों के प्रत्येक अवयव का अनुभव, अत्यन्त ('एक्स्ट्रीम', extreme) हो रहा है; एक ओर यह पुकार हो रही है, कि आबादी बहुत बढ़ती जाती है, संतान का निरोध करो; दूसरी ओर, यह भय दिखाया जा रहा है कि संतान का अति निरोध, विशेष कर शिक्षित शिष्ट दलों मे, हो रहा है; जिस से वार्षिक संख्या, प्रसवों की, सभ्य राष्ट्रों मे, प्रतिवर्ष, गतवर्ष की अपेक्षा से, कम होती जाती है; और यदि ह्रास; इसी अनुपात से, होता रहा, तो कुछ दर्शकों विंशतिकों मे, नहीं तो कुछ शतकयों मे, राष्ट्र, मनुष्य से शून्य हो जायगे । दोनों आत्यंतिक कोटियों के मध्य का कृत्य, निष्कर्षभूत, वही है जो पहिले कहा; एक जोड़ा दम्पती को एक जोड़ा उत्तम सन्तान हो । पाश्चात्य ग्रन्थों और दैनिक आदि पत्र-पत्रिकाओं के लेखों मे, 'वान्टेड चिल्ड्रेन',

wanted children अभिलषित संतति और 'अन्-वान्टेड चिल्ड्रेन्', unwanted children अन्-अभिलषित संतति, का विवेक कर के, इस विषय पर बहुत कुछ लिखा पढ़ा जा रहा है। भारत मे जल्दी ब्याह, जल्दी बच्चे, जल्दी मौत—यही नियम सा हो रहा है।

जब (१८६८-१९१४ ई) काशी के सेन्ट्रल हिन्दू कालिज का मै अवैतनिक-सेक्रेटरी था, अक्सर लोग, अपने लड़को को ले कर, मेरे पास आते थे और कहते थे, 'यह लड़का आप ही का है, इस को खिलाने-पिलाने पढ़ाने-लिखाने-रोजगार लगाने का प्रबन्ध कर दीजिये, आप ही इस के पिता हैं,' मै दुःख से उन से पूछता था, 'भाई! पैदा करने के लिए आप पिता, और पालने पोसने के लिए मै पिता, यह कैसी बात करते हो?; उत्तर मिलता था, 'यह तो ईश्वर के देन हैं, विवश हो कर मै प्रत्युत्तर देता,'यदि दम्पती को, संतान, ईश्वर के देन है, तो उन की रक्षा-शिक्षा भरण-पोषण का कृत्यधर्म भी उसी दम्पती को ईश्वर का देन है।' अभागे भारत मे, धर्माभासो के प्रचारको के दम्भ से, अपना बोझ, दूसरे के सिर लाद देने की प्रवृत्ति अत्यन्त हो गई है। प्राचीन काल मे,इस मिथ्या धर्म,तामस भाव, के विपरीत, सत्य धर्म, सात्त्विक भाव, का प्रचार बहुत था। पुराण इतिहास मे सैकड़ो उपाख्यान हैं, जिन मे कहा है, कि इन दम्पती ने, ऐसी ऐसी भारी तपस्या की, इस वास्ते (वास्ते) कि हमे ऐसी ऐसी उत्तम संतान हो, और अपने इष्ट देवता-रूप-धारी जगदात्मा अन्तरात्मा से वैसी अभिलषित संतति का वर पाया;

उपवासैः, तपस्याभिः; विविधैश्च व्रतैरपि,
लभन्ते मातरो गर्भान्, मासांश्च दश बिभ्रति। (म०भा०, शां०)

'बहुत व्रत, उपवास, तपस्या, मान-मनौती कर के, स्त्रियाँ गर्भ प्राप्त करती हैं और दस महीने तक, अपने शरीर के भीतर ह, उस का धारण पोषण करती हैं'। तथा, अन्य उपाख्यानो मे यह दिखाया है कि, राजस तामस भावो से जब मैथुन हुआ, तब अनभिलषित दैत्य, राक्षस, आदि उत्पन्न हुए। बृहदारण्यक उपनिषद् मे, मनुस्मृति मे, गर्भाधान-संस्कार की पद्धति मे, वर-वधू को स्पष्ट शिक्षा दी है कि, इस प्रकार के

सात्त्विक भावों और उत्कृष्ट सन्तान की प्रार्थनाओं के साथ, संगम करना चाहिये; तथा यह भी, कि पुं-संतान के लिये ऐसा उपाय, स्त्री-सन्तान के वास्ते ऐसा, ब्राह्मण-प्रकृति वा क्षत्रिय-प्रकृति वा वैश्य-प्रकृति की संतति के लिए ऐसा, उपाय, भोजन आदि, करना चाहिये।

मैथुन के अष्टांग, पृ० २९३ पर कहे; तथा क्रिया-निष्पत्ति के (जिस को संप्रयोग, सुरत, रत, इत्यादि भी कहते हैं), उस के अवांतर अंग अभी ऊपर (पृ० ३८१) कहे। इस के विपरीत, योग के अष्टांग, "यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः" भी, पृ० २९३ पर, कहे। योग समाधि के अवांतर भेद, चार संप्रज्ञात, और दो असम्प्रज्ञात (सबीज और निर्बीज वा कैवल्य) कहे जाते हैं। इन दोनों के बीच में, जमन (रति, रत) के विपरीत, भजन, भक्ति, सात्विक प्रीति, के आठ अंग अभी, पृ० ३८५ पर कहे। पाठक सज्जन इन अष्टकों के अंगों के सामानाधिकरण्य ('कारेसपांडेंस', correspondence) और सादृश्य वैदृश्य पर विचार करें।

एक अन्य बात की ओर भी, इस सम्बन्ध में, ध्यान दिलाना उचित है। वधू-वर को, चित्त मिलने से पहिले, शरीर मिलाने की अति त्वरा नहीं करना चाहिये। कुमारियों को 'हिस्टीरिया', hysteria योषाऽपस्मार; कुमारों को 'एपिलेप्सी', epilepsy पुरुषऽपस्मार; तथा अन्य प्रकार के रोग, heart-disease 'हृद्रोग'; 'न्यूरैस्थीनिया', neurasthenia, दिमाग की कमजोरी, नाडी-दौर्बल्य, 'स्पर्माटोर्हिया' spermatorrhea, शुक्रमेह; ल्यूकोर्हिया, leucorrhea, योनि-द्रव-स्राव; कन्वल्शन्स', convulsions, आक्षेपकं; आदि, अतित्वरा-कृत, वा बलात्कार-जनित, साध्वस से, हो जाया करते हैं। पुरुषों द्वारा कन्यादूषण, स्त्रियों द्वारा कुमारदूषण, यों भी महा-पातक होते हुए, इस कारण से और भी घोर हो जाते हैं। वात्स्यायन ने भी इस विषय मे चेतावनी दी है, और पवित्र प्राचीन वैदिक विधि का हवाला दिया है, कि नव-विवाहित वधू-वर तीन रात्रि तक ब्रह्मचर्य न छोड़ें, परस्पर मन ही मिलावें, फिर तन मिलावें।

वात्स्यायन कामसूत्र(अधिकरण ५, प्रकरण २५)मे लिखा है,"कुसुम-सधर्माणो हि योषितः (कन्याः, नवविवाहिताः), सुकुमारोपक्रमाः ;... प्रसभं उपक्रम्यमाणाः सम्प्रयोगद्वेषिण्यो भवति; (अतः) न प्रसह्य किंचिद् आचरेत्"। 'स्त्रियों की प्रकृति, फूलों-सी कोमल होती है; यदि पति हठ और बल से मैथुन में अतित्वरा करै, तो, यदि रोग नही तो, बधू के चित्त मे, सदा के लिये, मैथुन क्रिया की ओर घृणा और द्वेष हो जाता है।

(ख)तृतिया प्रकृति—इस की चर्चा स्यात् ज्ञानाग मे होना चाहिये था। अथवा, अष्टाग मैथुन से इस का सम्बन्ध है, इसलिये रसाग मे भी होना अनुचित नहीं। यों तो सब विषयो का सब से सम्बन्ध है। तृतीया प्रकृति की चर्चा पृ० २४३-२४४ पर की जा चुकी है।

'तृतीया प्रकृति' शब्द का प्रयोग वात्स्यायन ने कामसूत्र मे किया है, और एक अध्याय मे इस विषय पर बीभत्स 'औपरिष्टक' मैथुन के सम्बन्ध मे लिखा है। शब्द का अक्षरार्थ तो यही है कि, स्त्री-प्रकृति पुरुष-प्रकृति दोनो से भिन्न और अन्य, तीसरी प्रकृति; अंग्रेजी लेखको ने भी 'थर्ड सेक्स' third sex, 'इंटर्मीडियेट सेक्स, intermediate sex, शब्दों का प्रयोग किया है। इस के कई अवांतर प्रकार कहे जा सकते हैं। एक तो, जो न स्त्री और न पुरुष, अर्थात् जिस मे विशेषक व्यावर्त्तक स्त्री चिह्न या पुरुष चिह्न व्यक्त न हो, मूत्र स्थान का छिद्र मात्र हो। इसी के लिए नपुंसक शब्द ठीक होगा। दूसरा अवांतर भेद, पुरुष स्वभाव वाली स्त्री, 'पोटा' जिस मे स्त्री का मुख्य चिह्न तो स्पष्ट हो, पर स्तन नितम्बादि पूर्ण रूप से विकसित न हो, और कुछ पुरुष चिह्न, जैसे श्मश्रु रेखा कूर्च-रेखा आदि देख पड़े। तीसरा भेद, स्त्री स्वभाव वाला पुरुष, भ्रुकुंस, जिस मे पुरुष का मुख्य चिह्न स्पष्ट हो, पर श्मश्रु कूर्च आदि का प्राय: अभाव हो, हड्डियां पतली, पेशियां कोमल, स्वर स्त्रीवत्, इत्यादि हो। चौथा भेद, ऐसे भी पुरुष देखे गये हैं,जिन मे लिंग भी है और भग (छिद्र) भी; तथा पांचवां भेद; ऐसी स्त्री भी, जिन मे भग-छिद्र भी है, और लिंग भी; (सभी स्त्रियों को भग के मुख के ऊपरी भाग. छुन, मे, एक लम्बी पतली मांस की गाठ सी होती है; अंग्रेजी मे इसे

'क्लिटोरिस clitoris, कहते हैं; हिन्दी मे, 'हमारे शरीर की रचना' नामक ग्रन्थ मे, डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा ने, इस को 'भगनासा वा भगांकुर' का नाम दिया है; कामोद्गम से, इस रुधिर भरता है, और यह फूलती है, जैसे पुरुष का शिश्न; किसी-किसी स्त्री मे यह भग-नास बहुत बड़ी और लम्बी होती है, यहां तक कि भग के मुख के बाहर लटकती है, (पुरुष-लिंग सी); ऐसी स्त्रियो को लिंगिनी कहा है।[1] शारीर विज्ञान के पाश्चात्य विशेषज्ञो ने लिखा है कि, पूर्ण रूप से विकसित स्त्री और पुरुष शरीरों मे, सिर से पैर तक प्रत्येक अंश मे भेद देख पड़ता है। यदि एक 'दक्षिण' है तो दूसरी 'वाम'। स्त्री का नाम 'वामा' अर्थपूर्ण है। पृथ्वी पर, जाव सृष्टि के आदि काल के युगों मे, अलिंग और उभय-लिंग सृष्टियो की चर्चा पृ० ३०५-३०७ पर की गई है। यह भी कहा गया है कि मानव जाति मे, स्त्री मे पुरुष के, पुरुष मे स्त्री के, चिह्न भी, अव्यक्त रूप से, अभी भी पड़े हैं। ये उभयलिंग सृष्टि के स्मारक हैं। और क्या, प्रत्येक व्यक्तवर शरीर के भी, दक्षिण और वाम अर्ध मे कुछ न कुछ असमानता रहती ही है। स्यात् ही कोई स्त्री या कोई पुरुष हो, जिस के चेहरे के दाहिने और बायें अर्ध, ठीक-ठीक एक-दूसरे के बिम्ब प्रतिबिम्ब हों। यह सब प्रकृति के हृदय मे बसी हुई द्वंद्वता का कार्य है, जो अव्यक्ति, अर्ध-व्यक्ति से, सृष्टि मे नये नये भेद पैदा करती हैं। तृतीया प्रकृति, और उस के अवांतर भेदों मे भी यही कारण है।

समय समय पर, वार्त्ता-पत्रों मे, विशेष कर पाश्चात्य आयुर्वेद के 'मेगज़ीनो', 'जर्नलो', साप्ताहिक मासिक पत्रों मे, खबर देख पड़ती है कि, अमुक देश मे, अमुक स्त्री को, यौवनप्रवेश के समय, पुरुष-चिह्न विकसित होने लगे, तथा अमुक पुरुष को स्त्री चिह्न; तथा तिर्यग्योनियों मे, जो पहिले कुक्कुट था वह कुक्कुटी हो गई; या कुक्कुटी, कुक्कुट हो गया; इत्यादि। पुराणो की इला-सुद्युम्न, ऋक्षरजा, शिखंडी आदि के लिंग-परिवर्तनो की कथा, इस प्रसंग मे स्मरणीय है। पुंसवन संस्कार का भी आधिदैविक-

१—वात्स्यायन-काम-सूत्र की टीका मे, जो अर्थ इस शब्द का किया है, वह ठीक नहीं है।

आधिभौतिक रहस्य, इन्हीं विचारों और तथ्यों की सहायता से, समझ में आ सकता है।

पश्चिम में इस विषय पर भी, बड़ी खोज कर के, बड़ा साहित्य बन गया है। और ऐसी प्रकृति के लोगों के 'स्नेह-काम' आदि का संग्राहक नाम 'होमो-सेक्सुऐलिटी', homo-sexuality, रख दिया गया है; जैसे भिन्न-लिंग जनों के 'स्नेह-काम' आदि का नाम 'हेटरो-सेक्सुऐलिटी', hetero-sexuality, रक्खा है। 'हेटरो' ग्रीक शब्द है, यह तथा अंग्रेजी 'अदर', other, संस्कृत 'इतर' के रूपांतर है। एवं, 'होमो', 'सेम', 'same, सम, समान, के। होमो-सेक्सुऐलिटी' का ठीक अक्षरार्थ तो 'सम', स्त्री-स्त्री का, पुरुष-पुरुष का, 'स्नेह काम' है। पर तृतीया प्रकृति के सभी अवांतर भेदों का संग्राहक हो रहा है।

जर्मन भाषा में, पुरुष-'होमो-सेक्सुअल' को 'अर्निङ्', urning, और स्त्री-'होमो-सेक्सुअल' को 'अर्निन्डे' urninde, कहते हैं।

प्रायः सभ्य कहलाने वाले सभी देशों में, इधर बहुत वर्षों से, 'होमो-सेक्सुऐलिटी' के प्रकार, लज्जास्पद, घृणास्पद, निन्दनीय समझे जाते हैं। इन के अन्तिम, आभ्यन्तर, प्रकार, (गुदा में लिंग प्रवेशन) दण्डनीय भी समझे जाते हैं, और अक्सर देशों के दण्ड-विधानों ('पीनल कोड', penal code) में दण्ड्य हैं। गवेषकों के लेखों से जान पड़ता है कि, 'समान लिंगों' के सख्य में, 'सम्प्रयोग' के अष्टाङ्ग में से जो बाह्य अंग या उपचार हैं, प्रायः उन्हीं से लोग संतोष कर लेते हैं; अन्तिम अंगों की नौबत कम आती है। कचहरियों में मुकद्दमे भी कम होते हैं, यद्यपि इस के अन्य कारण भी हैं, जिन का जिक्र पहिले किया गया है। (पृ० २३५-२४१)

'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः', 'महाजनो येन गतः स पन्थाः', जिस मार्ग पर 'महाजन', जनता का भूयसीय, महान् अंश, अधिकतर भाग, चले, वही धर्म मार्ग हो जाता है[1]। जिस को वह निंद्य मान, वही अधर्म हो जाता है।

१—"न राज्ञां महामात्राणां वा परभवनप्रवेशो विद्यते, महाजनेन हि चरितं एषां दृश्यते, ऽनुविधीयते च"—इस (५-५-१) सूत्र से स्पष्ट है कि वात्स्यायन ने भी 'महाजन' शब्द से जनसमूह समझा है। अर्थ,

जनता के, 'महाजन' के, हृदय का प्रेरणा करने वाली, ' वासना वासुदेवस्य, वासितं सकलं जगत्", वासुदेव की, जगद्वासी व्यापक अन्तरात्मा की, वासना होती है। वह जिस को चाहे अधर्म, जिस को चाहे धर्म बना सकता है, और बना देता है। विवाहों के विविध प्रकारों का उल्लेख ऊपर हुआ है। (पृ० ३०७-३२५) अपने-अपने देश काल में वे धार्मिक रहे हैं, अन्य देश काल में अधार्मिक। इस समय, तृतीया प्रकृति के कामिक व्यापार, सभ्य देशों में, 'अप्राकृतिक' ('अन्नैचुरल आफेन्स unnatural offence) समझे जाते हैं; किन्तु पश्चिम के देशों में, इस विषय में भी, लोकमत में परिवर्तन होरहा है; जैसा विवाह और स्वच्छन्दता के, संतानिरोध के, परिग्रह और साम्यवाद आदि के, विषयों में। पहिले समझा जाता था कि तृतीया प्रकृति के मानव बहुत कम होते हैं; अब वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि, यथा एक ही देश, जर्मनी, में, (तीस चालीस वर्ष पहिले) प्रायः सात करोड़ की आबादी में, प्राय. बीस लाख इस प्रकृति के थे; तथा अन्य देशों में भी कुछ ऐसे ही अनुपातों से हैं;[1] और, लोग कहने लगे हैं कि, आखिर ये भी प्रकृति देवता की संतान हैं; इन का स्वभाव ऐसा ही निसर्ग से है; तो ये लोग अपनी वासना के, अपनी विशेष प्रकृति के, अनुसार. अपना जीवन क्यों न बिताने पावैं? बीच-बीच में, इस विषय पर कानून में परिवर्तन कराने की चर्चा भी उठती रहती है; हाँ, किसी कुमार, कुमारी, या युवा, युवती, पर कोई बलात्कार करै, या उस को साध्वस पहुँचावै, वा प्रलोभन कर के उस का दूषण करै, या व्यभिचार या अपहरण करै, तो अवश्य उस का

सूत्रका, यह है, कि राजाओं और महामंत्रियों को पारदारिक व्यभिचार के लिये, पराये घरों में प्रवेश नहीं कराना चाहिये; क्योंकि महा-जन, जन-समूह, इन के चरितों को देखता रहता है, उन का अनुकरण करता है।'

१—१८९२ ई० में, लंडन नगर में, आस्कर वाइल्ड नाम के एक प्रसिद्ध कवि और आख्यायिका लेखक को, ऐसे ही 'अन्नैचुरल ओफेन्स' के जुर्म के लिये, दो वर्ष कारावास का दंड मिला; उस मुकदमे में और भी कई उच्चपदस्थ पुरुषों के नाम लिये गये थे।

उग्र दण्ड दिया जाय। कुछ लोग तो, मानव-संख्या-वृद्धि के निरोध का, इस प्रकार के कामीय सख्य को, एक उपाय बताने लगे हैं। दूसरी ओर, लोग कहते हैं कि, यह सब बात समाज को भ्रष्ट करने वाली हैं; यदि कानून का भय ऐसे सम्बन्धों से हटा लिया गया, तो, संचारी रोग के ऐसी, यह दूषित प्रथा फैलेगी: इत्यादि। प्राचीन काल मे, ग्रीस, ईरान, आदि देशो मे, तथा यूरोप की 'अर्ध सभ्य' जातियो मे, मध्य काल मे मुसल्मानी राज्यों मे, यह प्रथा, कानून से, निर्दोष समझी जाती थी और खुला था। तथा अब भी कुछ नव्वाबी रियासतों मे ऐसा है; यहाँ तक सुनने मे आता है कि, किन्ही नव्वाबी रियासतों मे पुरुष-पुरुष का 'विवाह' भी, काजी के सामने, किया जा सकता है। पर निष्कर्ष यह जान पड़ता है कि, सब प्रकार का बलात्कार, धोखा देना, प्रलोभन करना, उग्र दण्ड से दण्डनीय है; तथा, साधारण रीति से, 'महाजन' की दृष्टि मे, 'होमोसेक्सुऐलिटी' निन्दनीय है, पर दंडनीय नही। किन्तु स्कूलों, मद्रसों, पाठशालाओं मे, अबोध सुकुमार बालको की, दुष्ट अध्यापको तथा सयाने छात्रो से, रक्षा का प्रबंध होना आवश्यक है: पृ० १६५-२०३, २३५-२४१, पर, इस की चर्चा की गई है; सोलह वर्ष से कम वयस् बालक के साथ अप्राकृतिक अपराध, जिस सयाने पुरुष पर कचहरी मे साबित हो, उसको उग्र दंड देना आवश्यक है।

रसाङ्ग की रूप रेखा को यहाँ समाप्त कर, क्रियाङ्ग का विचार करना चाहिये।

क्रियाङ्ग

क्रियांग मे—

(क) गृह की सामग्री का वर्णन, अल्प, मध्यम, और बहु वित्त के गार्हस्थ्य के अनुसार, सर्वोपयोगी सामान्य रूपों से, होना चाहिये।

(ख) एवं चतुःषष्टि कलाओं का, और उन की सामग्री का भी। देश के सर्वाङ्गीण शील के ह्रास के हेतु से, ब्रह्म और क्षत्र; ज्ञान और साहस, सरस्वती और दुर्गा, भारत से, हट गई; अतः, 'काम' की माता लक्ष्मी, और उन की चौसठ अनुगामिनी परिचारिका कला-देवियां भी हट गईं,

अब तो, एक होली के दिन, 'चौसट्ठी' देवी की मूर्ति पर फूल पत्ता पानी फेंकना, पैसा चढ़ाना, भांग पीना, अश्लील भदेस बकना—यही 'चतुः षष्टि' कलाओं की पूजा के स्थान मे रह गया है; काशी मे तो यही देख पड़ता है। यदि गीत वाद्य-कला की कुछ चर्चा है, तो प्रायः नितांत निरक्षर लोगों के हाथ मे है, जो यह नही जानते पहिचानते, कि उत्तम संगीत के लिए न केवल उत्तम स्वर, अपितु उत्तम शब्द, उत्तम रसमय अर्थ, ('हस्त', 'क्रिया') उत्तम हाव, उत्तम भाव, सभी आवश्यक हैं। इधर बहुत वर्षों से, कुलपुत्रियों कुलवधुओ को गाना-बजाना सिखाना, दोष समझा जाता रहा है। पुराण कथा मे सुनते हुए भी, नहीं सुना जाता रहा है, कि सरस्वती देवता और नारद ऋषि वीणा मे प्रवीण हैं, कृष्णावतार वंशी मे, स्वय शिव तांडव मे। महाभारत मे कथा है कि गगा देवी, मनोहर हाव, लास्य, नृत्य गीत से, अपने पति शातनु महाराज का प्रीत का नित्य वर्धन करती थीं; तथा अर्जुन ने, बृहन्नड़ा के प्रच्छन्न रूप मे, विराट की पुत्री उत्तरा को नृत्य, गीत, सिखाया, और पीछे अपने पुत्र अभिमन्यु से ब्याहा। भारत के दक्षिण प्रान्तों मे, तथा पूर्व प्रांत वंग मे, भाग्यवशात् इस विषय मे अभी भी बुद्धि मलिन नही है। वहाँ कौटुम्बिक जन, यथाशक्ति, गीत वाद्य सीखते हैं, और एक दूसरे का मन, घर के भीतर ही बहलाते हैं। वेश्या के पीछे दौड़ने मे एक विशेष हेतु यह होता है, कि घर के भीतर ही पुरुषो को, ये सब, ललितकलाओं से जन्य, सुख नही मिलते। पर न मिलने का दोष उन्हीं का है, कि वे अपने बालक बालिकाओं को, विशेष कर बालिकाओं को, इस विषय की शिक्षा देने का प्रबंध नहीं करते।

चतुःषष्टि कलाओं की पाच मुख्य राशियां, पंच ज्ञानेन्द्रियों के अनुसार, करना उचित होगा; जो बच जायँ उन का गौण राशियाँ, उपयोगिता के अनुसार। इन मे तीन राशि प्रधान होंगी; १—सुस्वादु और हितकारक भोजन बनाने की; २—"सूत्र-वान-सूचा-कर्म,...कार्पासस्य कर्त्तनं, वानं, च" (कामसूत्र, १-३-१६, ४-१-३३), अच्छा सूत कातने, कपड़ा बीनने और सीनेकी; ३—ऐसी कदुक आदि की क्रीड़ाओं की, जिन से व्यायाम का काम निकलै। यहा आयुर्वेद का आदेश, 'अर्ध-प्राणेन व्यायच्छेत्,' याद

रखना उचित है, अर्थात् 'कला' में आधी शक्ति लगावै, अपने को सर्वथा न थका डालें, सब शक्ति का व्यय न कर दे। इस रीति से, इन तीन प्रधान कलाराशियों की शिक्षा पा कर, गृह-पत्नी, गृह की (१) अन्नपूर्णा (२) वस्त्रपूर्णा, (३) प्राणपूर्णा, सभी, जैसा चाहिये वैसी होंगी। गृहपतियों के लिये भी, कला कौशल कुछ न कुछ सीखना इष्ट तो अवश्य है; पर प्रकृति के भेद से, तथा कर्त्तव्य के भेद से, स्त्रियों के हिस्से मे घर के भीतर के कृत्य और कला, और पुरुषों के हिस्से मे घर से बाहर के जीविका-साधक और बल-साध्य कृत्य, पड़े हैं। जब रोजगारी कार्यों से थका गृहपति घर में आवे, तो गृहकर्म से थकी गृहपत्नी और बच्चा और अन्य कुटुम्बी जनों के साथ बैठ कर, पत्नी के कला कौशल से, और सब के परस्पर प्रेममय वार्तालाप से, सब को आनन्द आवे, और सब की थकावट दूर हो जाय--यही उत्तम गार्हस्थ्य का फल है।

(ग) **औपनिषदिक अधिकरण**—इस मे, असाधारण अवस्थाओं के लिये, उपयोगी उपकरणों और दवाओं का वर्णन होना चाहिये।

क्रियाग के सभी विषयों मे भारतवर्ष के पास सामग्री अच्छी है; परन्तु जीर्णोद्धार की बहुत आवश्यकता है। पाश्चात्य ज्ञान से, अपनी सामग्री को अधिक सम्पन्न करने के लिये, नये आविष्कारों का लाभ उठाने के लिए, यदि कुछ लेवें, तो पश्चिम के देशों को कुछ दे भी सकता है।

पुराणों की कई कथा इस प्रसंग मे लिखने योग्य हैं। च्यवन ऋषि को, अश्विनी कुमार ने, जलाशय मे स्नान करा के, और औषध खिला के, वृद्ध से पुनः तरुण बना दिया, आज तक एक विशेष प्रसिद्ध औषध-योग का नाम 'च्यवन-प्राश' ही है। ययाति ने अपने बेटे पुरु से वार्धक्य और यौवन का विनिमय कर लिया। अहल्या से व्यभिचार करने के बाद इन्द्र को सहस्र व्रण हो गये, और उन के दोनों अंडकोष सड़ कर गिर गये; ऋषि के प्रसाद से व्रण अच्छे हुये, और जो दाग रहे वे नेत्राकार हो गये, तथा देववैद्य अश्विनीकुमारों ने मेष के वृषण उन को लगा दिये, जिस से वे "मेष-वृषणः" कहलाने लगे। द्रौपदी के पांच

विवाह हुए, प्रत्येक बार प्रत्येक पति से प्रसंग के बाद, पुनः कन्या हो गई। तथा कुंती, सूर्य से कर्ण को जन्म देने के बाद, पुनः कन्या हो गई। 'कन्या' शब्द का निर्वचन, आज काल, 'कन्यते, काम्यते, इति,' किया जाता है, (भानु दीक्षित की अमर कोष' की 'रामाश्रमी टीका); पर इस अर्थ से, पुराण की कथा सार्थ नहीं होता। विचारने की बात है, कि 'अक्षत-योनि कन्या की योनि के, अर्थात् गर्भाशय को जाने वाले मार्ग, भग, के मुख पर, एक झिल्ली का पर्दा रहता है जो उस मार्ग को बंद किये रहता है; कभी बहुत पतला होता है, कभी इतना मोटा कि 'आपरेशन, (शस्त्र कर्म) से चीर देना पड़ता है किसी को नहीं भी रहता, जब रहता है, तब पहिले प्रसंग मे 'क्षत' होता है, पर्दा फट जाता है; अब, कुछ लेखक, जो इन विषयों पर हिन्दी मे लिखते हैं, इस झिल्ली को 'कुमारी-छद', 'भगच्छद', कहने लगे हैं, अंग्रेजी नाम 'हाइमेन' ('मेडन-हेड', भी) है[1]। अंग्रेजी शरीर शास्त्र (ऐनाटोमी') के ग्रन्थों मे लिखा है कि, इसके न रहने से, यह सिद्ध नहीं जानना चाहिये, कि स्त्री 'क्षतयोनि' है, अक्सर, शुद्ध कुमारियों को भी यह झिल्ली नहीं रहती। विचारने की बात है कि,'कर्नी' या 'कनि' शब्द का, प्राचीन काल मे इस 'कुमारी-छद' के अर्थ में प्रयोग होता था, या नहीं। यदि होता था, तो पुराण की आख्यायिका सार्थ हो जाती है; कोई विशेष उपाय उस काल मे विशेषज्ञों को विदित रहा होगा, जिस से फटी झिल्ली पुनः पूर्ववत् हो जाती हो; लेटिन भाषा मे, 'कनि'[2] शब्द का अर्थ कुछ भगच्छद-सा ही जान पड़ता है।

इसी सम्बन्ध मे, 'कर्ण-वेध' शब्द का अर्थ भी विचारणीय है। आज काल, इसका अर्थ प्रसिद्ध ही है, दोनों कानों की लहरों मे सूक्ष्म छिद्र बना देना, कुण्डल आदि पहिनने के लिये, आभूषणार्थ; विचारना यह है कि, भारत मे भी, किसी पुराकाल मे, इसका अर्थ 'सर्कमुसिशन'[3] था, या नहीं। अंग्रेजी के इस शब्द का अर्थ वह है जिसको मुसलमान

१- Surgical operation; hymen; maidenhead; anatomy. २. Cunni. ३. Circumcision.

'खतना' कहते हैं; यहूदियों और मुसलमानो मे, हर एक लड़के का यह संस्कार (रस्म,सुन्नत) किया जाता है; अर्थात् 'प्रीप्यूस,' 'फोरस्किन,' 'लिंग-मणि-च्छद,' का अगला टोंका काट दिया जाता है;[1] 'धार्मिक,' 'अदृष्ट,' पुण्य भी, इस मे मानते हैं, और ऐहिक 'दृष्ट' लाभ यह मानते हैं, कि स्त्री-प्रसंग मे, इससे अधिक सौकर्य भी, और मैथुन की चिरस्थायिता भो, होती है। याद रहे कि, कई 'अर्ध-सभ्य' जातियो मे, तथा 'हिंदुओं' की भी कुछ जातिया मे, (विशेष कर दक्षिण प्रान्तों मे), कुमारियो के भग-च्छद का भी पाटन, (फाड़ना) संस्कारवत्, पत्थर वा धातु के बने इन्द्रियऽाकार 'शिव-लिंग' पर 'अर्पण' कर के, बलेन 'बैठा' कर के, कर देते हैं; अथवा सम्प्रदाय के जोवत् और बलिष्ठ 'गुरु' को अर्पण कर के, उस के द्वारा करा देते हैं; अथवा अंगुलि-प्रक्षेप से ही; विवाह के अनन्तर मैथुन की सुकरता के लिये। अक्सर बालकों का लिंग-च्छद इतना कसा रहता है, कि मणि पर से पीछे नही सरकता; मा और धाय, तेल डाल कर, धीरे धीरे, सरकाने का अभ्यास करा देती है: इस से भी वही प्रयोजन, अंशतः, सिद्ध होता है जो 'खतने' से। खतने की रस्म, बहुत देशों, बहुत जातियों, मे फैली थी और है; ईसाइयों ने छोड़ दिया है। यह सब देख कर, मन में यह शका उठती है कि, क्या पूर्व काल मे, भारत मे 'कर्ण' शब्द का अर्थ 'लिंग-च्छद' भी, और 'कर्ण वेध' का अर्थ उसका 'छेदन,' तो नही था ?; जेसे स्यात् ग्रीक और लेटिन भाषाओं मे, जो संस्कृत भाषा के परिवार मे निकट से अंतर्गत हैं 'कनी' या 'कनि,' शब्द का अर्थ, किसी समय मे, 'कुमारीछद' ही था; यह विशेषज्ञों के लिये अन्वेषण योग्य है। लिंग-मणि-च्छद के विषय मे विचारणीय है कि, वात्स्यायन-काम-सूत्र (अधिकरण ७, प्रकरण ६२) मे लिखा है, "दक्षिणात्यानां लिंगस्य, कर्णयोर् इव, व्यधनं, बालस्य; युवा तु, शस्त्रेण छेदयित्वा, यावद् रुधिरस्य आगमन, तावद् उदके तिष्ठेत्"; इत्यादि। दक्षिणात्य लोग-बालक का जैसे कर्ण-वेध करते हैं, वैसे लिंग-व्याध भी; युवा तो, अधिक मांस को स्वय काट कर, तब तक पानी में बैठा रहे

1. prepuce; foreskin

जब तक रुधिर बन्द न हो जाय'। सूत्र का अर्थ यह नहीं है, कि, जैसे कान का लहर मे, वैसे आर पार नोकीली सुई या तार से छेद कर दिया जाय; मणि या दंडिका का निर्देश न करने से ही यह सिद्ध होता है कि सूत्र का ऐसा आशय नहीं है: न किसी जाति मे ऐसा क्रिया होती है, (सिवा कुछ 'अलख-पंथी' आदि 'साधुओं' मे); जो लिंग मे लोहे का कड़ा डाले रहने का ढोंग करते हैं। सूत्र का आशय है कि, जैसे बाल्यावस्था मे, कर्णवेध किया जाता है, क्योंकि उस समय क्लेश कम होता है, वसे ही लिंगमणिच्छद का व्यधन भी बाल्यावस्था मे कर देना चाहिये; अनवधान से रह जाय, और बाद मे बीमारी हो, या, विवाहानन्तर, मैथुन मे विघ्न हो, तब युवाऽवस्था मे भी किया जाय। रुधिर का आगमन, लहू का आना अर्थात् बहना, रोकने के लिये, पानी में बैठाने के बदले, अब तो दूसरे उपायों का, औषधों के लेपों का, प्रयोग करते हैं। किसी किसी बच्चे के मणि-च्छद का मुख इतना छोटा रहता है, और सम्पूर्ण छद इतना कसा रहता है, कि मूत्र निकलना कठिन हो जाता है; तब, शस्त्रकर्म के सिवा दूसरा चारा नहीं। जिन बालकों का मणिच्छद इतना छोटा नहीं है, पर कुछ कसा है, उन को भी, यदि माता वा धाय लापरवाई करें, तो भीतर भीतर सफेद सफेद मैल जमा हो जाती है, और छद मे शोथ (सूजन, 'साज़') हो जाता है; (अंग्रेज़ी में इस रोग को 'फाइमोसिस', कहते हैं।[2] यह शोथ तो, अक्सर घरेलू दवाओं (यथा घिसी सुपारी के लेप) से ही अच्छा हो जाता है; अधिक बिगड़ जाने पर शस्त्रकर्म की शरण लेना पड़ता है। स्त्रियों का मूत्र-छिद्र, भग छिद्र से भिन्न होता है; इस लिये, किसी बालिका का भग-छद बहुत मोटा और निश्छिद्र भी हो, तो भी, बाल्यावस्था मे मूत्र का अवरोध नहीं करता; हां, रजो-रुधिर की प्रवृत्ति को, यौवनारम्भ मे, रोकता है, जिस से रोग उत्पन्न होते हैं, उस समय शस्त्रकर्म की आवश्यकता होती है ; एवं, विवाहानन्तर, मैथुन मे रुकावट होने से भी। इन सब विषयों पर, विविध जातियों के विविध आचारों का, पाश्चात्य

2. Phimosis.

वैज्ञानिकों ने बहुत अन्वेषण और वर्णन किया है। इत्यादि ।[१]

आज काल, पश्चिम मे, शरीर के सभी अवयवों को सामान्यतः पुष्टि के लिये, और विशेषतः द्वारा मैथुन-शक्ति के पुनः सम्पादनके लिये, 'इलेक्ट्रिक बाथ', electric-bath, देते हैं। चीन और भारत से, पाश्चात्यों ने,

१ 'वैद्यरत्न' कविराज श्री प्रतापसिंह जी, भारतीय आयुर्वेद के तो विशेषज्ञ हैं ही; आप ने पाश्चात्य शरीर-शास्त्र का भी, मेडिकल कालेज मे, अंग्रेजी ग्रन्थों से, तथा शल्य-शालाक्य आदि शस्त्र कर्म का प्रयोगशाला मे, पर्याप्त अध्ययन किया है; १८-१९ वर्ष से काशी विश्व-विद्यालय के आयुर्वेद विद्यालय व औषधशाला के अध्यापक और अध्यक्ष हैं; हाल मे दो वर्ष का अवकाश ले कर आप नयी दिल्ली मे रहते थे; वहां एक आर्य औषध भांडार और बृहत् आयुर्वेद पाठशाला को चला देने के लिये। उन से, मैं ने, 'कन्या', 'कर्ण-वेध', आदि के विषय मे पत्र-व्यवहार किया। उनके उत्तरों मे से उपयुक्त अंश नीचे देता हूं।

'मै आप के विचारों मे प्रायः सहमत हूँ; पर मेरा शास्त्रीय ज्ञान और व्यवहार ज्ञान इस विषय मे ऐसा है, कि कुन्ती और द्रौपदी राज-महिषी थीं; राजाओं के यहां, प्रसव के बाद, स्त्री की जननेन्द्रिय को कन्यावत् बनाने के लिये, अनेक उपचार किये जाते हैं, कि स्तन और जननेन्द्रिय मे शैथिल्य न आने पावे, और पति-पत्नी को पूर्ववत् सुरत सुख मिलता रहै। इस के लिये अनेक औषधोपचार, आज दिन भी व्यव-हार मे आ रहे हैं।''

(पाश्चात्य प्रसूति-चिकित्सा मे, 'अर्गाट', ergot, नामक औषधि आदि का प्रयोग होता है; तथा शराब मे अल्प काल के लिये स्त्री के जघन को रखने का; योनि-संकोचन के लिये; पर गृहस्थ को, बिना विशेषज्ञ डाक्टर या 'मिड-वाइफ' mid-wife, के परामर्श के, ऐसे किसी प्रकार का, अपने मन से, प्रयोग नहीं करना चाहिये)।

"कुन्ती आदि का पुनः कन्या हो जाना, इसी रूप से संभव है। अन्यथा, कुमारीछद् का, एक बार फट जाने पर, शारीर-शास्त्र की दृष्टि से, फिर जुड़ जाना संभव नहीं। छेदन के बाद, छद का मांस, भगोष्ठ

रहस्य औषध भी कुछ सीखे हैं; पर अभी वैसे 'रस' नहीं बना सकते। नये नये, 'योहिम्बिन', yohimbin, 'कोकेन', cocaine, आदि का, अमेरिका देश की प्राचीन जातियों से सीख कर, कामोद्दीपन, वीर्य-स्तम्भन, 'इम्साक', आदि के लिये, प्रयोग करते हैं। ऐसे ही अति 'काम' के वेग के शामक द्रव्यों का। उत्तेजक द्रव्य 'आफ्रोसिडीसियाक़', aphrodisiac, शामक, 'ऐन-आफ्रोडीसियाक' anaphrodisiac, कहलाते हैं। डाक्टर वोरोनाफ़ के प्रकार की चर्चा की जा चुकी है, (पृ० २२०-२२१ २७४-२७५)। अब, पश्चिम में, और उपाय भी निकाले गये।

के भीतरी भाग मे संकुचित हो जाता है; वहां से, पुनः प्रसारित हो कर जुड़ना सम्भव नहीं। अदृढ़-लिंग पुरुषों की, कन्या-स्त्रियों के भगच्छद के छेदन का विधान, प्राचीन रस-शास्त्रों मे है। इस क्रिया के लिये जो यंत्र बनाते हैं उसे 'जलौका' कहते हैं; और पारद के संस्कार मे इस का उल्लेख है। इस के निर्माण मे, पारद, स्वर्ण, नाग ('लेड', सीसा), व अनेक वनस्पतियों की भावना और पुट के विधान हैं। "बाल्ये च अष्टांगुला योज्या, यौवने च दशांगुला, द्वादशैव प्रगल्भानां, जलौका त्रिविधा मता", इस की दीर्घत्व-सूचक मात्रा भी लिखी है।

"पुरुषों मे लिङ्गच्छद का छेदन जैसा वात्स्यायन ने लिखा है, वैसा हिन्दुओं मे प्रचलित इधर नहीं है; किन्तु चतुर माताएं, बालक के लिंगच्छद को, तैलादि लगा कर, जलधारा से मृदु क्रिया द्वारा, ऊपर चढ़ाने का यत्न सर्वत्र करती हैं। इस छद को चढ़ता उतरता रखना, आनन्द की दृष्टि से आवश्यक है। मुसल्मानो मे, इस के अग्रभाग को काट कर पृथक् कर देने से, लिङ्ग-मणि का स्पर्श-ज्ञान, रूखे वस्त्रादि के स्पर्श से, न्यून हो जाता है, इस लिये उन मे बालिका-मैथुन और बाल-गुद-मैथुन प्रचलित है। मै ने, अनेक रोगियों को, इस छद को, दिन मे कई बार ऊपर चढ़ा कर रखने का अभ्यास कराया, जिस से शीघ्र वीर्यपात का कष्ट दूर हो गया, और स्तम्भन अधिक होने लगा, तथा उन की स्त्रियों को भी अधिक आनंन्द आने लगा। मेरा खयाल है कि, सुशिक्षितों मे, शौच के उद्देश्य से भी, मूत्रोत्सर्ग के पश्चात् जो लिंग-प्रक्षालन प्रचलित है, वह भी इस मे हितकारक है।

यह सब, विज्ञान के विशेष रहस्यों की लीला है। पर साधारण सद्-गृहस्थ का सौभाग्य इसी मे है, कि ऐसे प्रयोगों की आवश्यकता ही उस को न हो, और इन का मुह उस को देखना न पड़े; तथा यह कि, यदि पूर्व पाप-कर्म से कोई खंडितता उस के जीवन मे आ ही जाय, तो सिर झुका कर उस को सह ले, 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' के नियम को हृदय मे रख कर संतोष कर ले। 'संतोषाद् अनुत्तमसुखलाभः', यह योगसूत्र है। इस का यह अर्थ नहीं है कि साध्य रोगों की चिकित्सा न करें।

"गोरखपुर के जिले मे, अनेक रोगी मैं ने देखे हैं, जिन का मणिच्छद सदा ऊपर चढा ही रहता था। अनेक बालकों की भी यही दशा देखी। अन्वेषण किया तो पता लगा कि, वहां माताएं शिशुओं की जननेन्द्रिय मे, इस को प्रारम्भिक अवस्था ही मे चढा देती हैं; जिस से सहजावस्था मे उन का लिंगाग्रभाग सुदृढ हो जाता है, और किसी प्रकार के छेदन की आवश्यकता नहीं रहती। इस उपयोगी क्रिया का अभ्यास, यदि हिन्दू परिवारों मे उचित रीति से हो, तो प्रायः भला ही हो।"

इस पत्र के पाने पर, मैं ने श्री प्रतापसिंह जी से दर्याफ़्त किया, कि भगच्छद के छेदन के लिये, इतने आयास के प्रकार से, और इतनी और विविध लम्बाइयों की 'जलौका' की आवश्यकता क्यों, जब पाश्चात्य प्रकार मे तो एक अच्छे इस्पात (कृष्णायस, 'स्टील') की, छोटी ही, तीक्ष्ण क्षुरिका से यह शस्त्रकर्म ('आपरेशन') कर दिया जाता है? इस के उत्तर मे उन्हों ने लिखा कि "मझे प्रश्न पर विचार करना पड़ा। अनेक रस-ग्रन्थों के पर्यालोचन से इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि, 'जलौका' यंत्र, केवल भगच्छद का छेदन ही नहीं करता है, किन्तु स्त्री को विषय-सुख का अनुभव भी कराता है। इस के स्पर्श से योनि मे उत्तेजना पैदा होती है, और गर्भाशय के मुख तक प्रवेश पा कर, रति-सुख का प्रदान करता है। संभवतः,भग-मार्गों के भिन्न परिमाणो के अनुसार, इस की दीर्घता की मात्रा भिन्न करनी पड़ी हो। पुरुष लिंग को भी सुदृढ बनाने के लिये 'वलय' बनाने की चिकित्सा-व्यवस्था किसी जमाने मे यहां प्रचलित थी, जिस के भी श्लोक मिलते हैं।"

यह नहीं, बल्कि यह कि कामिक सुख की हिर्स हवस के मारे, असाध्यप्राय अवस्थाओं को दूर करने का व्यर्थप्राय महा-आयास न करै। तथा यह बात सब के याद रखने की है, कि आयुर्वेद का भी सिद्धान्त यही है, कि सब से उत्तम वृष्य, वाजीकरण, सुभगं-करण, पति-पत्नी का परस्पर स्नेह है।

वाजीकरणं अग्रयं तु व्यूढा (विवाहिता) स्त्री या प्रहर्षिणी।
इष्टा हि एकैकशोऽपि अर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः,
किं पुनः स्त्रीशरीरे ये संघातेन प्रतिष्ठिताः ?
स्त्री-आश्रयो हि इन्द्रियार्थो यः सः प्रीतिजननोऽधिकं;
स्त्रीष प्रीतिः विशेषेण, स्त्रीषु अपत्यं प्रतिष्ठितं,
धर्मार्थौ स्त्रीषु, लक्ष्मीश्च, स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।
सुरूपा, यौवनस्था या, लक्षणैः या विभूषिता,
या वश्या, शिक्षिता या च, सा स्त्री वृष्यतमा मता।
वयो-रूप-वचो-हावैः, या यस्य परमाऽङ्गना
प्रविशति आशु हृदयं; दैवाद् वा, कर्मणोऽपि वा,
हृदय-उत्सव-रूपा या; या समान-मनःशया;
समान-सत्त्वा; या वश्या; या यस्य प्रीयते; प्रियैः
या पाशभूता, सर्वेषां इंद्रियाणां परैः गुणैः;
यया वियुक्तो, निस्त्रीकं, अरतिः, मन्यते जगत्;
यस्याः ऋते शरीरं ना (नरः) धत्ते शून्यं इव इंद्रियैः;
शोक-उद्वेग-अरति-भयैः यां दृष्ट्वा नाभिभूयते;
याति, यां प्राप्य, विश्रम्भं; दृष्ट्वा हृष्यति अतीव यां;
अपूर्वां इव यां वेत्ति नित्यं, हर्षातिवेगतः;
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वापि बहुशो यां, तृप्तिं नावगच्छति;
सा स्त्री वृष्यतमा तस्य; (स्व स्व-रुचि-अनुसारतः;
लोको भिन्नरुचिः यस्मात्); नानाभावाः हि मानवाः।
अतुल्यगोत्रां वृष्यां च, प्रहृष्टां, निरुपद्रवां,
शुद्धस्नातां व्रजेत् पत्नीं, अपत्यार्थी, निर् आमयः।
(चरक, चिकित्सास्था०, अ० २, पा० १)

'एक एक इंद्रिय का विषय अलग अलग भी प्रिय होता है, स्त्री और पुरुष के लिये, एक दूसरे के शरीर मे, सभी विषय एकत्र हैं, क्यों न परस्पर अत्यन्त प्रिय हों; प्रीति, रति, संतति, धर्म, अर्थ, लक्ष्मी, सभी, एक दूसरे से प्राप्य हैं। पुरुष के लिये, जो स्त्री सुरूप, युवती, शुभ लक्षणों से सम्पन्न, वश्य, शिक्षित है, वही वृष्य-तमा है; जो हृदय मे घुस जाय, हृदय को उत्फुल्ल उत्सवमय कर दे, सत्त्व मे और मनःशय अर्थात् 'काम' मे समान हो, अत्यन्त प्रीति करै, अपने परम प्रिय गुणों से पति को मानो पाशों से, फंदों से, बांध ले; जिस से वियुक्त, अलग, होने पर, पति समस्त जगत् को शून्य मानता है, अपने शरीर को चेतन रहित जानता है; जिस को देख कर वह शोक-उद्वेग-अरति-भय देने वाले पदार्थों से लड़ने का उत्साह (हिम्मत) बांधता है, धैर्य, विश्रंभ, अपनी शक्ति पर भरोसा, करता है; जिस को नित्य अपूर्व, नई, जानता है, बहुत बेर भी जिस का दर्शन स्पर्शन कर के, तृप्त नहीं होता; ऐसी स्त्री, पति के लिये, वृष्यतमा, सब पदार्थों से बढ़ कर 'वृष्या', 'वाजीकरणी', है। ऐसे ही गुण वाला पति अपनी पत्नी के लिये 'काम' का उद्दीपक ('धेन्व्य-तम', 'वाजिनी-करण-तम') है।[1] याद रहै कि प्रकृतियां भिन्न होती हैं; जो वस्तु, जो गुण, जो रूप-रंग, जो हाव-भाव, आहार-विहार, एक को प्रिय, है, वह दूसरे को

१ 'वृष' की व्युत्पत्ति 'वृष्' धातु से है; 'वर्षंति' जो वर्षा करैं, बरसैं। साण्ड वीर्य की वर्षा करता है, इस लिये उस को भी, रूढ़ि से, वृष कहते हैं। 'वाज' का अर्थ पंख भी, और वीर्य भी; वीर्यवान् घोड़े को, जो पंख वाले पक्षी ऐसा शीघ्र दौड़े, उस को वाजी कहते हैं। ऐसी ही घोड़ी को वाजिनी। और बहुत दूध देने वाली सुन्दर गाय को धेनु। जो औषध पुरुष को वीर्यवान् बना दे, उस को वृष्य, वाजीकरण, शुक्रल, आदि नाम से कहते हैं। स्त्री के 'काम' की उत्तेजक, उस के 'रजस्', वा 'शोणित', के वर्धक औषध के लिये कोई प्रसिद्ध शब्द नहीं है; 'सुभगं-करण' शब्द का अर्थ तो, प्रायः, प्रसव आदि के पीछे भग-संकोचक औषध होता है; पर अधिक विस्तृत अर्थ मे भी उस का प्रयोग करना अनुचित न होगा; क्योंकि 'भग' शब्द के कई अर्थ हैं, वीर्य, यशस्, ऐश्वर्य, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि।

अप्रिय हो सकता है; "यद् यस्य रोचते, तस्मै, तद् एव अस्ति इह सुन्दरं"; जो जिस को रुचै, वही उस के लिये सुन्दर। जिन को सात्विक उत्तम अपत्य की इच्छा हो, वह दम्पती परस्पर प्रसंग तब करैं, जब पत्नी, मासिक ऋतु से शुद्ध हो कर स्नान कर चुकी हो, दोनो निरामय नीरोग हों, परस्पर वृष्य और प्रसन्न हो। वृष्, वर्षणे, से वृष शब्द बना है, साधारण अर्थ, साण्ड है; और भी अनेक अर्थ हैं; वृष, वीर्य की वर्षा करता है, वर्षा से जीव-जन्तु बहुत उपजते हैं, इसी से वीर्य बढ़ाने वाले पदार्थ को 'वृष्य' कहते हैं। 'वाज' शब्द के बहुत अर्थ है, अन्न, जल, घृत, उस से उत्पन्न बल, वीर्य, वेग, अर्थात् स्फूर्ति, वेग-साधक पक्ष पंख, धन, यज्ञ, आदि; कामशास्त्र के लिये, वाज का मुख्य अर्थ बल और वीर्य है; जो पदार्थ, बल वीर्य बढ़ावे, वह वाजीकरण। वाजी का अर्थ घोड़ा भी हो गया है; बल-वीर्य-वेग-वान् होता है; राजस दृष्टि से, जो पदार्थ, मनुष्य को घोड़े के ऐसा बना दे, वह वाजीकरण; सात्विक दृष्टि से, जो पदार्थ, शुद्ध शरीर मे, 'यज्ञ' के, परोपकारी कर्म के, उपयोगी बल-वीर्य-बुद्धि-स्फूर्त्ति की वृद्धि करै। इस स्थान पर याद रखने को बात है कि, द्वंद्वमय प्रकृति का अखंडनीय अनुल्लंघनीय नियम है कि, प्रत्येक सुख के साथ एक प्रतियोगी दुःख, और प्रत्येक दुःख के साथ एक सुख भी, अवश्य बंधा रहता है। जो पुरुष, वृषता और वाजिता का लाभ और सुख, वृष्य और वाजीकरण योगों द्वारा चाहेंगे, उन को तत्प्रतिरूप वैसी ही कोई हानि और दुःख भी सहना ही पड़ेगा, और उसी मात्रा मे मनुष्यता के सुख से वंचित होंगे; तथा जिस समाज मे पुरुष साण्ड़ और घोड़ा बनना चाहेंगे, उस मे स्त्रियां भी वृषस्यन्ती (वृष, बली-वर्द, बर्दा, बर्धा चाहने वाली, बर्दाने वाली) गौ, साड़-नी, बड़वा (घोड़ी), और हस्तिनी (हथनी) अवश्य बनैगी, और पशुता और व्यभिचार की वृद्धि, तथा आर्य मनुष्यता और सदाचार का ह्रास अवश्य होगा

'धेन्व्य-तम', 'वाजिनी-करण', 'धेनू-करण', आदि शब्द काम मे लाये जा सकते हैं। ऐसे औषधों का प्रयोग तभी करना चाहिये, जब किसी रोग आदि के कारण शरीर क्षीण हो रहा हो। अन्यथा, जैसा ऊपर कहा, पति-पत्नी का परस्पर घना प्रेम ही सब से बढ़ कर पुष्टि करने वाला है।

इतने से सर्वांगीण कामशास्त्र की रूपरेखा, अध्यात्म-दृष्टि के अनुसार, समाप्त होती है।

पर याद रहै कि, "सर्वं सर्वेण सम्बद्धं", सभी पदार्थ एक दूसरे से सम्बन्ध हैं; किसी एक विषय के शास्त्र का ग्रन्थ लिखने के लिये, अवान्तर विषयों का विवेचन, पृथक्करण, राशीकरण, पूर्वापर-समावेशन, सन्दर्भण, अपनी दृष्टि और सुविधा और उद्देश्य के अनुसार, ग्रन्थकर्त्ता करता है। इस ग्रन्थ मे (अर्थात् 'कामाध्यात्म' नामक अध्याय मे), कामशास्त्र के नीवी-भूत आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही मुख्य लक्ष्य रहा है।

वात्स्यायन के काम सूत्र के प्रकार को भी अब देख लेना चाहिये।

वात्स्यायनकृत कामसूत्र

कामशास्त्र का इतिहास

काम-सूत्र के प्रथमाध्याय मे, वात्स्यायन ने स्वयं काम-शास्त्र का इतिहास, बहुत संक्षेप से, लिखा है। 'प्रजापति ब्रह्मा ने मानव प्रजा को उत्पन्न कर के, उन की व्यवस्थिति के लिए, धर्म-अर्थ-काम तीनो पुरुषार्थों के साधन के उपाय, एक लाख अध्यायों मे कहा। उस के धर्म-विषयक अंश को मनु ने अलग कहा; अर्थ-विषयक को बृहस्पति ने; महादेव के अनुचर नन्दी ने एक सहस्र अध्यायों मे काम-सूत्र कहा; पाँच सौ अध्यायों मे, उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने, उसी का संक्षेप किया। पंचाल देश के वासी, बाभ्रव्य ने, एक सौ पचास अध्यायों मे, औद्दालकि के ग्रन्थ का पुनः संक्षेप किया, और सात अधिकरणो मे उसे बाँटा, (१) साधारण, (२) साम्प्रयोगिक, (३) कन्या-

१ हरद्वार-दिल्ली प्रान्त, महाभारत काल मे, पंचाल कहलाता था; उत्तर भाग, उत्तर पंचाल; दक्षिण भाग (जिस के राजा, उक्त काल मे, द्रुपद थे) दक्षिण पंचाल।

२ व्याकरण-महाभाष्य-कार पतंजलि का भी एक नाम गोनर्दीय है, क्योंकि पंजाब के उत्तर-पच्छिम मे गोनर्दीय प्रान्त मे उन का जन्म हुआ; पर यह निश्चित नहीं, कि दो गोनर्दीय है, या एक ही।

सम्प्रयुक्तक, (४) भार्याऽधिकारिक, (५) पारदारिक, (६) वैशिक, (७) औपनिषदिक। पाटलिपुत्र (पटना) की वेश्याओं के अनुरोध से, दत्तक ने, वैशिक अधिकरण को अलग कहा; चारायण ने साधारण को; सुवर्णनाभ ने सांप्रयोगिक; घोटकमुख ने कन्या-सम्प्रयुक्तक; गोनर्दीय ने भार्याऽधिकारिक; गोणिकापुत्र ने पारदारिक ; कुचुमार ने औपनिषदिक (उपनिषद्, रहस्य-विद्या, औषधों, तांत्रिक मांत्रिक प्रयोगों, के विषय मे)। बाभ्रव्य के ग्रन्थ की विशालता और दुरध्येयता, तथा उक्त अन्य सात ग्रन्थों की पृथक् पृथक् एक-देशिता और अपर्याप्तता, के कारण, इन सब का सम्पूर्ण अर्थ, वात्स्यायन ने अपने रचे कामसूत्र मे, बहुत संक्षेप से, एकत्र कर दिया। इस मे, उक्त ७ अधिकरण (मुख्य विषय) और ६४ प्रकरण (उन के अवान्तर विभाग और विषय) हैं, और ये ३६ अध्यायों मे बांटे हैं; संपूर्ण ग्रन्थ की संख्या १२५० श्लोक है, (अर्थात् ३२-३२ अक्षरों के अनुष्टुप् छन्द के १२५० श्लोकों के परिमाण के तुल्य है)।'

वात्स्यायन ने अपने सूत्रों मे, बाभ्रव्य और उन के पीछे के सात ग्रन्थकारों का अनेक स्थलों पर हवाला दिया है, जिस से निश्चय होता है कि ये ग्रन्थ वात्स्यायन को उपलब्ध थे, और उस समय मे इन का प्रचार था , पर अब नहीं मिलते।

काम-सूत्र का हिन्दी अनुवाद

इस काम-सूत्र के अनुवाद, अंग्रेजी आदि कई यूरोपीय भाषाओं मे, छपे हैं; पहिले गुप्त रूप से, पीछे, धीरे-धीरे, प्रकट रूप से छपे। हिन्दी अनुवाद भी अब मिलता है, (जिस की चर्चा पृ० ३०४-३०६ पर की गई है), इस लिये, उस के आशय को यहां दुहराने का प्रयोजन नहीं; यथासंभव, संक्षेप से, कामसूत्र के, तथा अनुवाद के, गुण दोषों की समीक्षा परीक्षा कर देना प्रसंगोचित होगा। अनुवादक ने सूत्रों को ७ मंजरी (अधिकरण-स्थानीय) और ४२ परागों (अध्याय-स्थानीय) में बांटा है; पहिली ६ मंजरियों और उन के परागों मे, मूल के क्रम से ही सूत्र रक्खे हैं; पर सातवीं मे औपनिषदिक अधिकरण के

सूत्रक्रम मे कुछ व्यत्यास (उलट पलट) किया है, कुछ सूत्र छोड़ दिये हैं, तथा कुछ अन्य वृष्य और वाजीकरण के योग (नुसखे, उपाय), आयुर्वेद के ग्रन्थों से ले कर, रख दिये हैं, और मूल के अ० १ सू० १३-२४ को (जो वेश्या की कन्या की शिक्षा और विवाह आदि के विषय में हैं, और वृष्य योगों से कोई दृश्यमान सम्बन्ध नहीं रखते) छठवीं मंजरी (वेश्या-अधिकरण) के अन्त मे रख दिया है; यह उचित ही किया है। वेश्याओं के विवाहिता हो जाने की भी चर्चा, सूत्र और टीका मे आई है; कौटलीय अर्थशास्त्र मे भी है; मनु आदि स्मृतियों मे भी, पुनर्भू पत्नी और पौनर्भव, सहोढ़, आदि बहुविध पुत्रो के सम्बन्ध मे। अनुवाद, अधिकांश का, ठीक है; कही कहीं, मूल (और जयमंगला टीका का आशय ठीक ठीक नहीं समझा गया है; आश्चर्य नहीं। मूल मे (और टीका मे, मूलोक्त से अन्य भी) सांकेतिक शब्द अनेक हैं; लिखने की शैली बहुत कसी (सूत्रों की संक्षिप्तता तो प्रसिद्ध ही है, टीका की भी लिखाई बहुत गँठी) है; पठन पाठन की परम्परा उच्छिन्न; खोजने पूछने से भी अर्थ का निश्चय, कहीं कहीं, नहीं होता। मुझे तो पाश्चात्य पुस्तको मे मिली बातों से, और उन के जीवत् ज्ञान से, ऐसे संदिग्ध स्थलों पर कई बेर प्रकाश मिला। कम उमर मे अनुवादक (श्री विजय बहादुर जी) ने, जितना इस 'लोपित गोपित' विषय पर परिश्रम किया, और, दुष्ट-कामीय आचार के विरुद्ध चेतावनी लिख कर, वात्स्यायन की एक भारी न्यूनता के पूरण का, बल्कि यों कहना चाहिये कि बड़े दोष के मार्जन का, यत्न किया, वह प्रशंसा के योग्य है। वात्स्यायन ने भी, ऐसे घृण्य (घृणा-योग्य) प्रकारों से आवर्जन (चेतावनी, ख़बरदारी, मना, बरजना) की सूचना की है; पर १२५० श्लोको मे, मुश्किल से १०-१२ श्लोक ऐसी सूचना के होंगे; मानो दस सेर प्रलोभन के पश्चात् एक माशा वर्जन। मैं ने काम-सूत्र और 'कामकुञ्ज' की (जो अनुवाद ग्रन्थ का नाम रक्खा गया है) निजी प्रतियों के पत्रों के मर्म (हाशियों) पर बहुत सी टिप्पणियां उक्त बातों पर लिखी हैं; पर उन सब की चर्चा यहां असम्भव है, पचासों पृष्ठ और बढ़ जायँगे, जिस का अवसर नहीं।

स्त्री-सौन्दर्य तत्त्व पर, अनुवादक ने, अन्य ग्रन्थों से ले कर कुछ लिखा है; स्त्री शरीर के "चार भाग उज्ज्वल वर्ण,...चार कृष्ण,....चार रक्त,....चार भाग गोल...चार लम्बे,...चार मोटे...चार विशाल", होने चाहियें, ('काम-कुंज', पृ० ४३५); किस ग्रन्थ से उद्धरण किया, यह नहीं लिखा; इस विषय पर मूल-सूत्र वा टीका मे मुझे कुछ नहीं मिला; किन्तु पुरुष-सौन्दर्य-तत्व पर, न मूल मे, न टीका मे, न 'कामकुंज' ही मे, कुछ लिखा है; दोनों पर लिखना आवश्यक था; वाल्मीकि ने राम जी का भी और सीता देवी का भी 'आपाद-तल-चूड़ान्त', नख-सिख (पैर के नखों से सिर की शिखा तक, वर्णन किया है। अशोक-वनिका मे हनूमान् सीता देवी के पास गये, कहा 'मैं राम जी का दूत हूं'; सीता ने पूछा 'कैसे जानै ? राम जी के रूप का वर्णन करो'; हनुमान् ने कहा 'बहुत अच्छा—त्रि-स्थिरः, त्रि-प्रलम्बश्च, त्रि-समः, त्रिषु चोन्नतः, त्रि-ताम्रः, त्रिषु च स्निग्धो, गम्भीरः त्रिषु नित्यशः, विपुलांसों, महाबाहुः, कम्बुग्रीवः, शुभाननः। इत्यादि (सुन्दर कांड, अ० ३५) तथा सीता देवी के शरीर का वर्णन, युद्धकांड, सर्ग ४८, मे किया है। भारतीय अर्वाचीनो ने, पुरुष की ही दृष्टि से इस समग्र विषय को देखा; पुरुष ही स्वामी, भोक्ता, परिग्रही है, स्त्री केवल गुलाम है, भोग्य है, द्रव्य है—यही भाव दिन दिन बढते गये; इसी से उन मे यह महा दोष आ गया। प्राचीनो ने स्त्री को भी स्वामिनी, तुल्याधिकारिणी, सह-धर्म-चारिणी जाना माना। ढाई हजार वर्ष हो गये, ग्रीस देश मे आरंभ कर के आज तक, यूरोप मे, स्त्री और पुरुष दोनों ही के, तुल्य रूप से, सुन्दर चित्र, तथा सुन्दर मूर्त्तियां, प्रतिमाएं, बनाई जाती रही हैं।

काम-सूत्र के गुण-दोष

वात्स्यायन के काम सूत्र मे बहुत गुण हैं, बड़े भारी दोष भी हैं; जैसा पृ० ४०८ पर सूचित किया। पर-दार-गमन और वेश्या-गमन के सम्बन्ध मे, वात्स्यायन ने ऐसे शब्दों का बहुधा प्रयोग किया है—यथा '(सुराम्) पाययेयुः अनुपिबेयुः,' 'पर-परिग्रहान् अभ्युपगच्छेत्,' 'दूत्या साधयेत्' 'विद्वेषं ग्राहयेत्,' 'वर्णयेत्', 'दर्शयेत्', 'श्रावयेत्', 'योजयेत्', 'विसृजेत्', 'प्रेष

येत्', 'प्रवेशयेत्', 'कुर्यात्', 'आह्वयेत्', 'संसृज्येत', 'आचरेत्', 'बुध्येत', 'यतेत', 'प्रणिदध्यात्', 'विट-पुरो-गा प्रीतिं योजयेत्', 'आनयेत्', 'रंजयेत्', 'सारद्रव्याणि हस्ते कुर्वीत', 'असारं अपवाहयेत्,' 'निष्पीडितार्थं उत्सृजेत्', 'निष्कासयेत्', 'परित्यजेत्', इत्यादि। अर्थात् 'वेश्याओं के साथ शराब पीयै पिलावै, दूसरो की पत्नियो (परिग्रहों) से प्रसंग करै, दूती (कुट्टनी) के द्वारा साधै, द्वेष (कलह) करा दे, ऐसा ऐसा काम अपना मतलब साधने के लिये करै, विटो (वेश्याओं के दलालों, कुट्टनो) के द्वारा प्रीति के संदेश भेजै, वेश्या इस प्रकार से धनवान् मूर्ख को अपने वश मे करै, उस के सब सार धन को स्वयं हथिया ले (अपने हस्तगत कर ले), जब वह निस्सार निष्पीडित हो जाय, निचुड़ जाय, तब उस को इस प्रकार से निकाल दे,' इत्यादि[१]। वात्स्यायन के ये शब्द विधि-वाचक हैं, मानो उपदेश देते हैं कि ऐसा करना उचित है, और करना चाहिये। यह तो जैसे अन्धे को कूए का रास्ता बताना, और कहना कि इधर जाओ और कूए मे गिरो; अ-योनि मैथुन, वि-योनि-मैथुन, यूथ-मैथुन, ('गोष्ठी-परिग्रह') आदि के सम्बन्ध मे भी वात्स्यायन ने ऐसे ही दुष्ट पापिष्ठ शब्द कहे हैं। उचित प्रकार कहने का यह था और है कि, 'एवं दुष्टाः, असाधवः, अनार्याः, अदूरदर्शिनः, महापातकिनः, नरकगामिनः, कुर्वंति', 'इस इस रीति से दुर्बुद्धि असाधु अनार्य अदूरदर्शी दुष्ट, महापापी, घृण्य, स्वयं नरक मे गिरने वाले और दूसरो को गिराने वाले, स्त्री और पुरुष करते हैं; भले आदमी को ऐसों से सदा सावधान रहना चाहिये'। बहुभार्यक बहु-(पत्नी)-चारी के वृत्त के सम्बन्ध मे भी, वात्स्यायन के सूत्र मे कुछ ऐसा दोष है; पर उस की मात्रा इतनी घोर नहीं कही जा सकती; क्योंकि, उस समय मे, ऐसा बहु-विवाह, समाज मे, सद्-आचार के विरुद्ध नही समझा जाता था; किन्तु पर-दार-गमन, उस युग मे भी, अति पातक, और वेश्या-गमन भी अनुचित, अधर्म, निन्दनीय, मुख से तो कहा ही जाता था।

काम-सूत्र के उक्त घोर दोष का कारण प्रायः यही होगा कि वात्स्यायन, महा

१ काशी की वेश्याओं से पूछ कर, वेश्या शास्त्र का ग्रन्थ, 'कुट्टनी-मतं', काश्मीर की वेश्याओं के लिये, आठ नौ सौ वर्ष हुए, लिखा गया।

साम्राज्य के महाबुद्धिमान् महापंडित महामंत्री होते हुए, महाकुटिल भी थे, और उन के भाव और विचार और कृतियाँ, बहुत अंशों मे साम्प्रत-कालिक (माडर्न, modern) पाश्चात्य राष्ट्रनायकों की सी थीं। इस विषय मे इतिहास-विशेषज्ञो मे मतभेद है, कि अर्थ-शास्त्र नामक अद्भुत ग्रन्थ के रचयिता 'कौटल्य-चाणक्य', और काम-सूत्र के 'वात्स्यायन', एक ही थे या नहीं[1]। श्री श्याम शास्त्री ने, जिन्हों ने लुप्त 'अर्थ-शास्त्र' का पहिले पता लगाया, मुद्रण कराया, अंग्रेजी मे अनुवाद किया, अपने उपोद्घात मे, इस विषय को, विस्तृत विचार कर के, प्रायः संशयित ही छोड़ दिया; किंतु प्रथा यही है कि अर्थशास्त्र-कार, कामसूत्र-कार, पंचतंत्र-कार, चाणक्यनीति-कार, और गौतमीय न्यायसूत्र के (वात्स्यायन-नामक) भाष्य-कार भी, एक ही हैं। कलियुग-व्यास कहलाने वाले हेमचंद्र-आचार्य जैन ने, १२ वीं शती ई० मे, अपने कोष, "हैम", मे, उन के आठ नाम लिखे हैं,

वात्स्यायनः, मल्लनागः, कौटिल्यश्, चणकात्मजः,
द्रामिलः, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्तो,ऽङ्गुलश् च सः।

वात्स्यायन के नाम से 'काम-सूत्र' (और न्याय-भाष्य), कौटिल्य-चाणक्य के नाम से 'अर्थ-शास्त्र', विष्णुगुप्त के नाम से 'पंच-तन्त्र' ग्रन्थ विख्यात हैं; अन्य नामो से लिखे ग्रन्थों का, वा नामों के कारणो का, पता मुझे नहीं है। 'दश-कुमार-चरितं' मे दंडी कवि ने, विष्णुगुप्त और चाणक्य नाम के एक ही व्यक्ति के बनाये 'अर्थशास्त्र' से उद्धरण

१ विभिन्न शास्त्रों पर एक ही विद्वान् उत्तम ग्रन्थ लिखै, यह असंभव नहीं; हां, ऐसे विशिष्ट बुद्धिमान् विरल होते हैं; आजकाल भी यूरोप मे ऐसे बहुशास्त्री अग्रगण्य ग्रन्थकार विद्यमान हैं। तथा यह भी याद रखने की बात है कि, वात्स्यायन-चाणक्य के नाम से जो ग्रंथ कहे जाते हैं, वे, प्रायः, प्राक्तन सामग्री के संग्रह रूप, वा संक्षेप रूप, हैं, वा आशयानुवाद हैं; यद्यपि ऐसे कार्य को भी उत्तम प्रकार से करने के लिये विशिष्ट मेधा चाहिये। तथा यह भी याद रहे कि विशाल साम्राज्य के प्रधान मंत्री को अच्छे योग्य सहायकों की कमी नहीं।

किया है, और एक धूर्त के मुख से उस का अपहास कराया है।

'अर्थ-शास्त्र' की 'कुटिल' नीति प्रसिद्ध है। मै ने अपने ज्येष्ठ भ्राता, श्री गोविन्ददास जी से, जिन का ज्ञान, प्राचीन अर्वाचीन संस्कृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के विषय मे बहुत विस्तृत था, सुना, कि शुद्ध शब्द 'कौटल्य' है, क्योंकि विष्णुगुप्त-चाणक्य के पूर्वज का नाम 'कुटल' था;' पर उन की कुटिल-नीति के कारण 'कौटल्य' के स्थान पर 'कौटिल्य' को, सहस्र मुख वाली जनता ने, सिद्ध कर दिया; पारदारिक, वैशिक, प्रभृति विषयों मे जो कुटिल नीति कामसूत्र मे मिलती है, वैसी ही राजनीतिक व्यवहारो के लिये अर्थशास्त्र मे भी है। पंडित-मंडली मे ऐसा प्रायोवाद है कि, इस कुटिलता के हेतु से ही 'अर्थशास्त्र' का पठन पाठन और व्यवहरण, (व्यवहार मे प्रयोजन, प्रयोग करना, काम मे लाना), उच्छिन्न हो गया। उस के पीछे के अन्य ग्रन्थों मे कहीं कहीं छोटे मोटे उद्धरणो से उस की स्मृति बनी रही है। परन्तु यह प्रतीति, दृढ़मूल नहीं जान पड़ती; क्योंकि समाज के जीवन मे धार्मिकता बढ़ी नहीं, राजनीतिक व्यवहारों मे कुटिलता घटी नहीं; प्रत्युत, पांचवीं छठवीं शती ई० के पश्चात्, कामीय दुश्चरित्र, आभिजात्य-मद, जाति-विद्वेष, धर्माभास, छल,

१ श्री गोविन्ददास जी के प्रोत्साहन से, और उन्हीं की दी हुई कामसूत्र और जयमंगला टीका की प्रतियों से, (जिन प्रतियों को उन्हों ने दक्षिण देश मे पाया था), काशी मे, प्रथम वार, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ मे, इस लुप्तप्राय प्राचीन ग्रन्थ का सकलांग मुद्रण हुआ। द्वितीय संस्करण के लिये उन्हों ने और बहुत सी सामग्री एकत्र की थी, एतद्विषयक पाश्चात्य साहित्य की भी, और, प्रतिवर्ष के अपने भारत देशाटन मे, भारतीय ग्रन्थों की, तथा वर्त्तमान काल के कामीय व्यवहारों और रीतियों की भी; पर श्वास रोग से बहुत पीड़ित रहने, और ६० वर्ष की उमर मे शरीर छूट जाने, से, द्वितीय संस्करण की उन की इच्छा पूरी न हो सकी। भारत के कितने ही छापाखानो मे छपे, विविध शास्त्रों के पचासों संस्कृत ग्रन्थों की भूमिकाओं मे, सम्पादकों ने, उन से सहायता पाने के लिये, कृतज्ञता प्रकाश किया है।

कपट, द्वैधीभाव, विश्वासघात, परस्पर कलह, और युद्ध, भारत मे बढ़ते ही गये। अन्य कारण जो कुछ हो, मुख्य कारण, 'अर्थ-शास्त्र' की नीतियों के अन्-अनुष्ठान का, और ग्रन्थ के उच्छेद का, यह जान पड़ता है कि, जिस प्रकार के साम्राज्य और समाज की व्यवस्था के लिये, और जिस के बीच, वह लिखा गया, वह प्रकार ही, काल के प्रवाह से, अर्थात् कालकृत इतिवृत्तों से, विदेशी आक्रमणो से, स्वदेशी शील-भ्रंश से, बदल गया; न वह साम्राज्य रहा, न वह समाज का रूप; व्यास जी ने कृष्ण के मुख से कहा है, "ज्ञानानि अल्पी-भविष्यन्ति, दिवं याते पितामहे", 'जब पितामह भीष्म परलोक को चले जायंगे, तब पृथ्वी पर ज्ञान अल्प हो जायंगे, इन के ऐसा कोई 'वेद-पार-ग' न रह जायगा'; सो, भीष्म के बाद, ढाई हजार वर्ष तक, शास्त्र-बल, शस्त्र-बल, धन-बल, श्रम-बलों का, सब का, ह्रास ही होता रहा; फिर बौद्धकाल मे, वैदिक और बौद्ध दोनो साहित्यों और ज्ञानो ने, तथा राष्ट्रीय शक्ति ने, परस्परस्पर्धा से, प्रायः एक हजार वर्ष तक, अपना जीर्णोद्धार किया; और उस के पीछे, पुनः सब प्रकार का ह्रास ही होता गया, समाज का रूप भी अधिकाधिक विकृत हो गया।

काम-सूत्र मे एक और दोष है, जो उस मे आदि से अन्त तक भरा है; विक्रम शाका के प्रायः सभी साहित्य मे यह व्याप्त है; इस दोष की चर्चा कई बेर पहिले की गई है; अर्थात्, स्त्री भोग्य और पुरुष भोक्ता, स्त्री परिग्रह (मिल्कीयत) और पुरुष परिग्रही (मालिक), यह मिथ्या भाव रूपी दोष; यह दोष कामसूत्र मे आद्योपान्त भरा है, इस से, सूत्रों का अच्छा अंश भी कलुषित हो रहा है।

गुण भी इस मे बहुत हैं; 'सूचनात्, सूचीवद् विषयग्रन्थनात् च, सूत्र'', जो विषयों का सूचन करै, और जैसे सूई कपड़ों का, वैसे उन का परस्पर ग्रन्थन करै, उन को एक दूसरे के साथ सी दे, वह सूत्र; इस लक्षण को यह ग्रन्थ चरितार्थ करता है। बहुत स्वल्प शब्दों मे बहुत बातें कह दी हैं। 'सैकालोजी आफ़ सेक्स', Psychology of Sex, का सार इस मे सब आ गया है। पाश्चात्य ग्रन्थ, उदाहरणो और टीकाओं का काम देंगे, कामिक मानस वृत्तियों और शारीर चेष्टाओं के सम्बन्ध मे। अष्टाङ्ग मैथुन

और एकचारिणीवृत्त के सम्बन्ध मे इस के गुण की (तथा त्रुटियो की भी) चर्चा की जा चुकी है; एक-(पत्नी)-चारी पति के वृत्त का भी, तथा बहु-(पति)-चारिणी 'पत्नी' का भी, हाल लिखना चाहता था। देहरादून, कमाऊं, गढ़वाल आदि पहाड़ी प्रदेशो मे, अब भी, एक स्त्री का, कई भाइयो से, एक साथ विवाह, कही कहं, हो जाता है. जैसा द्रौपदी का पाडवों से; तिब्बत मे, तथा सीलोन आदि देशो मे भी, यह प्रथा मिलती है। काम-सूत्र के पीछे जो ग्रन्थ संस्कृत मे कामशास्त्र के लिखे गये, वे सब प्रायः इसी का अनुकरण करते हैं; कोई नई बात नहीं लिखते। अनुमान होता है कि भारत का शास्त्रीय ह्रास, वात्स्यायन के समय से थोड़े ही समय बाद शुरू हो गया। बुद्धदेव के समय से स्कन्दगुप्त और शशाकगुप्त के समय तक, हजार बारह सौ वर्ष का युग, भारत वर्ष के उन्नति और समृद्धि का था; पर किन्हो पहलुओ (पक्षों, अंशो) मे, ह्रास का भी ; बुद्ध से दो सौ वर्ष पीछे चन्द्रगुप्त और चाणक्य हुए ; स्यात् वैसा साम्राज्य, उस समय, पृथ्वीतल पर अन्य किसी देश मे नहीं था; यद्यपि साम्राज्य ('एम्पायर' empire), प्रतापी भी, इस के समकालीन, पृथ्वी पर कई थे, चीन मे, ईरान मे, ग्रीस मे, और रोम मे। चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक के समय मे साम्राज्य ने और भी विस्तार पाया और उन्नति किया। पाणिनि आदि, विष्णुगुप्त-चाणक्य-वात्स्यायन से बहुत पहिले के नही होगे ; इन के सम्बन्ध मे रोचक कहानियां (कथानक) 'कथा-सरित्-सागर' नामक बृहत् काव्य के आरम्भ मे कहीं हैं। पंच-तन्त्र मे विष्णुगुप्त ने लिखा है,

सिंहो व्याकरणस्य कर्त्तुर् अहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
मीमांसाकृतं उन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिं,
छंदोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलं;
हिंस्राणां हि तमोविमूढमनसां कोऽर्थः तिरश्चां गुणैः।

'व्याकरण-सूत्र-कार पाणिनि को सिंह ने, मीमांसा-सूत्र-कार जैमिनि को हाथी ने, छंदः-सूत्र-कार पिंगल को मगर ने मार डाला ; हिंस्र पशुओं को गुणों से क्या मतलब ?'। इस से जान पड़ता है कि पंचतन्त्रकार से बहुत पुरानी बात यह सब न होगी। कामसूत्र से ग्रंथकार की बहुश्रुतता

प्रतिपद जान पड़ती है ; रेल, तार, छापा आदि न होते हुए भी, भारत के विभिन्न प्रांतों के विशेष विशेष कामीय वृत्त और आचार व्यवहार लिखे हैं ; यथा, 'प्रहणन' के दुष्ट प्रकारों से चोल देश के राजा ने चित्रसेना गणिका के प्राण ही ले लिये ; शा(सा?) तवाहन शातकर्णि ने भी महादेवी मलयवती को यों मार ही डाला ; पाड्यराज के सेनापति नरदेव ने एक नटी को कानी कर दिया ; गूर्जरात (गुजरात) देश मे, कोट्ट के राजा आभोर ने, जब श्रेष्ठी (सेठ) वसुमित्र के घर मे, उस की भार्या के साथ व्यभिचार करने के लिये प्रवेश किया, तब राजा के छोटे भाई ने, जो स्वय राजा बनना चाहता था, एक रजक (धोबी) के द्वारा, आभीर को, वहीं, वसुमित्र के घर मे, मरवा डाला ; काशिराज जयत्सेन, जब अपने अश्वाध्यक्ष के घर मे, उस की भार्या से व्यभिचार के लिये, घुसा, तब अश्वाध्यक्ष ने स्वयं उसे वहीं मार दिया ; इत्यादि । लाट देश (मालव से पश्चिम), आन्ध्र, मध्यदेश, वाह्लीक, अवन्ती, मालव, आभीर देश (कुरुक्षेत्र आदि), पंचनद, सिन्धु, अपरान्त (पश्चिम समुद्र के पास), स्त्री राज्य (दक्षिण मे, पश्चिम समुद्र के तीर), कोशल, महाराष्ट्र, पाटलिपुत्र, द्रविड़ देश, कोंकण से पूर्व वनवास देश, गौड़ देश, अहिच्छत्रा, साकेत, शौरसेन देश (कोशाम्बी के दक्षिण), वत्सगुल्म-देश, विदर्भ, हिमवद् देश, अग, वंग, कलिंग, आदि मे इस इस प्रकार के मैथुनीय व्यवहार होते हैं--ऐसे वर्णनों से वात्स्यायन की बहुश्रुतता और विविध-देश-वार्त्ता-सग्राहकता सिद्ध होती है । आधुनिक पाश्चात्यों मे ये गुण परा काष्ठा को पहुंचे हैं । जो वैज्ञानिक साधन इन्हों ने अपने बुद्धिबल से उपलब्ध किये हैं, वे वात्स्यायन को स्वप्न मे भी प्राप्य नहीं थे; इन के बल से, इन पाश्चात्यों ने, समग्र पृथ्वीतल को, भूगर्भ को, समुद्र के उदर को, वायु मंडल को भी, छान डाला है ; अब नये भारतीय भी उन का अनुकरण करने लगे हैं । ऐसे उपकरणों के अभाव मे भी चाणक्य-वात्स्यायन आदि ने जो किया, वह बहुत किया ।

कामसूत्र मे, आज काल के यूरोप-अमेरिका की सी ऐतिहासिक बुद्धि, समीक्षा-दृष्टि, गवेषणा-रुचि, और वैज्ञानिक तर्कशीलता और वास्तविकता

(वस्तुस्थिति की जाच) दिखाई देती है ; इन्ही हेतुओं से वह युग, शास्त्रोत्कर्ष का युग भी था ; इधर, सैकड़ो वर्ष से, नई खोज किसी शास्त्र के विषय मे, नही देख पड़ती (स्यात्, कुछ अल्प मात्रा मे, वैद्यक को छोड़ कर); पुराने शब्दो पर ही 'पंडित' लोग धन्यम्मन्य रहते हैं, 'शास्त्र, शास्त्र, शास्त्र' की रट चारो ओर सस्कृतज्ञो मे होती हैं; नये उपज्ञान की सहायता से शास्त्र-संस्कार, शास्त्र-सशोधन, नूतन-शास्त्र-प्रवर्त्तन का यत्न नही, शक्ति नही; इसी से, उत्कर्ष के स्थान मे अपकर्ष। पाश्चात्य देश से, नवीन बुद्धि, नवीन उत्साह, नवीन तर्कशक्ति, नवीन प्रश्नोत्तर-रुचि, नवीन गवेषणा-सामर्थ्य, का नवीन मत्स्यावतार, इस देश मे जगदात्मा ने भेजा है; यदि परस्पर आदर और गुणग्रहण का भाव अधिक बलवान्, और दोष-ग्रहण और तिरस्कार और द्वेष का भाव कम, हो, तो पूर्व और पश्चिम दोनो देशो मे, पुनरपि 'वेदो' का, ज्ञानो का, शास्त्रो का, शातिस्थापक, प्रीतिकारक, समृद्धिवर्धक उद्धार और विकास होगा। अस्तु। एव अस्तु।

काम-सूत्र, विशेषतः उस का गुणवान् अंश, सब गृहस्थो को पढ़ना जानना उचित है ; प्रतिपद चेतावनियो के साथ साथ; दोषवान् अंश के सहित समग्र ग्रन्थ, प्रौढ़ों के ही पढ़ने योग्य है। सब अश इस के, सब छोटी बड़ी उमर वालो के पढ़ने के योग्य नहीं हैं; कोमल चित्त वाले अल्प-वयस्को को इस से साध्वस और अति क्षोभ हो सकता है।

समाज के सब अंगों के उपकार के लिये आवश्यक है कि, कामशास्त्र पर एक श्रेणी, छोटे बडे ग्रन्थो की, तयार की जाय, जैसी पश्चिम देश मे, समाजहितैषियो ने, तयार किया है। १८६७ ई० मे पादरी सिल्वेनस स्टाल (Rev. Sylvanus Stall) ने, एक श्रेणी, 'सेक्स ऐण्ड सेल्फ़ सीरीज़' के नाम से छापी; उस मे (१) 'बालक को क्या जानना चाहिये', (२) 'बालिका को क्या', (३) 'युवा को क्या', (४) 'युवती को क्या', (५) 'विवाहित को क्या', (६) 'विवाहिता को क्या', (७) 'वृद्ध को क्या', (८) वृद्धा को क्या जानना चाहिये', ऐसी आठ पुस्तकें हैं; बहुत अच्छे लेख हैं; पादरी 'सद्ब्राह्मण' थे; शुद्ध लोकोपकार के हेतु, उस समय की दृष्टि से बहुत सामाजिक निन्दा की जोखिम उठा कर, उन्हो ने यह उत्तम कार्य किया।

भारत समाज के लिये ऐसी ही श्रेणी, स्वदेशी भाषा मे, पाश्चात्य नवीनतम ज्ञान से उपोद्बलित, बनाना चाहिये। पादरी श्री स्टाल के ग्रन्थ (अब, १९४६ ई० से) चालीस पचास वर्ष पहिले लिखे गये, पर वे आज भी नये हैं, और बहुत उपयोगी हैं। इधर हाल मे, दस पन्द्रह वर्ष के भीतर, जननेंद्रियों की बनावट, उन के अवयवों के रूप, कार्य, निस्स्यन्द आदि के, तथा गर्भाधान-निरोध आदि के प्रकारों के, विषय मे नये ज्ञान और उप-ज्ञान, नये आविष्कार, बहुत हुए हैं, और इन विषयों पर बहुत ग्रन्थ लिखे गये हैं। सर्व-साधारण के उपयोग की बातें, डाक्टर मेरी स्टोप्स (Dr, Marie Stopes) के ग्रन्थों मे अच्छी नीयत से लिखी गई हैं, यद्यपि उन का भाव उतना ऊंचा सात्विक नहीं है जैसा पादरी स्टाल का।[१] पृ० २११-२१२ पर लिख आये हैं कि बच्चे, अक्सर, माता, पिता, अन्य गुरुजनो, वा अधिक उमर वालों से पूछते हैं, 'नया बच्चा कहां से आया, कैसे आया,' (जोड़ा-लगते हुए पशुओं पक्षियों को देख कर) 'यह क्या कर रहे हैं,' इत्यादि; वृद्ध लोग प्रायः हँस कर टाल देते हैं, या बहकाने वाले मिथ्या-प्राय उत्तर दे देते हैं, या (अति अनुचित) धमका देते हैं और ऐसे प्रश्न पूछने को मना कर देते हैं; अपनी बाल्यावस्था के ऐसे ही कुतूहल को, और उचित उत्तर न पाने से जो चित्त मे अशांति हुई, और इस का अपने अनुभव मे जो फल हुआ था, उस सब को, दुर्भाग्य से, भूल जाते हैं; फल प्रायः यही हुआ और होता है, कि बच्चे दूसरे सयानों से पूछते हैं, जो उन के हितचिंतक नहीं, जो निर्लज्ज हैं, अथ च जो अपनी कामिक वासनाओं को इन अभागे भोले बच्चों पर ही निकालते हैं, उन को दुष्ट उपदेश देते हैं, दिखा कर समझाने के बहाने ऐसे पाप तक भी कर डालते हैं जिन से उन बच्चों के शरीर और चित्त सदा के लिये दूषित और रोगी हो जाते हैं, और सारा जीवन विष से सिक्त हो जाता है। ऐसे घोर दुष्फलों का प्रतिपादन, 'सैको-ऐनालिसिस,' psycho-analysis, नामक उपशास्त्र के पाश्चात्य ग्रन्थकारों ने बहुत और अच्छा किया है।

१ पृ० ३२२-३२४ पर अन्य ग्रन्थों की चर्चा की गई है; उन मे, डाक्टर स्टोन और डाक्टर एक्स्नर के ग्रन्थ बहुत अच्छे और अधिक उपयोगी हैं।

चेतावनी

ऊपर सूचना की गई कि, वात्स्यायन ने प्रलोभन और अधःपतन की सामग्री बहुत, और उन से बचाने वाली चेतावनी के शब्दों की मात्रा, नहीं के बराबर, पाठक के सामने रक्खी है; मानो एक पंसेरी के सामने एक रत्ती। जो चेतावनी उन्हों ने ग्रन्थ के अन्त मे रक्खी है, वह आदि मे रखना उचित था। धर्म-अर्थ-काम को वात्स्यायन ने प्रथम सूत्र मे नमस्कार कर के, आगे धर्म और अर्थ का लक्षण कह दिया; काम का तो सारे ग्रन्थ ही मे अधिकार है; पर मोक्ष का, दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र मे नाम मात्र लिख के, और यह कह के कि, उस की चिंता वृद्धावस्था मे करनी चाहिये, उपेक्षा ही की है; यह भी ठीक नहीं किया। चारो पुरुषार्थों का, साक्षात् वा परम्परया सम्बन्ध है ही; इस को ध्यान मे रख कर, मोक्षशास्त्र के अन्तर्गत 'अध्यात्म'-शास्त्र का प्रकाश, प्रतिपद, कामशास्त्र पर डालते रहना उचित है; इसी का यत्न यहां 'कामाध्यात्म' मे किया गया है। जो थोड़ी सी चेतावनी वात्स्यायन ने की है, उस का संग्रह यहां कर देता हूँ।

औपरिष्टक आदि के सम्बन्ध मे कहा है कि सज्जन, विशेष कर के राजा, मंत्री, वा अन्य विद्वान्, जिस के ऊपर जनता विश्वास किया करती है, वह ऐसे निकृष्ट काम न करै करावै,

न शास्त्रं अस्ति इति एतावत् प्रयोगे कारणं भवेत् ;
शास्त्रार्थान् व्यापिनो विद्यात्, प्रयोगांस तु एकदेशिकान् ;
रसवीर्यविपाकादि, श्वमांसस्य अपि, वैद्यके
कीर्तिताः; इति तत् किं स्याद् भक्षणीयं विचक्षणैः ?
संति एव पुरुषाः केचित्, संति देशास् तथाविधाः,
संति कालाश्च, येषु एते योगाः न स्युर् निरर्थकाः।

'शास्त्र की पोथी मे बात लिखी है, इतने ही से उस का प्रयोग नहीं कर डालना चाहिये; शास्त्र मे अनुगमात्मक व्यापक बातें प्रायः लिखी जाती हैं, प्रयोग तो किसी किसी का विशेष विशेष अवस्था मे किया जाता है; जो एक रोगी के लिये चर्या लिखी है, वह सब प्रकार के सब रोगों के सब रोगियों को तो नहीं करना चाहिये; न स्वस्थ ही को;

कुत्ते के मांस के भी रस, वीर्य, विपाक आदि का वैद्यक मे वर्णन किया है, इस लिये क्या उस को खा ही लेना चाहिये ? किसी विशेष व्यक्ति के लिये, विशेष देश काल मे, वे उपयोगी हो सकते हैं।' प्रहणन आदि, "कष्टं अनार्यवृत्तं अनादृत्यं", अनार्यों के आचरण, तिरस्कार के योग्य, हैं।

बहुभार्यता के सम्बन्ध मे,

> **वरं वश्यो दरिद्रोऽपि निर्गुणोऽपि आत्मधारणः;**
> **गुणैर् युक्तोऽपि न तु एवं बहु-साधारणः पतिः।**

'वही पति अच्छा है जो अपनी अकेली पत्नी से प्रीति करता है, जो उस का वश्य है, जिस की वह पत्नी वश्य है, चाहे वह पति दरिद्र भी हो, चाहे निर्गुण भी हो, केवल अपने कुटुम्ब मात्र का किसी तरह से पालन कर लेता हो। वह पति अच्छा नहीं जिस की बहुत सी पत्नियां हों, चाहे उस मे कई गुण भी हों, और वह धनाढ्य भी हो।'

पारदारिक के विषय मे,

> **एभ्यः एव च कारणेभ्यः स्वदारान् रक्षयेत।**
> **संदृश्य शास्त्रतो योगान्, पारदारिक-लक्षितान्,**
> **न याति छलनां कश्चित् स्वदारान् प्रति शास्त्रतः।**
> **पाक्षिकत्वात् प्रयोगाणां, अपायानां च दर्शनात्,**
> **धर्मार्थयोश् च वैलोम्यात्, नऽाचरेत् पारदारिकं;**
> **तद् एतद् दारगुप्त्यर्थं आरब्धं, श्रेयसे नृणां;**
> **प्रजानां दूषणाय एव न विज्ञेयो हि अयं विधिः।**
> **न राज्ञां महामात्राणां वा परभवनप्रवेशो विद्यते;**
> **महाजनेन हि चरितं एषां दृश्यते, अनुविधीयते च।**
> **न तु एव पर-भवनं ईश्वरः प्रविशेत्।**
> **न तु एव एतान् प्रयुंजीत राजा, लोकहिते रतः;**
> **निगृहीतारिषड्वर्गः तथा विजयते महीं।**

'पारदारिक व्यभिचारियों के छलों को जान कर, उन से सज्जन अपनी पत्नी की रक्षा करें; व्यभिचार के महा दोषों को पहिचान कर, और उस के अपायों, अनर्थ की परम्पराओं, को देख कर, धर्म और अर्थ दोनों

का उन से नाश जान कर, स्वय सज्जन ऐसे दुष्कर्म से अपने को और दूसरो को बचाता ही रहे ; काम-सूत्र मे, पारदारिक मनुष्यो, तथा वेश्याओ, कुट्टनियों, विटों, के, कपटों, ठगने के प्रकारो, और अति नीच, अति कमीने, आचरणो, का वर्णन किया है; इसी लिये किया है कि, भले आदमो, इन को जान कर, सावधान रहैं, अपनी, और पत्नी, पुत्र, पुत्री, तथा अन्य कुटुम्बी जन और बन्धु बान्धव की, रक्षा कर सकै।[१] यह सब इस लिये नहीं वर्णन किया है कि इस से प्रजा को, दुराचार करा के, नरक मे गिराया जाय। विशेष कर के राजा और राजमंत्री आदि श्रेष्ठ अधिकारियो को ऐसे दुराचरण से परहेज करना चाहिये ; क्योंकि महा-जन, जन-समूह, सब प्रजा, इन के आचरित को देखती है, और उस का अनु-विधान, अनुकरण, करती है। जो राजा अपना भला और प्रजा का भला चाहता है, वह काम क्रोध आदि अपने आभ्यंतर छः रिपुओं को अपने वश मे लाता है; और तब सब जनता उस के वश मे स्वयं आ जाती है।'

अन्त मे वात्स्यायन ने लिखा है,

> **बाभ्रवीयांश् च शास्त्रार्थान् आगमय्य विमृश्य च,**
> **वात्स्यायनश् चकार इदं कामसूत्रं यथाविधि ;**
> **पूर्वशास्त्राणि संदृश्य, प्रयोगान् अनुसृत्य च,**
> **कामसूत्रं इदं यत्नात् संक्षेपेण निवेदितं।**
> **धर्मं, अर्थं च, कामं च, प्रत्ययं, लोकं एव च,**
> **पश्यति एतस्य तत्त्वज्ञो, न च रागात् प्रवर्त्तते।**
> **अधिकारवशाद् उक्ताः ये चित्राः रागवर्धनाः,**
> **तदनन्तरं अत्र एव ते यत्नाद् विनिवर्त्तिताः।**

१ दूसरों की दाराओं के पीछे पड़ कर, वा वेश्याओं के फंदों मे फंस कर, मनुष्य जो मुसीबतें भुगतते हैं, वह तो, चारों ओर थोड़ा भी आँख घुमाने से, थोड़ा भी विचार करने वाले को, तत्काल मालूम हो जाती हैं; पर, मनुष्यों मे, विचारशीलता की अभी बहुत ही कमी है, इस लिये, पुनः पुनः याद दिलाना पड़ता है। अवध के एक तालुक़दार राजा,

तद् एतद् ब्रह्मचर्येण, परेण च समाधिना,
विहितं लोकयात्रार्थं; न रागार्थोऽस्य संविधिः।
रक्षन् धर्मार्थकामानां स्थितिं स्वां, लोकवर्त्तिनीं,
अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवति एव जितेन्द्रियः;
तद् एतत् कुशलो विद्वान्, धर्मार्थौ अवलोकयन्,
नातिरागऽात्मकः कामी प्रयुञ्जानः प्रसिद्ध्यति।

'बाभ्रवीय शास्त्र को पढ़ कर, और उस का अच्छी तरह विमर्श कर के, तथा पूर्व मे लिखे अन्य शास्त्र-ग्रन्थो को देख कर, और लोक मे प्रवर्त्तमान प्रयोगों आचरणों का भी पता लगा कर, उन का अनु-सरण

सन्, १६४२ ई० मे चौदह वर्ष की कैद की सजा भुगत रहे थे; उन की राजमाता, विधवा, को भी वही कारावास दंड हुआ था। क्यों? दोनो ने मिल कर, राजा ने अपनी रानी, राजमाता ने अपनी पतोहू, की हत्या का यत्न किया; उस पर पिस्तौल से गोली चलवाई, उस के एक बांह मे गोली लगी, जान बच गई। क्यों यह हत्या का यत्न किया? राजा एक अन्य स्त्री पर आसक्त थे; वह, विवाह के द्वारा इन को वश किये बिना, इन के साथ नहीं रहना चाहती थी, न सपत्नी को ही बर्दाश्त कर सकती थी; इस लिये, राजा ने, पहिली पत्नी को मार कर, उस दूसरी पत्नी से विवाह करना चाहा था; और माता ने, इस 'शुभ कार्य' मे, उन का साथ दिया; अपनी पुत्रवधू से अन्यथा भी अप्रसन्न थीं; हिन्दू घरों मे, सास पतोहू मे अनबन हुआ ही करती है; अंग्रेजी घरों मे तो दोनो एक साथ रहती ही नहीं। यह भी लिख देना चाहिये कि, मुकद्दमे के दौरान मे, राजा की ओर से, रानी के ऊपर भी दुश्चरित्र का आक्षेप किया गया था। दूसरे उदाहरण देखिये; बहुत वर्ष नहीं हुए, काशी के दो सम्पन्न घरों के दो युवा लड़कों ने, आत्महत्या कर ली; एक ने फांसी लगा कर, एक ने विष खा कर। क्यों? उन के पिताओं पर दो वेश्याओं का ऐसा जादू चढ गया था, कि उन वेश्याओं को अपने घर मे ला कर, अपने पत्नियों के सिर पर बिठा दिया था। लड़कों से माताओं की दुर्दशा, और अपनी तिरस्कृति, सही न गई।

अनु-एषण अनु-संधान करके, वात्स्यायन ने बहुत संक्षेप से यह कामसूत्र कहा। इस के तत्त्व को समझ लेता है, वह धर्म-अर्थ-काम को, लोक मे प्रत्यय (प्रतीति, विश्वास्यता) पाने के मर्म को, तथा लोक के आचरण को तत्त्वतः जान जाता है, और फिर कभी अति-राग से अन्ध नहीं होता। अधिकार-प्राप्त, प्रसंग-प्राप्त, होने से, जिन राग बढ़ाने वाले योगो प्रकारो का यहा वर्णन किया, उन का विनिवर्त्तन, आवर्जन, अवधीरण, भी, अनन्तर ही यहा कर दिया है। यह सब ग्रन्थ, ब्रह्मचर्य का पालन कर के समाधिपूर्वक, एकाग्र चित्त हो कर, वात्स्यायन ने इस उद्देश्य से लिखा, कि जनता की लोक-यात्रा, अधिक सुख और कम दुःख के साथ, सरलता से निबहै;ऐसे ही ब्रह्मचर्य और समाधि से इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए; तभी अध्ययन सुफल होगा। राग बढ़ाने के लिये यहा विधान नही किया है। धर्म और अर्थ (और मोक्ष) को जो सदा ध्यान से रखता है, काम से अन्धा नही होजाता, उचित मात्रा मे, जितेंद्रिय हो कर शास्त्र के तत्त्व को समझ कर, धर्मानुकूल प्रकारो से ही, सात्त्विक काम का सेवन करता है, वह धर्म-अर्थ-काम तीनो की सिद्धि प्राप्त करता है'। इति।

समापन

सर्वांगीण कामशास्त्र की रूपरेखा जो ऊपर खीची है, निश्चयेन उस मे बहुत संशोधन परिष्करण की आवश्यकता है। पाठक को, उस से, केवल स्थूल रूप से विदित हो जायगा कि कामशास्त्र मे क्या बाते होनी चाहिएं। कामाध्यात्म को समाप्त करता हुआ, पुनरपि भारत जनता को ध्यान दिलाता हूं, कि बहुविध आपत्तियो से नई पुश्त को बचाने के लिये, ऐसे कामशास्त्रीय, लघु, मध्य, बृहद् ग्रन्थो की श्रेणी, आर्ष, वत्सल, लोकोपकारक भाव से लिखी हुई, समाज को अत्यंत अपेक्षित है, जिन ग्रन्थो को माता, पिता, अध्यापक, वा अन्य गुरुजन, अपने बच्चो, पुत्र-पुत्रियो, पौत्र-पौत्रियों, नप्ता-नप्त्रियों, शिष्य-शिष्याओं, युवक-युवतियो, वर-वधुओ

के हाथ मे, यथासमय, निःसंकोच, इस पूर्ण विश्वास के साथ दे सकैं कि, इन के पाठ से उन का भला ही होगा।

ॐ

(परमात्म-स्वभावोऽयं, काम-संकल्पना-मयः,
'अहम्-एतत्' प्रवृत्त्यै यत्; 'एतत्-न' च निवृत्तये ।)
संकल्पाभिरुचिः कामः सनातनतमोऽभवत् ;
सनातनो हि संकल्पः काम इति अभिधीयते ।
जगत्पतिर् , अनिर्देश्यः, सर्वगः, सर्वभावनः,
हृच्छयः सर्वभूतानां, ज्येष्ठो रुद्राद् अपि प्रभुः;
(म० भा०, अनु०, अ० १३१) ।
कामः सर्वमयः पुंसां स्व-संकल्प-समुद्भवः;
कामात् सर्वे प्रवर्त्तंते, लीयंते, वृद्धिं आगताः;
(शिव पु०, धर्म सं०, अ० ८) ।
केचित् कर्म वदंति एन, स्वभावं अपरे जनाः,
एके कालं, परे दैवं, पुंसः कामं उत अपरे;
एष भूतानि, भूतात्मा, भूतेशो, भूतभावनः,
स्वशक्त्या मायया युक्तः, सृजति, अत्ति च, पाति च;
(भाग०, स्कं ४, अ० ११) ।
(कामाय मायाबीजाय, सर्वसंसारकारिणे,
परमात्मस्वरूपाय, दैवीप्रकृतये नमः ।)
ज्ञानिनां अपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा,
बलाद् आकृष्य मोहाय, महामाया प्रयच्छति ।
दैवी हि एषा गुणमयी साऽात्ममाया दुरत्यया,
प्रपद्यंते ये आत्मानं एव, ते संतरन्ति तां ।
सर्वः तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्‌बुद्धिं आप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु ।

ॐ

काम-अध्यात्म—परिशिष्ट १

बच्चों की शिक्षा।

दादा जी और पौत्र-पौत्रियों की प्रश्नोत्तरी।

पौ० दादा जी, नये बच्चे कहाँ से आते हैं?

दा० बच्चा, जैसे पेड़ मे फल लगते हैं, वैसे माता के पेट के भीतर नये बच्चे होते हैं।

१ देहात मे, कामीय बातों पर आवरण (पर्दा) कम रक्खा जाता है। स्त्री-पुरुष, अनावृत (खुले) शब्दों मे, जनन-इन्द्रियों का नाम लेते हैं, और उन की बातें करते हैं। गाय-बैल, भैंस-भैंसे, बकरी-बकरे, भेड-मेढ़े, गधी-गधे, मुर्गी-मुर्गे आदि पाले जाते हैं; समय-समय पर, ये पशु स्वयं भी जोडा लगते हैं; और पालकों द्वारा लगाये जाते भी हैं; लड़की-लड़के, बिना रोक-टोक देखते हैं; ऐसों को, इस विषय पर, सयानो से पूछने की आवश्यकता नही रह जाती; पर उन को भी, शिक्षा और चेतावनी की आवश्यकता है, जिस मे वे, कच्ची उमर मे, विवाह से पहिले, आपस मे, खेल की ही बुद्धि से, इन पशुओं की नकल करने की चेष्टा न करें और भ्रष्ट न हो जावें। जो लड़की-लड़के ऐसे घरों और अवस्थाओं मे पलते हैं, विशेष कर नगरों मे, जहां इन बातों पर कुछ न कुछ पर्दा डाला जाता है, उन के लिये स्यात् यह प्रश्नोत्तरी कुछ उपयोगी हो सकती है, (पृ० २११-२१२, ४१७, ४२२, ४२३ पर इस की आवश्यकता की चर्चा की गई है)। नगरों के ऐसे लड़की-लड़कों को, उस विषय मे, उत्कट कुतूहल होता है; यदि माता-पिता, जिन का ही यह विशेष रूप से कर्तव्य है, उस कुतूहल को, उचित शिक्षा दे कर, शांत न करें, तो वे दूसरे सयानो से पूछते हैं; ये सयाने अक्सर दुष्ट उत्तर देते हैं, दिखा कर सिखाने के बहाने अपनी गुह्य इन्द्रिय का स्पर्श कराते हैं, और यहां तक पापिष्ठ आचरण करते हैं कि उन के साथ अंगुलिक्षेपण, गुदामैथुन, कन्यादूषण तक कर डालते हैं। मुझ से एक प्रतिष्ठित कुल के मित्र ने कहा कि उन के लड़के को उस के

पौ० पिता के पेट मे भी होते हैं ?

दा० नहीं ।

मामा ने ही इस तरह से दूषित किया; और इस घोर दुराचार का ऐसा असर हुआ कि लड़के की प्रकृति मे शाश्वतिक विकार आ गया; युवा हो कर, विवाह कर के, गवर्मेंटी ऊँची नौकरी पा कर के भी, भीतर-भीतर ऐसा विक्षिप्त सा क्षुब्ध रहता था कि एक दिन उस ने, बिना किसी व्यक्त कारण के, आत्मघात कर लिया। दूसरे मित्र ने कहा कि उन की रिश्तादार एक कन्या को, उस की बड़ी बहिन के पति ने, उस बहिन को ही साध कर, कुट्टनी बना कर, कन्या को भ्रष्ट किया, जब वह कन्या, बहिन के घर मे, कुछ दिनो रही थी। ब्रिटेन मे, विवाहिता स्त्रियों की अविवाहिता बहिनो का, उन के पतियों द्वारा, अंशन दूषण अधिक होने के कारण, वहां एक कानून भी बनाया गया, इस प्रकार के दुराचार को रोकने के लिये। ऐसे हेतुओं से, नादान कुतूहली बालक बालिकाओं को, उन के पूछने बिना ही, उचित समय से, उचित शिक्षा दे देना चाहिये। यह चेतावनी तो सब को, क्या ग्राम क्या नगर के, सब बालक बालिकाओं को, दे देना चाहिए, कि वे विवाह से पहिले, जननेन्द्रियों से खेलैं नहीं, और इन के विषय मे हँसी-ठट्ठा कभी न करैं, इन के बारे मे बातैं भी, माता पिता के, या, जब ये न हों, तो जो कोई उन को पालता हो उस के, सिवा, दूसरों से न करैं।

यह प्रश्नोत्तरी, सूचना मात्र, रूपरेखा मात्र है; अपनी अपनी देश काल की अवस्था और आवश्यकता के अनुसार, सज्जन इस मे घटाव-बढ़ाव कर लेंगे।

भीतरी विक्षिप्तता का एक उदाहरण और लिखता हूं, प्रायः ६० वर्ष हुए, युक्तप्रान्त के एक पूर्वी जिले के एक बड़े जमीदार रईस, जिन का काशी मे एक बाग़ था, यहां आ कर अक्सर रहा करते थे; उन की पत्नी व्यभिचारिणी ख्यातप्राय थी; रईस के चित्त मे इतना बल नहीं कि उस को घर से निकाल दें; यह भी मन मे भय रहा होगा कि, यदि ऐसा करैं, तो जो बदनामी अभी छिप कर होती है, वह खुल कर होने लगेगी; इस आभ्यंतर द्वंद्व से अकेले मे बहुत ही विषण्ण, मग़मूम, ग़म से, बिषाद से भरे रहा

पौ० क्यों ?

दा० परमात्मा की ऐसी इच्छा है। देखो, तुम्हारे चारों ओर अनन्त अचरज फैले हैं; भूमि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, तारे, हवा, आग, पानी,

करते थे; स्यात् स्वयं नपुंसक थे; पर, जब मित्र लोग आ बैठते थे, तो सब से अधिक जोर से हँसी ठट्ठा करने, कहकहा लगाने, का यत्न करते; भीतरी दुःख को छिपाने के लिये। जल्दी ही मर गये। व्यभिचारिणी स्त्री ने भी स्यात् बारह-चौदह बेर गर्भ-स्राव कराया, और जल्दी ही मर गई। उन जमींदार का ऐसा भाग्य नहीं था, ऐसी सात्त्विक बुद्धि नहीं थी, कि व्यभिचारिणी को अन्न-वस्त्र के लिए पर्याप्त 'पिंशन' दे कर, (जैसी सूचना स्मृतियों मे की है), अलग मकान मे रखवा देते, और स्वयं कोई अच्छे सार्वजनिक काम मे तन, मन, धन से लग जाते। पच्छिम मे, प्रायः अच्छे स्त्री वा पुरुष, जिन का गार्हस्थ्य-जीवन, किसी भी कारण से बिगड़ गया है, ऐसे सार्वजनिक कार्यों मे अपने को लीन कर देते रहे हैं। भारत की जनता के लिये, श्री एनी बिसेंट का उज्ज्वल उदाहरण ताजा है; पति के अतिमात्र 'हाकिमाना', 'मालिकाना', स्वामीवत्, प्रभुवत्, बर्त्ताव से उद्विग्न हो कर, प्रायः ३० वर्ष की उमर मे, अदालती 'जुडिशल सेपरेशन' की विधि से, न्यायाधिकारी की अनुमति से, पति से अलग हो गई। 'डाइ-वोर्स', विवाह-विच्छेद, सम्बन्ध का सर्वथा तोड़ देना, नहीं चाहा, न हुआ। इस के बाद, ब्रिटेन मे, दरिद्रों के, विशेष कर मजदूरी करने वाली स्त्रियों के, कष्टों को कम करने के उपायों मे कई वर्ष लगी रहीं। फिर, थियोसाफिकल सोसायटी ('ब्रह्मविद्या सभा') मे आ कर, मानव जगत् मे, 'विश्व-धर्म' 'ब्रह्म-धर्म', 'आत्म-विद्या-धर्म' के प्रचार के कार्यों मे, ४० वर्ष तक पृथ्वी के सब देशों मे अनवरत प्रव्रजन करती रहीं; १८९३ ई० मे भारत आईं; काशी मे 'सेन्ट्रल हिन्दू कालिज' और 'हिन्दू गर्ल्स स्कूल' की स्थापना किया; जब काशी आतीं तब, प्रायः जाड़े के दिनों मे, महीनों तक 'शांति कुंज' नामक स्थान मे रहा करतीं; १९३३ ई० मे, ८६ वर्ष की उमर मे, अड्यार (मद्रास) मे शरीर छोड़ा; उन की इच्छा के अनुसार, 'फूल' (राख और अस्थि-शेष) काशी मे, गंगा

बादल, बिजली, पहाड़, समुद्र, नदी, जंगल, सहस्रों प्रकार के पेड़, पौधे, लता, लाखों प्रकार के जीव जन्तु, पशु, पक्षी, कछुए, मछली, साँप, कीड़े, मकोड़े, आदि। इन सब को परमात्मा ने सिरजा है, और सब के लिये

मे, मैंने प्रवाह किया। भारत मे, ऐसे लोग, जिन की गिरस्ती बिगड़ी, प्रायः किसी भक्ति या वैराग्य पंथ मे चले जाते रहे; २००० वर्ष पहिले उज्जयिनी के महाराज भर्तृहरि की कथा प्रसिद्ध है, अपनी रानी के व्यभिचार का हाल जान कर संसार की निस्सारता सहसा उन के मन मे व्यापी; चरणाद्रि मे, गंगा के तट पर, शेष आयु व्यतीत किया; राज्य, छोटे भाई विक्रम को सौंप दिया। विक्रम ने, चरणाद्रि (चरनार, चुनार) का प्रसिद्ध दुर्ग बनवाया। भर्तृहरि ने, संन्यास की अवस्था मे, 'शतक-त्रय' (नीति-शृङ्गार-वैराग्य) लिखा, जो आज तक परम प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि उन्हीं ने, व्याकरण का एक बड़ा भारी, सवा लाख श्लोक का, ग्रन्थ, 'हरिकारिका', भी लिखा, जिस का एक बहुत थोड़ा अंश, 'वाक्य-पदीय' ही, अब मिलता है। ऐसी ही कथा, अब से प्रायः ३५० वर्ष पहिले के महात्मा तुलसीदास जी की प्रसिद्ध है; वर्षा की अंधेरी रात मे, पौंड़ कर गंगा को पार कर के, श्वशुरालय मे अपनी पत्नी से मिलने को पहुंचे; सती, स्नेहवती, पर शर्माई, पत्नी ने उन की लानत मलामत की; कहा, 'मेरे थोथे हाड़ मास से जितनी प्रीति आप करते हो, उतनी राम जी पर करते, तो क्या न पाते'; हृदय को ऐसा धक्का लगा, मन ऐसा पलटा, कि समस्त संसार से बिलकुल हटा, और राम और सीता के अनुपम रूप मे जा सटा; जिस का बहुत मीठा फल यह हुआ, कि 'रामायण', तथा अन्य भक्तिमय काव्य, लिखे गये; कहीं कहीं अति-भक्तिमय। भर्तृहरि का वैराग्य, ज्ञानप्रधान था; तुलसीदास का, भक्तिप्रधान; कारणो मे भेद होने से; भर्तृहरि को, दुश्चरित्रा पत्नी से और समस्त संसार से तीव्र वैराग्य हो गया था; तुलसीदास को, सती पत्नी से वैराग्य नहीं हुआ, न संसार से ही, अपि तु अपनी ही निर्लज्जता और सामाजिक मर्यादा के उल्लंघन पर ग्लानि हुई; स्त्री-पुरुष के शुद्ध स्नेह का स्वाद, सीता-राम के रूप मे लेते रहे। कबीर का, नानक का भी, वैराग्य, ज्ञानप्रधान था।

नियम बना दिये हैं, जिन के अनुसार, बँधे समय पर, बँधे स्थान मे, वे अपना अपना काम करते हैं ।

पौ० दादा जी, परमात्मा आप किस को कहते हैं ? आप ने उन को देखा है ?

दा० बच्चा, जिस अनन्त अपार शक्ति ने यह सब अचरज रचा है, जो उस को चला रही है, उसी को परमात्मा कहते हैं। चमडे की आँख से वह नही देखा जाता है, सब के भीतर काम कर रहा है, जैसे वायु । आँख बन्द कर के, मन को चारो ओर से बटोर कर के, ध्यान करने से, 'मै हूँ', 'मै हूँ', ऐसा आत्मा, मन को मिलता है; उसी महाशक्ति को, भारत मे परमात्मा, परमेश्वर, भगवान् आदि नामो से कहते है; दूसरे देशो मे दूसरे नामो से पुकारते है ।

पौ० तो उसी एक परमात्मा ने सब कुछ बनाया है ?

दा० हाँ, वह सब के भीतर भी है, बाहर भी, जैसे आकाश । सब

बाल-दूषण कन्या-दूषण के विषय मे, बहुत वर्ष हुए, मैने स्वय, दो बूढ़े, 'पिशन' पाये, ऊँचे दर्जे के गवमेंटी नौकरो को, एक जल्से मे, एक दूसरे के साथ हँसी करते हुए, पुरानी करतूतो की याद दिलाते हुए, आँखें मटका कर यह कहते सुना, कि 'दाग़ लगा दिया', 'जूठा कर दिया'; तथा बहुत वर्ष नहीं हुए, एक 'मिडल स्कूल' के 'मास्टर' को, कई मास्टरो के बीच, यह कहते सुना कि 'सैकड़ों लडकों को (ऐसा ऐसा कर के) छोड़ दिया'; स्कूल के एहाते की दीवार के पास ये लोग खडे थे, मै बगल की सडक से टहलता हुआ जा रहा था । और भी ऐसे मौके आये । ऐसी बातें सुन कर मेरे मन मे बहुत उद्वेग होता था; यही भाव उठता था कि ऐसे वानर-प्रकृति के पशुओं को तो, विष्ठा के कुड मे कुछ देर के लिये डाल देना, उचित दंड होगा । किसी भी अधिकार के, वा अध्यापकी के, स्थान पर, ऐसे आदमियों को, जिन के मन से ऐसे पापिष्ठ भाव भरे हों, एक क्षण भी न रहने देना चाहिये । मनु ने, ऐसे घोर अपराधियो के लिये, इंद्रिय का काट डालना, वा जलती हुई लोहे की प्रतिमा (सूर्मी) से बांध कर मार डालना, दड लिखा है ।

काल, सब देश, सब वस्तु मे वह व्याप्त है, वायु मे भी वह भरा है; जहाँ वायु की गति नहीं है, वहाँ भी वह है।

पौ० तो मेरे भीतर भी परमात्मा है ?

दा० ज़रूर है; जब तुम्हारा शरीर अच्छा हो, कोई बीमारी न हो, चित्त स्वस्थ हो, उस समय, आँख बन्द कर के ध्यान करो, तो तुम को अपने भीतर हल्की अच्छी रौशनी, प्रकाश, सा, जान पड़ेगा, और 'मै हूँ', 'मै हूँ', ऐसा भाव, ऐसी चेतना, ऐसा होश भी जान पड़ेगा; वह, परमात्मा का ही आभास है।

पौ० अच्छा, तो परमात्मा ने जीव जन्तुओं, पेड़ पौधों, के लिये क्या नियम बनाये हैं ?

दा० इन के लिये, परमात्मा की ऐसी आज्ञा है कि, ये पैदा होते हैं, कुछ काल जीते हैं, अपने समान नये बच्चे पैदा करते हैं, फिर मर जाते हैं। यों ही, पीढ़ी पर पीढ़ी, प्रत्येक जाति के पेड़ पौधों, जीव जन्तुओं, की जाति बनी रहती है। नई पीढ़ी पैदा करने के लिये, परमेश्वर ने कई प्रकार के नियम बना दिये हैं। कुछ पौधे तो ऐसे हैं कि, उन की एक टहनी काट कर पृथ्वी मे गाड़ दी जाय, तो वह जड़ पकड़ लेती है, और उस से नया पौधा तयार हो जाता है। बहुतेरे पेड़ पौधों मे फूल लगते हैं; फूल के बीच मे दो चाल के छोटे छोटे सूत होते हैं; एक के माथे पर धूल ऐसा 'पराग' होता है, दूसरों के माथों पर बारीक छेद; पराग, झड़ कर, छिद्रों मे जाता है, और सूत्र की नाली मे से नीचे उतर कर, एक बारीक थैली मे ठहर जाता है; उस थैली मे एक विशेष प्रकार का मीठा मधुर मधु (शहद) होता है; उस से मिल कर, धीरे धीरे, रूप बदलता हुआ, बीज बन जाता है, जब फूल सूखता है, तब बीज, धरती, (धरित्री, सर्व-धारिणी) पृथ्वी पर, गिर कर धँस जाता है, और वर्षा ऋतु में जड़ निकाल कर, क्रमशः अपने मा-बाप पेड़ पौधे के रूप का बन जाता है। यह दो प्रकार, टहनी से, और पराग-मधु से, नयी 'पुश्त' का पैदा होना, 'अ-चर', अर्थात् 'स्थावर', चेतना का है। अ-चर, स्थावर, वे जीव हैं, जो चलते फिरते नहीं, एक ही जगह स्थित रहते हैं, यद्यपि 'जीव',

अर्थात् व्यापक परमात्मा की चेतना का सूक्ष्म अंश, उन मे भी है ही।

पौ॰ दादा जी, क्या चलते फिरते जीवो की नई पुश्त के पैदा होने का प्रकार दूसरा है?

दा॰ हाँ, बच्चा। 'चर' जीवों में, जिन को 'जंगम' भी कहते हैं, स्त्री और पुरुष, मा और बाप, को, भगवान् ने अलग कर दिया है। स्त्री के शरीर मे, पेट के भीतर, एक थैली मे, 'मधु-रस' बनता है, जिस को 'रजस्' 'रज' कहते हैं; यह थैली (पुट, आशय) पेट के भीतर की दूसरी थैलियों से भिन्न है, और पुरुष के शरीर मे नहीं होती; अन्य थैलियाँ, जैसी स्त्री की, वैसी ही पुरुष की भी होती हैं। एक मे खाया पीया अन्न-जल पहिले जाता है, फिर उस मे रस बनता है, फिर उस मे से निकल कर, क्रम से, रुधिर बनता हुआ नसों के द्वारा, शरीर मे चारो ओर घूमता है, और नीचे को उतरता जाता है; अन्त मे, उस का खराब अंश, मल मूत्र के रूप मे, दूसरी थैलियों नालियों, आँतों (अंत्र) मे जमा हो कर, बाहर निकल जाता है। पुरुष के शरीर मे, अंडकोष के दोनों अंडों, गोलियों, मे, एक प्रकार का 'पराग' बनता है, जिस को 'वीर्य' वा 'शुक्र' कहते हैं; गाँव के लोग, इस 'वीर्य' को बीज ही कहते हैं, (फारसी मे 'नुतफा', उर्दू मे 'मनी' भी)। जब स्त्री और पुरुष का, बड़े होने पर, ब्याह होता है, और दोनों एक साथ सोते हैं, तब पुरुष के शरीर मे से, मूत्रेन्द्रिय द्वारा, निकल कर, वीर्य, स्त्री के शरीर में, स्त्री की मूत्रेन्द्रिय के द्वारा, थैली मे जाता है, उस थैली को 'गर्भाशय', वा 'कमल' वा 'पद्म' भी कहते हैं, वहां प्रायः नौ महीने तक, माता के पेट के भीतर रहता है और बढ़ता है, फिर उसी मूत्रेन्द्रिय द्वारा बाहर आता है, और 'नया बच्चा' कहलाता है।

(यहां, गौरा और गौरैया का उदाहरण दिया जा सकता है, जो भारत मे हर घर मे रहती हैं, यथा), गौरा और गौरैया जब जोड़ा लगते हैं, तब गौरा के मूत्रेन्द्रिय मे से वीर्य निकल कर गौरैया के मूत्रेन्द्रिय द्वारा उस के गर्भाशय मे जाता है; वहां, कुछ दिनो मे अंडा बनता है; फिर बाहर निकलता है; गौरैया उस पर बैठ बैठ कर, उस को 'सेती'

(सेवती, सेवा करती) है, अर्थात् अपने शरीर की गर्मी उस को पहुंचाती है; फिर वह अंडा, कुछ दिनो बाद, फूटता है, उस के भीतर बच्चे के बढ जाने के कारण; तब उस मे से 'गदेला' निकलता है, और पाँच सात दिनो मे ही, कुछ कुछ उड़ने लगता है।

पौ० दादा जी, गौरा के अंड-कोष तो देख नहीं पड़ते हैं?

दा० नहीं, बच्चा; सभी चिड़ियों के, तथा सभी अंडा देने वाली जाति, जैसे कछुआ, छिपकिली, मगर, घड़ियाल, साँप आदि, के नरों के, अंडकोष, पेट के भीतर ही रहते हैं, जोड़ा लगने के समय, केवल दंडिका, रुधिर से भर जाने के कारण बाहर निकल आती है, और उस से, उन उन जातियों की स्त्री जन्तुओं के मूत्रेन्द्रिय के भीतर, वीर्य का निषेचन हो जाता है।

पौ० तो मैं भी ऐसे ही पैदा हुआ?

दा० निश्चय ही। तुम्हारे शरीर का आधा भाग, अति सूक्ष्म 'वीर्य' रूप मे, तुम्हारे पिता के शरीर के भीतर बना, और आधा, अति सूक्ष्म 'रजस्' के रूप मे माता के भीतर; फिर पिता का भाग, माता के उदर मे गया, नौ महीने तक तुम्हारी माता ने तरह तरह के क्लेश सह कर, तुम को अपने पेट के भीतर पाला पोसा बढ़ाया; फिर, बड़ा भारी कष्ट सह कर, छोटे मूत्रद्वार को फैला कर, तुम को बाहर लाई; और उस के बाद भी, अपने रुधिर को, स्तनो मे, दूध बना कर, तुम को एक बरस, या दो तीन बरस तक भी, पिलाया और बलवान किया।

पौ० दादा जी, माता के पेट मे से मेरे बाहर आने के समय, माता को कष्ट क्यों हुआ?

दा० बच्चा, नौ महीने पहिले, जब तुम ने माता के उदर मे प्रवेश किया, तब तुम इतने छोटे, सूई की नोक से भी छोटे, थे, कि आँख से देख नहीं पड़ते थे; नौ महीने मे इतने बढ़ गये, कि कई सेर के हो गये; इस से, माता के शरीर को, ज्यों ज्यों महीने बीतते थे, त्यों त्यों क्लेश अधिक होता रहा, और तुम्हारे बाहर आने के समय तो बहुत ही हुआ। कितनी ही स्त्रियां तो इस प्रसूति की घोर वेदना से मर ही जाती हैं; पर

जिन स्त्रियो का जीवन शुद्ध और शरीर बलवान् होता है, उन को कष्ट कम होता है, तुम्हारे बाहर आने के बाद, नित्य नित्य, बड़े प्यार, बड़े स्नेह, से, और विशेष कर तुम्हारी बीमारियो मे, और दात निकलने के समय मे, माता ने, और पिता ने भी, रात रात भर जाग कर, अपने खाने पीने सोने की फिक्र छोड कर, दौड़ धूप कर, वैद्य डाक्टरों अस्पतालों से दवा ले ले कर, तुम को अच्छा किया, खिलाया पिलाया, कपड़ा पहिनाया, जाड़ा गर्मी पशु पक्षी कीड़े मकोड़ो से तुम्हारी रक्षा की। जिस दया से और असीम अथाह शक्ति से परमात्मा सब प्राणियों का भला करता है, उस दया और शक्ति का एक अणु प्रतिबिम्ब, उस ने सब माता-पिताओं के हृदय मे, उन के बच्चों के लिये, रख दिया है, जिसी के बल से वे उन का पालन पोषण करते हैं: न केवल मनुष्य माता-पिता के हृदयों मे, बल्कि पशु पक्षियो के भी; यहाँ तक कि जो हिंस्र पशु, दूसरे अहिंस्र पशुओं को मार कर खा जाते हैं. जैसे सिंह, व्याघ्र, तेंदुआ, हुँडार, साँप, मगर, आदि, वे भी अपने अपने बच्चों का वैसा ही प्यार, वैसी ही रक्षा, करते हैं, जैसे तुम्हारे माता-पिता तुम्हारी। इस लिये तुम, सब से पहिले, इस सर्वशक्तिमान् परमात्मा परमेश्वर भगवान् की पूजा और प्रार्थना अपने हृदय के भीतर करो; हृदय के भीतर: क्योंकि बाहर की आँखों से वह देखा नहीं जाता; और उस की प्रार्थना कर लेने के बाद, अपने माता पिता का, विशेष कर अपनी माता का, आदर, नमस्कार, और स्नेह करो, सबेरे उठ कर प्रतिदिन उन की वंदना करो। जो लड़की लड़के अपनी माता, अपने पिता, का स्नेह सदा मन मे रखते हैं, वे सैकड़ों आपत्तियों से, दुष्टों लुच्चों के छल कपटों, प्रलोभनो बहँकानो, दुष्कर्मों से, बचते हैं; ऐसे लुच्चे उन के पास जल्दी नहीं आते, बल्कि इन से डरते हैं; सच्ची मातृ-पितृ-भक्ति के धार्मिक भाव मे ऐसा ही प्रभाव, ऐसा ही तेज, है।

पौ० दादा जी, क्या सब जीव जन्तु अपनी मा के पेट के भीतर नौ महीने रहते हैं ?

दा० नहीं, बच्चा। इस बारे मे, जीवों मे बहुत फर्क होता है। चूहा अपनी मा के पेट के भीतर बीस दिन ही रहता है, खरगोश (खरहा)

एक महीना, मनुष्य और गौ नौ महीना, घोड़ा ग्यारह महीना, हाथी बीस महीना। जब तुम बड़े हो जाओगे, और अच्छी तरह पढ़ लिख लोगे, तब इस विषय पर लिखी बड़ी बड़ी पुस्तकें पढ़ सकोगे, जिन मे ऐसी बातों का विस्तार से वर्णन किया है। मछलियों के प्रकार दूसरे हैं, पतिंगों के दूसरे, रेंगने वाले जंतुओं के दूसरे, पेड़ पौधों के दूसरे।

पौ० दादा जी, बहिन और भाई का ब्याह एक दूसरे से अपने घर के भीतर ही क्यों नहीं होता?

दा० परमात्मा ने मनुष्यों के हृदय के भीतर ऐसी आज्ञा दे रक्खी है कि ऐसा ब्याह नहीं होना चाहिये। पहिले तो, भाई बहिन को एक दूसरे से ब्याह करने की इच्छा ही नहीं होती; दूसरे, यदि ऐसा ब्याह किया जाय, तो सन्तान या तो नहीं होती, या कुरूप, दुर्बल, रोगी होती है; पशुओं मे भी देखा गया है कि यदि एक ही मा-बाप की सन्तान मे 'ब्याह' हुआ, तो उन की सन्तान कम अच्छी होती है। सब मनुष्यों मे, सारी पृथ्वी पर, भाई-बहिन, तथा अन्य बहुत पास के बान्धवों का (एक 'गोत्र' वालों का) विवाह बड़ा पाप समझा जाता है, और मना किया जाता है।

पौ० ब्याह ऐसे गाजे-बाजे धूम-धाम से क्यों होता है?

दा० जिस मे सब लोग जान जायँ कि इस युवा और इस युवती का परस्पर विवाह हो गया है, दूसरा कोई इन से विवाह करने की इच्छा न करे; ये दोनों एक साथ एक घर मे परमात्मा के बनाये नियम के अनुसार धर्म से रहेंगे, गृहस्थी के कामो में एक दूसरे की सहायता करेंगे, प्रेम प्रीति से सन्तान उत्पन्न करेंगे; और वही संतान इन के धन को पावेगी; यह पुरुष दूसरी स्त्री का स्पर्श नहीं करेगा, और यह स्त्री दूसरे पुरुष का स्पर्श नहीं करेगी। तुम्हारे माता-पिता का ऐसे ही विवाह हुआ, और उन्हों ने तुम को प्रेम-प्रीति से उत्पन्न किया, और गर्भ के भीतर और बाहर पाला पोसा।

पौ० दादा जी, बिना ब्याह किये, स्त्री पुरुष एक साथ रहैं तो क्या दोष?

दा० ऐसो की प्रेम-प्रीति बहुत दिन टिकती नहीं, एक दूसरे को छोड़ देते हैं, यदि सतान हुई, तो उस की बड़ी दुर्दशा होती है, उस की फिक्र कोई नही करता, स्त्री दूसरे पुरुष के, और पुरुष दूसरी स्त्री के, साथ, बिना ब्याह किये, रहना चाहते हैं, इस से उन दूसरा के घर वालो से बहुत लड़ाई होती है, और मरने मारने की नौबत आती है। सब गृहस्थी और सब समाज का प्रबन्ध गड़बड़ हो जाय, बिगड जाय, यदि स्त्री और पुरुष नित्य नये मन-माने सग साथ किया करे, खेती-बारी, घर-द्वार, धन-दौलत, राज-काज, पढाई-लिखाई, सब अस्त-व्यस्त हो जाय; क्या कि नये बचा की देख-भाल, रक्षा, शिक्षा, वा भक्षा (भिक्षा, खिलाना पिलाना) काई न करे।

पौ० दादा जी, पशुओ मे ता इस चाल का ब्याह नहीं होता ?

दा० बचा, पशु तो पशु ही हैं। मनुष्य मे और पशु मे तो भेद होता है न ? पशुओं के बच्चे, पैदा होते ही, या एक दो दिन या अठवारे (सप्ताह) पखवारे (शुक्ल पक्ष, कृष्ण-पक्ष) मे चलने फिरने, चुगने चरने, लगते हैं; तुम तो कई महीने तक पीठ के बल पडे ही रहते थे, अपने से करवट भी नहीं ले सकते थे, महीनों बाद, उलट जाने, और पेट के बल जरा-जरा रेगने, लगे थे। मनुष्य का बचा, दसियों, पद्रहियो, बीसियों बरस तक, मा बाप के सहारे से ही जीता है। कुत्ता, बिल्ली, चूहा, खरहा, को, चार-चार, छः-छः, आठ-आठ, और शूकरी को चौदह-चौदह तक, पिल्ले एक साथ हाते हैं; उन को दूध पिलाने के लिये, इन पशु-स्त्रियों को, परमेश्वर ने छः छः आठ आठ स्तन भी दिये हैं; मनुष्य-स्त्री को दो ही। पशुओं के पिल्ला के मा-बाप बहुत थोड़े दिना तक उन की फिक्र कर के निश्चिन्त हो जाते हैं, और उन को छोड़ देते हैं, तुम तो अब कई बरस के हो गये, पर तुम्हारे माता-पिता तुम्हारी चिन्ता अब भी दिन-रात करते हैं, और अभी पद्रह बीस बरस तक और करते रहेंगे। मनुष्य-माता का, प्रायः एक बेर मे एक ही बच्चा होता है, कभी कदाचित्, दो; और भी कम, तीन; और भी कम, चार, एक साथ होते हैं। थोड़े दिन हुए, अमेरिका मे, कैनाडा नाम के देश

मे, एक स्त्री को पाच बच्चियाँ एक साथ हुईं, सो बड़ा अचरज माना गया; अन्य सब देशों के अखबारों मे उस का हाल छपा, और, एक-एक दो-दो महीने पर, पाँचों की तस्वीर, एक साथ, एक या दो बरस तक छपती रही; यह दिखाने को कि सब जीवित और पुष्ट हैं; क्यों कि जोड़ुआँ (युग्म) बच्चे भी दुर्बल होते हैं, और बहुधा मर जाते हैं, फिर पाँच का जीते रहना और पुष्ट होना तो, उन के एक साथ पैदा होने से भी, बहुत अधिक आश्चर्य की बात है। उन की माता को, वहाँ की सरकार की ओर से विशेष पारितोषिक, इनाम, भी दिया गया। यदि मनुष्य माता को, कुत्ती, बिल्ली, शूकरी के इतने, बहुत बहुत बच्चे एक साथ, हर बेर, होने लगें, तो बीस-बीस बरस तक सब कैसे पाले जा सकें? कुत्ता, बिल्ली आदि के बच्चे बहुतेरे मर ही जाते हैं, सूकरी के बच्चों को तो, जैसे भेड़-बकरी के बच्चों को, मासाहारी मनुष्य ही खा जाते हैं। और भी देखो, भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि दी है, जैसी पशु को नहीं दी। मनुष्य तरह-तरह के कपड़े बनाते और पहनते हैं, बड़े-बड़े भवन, नगर, सड़क, गाड़ी, विविध प्रकार की कलों के कारखाने, बनाते और काम मे लाते हैं; पशु तो नही। परमात्मा ने मनुष्यों के उत्तम जीवन के लिये अलग नियम बना कर उन के हृदय मे बैठा दिये हैं; पशुओं के जीवन के नियम अलग हैं। परमेश्वर के बनाये नियमो का जो स्त्री-पुरुष उल्लंघन करते हैं, उन को इस लोक मे, और मरने के बाद परलोक मे, घोर कष्ट भोगना पड़ता है।

पौ० दादा जी, कुछ लड़के लड़की अपनी मल-मूत्र की इन्द्रियों के साथ खेलते हैं, यह ठीक है या नहीं?

दा० यह ठीक नहीं है, बहुत बुरा है। हाँ, नहाने धोने के समय, सावधानी से, जैसे और अंगों का, वसी उन की, स्वच्छता सफाई कर लेना चाहिये, कि कहीं भी मैल ज़रा भी न रह जाय। पर इन के साथ खेलना, इन को गुदगुदाना, बहुत बुरा है; इस से रोग हो जाते हैं, शरीर और बुद्धि दोनो दुर्बल और क्षीण हो जाते हैं, तेज घट जाता है। उचित

समय से पहिले कोई काम न करना चाहिये। नया बच्चा, केवल दूध ही पी सकता है, यदि उस को पहले ही अन्न खिला दिया जाय, तो, अपच हो कर, मर जाय; जब बड़ा हो जाता है, तब सेरों अन्न पचा लेता है। चार-पाँच बरस के लड़के के सिर पर बीस-पचीस सेर का बोझ रख दिया जाय, तो वह दब कर गिर पड़ैगा; वही, बड़ा होने पर, कई मन का भी बोझ उठा लेगा, यदि शुद्ध अन्न से, सुचाल से, उचित व्यायाम से, उस ने अपना शरीर पुष्ट और बलवान् किया है। जिन लड़कों का मल-मूत्र की इंद्रियो से खेल करते देखो, उन को मना करो; तुम्हारी उमर के, लड़के या सयाने, तुम्हारे साथ ऐसा खेल करना चाहैं, उन को डाँट दो, 'खबरदार, ऐसा मत करो', और कहो कि 'मैं अपने माता-पिता से तुम्हारा हाल कहूँगा, और तुम्हारे माता-पिता से कहलाऊँगा'। स्वय अपना मन और तन शुद्ध रक्खो, और अपने आचरण, उदाहरण, उपदेश से, अपने चारो ओर की हवा को, घर मे, पड़ोस मे, पाठशाला मे, शुद्ध और पवित्र बनाओ। विद्यार्थी की ब्रह्मचारी अवस्था मे, शरीर को शुद्ध आहार और उचित व्यायाम से, और बुद्धि को अच्छी बातो के सीखने से, बलिष्ठ बनाओ; आजकाल बुरी-बुरी किताबें, जिन मे भदेस बातों की चर्चा, और नंगी भद्दी तस्वीरें भी, रहती हैं, बहुत छपने लगी है, इन किताबों को पढ़ने से लड़के-लड़कियों, युवा-युवतियो, का मन मैला होता है, और उन के शरीर पर भी खराब असर पड़ता है; इन को न पढ़ना चाहिये।

पौ० दादा जी, बिना पढ़े कैसे जान पड़े कि किताब अच्छी है या ख़राब ?

दा० बच्चा, अपने माता-पिता से पूछ लेना चाहिये कि यह किताब अच्छी है, पढ़ने योग्य है, या नहीं। ऐसी कोई बात मत करो जिस को अपने माता-पिता से छिपाना चाहो, जिस को उन के सामने न कर सको, जिस से तुम्हारे मन मे आप शंका और लज्जा होती हो। इस एक नियम को यदि सदा याद रक्खोगे, तो तुम से कभी कोई भूल, कोई बुरा काम, न होगा। सर्वोपरि, यह सदा याद रक्खो, कि यदि माता-पिता से, वा अन्य किसी मनुष्य से, अपना कोई काम छिपा भी लोगे, तो सर्वव्यापी

भगवान्, परमेश्वर, परमात्मा से तो कभी भी छिपा नहीं सकोगे, वह तो सब के भीतर सदा बैठा है, तुम्हारे हृदय के भीतर भी, और सब कुछ सर्वदा देखता जानता रहता है, और कभी न कभी, देर मे या जल्दी ही, अच्छे कार्यों के लिए इनाम, और खराब के लिये दण्ड, देता है।

पौ० दादा जी, यदि और कोई बात पूछने को जी चाहेगा, तो आप से पूछने आऊँगा, न ?

दा० ज़रूर ! बच्चा, तुम तो जानते ही हो, कि मै तुम को बहुत प्यार करता हूँ, जो जो पूछोगे, वह तुम को बताने का जतन करूँगा, यदि मुझे मालूम हो, और तुम्हारे समझने लायक़ हो। जब विद्यार्थी अवस्था समाप्त कर के, गृहस्थी मे पैर रखने के लिए विवाह करोगे, तब तुम्हारी अवस्था दूसरी होगी, और उस के लिये अधिक ज्ञान और विशेष नियमो की आवश्यकता होगी; उन को तुम अभी समझ न सकोगे; उचित समय पर वे सब तुम को विदित हो जायगे, वृद्धों के बतलाने से, और इन सब विषयों पर अच्छी पुस्तकों के पढ़ने से, जिन को अच्छे ज्ञानी आदमियों ने जनता मे सच्चा ज्ञान फैलाने के लिये, लिखा है, और जो अब मिलने लगी हैं; अभी से उन को जानने की इच्छा मत करो; जैसा पहिले कहा, छोटा बच्चा दूध ही पचा सकता है, भारी अन्न नहीं।

प्यारे बच्चो ! इन बातों को ध्यान मे रक्खो। इस प्रकार से तुम अपना, अपने घर वालों का, और पड़ोसियों का, तथा जिन से जिन से तुम्हारा सग साथ, संसार के काम काज मे, हो, उन का, कल्याण करोगे।

परमात्मा तुम को और मनुष्य मात्र को सद्‌बुद्धि दे, और सब का कल्याण करै, बूढे दादा के हृदय मे सतत यही प्रार्थना रहती है।

ॐ

काम-अध्यात्म—परिशिष्ट २

नव-विवाहित वर-वधू के लिये दो शब्द

प्यारे वर-वधू! १८८४ ई० मे, साठ वर्ष से अधिक हुए, मेरा विवाह हुआ; मेरे बड़े सौभाग्य से, पत्नी, सच्ची सह-धर्म-चारिणी, स्वभाव की नितान्त सरला, अभी तक मेरा साथ, इस लोक मे, दे रही हैं; अब उन की आयु ७२ की है, मेरी ७८; इस ६२ वर्ष के विवाहित जीवन और गार्हस्थ्य मे, बच्चों, और उन के बच्चो, को पालने पोसने, पढ़ाने लिखाने, ब्याहने, रोजगार मे लगाने, उन की बीमारियो, प्रसूतियों, आदि मे फ़िक्र करने, के सुखों और दुःखों का जो अनुभव हुआ, उस के भरोसे, मै ने, यह 'कामाध्यात्म', तुम्हारे ही उपयोग के लिये लिखा है। यदि इस से तुमको कुछ भी सहायता मिलै तो अपना सौभाग्य समझूँगा। यहाँ लिखी बातों के सिवा बहुतेरी बातैं, अच्छे प्रामाणिक चुने हुए पाश्चात्य और अब भारत मे भी लिखे जाते हुए ग्रन्थो को, स्वयं पढ़ कर, तुम जान सकते हो। यदि ध्यान से पढ़ोगे तो तुम्हे अवश्य जान पड़ेगा कि, सात्त्विक काम और राजस-तामस काम का जो विवेक, 'कामाध्यात्म' मे जोर दे कर किया है, वह विवेक प्रायः अन्य ग्रन्थों मे नहीं किया जा रहा है; यद्यपि यह विवेक सच्चे कामशास्त्र का प्राण ही है, हृदय ही है।

वर-वधू! एक दूसरे पर दिल खोल कर रीझो! परस्पर स्नेह-प्रीति करो! विवाह से पहिले यदि कोई भूल हुई है, तो उस को भूल जाओ; फिर ऐसी भूल न होगी, और अपने बच्चों को ऐसी भूलो से बचावैंगे—यही दृढ़ निश्चय मन मे रक्खो। एक दूसरे का मन सदा लिये रहो; 'अति परिचयाद् अवज्ञा'[१] परस्पर, एक दूसरे के लिये, कभी मत होने दो;

१ अति परिचय, हर वक्त, बहुत अधिक, संग साथ रहने से मन ऊब जाता है, गुणो की जगह एक दूसरे के दोष देख पड़ने लगते हैं, एक दूसरे की अवज्ञा, तिरस्कार, होने लगता है; 'फैमिलिआरिटी ब्रीड्स कान्टेम्प्', familiarity breeds contempt.

दूसरे की आँख से अपने को देखो, अपनी ही आँख से उस को नहीं; उस की आवश्यकताओं और उचित इच्छाओं का सदा ध्यान रक्खो, अपनी ही का नहा। सह-धर्म-चारिता शब्द का अर्थ मन मे अच्छी तरह बैठा लो। अब, जब विवाह हो गया है, एक दूसरे की कमियो, न्यूनताओं, त्रुटियो, को मत देखो; खूबियों को, गुणो को, ही अधिक देखो, और समय-समय पर उन की सराहना करो; इस से गुण बढ़ेंगे, और न्यूनताएँ दूर हो जायगी। गार्हस्थ्य से कुछ स्वार्थ सुख तो मिलना ही चाहिये, पर कर्त्तव्य-पालन और परार्थ सुख कुछ अधिक होना चाहिये। परस्पर मीठे शब्दों का मीठे स्वर से प्रयोग करो, कटु शब्द और रूखे स्वर का नहीं। घर के आय-व्यय पर, प्रत्येक वर्ष के 'बजेट' (अनुष्ठान-पत्र, अनुमानपत्र) पर, दोनो मिल कर, विचार और निर्णय करो। समान-शील-व्यसन के, और तज्जन्य-सुख के, वर्धन के लिये, कोई अच्छी 'कला' का, जिस मे दोनो का मन लगता हो, बहलता हो, एक साथ परिशीलन करो; यथा-सम्भव प्रतिदिन, इस कार्य के लिये, कुछ थोड़ा समय नियत कर लो; अच्छे भजनो वा गीतों का गाना, घरेलू उपकरणो को ही सज कर रखना, अच्छी पुस्तक उच्च स्वर से पढ़ना, जिस से पति और पत्नी, तथा सन्तति और अन्य बन्धु बाधव मित्र भी जो उपस्थित हों, सुनैं--यह प्रायः अल्पवित्त गृहस्थों को भी साध्य है। अपनी अपनी 'कर्त्तव्य' सम्बन्धी (जीविका-कर्म और गृह-कर्म की) 'चिन्ताओं', तकलीफों, झंझटों, को बातों को प्रायः अपने ही तक रक्खो, स्वयं ही सम्हालो झेलो, दूसरे को (पति पत्नी को और पत्नी पति को, सुना कर, उस के चित्त का बोझ और भारी मत करो; हाँ, जब विशेष परामर्श वा सहायता की आवश्यकता हो, तब तो कहना ही चाहिये। कर्जा कभी मत काढ़ना; कम खाना, कम पहिनना, पर ऋण नहीं लेना; यदि सम्भव हों तो आमदनी मे से कुछ, कितना भी छोटा, अंश, अड़े आड़े समय के लिये बचा रखना। जैसा जीविका-कर्म, जैसी गृहस्थी, तुम्हारे भाग्य ने दिया हो, उसी से संतोष करना, चाहे यथेष्ट न भी हो, रोज उस की बुराइ मत करते रहना; नहीं तो जिन्दगी और भी खट्टी हो जायगी; हाँ, उन्नति के लिये यत्न तो, सौम्य, शात, दृढ़ व्यव-

सायवान् मन से, करते ही रहना चाहिये। यह सदा याद रखना कि 'जिह्वा और उपस्थ', ये दोनो, मनुष्य के परम मित्र भी हैं, और परम शत्रु भी; सद् उपयोग से सुख के मूल, दुरुपयोग से दुःख के। सन्तान उतने ही उत्पन्न करना जितने अच्छी तरह पाल, पढ़ा, रोजगार मे लगा सको। दिन-चर्या, रात्रि-चर्या, ऋतु-चर्या, आहार-चिकित्सा, पाक शास्त्र, व्यायाम-शास्त्र के अच्छे चुने ग्रन्थो का परिशीलन करना; अपने शरीर को और वस्त्र को स्वच्छ रखना, जिसमे सह-धर्म-चार--चारिणी को उस से कुरुचि न हो; मुख की स्वच्छता का विशेष ध्यान रखना, और दाँतो को सदा साफ रखना; भोजन के पहिले भी और पीछे भी साफ कर लेना; उन मे भोजन का लेप लगा रह जाने से, सड़ायँध और दुर्गन्ध उत्पन्न होते है; कभी-कभी तो इतनी तीव्र दुर्गन्ध, कि ऐसे मनुष्य के पास बैठना असभव हो जाता है, और स्वय उस मनुष्य के ममगुर सड़ जाते हैं, उन मे मवाद, पूय (पीब), भर ज ता है, पेट मे जाता है, तीव्र रोग उत्पन्न करता है।[1] पति–पत्नी के मुख यदि दुर्गन्धित हो, तो रति भी, प्रीति भी बहुत विघ्नित हो जायगी; एक दूसरे का चुम्बन, तथा बच्चो का मुख चूमना, यह तो पहिली सात्त्विक कामीय चेष्टा है; मेरा निज का अनुभव यह है कि जब तक दाँत मजबूत थे, तब तक तो नीम, या मौसरी, या बबूल की दाँतन (दतवन, दन्त-काष्ठ) से सवेरे दाँत साफ करता था; कभी कभी शुद्ध लकड़ी के, या बादाम के छिलके के, कोयले का 'मजन' भी, लेता था। अब, जब दाँत कमजोर हो गये, और दारुण काल के और शासको के प्रभाव से, तथा आबादी के अति बढाव से, दंतकाष्ठ मिलना भी कठिन हो रहा है, तो प्रायः दस बारह वर्षों से, पच्छिम के बने 'ब्रश' का प्रयोग करता हू, शुद्ध पानी के साथ; इस का प्रयोग दिन मे जब चाहे तब सहज मे हो सकता है। बहुत से विलायती 'मजनों' का इश्तिहार बहुत रहता है; ये सब दुगु ण हा करते हैं, 'ब्रश' मे लगे रह जाते हैं, और उसी मे सूक्ष्म कीड़िया पैदा कर देते हैं, जिन से दातों मे, सफ़ाई की

[1] अंग्रेजी में इस रोग को 'पायोर्हीया', pyorrhea, कहते हैं; ग्रीक भाषा के 'पायीन', पूय, और 'र्हीन', बहना, से बना है।

जगह और भी सड़ायँध उत्पन्न होती हैं; अब, 'सिंथेटिक' (synthetic) सूत्रों (कड़े बालों के ऐसे सूतों) के 'ब्रश' बनने लगे हैं, जैसे 'नाइलोन' nylon, जो दृढ़ भी हैं और 'पवित्र' भी, और बहुत दिनों तक काम देते हैं।

स्त्रियों को अपना शरीर भी और हृदय भी दृढ़ बनाना चाहिए; जैसा समय आया है, इस मे, स्त्री का नाम 'अबला' न रह जाना चाहिए, 'स-बला' होना चाहिए; दुष्ट मनुष्यों से आत्मरक्षा की शक्ति उन मे होनी चाहिए। समाचार पत्रों मे कभी-कभी पढ़ने मे अब आने लगा है कि इस इस स्थान पर, कुमारी ने वा विवाहिता ने, छेड़ने वा आक्रमण करने वाले मनुष्य को इस इस प्रकार से खूब पीटा; बिना इस के, इस समय मे गति नहीं। युक्तप्रान्त के एक उत्तरी जिले के अच्छे कुटुम्ब की एक बेटी ने मुझ से कहा कि एक दिन, अपने घर के लोगों के साथ, नहर के किनारे टहल रही थी; कुछ दूर पर, उसी सड़क पर, एक लम्बी जाट स्त्री, सिर पर घास का भारी बोझ रक्खे, जा रही थी; सामने से तीन गोरे फौजी आये; एक ने उस स्त्री से छेड़-छाड़ की; स्त्री ने सिर का बोझा नीचे गिरा दिया, बायें हाथ से उस गोरे फौजी का हाथ पकड़ लिया, दाहिने से उसके मुँह पर जोर का थप्पड़ लगाया; 'फिर ऐसा करेगा ?' कह कर उस का हाथ छोड़ दिया; गोरा फौजी अपने हाथ से अपना गाल मलता हुआ, 'वेरी स्ट्राङ्ग लेडी, वेरी स्ट्राङ्ग लेडी', (बड़ी जबरदस्त औरत) कहता हुआ भागा। अब तो भारतवर्ष को ऐसी स्त्रियों की अधिकाधिक संख्या में आवश्यकता है। किंतु, इस से यह अर्थ नहीं निकालना, कि भारत की स्त्रियाँ सब सर्वदा चंडिका बनी रहैं; आदर्श स्त्री, आत्मरक्षा और अपत्यरक्षा के लिये तो सिंह-वाहना दुर्गा-देवी, और अपने कुटुम्ब के लिये गौरी-अन्नपूर्णा गृहलक्ष्मी, और बच्चों के लिये तो दूध बहाती गौ-माता ही होती है।

ॐ सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेण अतिरिच्यते ॐ
ॐ मातर् ! वन्दे ॐ

ॐ मेधाऽसि देवि विदित-ऽखिल-शास्त्र-सारा,
दुर्गाऽसि दुर्ग-भव-सागर-नौर् असगा,
श्रीः कैटभ-ऽरि-हृदय-एक कृत-ऽधिवासा,
गौरी त्वं एव शशि मौलि-कृत-प्रतिष्ठा।
ते सम्मताः जनपदेषु, धनानि तेषां,
तेषां यशांसि, न च सीदति बंधुवर्गः,
धन्याः ते एव, निभृतऽात्मज-भृत्य-दाराः,
येषां सदाऽभ्युदयदा भवती प्रसन्ना। ॐ
ॐ

काम-महिमा

हिर्दय मे वह राग पुरानी, निर्दय, जग के जागि रही–
प्रकृति-पुरुष, योषा-पुमान, की चाह सनातन दाह(डाह)गही,
शिव-मति हू, जेहि हालाहल बल, अमृतमयी, मद-मत्त भयी,
स्नेह-राग अरु द्रोह-आग की ज्योति-धूम तें छाइ गयी।
ज्ञान-विराग-नेत्र तीसर तें, कोमल काम जराइ दियौ,
स्मर के वश मे, पर फिरि परि कै, उम-हिं देह मे धारि लियौ।
शिव-मतिहू, वा मादक कारन, ज्ञान छांडि उन्माद गही,
प्रकृति-पुरुष की अनँत वासना घटै बढै, पर मिटै नहीं।
वाम-काम जरि मरि जीयत पुनि, रति अरु प्रीतिहिं ब्याहि लियौ,
ह्वै अनङ्ग, छायौ अँग-अङ्गन, देह तज्यो, जग ब्यापि गयौ।
क्रोध, लोभ, मद, मोह, असूया, की सब सेना संग लयी,
ऋतु बौरनि, उन्माद, मूरछा, मरन, सखिन सौं लगनि भयी,
शिव-मति हू विक्षिप्त करी जिन, अरु विमोह मे डारि दयी,
माया-मोहिनि के पाछे, सब लाज तजे, कहुं भाजि गयी,
आपु विष्णु भगवान हु जा बस लयी मोहिनी-छबी नयी।
स्पृहा, ग्लानि, उत्कंठ निराशा, गयी, नयी आसक्ति भयी,
क्रोध, खेद, असहिष्णु असूया, दया, भक्ति, सब देह छयी,

हिर्दय में वह ध्वनी पुरातन, संतत, सब के गूंजि रही,
शिव-मति, जेहि विष-धारण कारण, शांति छांडि कै भ्रांति गही।
प्रेम-पियास, दुरास, हतासा, सुधा-सिंधु विष-कूप ढही,
हर्ष-विषाद अथाह अपार तरंगन मे लहराइ बही,
चित्त समुद्र झकोर हलोरनि, शांति देवि अब डूबि चही।
तेरी माया, तू ही वारै, तो हू कौ भरमाइ रही!
शिव मति जेहि माया की मारी, भयी महा अज्ञानमयी,
विष पीये जेहिं, अति अकुलानी, दया त्यागि अति घोर भयी;
सती चेतना हू, शरीर तजि, जा बस, दूजी देह लयी।
विष्णुदेव हू की, जेहि लोभन, विशद बुद्धि अति मलिन भयी,
लोक जनक, जग-सिर्जनहार कि (की) नारिरूप पर जाइ गिरी,
वृन्दा विरह-विकल, वृन्दावन उपवन मे अति भूलि फिरी,
पर की सती, अछूत, छूइ कै, तुलसी करि, उर-मौलि धरी।
हिर्दय मे वह राग पुरानी, निर्दय, जग के, जागि रही,
पुरुष-प्रकृति, योषा-पुमान, की चाह निरन्तर, दाह गही।

(समुद्र-मथन मे, पहिले, हालाहल विष निकला; उस को शिव ने अपने कंठ मे रख लिया; तब देव और असुर जी सके, और समुद्र मे से अमृत और रत्न भी और वारुणी सुरा भी निकाल पाये। जब चेतन-पुरुष परमात्मा, जड़ प्रकृति को अपनाता है, तभी दैवी और आसुरी प्रकृतिया, भव-सागर के सुख-दुःखों, पुण्य-पापों, का संभव होता है। यही 'अपनाना', आदि-काम, मूल-वासना, जगत् की निर्मात्री है। शिव ने (ज्ञान-वैराग्य रूपी) तृतीय नेत्र से काम को जला दिया, और फिर 'अनग' हो कर 'काम' जीया, रति-प्रीति से ब्याह किया, और शिव ने उमा को अर्धांगिनी बनाया—यह सब कथा प्रसिद्ध है। उ-मा = या-मा = मा-या, जो 'नहीं' (थी, और) 'है', (थी); वही मूल प्रकृति जिस को परम पुरुष ने, 'अहम्-एतत्-न' के अखंड एकाकार अनवरत ध्यान से अपनाया है, अपने मे रक्खा है। ("ऋतु बौरनि" फल के पेड़ों में 'बौर' लगने का, 'बँवर' आने का, 'बौराने' का, मस्त, पागल, होने का भी, ऋतु, वसत,

जो कामदेव का परम मित्र है। समुद्र-मंथन के बाद, विष्णु ने, शिव के अभ्यर्थन से, जिस 'मोहिनी' रूप से असुरों को बहकाया था, उस को फिर धारण किया; तो शिव भी उन्मत्त हो कर उस के पीछे दौड़ते फिरे—यह पौराणिक रूपक है। जालधर दैत्य को वर-दान मिला था कि जब तक उस की पत्नी वृन्दा का पतिव्रत सतीत्व भ्रष्ट न होगा, तब तक जालन्धर की मृत्यु न होगी; विष्णु ने जालन्धर का रूप धर कर वृन्दा से व्यभिचार किया, तब जालन्धर मारा गया, पर विष्णु को भी पाप का फल भोगना पड़ा; वृन्दा, परम पवित्र, उत्तम, औषध रूप तुलसी बन गयी, जिस को विष्णु आज तक सिर पर रखते हैं—यह पौराणिक रूपक है; पातिव्रत्य और सतीत्व भी, बाह्य रूपों मे ही अँटकाया जायगा, अध्यात्म-तत्त्व को नहीं पहिचानेगा, तो कभी न कभी धोखा खायगा; किन्तु सद्भाव भी निरर्थक नहीं हो सकता; धोखा खा कर, जीव चेतेगा, सद्गति पावैगा, और जगत् का कल्याण करैगा।

मत्सर-महिमा

हिर्दय बाढी पीर घनी।

दरस परस की तरसी पियासी, चिन्ता मे नित बुद्धि सनी,
सर्बस सुख-सम्पदा बनेहू, बर्बस अस अनबनी बनी,
थोथी लाज, अकाज-असूया-भय, तें खाई अनी कनी,
पर ईरखा (ईर्ष्या) दुखन, निज सुख तजि, प्रेम आँपने प्रान हनी।

हिर्दय बाढी पीर घनी।

बसि अथाह जल भीतर हू, नहिं सलिल बूंद सुख एक गनी,
प्रेम रूप सब एक चेतना, तबहु भेद की डाह ठनी,
प्रेम पियासा जगत उदासा, जदपि प्रेम तें सृष्टि बनी,
प्रीति चहत अरु रीति न जानत, करत द्रोह सहि परि घनी।

हिर्दय बाढी पीर घनी।

सज्जन-बलिदान

यौवन की शोभा गलै, तरुणाई मुरझाय;
सुन्दर मुख ते अक्षरहु सुन्दर ही न सुनाय;
भरो सरोवर, पर कमल कली खिली न लखाय;
शशि की सुषमा हू, भये दिन, फीकी परि जाय;
प्रभु पालै परिजन नहीं, धन पर अतिहिं लुभाय;
नृप कौ आंगन, दुर्जनन तें ही नित्य भराय;
सज्जन संतत दुःख ही पावत इहां दिखाय;
भरथरि के हिय सात यह कांटा सदा सलाय।

प्रेम-महिमा

प्रेम उठायौ प्रान की बीना अपने हाथ,
सब तारन कौ साधि कै झनकार्यौ इक साथ,
स्वारथ के जो तार पर परी अंगुरी जाय,
डरपत कांपत भाजतो टूट्यौ गयौ लुकाय।
(अंग्रेज़ कवि टेनिसन के एक पद्य का अनुवाद)

स्वार्थत्याग-महिमा

ईसा जौ सहस बार जनम 'बिथलहम' मे
लेवै, पर तिरे हिय मांहि नाहिं जनमै,
तेरे घर नेक हू खुशाली नाहिं होवै, अरु
सूनो चित ही तू नित इतै उतै भरमै;
'गोलगुथा' की सलीब पर तू मत आशा लाउ,
वा तैं तो तिहारो काज नेक हू न सरि है,
अपने हिय को बनाउ सूली, वा पै चढ़ाउ
आपा कौ, तब ही तू सब ही दुख तरिहै।

(जर्मन, परमार्थ-भक्त, ईसाई, वेदान्ती-सूफी-'मिस्टिक' कवि, शेफ्लर की, ईसा-मसीह के स्वार्थ-त्याग-मय जीवन पर एक पद्य का अनुवाद।

'बिथ्लहम', ईसा का जन्म-ग्राम; 'गोलगुथा', उस बध्य-स्थान का नाम, जहां ईसा सूली चढ़े)।

परम-पुरुषार्थ का लाभ

नहीं ओट वा द्वार पर, सदा प्रकासत चंद,
हे हिय !, तू निज स्वार्थ के अंधियारे मे बंद;
नामन कौ ही भेद है, तुम हम सब हैं एक,
जलधिन अरु बुद्‌बुदन मे एक हि जल की टेक;
हिया, भक्ति की ज्वाल मे, जस जस जरतो जाय,
अति अचरज !, वा मांस ते उतनो रस निसराय;
यदि वह है सर्वज्ञ, तौ हम उपजावत ज्ञान,
है पोथिन ते अधिक यह हिय ही ज्ञान-निधान;
स्वारथ कौ त्याग्यौ नहीं, परमारथ कस पाउ ?
उमिरि ढरी, बिरधा भये, सपनहि देखत जाउ !
तोहिं बाहर जे खोजते, नहि पावन की ताब,
तुही पिकन मधु बोलनी, तु ही सुगन्ध गुलाब;
बिन तेरी करुणा, दया, तोहि पावै अस कौन ?
बड़े बडे भटकत फिरें, मै तौ बपुरा मौन।
(स्वारथ जो हिय त्याग किय, परदा दियौ हटाय,
वा मे तू सूरज सदृश सदा प्रकाश दिखाय।)

(क़रीं नाम के परमात्म-भक्त सूफी कवि की एक उर्दू कविता का अनुवाद)

(करी के मूल उर्दू शब्द)

न कोइ पर्दा है उस के दर पर, न रूयि-रौशन नक़ाब मे है,
तू आप अपनी ख़ुदी से, ऐ दिल ! हिजाब मे है, हिजाब मे है;
फ़क़त तफ़ावत है नाम ही का, दर अस्ल सब एक ही हैं, यारो !
जो आबि साफ़ी कि मौज मे है, उसी का जल्वा हबाब मे है;
हो अपना दिल जिस क़दर बरिश्ता, उसी क़दर ज़ायक़ा हो पैदा,

जले ये जितना, है लुत्फ़ उतना, अजब मज़ा इस कबाब मे है;
जो इल्मो हिक्मत का वो है दाना, तो इल्मो हिक्मत के हम हैं मूजिद
है अपने सीने मे उस से ज़ायद, जो बात वायज़ किताब मे हैं;
ख़ुदी को छोड़ा न तू ने अब तक, खु दा को पावेगा कह तू क्यों कर ?
जवानी गुज़री, बुढ़ापा आया, अभी तक, ऐ दिल ! तु ख्वाब मे है;
तु ही है मतलूबि जुम्ला तालिब, तु ही हैं मक्सूदि जुम्ला आलम,
तुझी से नग्मा है बुल्बुलों मे, तुझी से खुशबू गुलाब मे है;
बग़ैर तेरी मदद के तुझ तक जो कोइ पहुंचै ये ताब क्या है,
बड़े बड़ों का गुजर नहीं है, कहीं भला किस हिसाब मे है !
(फारसी मे निगु णोपासक को अह्लि-ज़ात, और सगुण-भक्त को अह्लि-सिफ़ात कहते हैं।)

भक्ति-महिमा

(निगु ण-प्रेमी सूफी सिराज (सूर्य) की एक गजल)

खबरे तहय्युरि हुस्न सुन, न जुनूं रहा, न परी रही,
न तो तू रहा, न तो मैं रहा, जो रही सो बेखबरी रही;
शहे बे-खुदी ने अता किया मुझे जब लिबासि बरहनगी,
न खिरद की बखियागरी रही, न जुनूं की पर्दा दरी रही;
वो जो अक्लो होशो हवास थे, तेरी यक निगह ने उड़ा दिये,
व शराबि सद्कइ आरजू खुमे दिल मे थी सो भरी रही;
चली सिम्ति-ग़ैब से यक हवा, कि चमन गुरूर का जल गया,
वले शमअ खाना जला के सब, गुले सुर्ख साही बनी रही;
वो अजब घड़ी थी कि जिस घड़ी लिया दर्से नुस्खइ इश्क का,
कि किताब अक्ल की ताक पर जो धरी सो यूं ही धरी रही;
तेरे जोशो हैरति हुस्न का असर इस कदर से यहां हुआ,
न तो आइने मे जिलौ रही, न परी मे जल्वा-गरी रही;

किया खाक आतशि इश्क ने, दिले बे नवाये सिराज को,
न हजर रहा, न खतर रहा, जो रही सो बेखतरी रही।

(सगुण-निर्गुण भक्त नजीर की एक नज्म)

जिस सिम्त नजर कर देखे है, उस दिलवर की फुलवागी है,
कहीं सब्जी है, हरियाली है, कहीं फूलों की गुल्कारी है;
दिन रात मगन खुश बैठे हैं, औ आस उसी की भारी है,
बस आपहि वह भंडारी है, औ आप हि वह दातारी है;
हर आन खुशी, हर आन हंसी, हर वक्त अमीरी है, बाबा!
जब आशिक मस्त फकीर हुए, फिर क्या दिल्गीरी है, बाबा!

: ५ :

विवाह और वर्ण ।

चतुःपुरुषार्थसाधक वर्णऽाश्रम धर्म मे अंतर्वर्ण-('अ-स-वर्ण')-विवाह का स्थान ।

बिगड़ी प्रथा के शोधन के लिये नये विधान की आवश्यकता ।

(भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा मे, अन्तर्वर्ण' वा 'अ-स-वर्ण' विवाह सम्बन्धी विधान का उपन्यास, १६३५ ई० मे, मै ने किया। उस की ओर, भारत जनता का, समग्र देश मे, ध्यान आकर्षित करने के लिये, सात अंग्रेजी लेखो की एक लेखमाला, सब प्रान्तों के मुख्य मुख्य दैनिक पत्रों मे प्रकाश कराई और उस का हिन्दी मे आशयानुवाद, काशी के 'आज' पत्र मे, १६३६ ई० मे, छपा । उसी का, पुनर्दृष्ट, शोधित, कहीं संक्षिप्त कहीं उपबृंहित, रूप, यह अध्याय है । इसी आशय का व्याख्यान, मै ने, दो दिन, ता० २८ जनवरी, १६३७, और ४ फरवरी, १६३७ को, केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा मे किया; परन्तु कार्यसिद्धि वहाँ नही हुई; उपन्यस्त विधान को कानून का रूप नहीं मिला ।)

उपन्यस्त विधान

२६ सितम्बर १६३५ को, भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा (लेजिस्लेटिव असेम्बली) मे, हिन्दू अन्तर्वर्ण-विवाह-सम्बन्धी एक विधान का प्रस्ताव मै ने किया; १७ अप्रैल सन् १६३६ को सभा मे निश्चय किया गया कि, १५ जुलाई तक उस पर लोकमत संग्रह करने के लिये, वह प्रकाशित किया जाय । प्रस्तावित विधान के अंग्रेजी शब्दों का आशय यह है—

"यह आवश्यक है कि उन उद्देश्यों की सिद्धि के लिये, जिन की आगे चर्चा की जायगी, हिन्दुओं के भिन्न-भिन्न लोकोक्त वर्णो मे परस्पर विवाह, कानूनी (धर्मसंगत, स-मर्याद, अनिंद्य, वैध, जायज, प्रामाणिक,' लाफुल', 'वैलिड', सत्) समझा जाय; इस लिये निम्नलिखित विधान बनाया जाता है ।

१—इस विधान का नाम 'दि हिन्दू मेरेज वेलिडिटी ऐक्ट' (हिन्दू-विवाह-मर्यादन-विधान) होगा।

२—हिन्दुओं का कोई भी विवाह, केवल इस कारण से गैर-कानूनी न समझा जायगा, कि विवाहित स्त्री और पुरुष एक ही लोकोक्त वर्ण के नही हैं; चाहे इस के खिलाफ भी कोई रिवाज हो, या हिन्दुओ के कानून का अर्थ इस के विपरीत लगाया गया हो।"

यह विधान अक्षरशः वही है जो सन् १६१८ मे श्री विठ्ठलभाई पटेल ने सभा मे पेश किया था, पर जिस पर वोट लेने की नौबत नही आयी।

शान्ति के साथ विचार की आवश्यकता

इस विषय पर हिन्दुओं के सभी समुदायो को सावधानी से विचार करना, और इस के पक्ष और विपक्ष को सब बातो पर ध्यान करना, उचित है; बिना रोष आवेश के, बिना कटुता के, सौमनस्य से, शान्ति से, बहस करें, और जो बात कह रहा हूँ उन पर ध्यान दें।

परस्पर का वैमनस्य उसी समय दूर हो सकेगा, जब एक पक्ष दूसरे पक्ष के सम्बन्ध मे यह विश्वास करेगा, कि वह भी हिन्दू समाज और भारतीय जनता की भलाई और उन्नति का चाहने वाला है।

अच्छी तरह जानता हूं कि हिंदू समाज के कितने ही प्रभावशाली लोग इस विधान को नापसन्द करते हैं। इन्हे हम समान पूर्वक, बिना किसी प्रकार के लेशमात्र भी अनादर को सूचना के, 'अपरिवर्ती' 'ऑर्थोडाक्स' 'वह पुरुष जो प्रचलित मत को ही ठीक मानता है और उस मे परिवर्तन नही चाहता है', कह सकते हैं। उन की इस इच्छा का पूरी तरह सत्कार करता हूँ कि वे अपना जीवन अपने अभ्यस्त प्रकार से बिता सकें, अर्थात् जिस प्रकार से वे अब तक रहते आये हैं उसी प्रकार से रहते जायँ; और उन के सामाजिक प्रबंध और कार्यक्रम मे किसी प्रकार की बाधा न होने पावे। उन की इस आकांक्षा मे, इस विधान से किसी प्रकार का विघ्न न होगा।

आरम्भ मे ही, ऐसे सब लोगो को, जो इस विधान के विरुद्ध हैं, सानुनय विश्वास दिलाना चाहता हूँ, कि किसी की हानि नही चाहता, प्रत्युत सब की सेवा करना चाहता हूँ। प्रायः ४० वर्षों से, परमात्मा की दी

हुई अल्प बुद्धि के अनुसार, हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म की सेवा करने का यत्न किया है, और साथ ही इस बात का भी यत्न करता रहा हूं, कि इस देश मे बसने वाले अन्य धर्म वालों के साथ हिन्दुओं का सौमनस्य बढ़े। यदि मै ने भूल की हो, या फिर करूँ, सेवा के बदले अपकार किया हो, या फिर करूँ, तो यह मेरी इच्छा या नीयत के दोष से नहीं हुआ है और न होगा, बल्कि समझ और विचार के दोष से हुआ है और आगे हो सकता है।

'बिल' (प्रस्तावित कानून) के विरोधी सज्जन यदि केवल इतना भी मान लेंगे, कि श्री विठ्ठलभाई पटेल नेकनीयती से, हिन्दू समाज की सेवा करने की सच्ची अभिलाषा से, प्रेरित थे, तथा मेरा भी भाव वैसा ही है, तो इस विधान पर सार्वजनिक चर्चा और बहस, कटुता से रहित होगी, और सत् परामर्श तथा गुणदोषसमीक्षा के सच्चे भाव से प्रेरित होगी, जो ही सच्चे लोकोपकारी कार्यों के साधन का एकमात्र उपाय है।

जैसा गीता मे कहा है,

प्रसन्नचेतसो हि आशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते,
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिर् अस्य उपजायते।

जब चित्त प्रसादयुक्त, प्रसन्न, शान्त होता है, तब बुद्धि सुस्थिर हो जाती है, उस मे से चंचलता हट जाती है, और तभी वह उन सत्यों, तथ्यों, उपायों को निश्चित रूप से देखती है, जिन के द्वारा मनुष्य के सब दुःख दूर होते हैं।

इस भूमिका के बाद, जिस का यह उद्देश्य है कि शान्ति का वातावरण बँध जाय, अपनी दलीलों को पेश करता हूँ।

हिन्दूधर्म की विशेषता

यद्यपि मेरा यह निश्चित मत है कि मूल वर्णधर्म मे, अर्थात् शास्त्रों द्वारा विहित जीविका-कर्म के अनुसार, समाज को चार वर्णों में विभक्त किया जाय, और यह आवश्यक नहीं था, (जैसा आगे दिखलाऊँगा), कि वर्ण अथवा उपवर्ण के भीतर ही विवाह सीमित रहे; तथापि यह मानने को तैयार हूं कि सम्भव है कि इस रीति से, जिस की कड़ाई को यह विधान कम करना

चाहता है, पूर्व काल मे कुछ लाभ हुआ हो, जब देश की परिस्थिति दूसरी थी। यह कहने का साहस नही कर सकता कि इस प्रकार का, वर्ण-नाम के भीतर अवच्छिन्न अवरुद्ध विवाह, सदा सर्वदा स्वभावतः हानिकर ही था और है। परन्तु यह कहने का अवश्य साहस करता हूॅ, कि किसी चीज की भी 'अति' करना खराब है। सुप्रसिद्ध सस्कृत कहावत है, "आश्र-येन् मध्यमा वृत्ति, अति सर्वत्र वर्जयेत्।" बुद्धदेव ने अपने मार्ग का नाम ही 'मध्यम-परिपाटी' रक्खा। पैगम्बर मुहम्मद की भी एक हदीस है, 'खैर-उल-उमूरे औसातोहा', वे ही सब काम अच्छे होते हैं जो बीच का रास्ता पकड़ते हैं।

साथ ही, सस्कृत शास्त्रो का तो स्पष्ट कहना है कि, कानून और रिवाज को देश, काल, और स्थिति के अनुसार, बदलते रहना चाहिये। मनुष्य की कोई कार्यप्रणाली ऐसी नहीं हो सकती जिस से सब को लाभ ही हो, और जिस का परिणाम सब अच्छा ही हो। अत एव, जब किसी विशेष आचार के बुरे परिणाम, अच्छे परिणामो को दबाने लगते हैं, तो दूसरे आचार-धर्म बनाने पड़ते हैं। ये नये कानून, इसी तरह से, आगे चल कर, देश-काल अवस्था के परिवर्तन से, हानिकर होने लगते हैं, और उन्हे फिर बदलना पड़ता है। कोई अपरिवर्तनीयता, कही भी, किसी कानून मे नही है। इस लिये आचारो मे भेद चारो ओर हम देखते हैं।

देश-काल-निमित्तानाम् भेदैर् धर्मो विभिद्यते;
नहि सर्वहितः कश्चिद् आचारः सम्प्रवर्तते;
तस्माद् अन्यः प्रभवति, सोऽपरम् बाधते पुनः,
आचाराणां अनैकाग्र्यम् तस्मात् सर्वत्र लक्ष्यते।

(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६६, ३१४)

इस प्रकार से हिन्दू धर्मशास्त्र मे धर्मव्यवस्थापन के सिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया है, और उस मे देश-काल-अवस्था के अनुसार परिवर्तन, और विरोधी भावो के समन्वय, समझौते, आदि की पूरी गुजाइश रक्खी है। मानव-ससार की सब से पुरानी कानून की जीवित पुस्तक मनुस्मृति है; उस मे स्पष्ट रूप से कहा है कि धर्म, कानून, अर्थात् अधिकार और कर्तव्य को

परस्पर बांधने वाले नियम, मनुष्य जाति की अवस्था के अनुसार बदलते रहते हैं; सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग, मे, मनुष्यों के धर्म दूसरे दूसरे होते हैं।

अन्ये कृतयुगे धर्माः, त्रेतायाम्, द्वापरेऽपरे,
अन्ये कलियुगे, नृणाम्, युग-ह्रासऽनुरूपतः

(मनु०, १, ८५)

'नाम्ना' सवर्ण-विवाह के नियम को कड़ाई से पालन करने से, दूसरी स्थिति मे, चाहे कुछ ही फायदा हुआ हो, अब तो, हिन्दू समाज मे इस की 'अति' हो गयी है, और इस से बहुत हानि हो हो रही है। बहुत से लोगों का निश्चय मत हो रहा है, और ये लोग ऐसे हैं जो किसी प्रकार से अविवेकी, जल्दबाज, अथवा अपरिपक्व बुद्धि वाले, नहीं कहे जा सकते।

दिवंगत पण्डित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चित्तरंजन दास, और जीवत् महात्मा गांधी, श्री राजगोपालाचारी, आदि जैसे बड़े-बड़े देशभक्त और नेता—जिन की उदार बुद्धि, और आत्मत्याग, मे किसी को सन्देह नहीं हो सकता, और जिन्हो ने भारतीयो के उद्धार के लिये, और साथ ही साथ, हिन्दू धर्म मे तत्वतः जो सत्य-प्रिय-हित-कर बातें हैं, उन की रक्षा के लिये, इतना कार्य किया है—सब की यही राय है कि इस प्रकार से सख्ती के साथ 'नाम मात्र के सवर्ण विवाह' का प्रकार उचित नहीं है; और उन्हों ने यह मत ही नही प्रकाश किया, बल्कि, जैसा कि सच्चे नेताओं के लिये योग्य है, इस विचार के अनुसार आचार भी किया, और बड़े अच्छे उदाहरण देश के सामने उपस्थित किये। नागरिकों की अन्य श्रेणियों मे भी ऐसे विवाह समय-समय पर होते आ रहे हैं, और अब अधिकाधिक संख्या मे होने लगे हैं। अतः इस विधान को उन सब लोगों का आशीर्वाद प्राप्त होने की आशा हो सकती है, जो यह मानते हैं कि सत्य सिद्धान्त का अनुसरण भी और कुशल भी सदा इसी मे है कि मध्यमा वृत्ति का अवलम्बन किया जाय, और 'अति' का आश्रय लेने मे भूल तथा भय सदा रहता है।

'अति', ज्यादती, सौ बुराइयो की एक बुराई है, और (नाममात्र) सवर्ण विवाह का कठोर नियम, वर्तमान काल मे, निश्चय ही, इस दोष से दूषित है। अच्छी प्रथाये भी अति की ओर जा कर दूषित हो जाती हैं। तब, मनुष्यो के भीतर बैठा हुआ अन्तरात्मा, नयी व्यवस्थाओ की सृष्टि करा के, अपने नियमो का पालन कराता है। जीवन के सभी विभागो मे इतिहास की यही शिक्षा मालूम होती है।

अन्याय और अपराध करने वाले को रोकने के लिये, किसी प्रकार के शासन का, किसी दण्ड के प्रबन्ध का, किसी कानून और व्यवस्था का, किसी नियम कायदे का, और शासन करने और दण्ड देने के किसी अधिकारी का, होना, आवश्यक है। परन्तु 'नौकरशाही', यानी जनता के हर विभाग पर अहलकारो की निरंकुश और मनमानी हुकूमत, आज्ञा आदेश निकालने, कानून कायदा बनाने, लोगो को बाध्य विवश करने, के अधिकार का 'अति' अधिक प्रयोग, 'दपतरतन्त्रता', बहुत ही अनिष्टकर है; विरोध, विद्रोह, विप्लव, उस के अनिवार्य परिणाम हैं।

इसी तरह, कुछ निजी रुपया पैसा, कुछ निजी सम्पत्ति, कुछ निजी जगह जमीन, तथा रहन-सहन के ढग और दरजे मे कुछ अन्तर, जो औचित्य की सीमा के अन्दर हो, मनुष्य की भोग्य वस्तुओ के विनिमय की सुविधा के लिये, क्रयविक्रय की सुकरता के लिये, तथा जीवन को रोचक बनाने के लिये, उपयोगी है, अनिवार्य है। पर 'पूंजीवाद' और 'थैलीशाही और चल अचल सम्पत्ति पर 'इजारो', 'ठेको' की (एकसत्ताकता, 'मोनोपोली', mono-poly, की) 'अति', 'धनिकतन्त्रता', अति हानिकारक है, और व्यापक असन्तोष तथा विप्लव की सृष्टि करता है।

इसी तरह, देश की रक्षा के उद्देश्य से खड़ी की गई सेना, और जुटाये गये हरबा हथियार, अस्त्र शस्त्र, उचित सीमा का 'अति' क्रमण करने पर उद्वेगकारी 'लाठीशाही' और विध्वंसकारी 'सैनिकतन्त्र' का रूप प्राप्त कर लेते हैं, और सदा मार-काट मची रहने का कारण होते हैं।

इसी तरह, चित्त को शाति देने के लिये ऋषियों की खोज से निश्चित की हुई पारलौकिक विद्या भी, 'अति' का आश्रय लेने पर, 'पोथीशाही'

'पुरोहित-राज्य' का, और लोकविनाशक पुरोहिती स्वार्थ के साधन का, 'पादरी-तंत्रता का, रूप ग्रहण करती है, मूढ़ग्राहों, धर्माभासों और ठगाइयों को बढ़ाती है, और साम्प्रदायिक दङ्गों, धर्म के नाम पर होने वाले अमानुषिक अत्याचारों, 'जेहादी' लड़ाइयों, और अन्त मे उग्र दण्ड-साधित सुधारों का कारण बनती है ।'

हिन्दू रूढ़ियां, और सामाजिक जीवन के नियम, 'अति' की ओर, बहुत चले गये हैं । जिन लक्ष्यों के लिये उन की सृष्टि हुई थी, ठीक उन के उलटे परिणाम वे उत्पन्न कर रहे हैं । आरम्भ मे, उन की सृष्टि, समाज व्यवस्था की एक सम्पूर्ण योजना के अँग के रूप मे, हुई थी । काम और दाम का न्यायोचित बँटवारा कर के, जीविका के उपार्जन मे होने वाली अव्यवस्थति और उच्छृंखल प्रतिस्पर्धा की बुराइयों को घटाना ; समाज के सब अंगों को परस्पर बाध कर, एक सम्पूर्ण शरीर की रचना करना, जिस के सब भाग एक दूसरे पर आश्रित हों; ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना जिस मे समान-शील-व्यसन के स्त्री पुरुषों मे, जहाँ तक संभव हो, सुखमय और सफल विवाह-सम्बंध होने मे सुविधा हो ; ऐसा वातावरण उत्पन्न करना जिस के द्वारा कुटुम्बो के, और कुटुम्बों के द्वारा सारे समाज के, हित और सुख की वृद्धि हो सके—यह उस समाज-व्यवस्था का विशद और उदार उद्देश्य था ।

कुटुम्ब और समाज

इस देश के पुराने विचार मे, कुटुम्ब को ही मानव समाज का आधार और आरंभिक 'अणु' ('यूनिट', Unit) मानते हैं ।

१ इन चार 'अतियों' के अन्य नाम—ब्राह्मण राज्य, क्षत्रिय राज्य, वैश्य राज्य, शूद्र राज्य ; समताऽवस्था का नाम मानव राज्य । अंग्रेजी मे, 'थीयो-क्रैटिज्म', ('ब्यूरोकैटिज्म' और) 'मिलिटरिज्म', 'कैपिटलिज्म', 'प्रोलिटे-रियनिज्म', तथा 'होमो-क्रैटिज्म' (वा एरिस्टो-डेमो-क्रैटिज्म) । Theo-cratism, (Bureaucratism and) Militarism, Capitalism (or Plutocratism), proletarianism, और Homocratism (Aristo-democratism) । हिन्दी-संस्कृत मे, तथा अंग्रेजी मे, और भी कई पर्याय—चतुष्क बनाये जा सकते हैं, जो मेरे अन्य ग्रन्थों मे लिखे हैं ।

एतावान् एव पुरुषः यज् जाया आत्मा प्रजा इति ह। (मनु,६,४५)

अकेला पुरुष, पुरुष नहीं है, किन्तु पुरुष, स्त्री, और सन्तति, तीनो मिल कर संपूर्ण पुरुष अथवा मनुष्य बनता है।

आज काल की प्रवृत्ति, 'व्यक्ति' को समाज का आधार और आरंभक 'यूनिट' मानने की ओर है। एक हद पर व्यक्तिवाद और दूसरी हद पर राष्ट्रवाद, यही आधुनिक काल का आदर्श है। कुटुम्बवाद एक कोटि, और सर्वमानववाद दूसरी कोटि, यह प्राचीन आदर्श है। जब समाज रूपी जजीर को बनाने वाली कड़ी, कुटुम्ब माना जाता है, और माता, पिता, तथा सन्तति, सदा के लिये एक दूसरे से जुडे हुए समझे जाते हैं, तब मातृपितृसम्बन्ध के अनन्त विस्तार का, (अर्थात् माता के पिता माता, पिता के पिता माता, फिर इन चार मे से प्रत्येक के पिता-माता, फिर उन आठ के सोलह, इत्यादि का), स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सम्पूर्ण समाज, न केवल मानसिक दृष्टि से, किन्तु शारीरिक दृष्टि से भी, परस्पर सम्बद्ध, संयुक्त दिखाई देता है; और उस का आधार, परस्पर का सहयोग हो जाता है। इस प्रकार से सभी लोग एक ही शरीर और एक ही आत्मा के अंग वास्तव मे हो जाते हैं।

रोटी-बेटी का सम्बन्ध, अन्न सम्बन्ध और यौन-सम्बन्ध, ये ही प्राण-सम्बन्ध हैं। पर, जब प्रत्येक व्यक्ति ही समाज का स्वतंत्र अंग समझा जाता है, तब, जिस समुदाय मे वह रहता है, उस के साथ उस का सम्बन्ध मन-माना और प्रतिस्पर्धा-मूलक हो जाता है ; और इस कारण से, वह समाज मज़बूत होने के बदले और कमजोर हो जाता है। यही कारण है जो आज हम, व्यक्तियों के, और ऐसे व्यक्तियो से निर्मित राष्ट्रो के, बीच, इतना उग्र द्वेष-भाव देख रहे हैं, जिस से आज सारा मानव-वायु-मण्डल व्याप्त हो रहा है। न केवल राष्ट्र-राष्ट्र मे सघर्ष हो रहा है, बल्कि प्रत्येक राष्ट्र के भीतर भी, अमीर और गरीब मे, शासक और शासित मे, बलवान् और दुर्बल मे, और—सघर्ष की परा काष्ठा—स्त्री और पुरुष मे, पिता और पुत्र मे, बूढ़े और जवान मे, पुरानी पुश्त और नई पुश्त मे, संघर्ष बढ़ रहा है।

कठोरता ही ह्रास का कारण

भारतीय रस्म-रिवाज भी, यद्यपि आरम्भ मे वे सम्यक् सामाजिक संघटन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आश्रित थे, धीरे-धीरे, कुछ अंगों पर बहुत ज्यादा जोर दिये जाने, और दूसरे अंगों की उपेक्षा होने, से, वर्तमान जातिभेद मे परिवर्तित हो गये। इस व्यवस्था की अत्यधिक कठोरता, हिन्दू-धर्म तथा भारतीय जनता के हिन्दू अंश के स्पष्ट ह्रास का, और फलतः अप्रत्यक्ष रूप से, परम्परया, अन्य अंशों के भी ह्रास का, मुख्य कारण है; क्योंकि आज जैसी अवस्था है उस मे सब को गर्दने एक ही डोरी मे बधी हैं; गिरेंगे तो सब साथ ही, और उठेंगे भी तो सब साथ ही। इस कहने पर उस आदमी को आपत्ति हो सकती है जो केवल इस स्थूल बात को देखता है, कि कुछ अन्य सम्प्रदाय, (यथा मुस्लिम), संख्या मे तेजी से बढ़ रहे हैं ; पर उस आदमी को आपत्ति न होगी जो यह समझता है कि वह सम्प्रदाय, अपने ही अन्तर्गत साधारण लोगों के हित और भलाई की दृष्टि से कोई उन्नति नहीं कर रहे हैं, बल्कि परायो से पाये हुए कृत्रिम संरक्षण सहायन पर अधिकाधिक अवलम्बित होते जा रहे हैं, और उन की संख्या मे वृद्धि, केवल हिन्दुओं की ही 'जात-बाहर' करने की मूढ़ प्रथा से हो रही है।

ये कड़ाइयाँ उस उद्देश्य को सर्वथा व्यर्थ किये दे रही हैं, जिस के लिये इस जाति के बुजुर्गों ने, सुदूर अतीत मे, वर्णव्यवस्था की स्थापना की थी। इस व्यवस्था को तो 'वृत्ति-विभाग', वा 'वृत्ति-व्यवस्था', वा, संग्राहक शब्द मे, 'समाज-व्यवस्था' कहना अधिक उचित होगा। वह उद्देश्य था, परस्पर सहायक अङ्गो से युक्त संग्रथित समाज की रचना, सच्चे समाजरूपी देह की रचना, जो जीवित मानव शरीर की भाँति ही सिर, हाथ, धड़, और पैर रखता हो। पर इस की जगह आज हम समाज के इन विविध अंगों मे परस्पर सहायकता के स्थान मे भेद, फूट, ईर्ष्या, तीव्र द्वेष तक, देख रहे हैं। जो वर्णव्यवस्था सब को आपस मे बांधे रखने की, एक केन्द्र की ओर खींचे रखने वाली, शक्ति थी, वह आज सब को अलग अलग करने की, और केन्द्र से दूर फेंक देने वाली, शक्ति बन गई है।

सब मे मेल कराने के बदले, वह सब को सब का विरोधी वैरी बना रही है।

हिन्दू 'भूयसीयता', कहानी-मात्र

हिन्दुओं के जिस 'मेजारिटी,' majority, बहुतायत, या बहुसंख्यता की इतनी चर्चा है, वह नितान्त 'मिथ्या कल्पनामात्र है। वास्तव मे हिन्दू समाज, आपस मे लड़ते हुये अल्पसंख्यक समुदायों का, कोई तीन हजार जातियों और उपजातियों का, जो सब भोजन और विवाह के विषय मे एक दूसरे को अछूत अस्पृश्य समझती हैं, प्रतिक्षण विशीर्यमाण एक 'ढेर' मात्र है; सच्चे वर्णधर्म का स्वांग है; जिसे बाहरी आलोचक, विस्मय और तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं।

यदि ठीक दवा समय से न दी गयी, तो इन रूढ़ियों और रिवाजों की दिन दिन बढ़ती जाने वाली कठोरता, हिन्दू समाज-शरीर की मृत्यु का कारण होगी, जैसे कोमल सप्राण तन्तुओं का कड़ा पड़ जाना, धीरे धीरे, कुछ काल मे, व्यक्ति-शरीर के जीवन का अन्त कर देता है। अवश्य ही, जो मानव समुदाय इस समय 'हिंदू'-समाज के नाम से पुकारा जाता है, वह और उस की सतति-प्रसंतति, यदि हिंदू धर्म (ईश्वर न करे) मिट भी जाय, तो भी नष्ट न होगी; पर आध्यात्मिक संस्कृति, तथा सभ्यता के कुछ बहु-मूल्य तत्व, समाज संघटन के उत्तम सिद्धान्त, बहुत दिनो के लिये लुप्त हो जायँगे, जिस से सारी मानवजाति की भारी क्षति होगी।

प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के वैज्ञानिक आधार

वर्ण-व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध, मनुष्य समाज के व्यूहन का आध्यात्मिक तत्व, वास्तविक रूप, और व्यावहारिक उद्देश्य, जब ध्यान मे लाया जायगा, तब यह स्पष्ट होगा कि, प्रचलित नाम-मात्र सवर्ण विवाह की रीति का बहुत कड़ाई से पालन करना, उस व्यवस्था के सिद्धान्तों के अनुकूल नही है। आरम्भ मे, मानव समाज की सांगोपाग व्यवस्था ही वर्ण व्यवस्था थी। इसे पच्छिम मे 'सोशल आर्गेनिजेशन' कहते हैं। इस मे चार परस्पर सम्बद्ध व्यूह थे, (१) शिक्षा-व्यूह, ('एड्यूकेशनल आर्गेनिजेशन', 'लर्नेड प्रोफेशन्स'), जिस के अवयव, तपस्वी विद्वान् ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण वर्ण वा वर्ग के शिक्षक और ब्रह्मचारी आश्रम के विद्यार्थी, थे; (२) रक्षा व्यूह, राजनीतिक

प्रबन्ध,('प्रोटेक्टिव आर्गेनिजेशन', 'एक्सेक्यूटिव प्रोफेशन्स'), जिस मे साहसी, निर्बलों के रक्षक, 'क्षतात् त्राता', क्षत्रिय वर्ग वा वर्ण, और (साधारण दृष्टि से) वानप्रस्थ आश्रम, के लोग थे; (३) जाविका व्यूह, आर्थिक संघटन, ('इकोनोमिक आर्गेनिजेशन', 'कोमर्शल प्रोफेशन्स'),जिस मे कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्य-व्यापार वाले वैश्य वर्ग वा वर्ण, और (सामान्यतः) गृहस्थाश्रम, के लोग थे, और (४) सेवा-व्यूह, सहायता-व्यूह, श्रमजीवी सघटन, (इंडस्ट्रियल आर्गेनिजेशन', 'लेबर प्रोफेशन्स',) जिस मे शूद्र वर्ग वा वर्ण के शारीरिक सेवक, और संन्यासी आश्रम के आध्यात्मिक सेवक थे।[1]

इस चतुर्विध सामाजिक सग्रथन के आधारभूत, कुछ मौलिक और व्यापक सिद्धान्त, विविध शास्त्रों के, थे; यथा शरीर-शास्त्र, चित्त-शास्त्र अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, भोजन शास्त्र, विवाह-शास्त्र, राज-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र आदि। 'आगम' की परम्परा से 'आगत' शब्दों मे, इन सब शास्त्रो का चतुर्विध राशीकरण चार पुरुषार्थों के चार शास्त्रों मे किया है, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, काम-शास्त्र, और मोक्षशास्त्र। आर्य जाति के बुज़ुर्गों ने, ऋषियो ने, पूर्व काल मे, ज्ञानचक्षु से, इन सब तत्वों का प्रत्यक्ष कर के, उन की नीव पर, मानव जाति के हित के लिये, इस समाजव्यवस्था का निर्माण किया था; इस लक्ष्य से, कि इस मे भारत की बहुसंख्य जातियाँ ही नहीं, अपितु समस्त पृथ्वीतल के रहने वाले मनुष्य मात्र, उचित वर्ण मे समाविष्ट हों, और जो ही इस के सम्पर्क मे आवे वह 'आर्य' हो जाय, चाहे उस की जीविका, व्यसन, मनोवृत्ति, आचार-विचार, रीति रस्म, आदि कुछ ही क्यो न रहा हो।

देश-धर्मान्, जाति-धर्मान्, कुल-धर्मांश्च शाश्वतान्,
पाषण्डगण-धर्मांश्च, शास्त्रेऽस्मिन् उक्तवान् मनुः।
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः,

1. Social organisation; Educational organisation, Learned professions; Protective organisation, Executive professions; Economic organisation, Commercial professions; Industrial organisation, Labor professions.

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।
ब्राह्मणः, क्षत्रियो, वैश्यः, त्रयो वर्णाः द्विजातयः,
चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रो; नास्ति तु पञ्चमः ।
(मनु, अ० १, श्लो० १३८; अ० २ श्लो० २०; अ० १०, श्लो० ४)
कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम् । (ऋग्वेद)

'शरीर शास्त्र' (आयुर्वेद) का सिद्धान्त यह है कि देहधारी जंतुओं की पारम्परिक पीढ़ियों की उत्पत्ति मे दो नियम सदा कार्य करते रहते है। (१)पितृ-क्रम-ऽागम नियम, पितृ-परम्परा नियम, जन्मना-सिद्ध-स्वभाव नियम, आनुवंशिकता; (२) स्वतो-विशेषण नियम, नव-उन्मेष नियम, कर्मणा-सावित (व्यक्तीकृत, व्यंजित) स्वभाव नियम, वैयक्तिक विशेषता । आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक,(१)को 'ला आफ हेरेडिटी',(२)को 'ला आफ स्पान्टेनियस वेरियेशन' या 'म्युटेशन' कहते है । अर्थात्[१] (१) कुछ गुण तो जन्म से ही, माता-पिता द्वारा, प्राप्त होते हैं, और (२) कुछ का स्वतः व्यक्ति-विशेष मे प्रादुर्भाव होता है । इन का फल यह होता है कि (१) एक ही मा बाप की सन्तति, शरीर और बुद्धि मे, अपने मा-बाप के सदृश और एक दूसरे के सदृश, कुछ अंश मे, होते हैं, और (२) साथ ही, दूसरे अशों मे,उन मे विलक्षणता भी होती है । पुराने शब्दों मे,इन्हें 'जन्मसिद्ध गुण' और 'कर्मसिद्ध गुण', अथवा 'योनि कृत गुण' और 'तपः-श्रुत-कृत' गुण, कह सकते हैं । इन परस्पर भेदी नियमो का मूल कारण, ब्रह्मविद्या से मिलता है । परमात्मा की 'एकता' ही, संसार मे जो कुछ एकता, समता, स्थिरता, सन्तत भाव, अविच्छिन्न परम्परा, देख पड़ती है, उस की हेतु है; और परमात्मा की स्व-भाव-रूप प्रकृति की 'अनेकता' ही, संसार मे जो कुछ बहुता, विचित्रता, विभिन्नता, और परिवर्तन-शीलता है, उस की कारण है ।

बुद्धिः (शक्तिः) नव-नव-उन्मेष शालिनी प्रतिभा (प्रकृतिः) मता । (शैवागम)

'अन्तःकरण शास्त्र, चित्तशास्त्र, अध्यत्मशास्त्र' का सिद्धान्त यह है कि चित्त के तीन गुण हैं, जिन मे से प्रत्येक व्यक्ति मे, एक का प्राधान्य

१ Law of Heredity, Law of Spontaneous Variation or Mutation.

होता है; और 'द्विज' अर्थात् सुशिक्षित, सुसंस्कृत, व्यक्ति, जो द्वितीय बार, आत्मज्ञान मे, जन्म पा चुके हैं, वे इसी हेतु से, तीन प्रकार के होते हैं—(१) ज्ञान-प्रधान, (२) क्रिया-प्रधान, तथा, (३) इच्छा-प्रधान; और बाकी लोग चतुर्थ प्रकार की श्रेणी के हैं, जो अव्यक्तबुद्धि बालकबुद्धि के हैं, और ऊँची शिक्षा ग्रहण करने की शक्ति नही रखते, शारीरिक श्रम का ही काम अधिकतर कर सकते हैं। ज्ञानप्रधान ममुष्य के लिये हृदय का आप्यायन और सत्कार्य का प्रेरक, विशेष कर प्रेमपूर्ण सम्मान ही होता है, और इसी को वह अधिक चाहता है 'मानो हि महतां धनम्'। क्रियाप्रधान पुरुष, आज्ञा-शक्ति, ऐश्वर्य, 'ईश्वर-भाव', अधिकार, को अधिक चाहता है,

आज्ञाभंगो नरेन्द्राणां अ शस्त्र-वधः उच्यते। (शुकनीति)

इच्छा-प्रधान पुरुष, धनधान्य को अधिक चाहता है, और श्रमजीवी मनुष्य खेल-तमाशा, क्रीड़ा-विनोद, को अधिक पसन्द करता है। यह अच्छी तरह से स्मरण रखना चाहिये कि चार सहोदर भाई, एक ही मा-बाप के चार लड़के, भिन्न-भिन्न श्रेणी, वर्ग, राशि, प्रकृति, आकृति, मनो-वृत्ति के हो सकते हैं, और अक्सर होते हैं। यह विभिन्नता उन मे स्वतः उत्पन्न होती है। तथा यह भी ठीक है कि परम्परागत प्रकृति के कारण वे प्रायः, स्वल्प भेद से, एक ही श्रेणी, एक आकार प्रकार और स्वभाव के, भी बहुधा होते हैं।

न विशेषोऽस्ति वर्णानाम्, सर्वं ब्राह्मम् इदं जगत्,
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टम् हि, कर्मभिः वर्णतां गतम्,
(म० भा०शांति० अ०१८८)

वेदों मे उपमा दी है, 'चारों वर्ण एक ही स्रष्टा के शरीर से उत्पन्न हुए हैं, इस कारण सब सगे भाई हैं, किन्तु प्रकृति और जीविका के भेद के कारण भिन्न-भिन्न वर्णो मे विभक्त हो गये हैं। अथ च, विभक्त हो कर भी प्रत्येक मे अन्य तीनो को शक्तियों के बीज बने ही रहते हैं, और विशेष अवस्था मे उद्बुद्ध अंकुरित हो सकते हैं और होते हैं,

न तदस्ति पृथिव्यां वा, दिवि देवेषु वा पुनः,
सत्त्वं प्रकृतिजैः मुक्तं यत स्याद् एभिस् त्रिभिर्गुणैः। (गी०)

'अन्तःकरण शास्त्र' का दूसरा सिद्धात यह है कि, स्त्री-पुरुष की राजस तामस काम-वासना जो होती है, वह सात्विक स्नेह प्रीति, स्वार्थ त्याग, उत्तरदायित्व-सवेदन, और कर्तव्य-परायणता, के भाव मे परिवर्तित हो जाती है, जब उन्हें सतति उत्पन्न होती है। पर, जैसे अन्य बातों मे, वैसे संतति मे भी, 'अति' से बहुत दुःख पैदा होता है। जब इतनी सन्तति हो कि माता पिता उन का उचित रूप से पालन-पोषण न कर सकें, तो अनर्थ हो जाता है। साथ ही, यदि जान बूझ कर सर्वथा सन्तति का निरोध किया जाय, एक दो अपत्य भी न हो, इस लिये कि सब प्रकार की कष्टदायी जिम्मेदारियो से, उत्तरदायित्व से, मियां-बीबी बचे रहें, और केवल अपने ही इन्द्रिय-सुख की लालसा को तृप्त करें, तो ऐसी केवल कामवासना से स्वार्थ अधिकाधिक प्रज्वलित होता है, थोड़े ही समय मे सभी इंद्रियां कुण्ठ हो जाती हैं, परस्पर ग्लानि हो जाती है, सब वैवाहिक प्रेम और सुख नष्ट हो जाता है, हर प्रकार के व्यभिचार, पाप, और अपराध, अधिक होने लगते हैं, और नाना प्रकार के सामाजिक दोष और रोग बढ़ जाते हैं। अतः स्मृतिकारों ने गृहस्थऽाश्रम को ही सर्वश्रेष्ठ मान कर उस की प्रशंसा की है। क्योंकि उसी से अन्य आश्रमो का पोषण होता है। साथ ही साथ बहुत सन्तति की भी निन्दा की है, यहां तक कि एक पहिले पुत्र को ही 'धर्म ज' कहा है, और दूसरों को 'काम-ज'। (मनु, अ० ३, श्लो० ७७, ७८; अ० ६, श्लो० ८६, ६०; अ० ६, श्लो० १०७)

'अर्थ शास्त्र' का सिद्धान्त, वर्ण-धर्म-ऽात्मक समाज-व्यवस्था की जड़ बुनियाद मे, यह लक्ष्य है कि, जीविकोपार्जन मे अनियमित विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता दूर की जाय, या उस की खराबियां यथा-सम्भव कम की जायं। इस लिये, चार वर्णों के लिये, चार, भिन्न-भिन्न प्रकार की, जीविका-वृत्तियां नियत कर दी। जो लोग अपनी शारीरिक और मानसिक प्रकृति के कारण पैतृक जीविका के योग्य हों, वे निश्चयेन उसी का अवलम्बन करें। पर जब किसी व्यक्ति मे दूसरे प्रकार का स्वभाव पाया जाय, तो उस को यह इजाजत रहे कि वह अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल जीविका का कार्य उठा सकें, पर, धनोपार्जन के लिए, किसी दूसरे वर्ण के लिये निर्धारित

जीविकोपाय का कार्य करने न पावे। इस प्रकार से प्रत्येक मनुष्य, अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार, सारे समाज की सेवा के लिये कार्य कर सकेगा, और समाज की तरफ से उसे उपयुक्त पुरस्कार और जीविकोपार्जन का साधन मिलेगा, और काम, दाम, और आराम का न्यायोचित विभाजन हो सकेगा; क्यों कि कोई भी व्यक्ति जीविका के लिये, स्व-वर्ण-उचित कार्य के सिवा, दूसरा काम न कर सकेगा। शौक के लिये भले ही करे, पर उस से अर्थोपार्जन न करे। कृष्ण ने नारद महर्षि देवर्षि को संगीत की शिक्षा दी, और आज, पाँच हजार वर्ष से, चारों वर्णों को, वेद-वेदान्त-सार-भूत गीता की शिक्षा दे रहे हैं, पर अपने को क्षत्रिय ही कहते हैं, क्योंकि जीविका उन की क्षत्रियवृत्ति से रही; यदि अध्यापन-वृत्ति से जीविका करते तो ब्राह्मण कहलाते; एवं तुलाधार वैश्य और धर्मव्याध शूद्र ने ब्राह्मण ऋषियों को शिक्षा दी, पर वृत्ति के कारण वैश्य और शूद्र ही अपने को कहते रहे; एवं जनक आदि।

'समाज शास्त्र' का सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार से व्यक्ति के शरीर मे सिर, हाथ, धड़, और सर्वधारक पैर होते हैं, और जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति के चित्त मे ज्ञान, इच्छा, और क्रिया का संग्रह रहता है, तथा सर्वधारिणी चेतना-शक्ति रहती है, उसी प्रकार सामाजिक संघटन मे, अर्थात् प्रत्येक सर्वाङ्ग-पुष्ट, सुविकसित, उन्नत, और सभ्य समाज मे, चार ऐसी श्रेणियाँ होती हैं, जो स्थूल रूप से, जीविका की दृष्टि से, एक दूसरे से विभक्त की जा सकती हैं—(१) विद्योपजीवी वर्ग, (२) (शासनात्मक) अधिकारोपजीवी वर्ग, (३) व्यापारोपजीवी वर्ग, तथा (४) शारीरिक-श्रमोपजीवी वर्ग। इन चारों श्रेणियों मे, चार प्रकृतियों के अनुरूप, अधिकार (हक़) और कर्तव्य (फ़र्ज़), कार्य और जीविका, परिश्रम और पुरस्कार, मिहनत और उज्रत, काम और दाम, श्रम और आराम, का उचित बँटवारा होना चाहिये। तथा, किसी को किसी दूसरे के क्षेत्र पर (विशेष कर जीविका के साधन पर) आघात करने का कोई अवसर न मिलना चाहिये, न किसी वर्ग या व्यक्ति को दो या तीन या चारो प्रकार से जीविका उपार्जन कर सकने की इजाजत होनी चाहिये। अवश्य

जीविका, रिज़्क, के चार प्रधान तरीको मे प्रत्येक के अन्तर्गत बहुत से उप-प्रकार हैं। इस सिद्धान्त की जड़ मे यह वैज्ञानिक और प्राज्ञानिक ('सायंटिफिक' व 'मेटाफिजिकल') तथ्य है कि मनुष्यमात्र का परस्पर सम्बन्ध, शारीर ('बायोलोजिकल्') और चेतनीय (चेतनात्मक, 'स्पिरिचुअल') भी है। जैसा बाइबल मे कहा है, "वी आर् आल् फ्लेश अफ् दि सेम् फ्लेश, ऐण्ड स्पिरिट आफ दि सेम स्पिरिट," सब प्राणियो मे एक ही भौतिक तत्त्व है, और सब जीवो मे एक ही चेतन तत्त्व है, सब उसी एक ही के अनन्त रूप है। इस को सदा याद रखने से सदा परस्पर स्नेहभाव सहायताभाव बढ़ता है। साम्प्रत काल मे, 'व्यक्ति' ही को, 'समाज' का आरम्भक 'अणु' मानने की प्रवृत्ति बढ़ी हुई है; इस का फल यह है कि 'बायोलोजिकल् बोण्ड' ('अन्न-सम्बन्ध,' 'यौन-सम्बन्ध,' 'वार्त्ता-सम्बन्ध,' अर्थात् 'कोन्न्युबियम्' 'कोम्मेन्सम्', 'कोम्मर्सम्', के 'प्राण-सम्बन्ध') मे शुचिता और स्थिरता रखने की उपयोगिता का, और 'स्पिरिट' (आत्मा) मे विश्वास का, आदर कम हो गया है; 'वैयक्तिक' स्वार्थ की पूर्ति का ही आग्रह अधिक रहता है; परस्पर संघर्ष बढ़ता है; दारुण विश्वयुद्ध होते हैं।[1]

दूसरा 'सामाजिक सिद्धांत,' जिस का प्रभाव बहुत ही व्यापक है, और जो पुरातन सामाजिक व्यवस्था मे अनुस्यूत था, यह है कि व्यक्ति नही, अपितु, बल्कि, कुल वा कुटुम्ब, समाज का आरम्भक अवयव ('यूनिट') है। इस विषय पर पहिले कहा जा चुका है।

'समाज शास्त्र' का एक और बहुत गौरव-पूर्ण सिद्धान्त, वर्णधर्म मे गुथा हुआ, यह भी है, कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का मोटे तौर से चार विभाग होना चाहिये; पहिला भाग, अध्ययन मे, दूसरा, गार्हस्थ्य और जीविकोपार्जन मे, तथा सन्तति के पालन-पोषण मे; तीसरा, बिना किसी वेतन या प्रतिफल या कीमत के, सार्वजनिक सेवा मे; और चौथा, आध्या-

1. Scientific; Metaphysical; Biological; Spiritual. "We are all flesh of the same flesh and Spirit of the same Spirit. Con-nubium, Com-mensum, Com-mercum.

त्मिक ध्यान और मोक्षसाधन मे; व्यतीत होना चाहिये। स्वार्थ-प्रधान वैयक्तिक भावों और वासनाओं का नियंत्रित नियमित सेवन, प्रथम दो विभागों मे होने देना चाहिये, और परार्थप्रधान लोकोपकारी भाव और शुभेच्छा का अधिकाधिक, प्रतिदिन वर्धमान, मात्रा मे सेवन, अन्तिम दो विभागों मे होना चाहिये। 'आश्रम धर्म' के नाम से प्रसिद्ध व्यवस्था का यह मूल सिद्धांत है, जिस से 'वैयक्तिक' जीवन का प्रबन्ध किया गया है। इस का अटूट सम्बन्ध वर्णधर्म से है, जिस के द्वारा 'सामाजिक' जीवन का प्रबन्ध किया गया है। इन दोनो का, वर्णधर्म और आश्रमधर्म का, वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कपड़े मे ताने और बाने का।

तीसरे आश्रम मे ऐसे लोग बहुतायत से मिलने चाहियें, जो प्रतिद्वंद्विता द्वारा जीविकोपार्जन करने से निवृत्त हो चुके हों; जो परिपक्व बुद्धि वाले, दुनिया को देखे, बोझ उठाए, धक्के खाए, सुख-दुःख भोगे, तजुर्बेकार, अनुभवी हों; जो अब प्रेम और शान्ति की ही आंखों से मानव जगत् को देखते हों; जो नयी पुश्त पर विशेष अनुकम्पा रखते हों; जो वास्तव मे सम्मान के योग्य और अधिकांश जनता के सम्मानित श्रद्धित हों; और जो बिना पुरस्कार के, निर्वाचित समितियां, बोर्डों, व्यवस्थापक सभाओं के, तथा अन्य सार्वजनिक, कार्यों को, लियाक़त से, योग्यता से, कर सकें। वर्त्तमान समय (जमाने, युग) के लिये, 'यज्ञ' अर्थात् 'परार्थ कर्म' के रूप ये ही हैं। यदि इस तीसरे आश्रम का, और ऐसे लोगों का, पुनः संघटन हो सके, तो नीच प्रकार के स्वार्थ, दम्भ, ईर्ष्या-मत्सर, और तरह तरह की बेईमानी, जो इस समय, केवल वेतनभोगी अहलकारों मे ही नहीं, बल्कि निर्वाचित और अवैतनिक सार्वजनिक कार्यकर्ताओं मे भी, बहुत कुछ फैल गई है, वह, यदि पूरी तरह से हटाई न भी जा सके, तो भी बहुत कम जरूर की जा सकती है।

'राजनीति शास्त्र' (धर्म-शास्त्र के अंतर्गत) का सिद्धन्त, जो इस वर्णव्यवस्था मे ओत-प्रोत है, वह यह है कि, चारों जीविकाओं के अनुसार विभक्त श्रेणियों का पृथक्-पृथक्, परन्तु परस्पर अवलम्बित, व्यूहन हो। उन मे आपस मे शक्ति का उचित बंटवारा रहे, और शास्त्र-शक्ति (ज्ञान-बल)

शस्त्र शक्ति (सेना बल), अन्न शक्ति (धन-बल), और सेवा-शक्ति (श्रम-बल), सब के सब, किसी एक समुदाय अथवा व्यक्ति मे केन्द्रीभूत न हो सकें; क्योकि एक ही हाथ मे कई शक्तियों के आने का ख्वाह म-ख्वाह यह नतीजा होता है कि अहकार, अभिमान, दर्प, गर्व, मद, उच्छृङ्खलत्व, निर्मर्यादता, अवश्यमेव उभरते है; प्रजा के शिक्षण रक्षण पालन के सौम्य-भाव दब जाते हैं; और अनियन्त्रित अधिकार का दुरुपयोग कर के दूसरो को पीड़ा देने का भाव, अपने भोग विलास के लिये, हुकूमत ऐश्वर्य का रस चखने के लिये, निश्चयेन बढता है। पुराणो मे, नहुष, रावण, आदि क घोर अत्याचारो के वर्णन के आरम्भ मे कहा है, "स सर्वेषा एव देवाना अधिकारान् स्वयम् एव अधितष्ठे"; अलग अलग देवताओ क जो अलग-अलग अधिकार थे, उन सब का छीन कर अकेले अपने ही हाथ मे उसने कर लिया। शिक्षक, रक्षक, पालक और सहायक, इन सब को, अपने-अपने दायरे मे, परिधि के भीतर, काम करना चाहिये; इस लिये, कि किसी वर्ण या वर्ग को किसी दूसरे वर्ण या वर्ग पर अनियन्त्रित अधिकार रखने की, अथवा उस को पैर के नीचे दबाने की, इच्छा करने का अवसर न मिले।

'शिक्षा-शास्त्र (धर्मशास्त्र क अंतर्गत) का सिद्धात यह है कि, प्रत्येक बच्चे को, जो ज़रा भी शिक्षा पाने योग्य है, सास्कृतिक ('कल्चरल') शिक्षा के साथ साथ उस प्रकार का व्यावहारिक ('वोकेशनल'), अर्थ करी, जीविका-साधनी, विशेष शिक्षा दी जाय, जिस के प्रति उस का स्वभाव से रुचि और प्रवृत्ति हो।[1] और इस प्रवृत्ति को समझने, पहिचानने, के लिये उस के शिक्षकों को, विशेष प्रकार से अध्यात्मवेदी हो कर, ध्यान देना और यत्न करना चाहिये।

'स्वास्थ्य शास्त्र और विवाह शास्त्र (आयुर्वेद और काम-शास्त्र)' का सिद्धात यह है कि भोजन और विवाह क बारे मे सब प्रकार की सावधानी रखनी चाहिये, हर तरह की शुचिता, सफाई, की फिक्र करनी चाहिये, और ऐसे ही लोगो के साथ भोजन और विवाह करना चाहिये जो समान शील और व्यसन वाले हों, जिन का स्वभाव मिलता हो। ऐसा

१ Cultural; Vocational.

ही करने से व्यक्ति जीवन मे, कुटुम्ब-जीवन मे, और जाति जीवन मे, स्वास्थ्य और सुख की वृद्धि हो सकता है ।

इन सिद्धान्तो के आधार पर पुरातन सामाजिक व्यूहन किया गया था । उस मे, प्रत्येक व्यक्ति, अवश्य ही, चार मे से किसी न किसी एक वर्ग वा वर्ण मे, जीविकानुसार, स्थान पावेगा; और इस का निर्णय, पैतृक क्रम से नही, परतु उसी की प्रकृति और आकाक्षा के अनुसार, निश्चित किया जायगा; अर्थात्, जिस पेशे को वह अपनी रुचि और योग्यता से उठा सके, उसी के 'वर्ण' मे वह रक्खा जायगा । इन चार प्रधान 'वर्णो' अर्थात् पेशो के अन्तर्गत, मोटे तौर से, वे सब अनन्त पेशे हैं जो मनुष्य कर रहे हैं; उन सब का राशीकरण इन चार के नीचे हो सकता है, और प्रत्येक व्यष्टि (व्यक्ति), अनायास, इस सामाजिक समष्टि मे अपना स्थान पा सकता है, उस के अनुरूप कार्य कर सकता है, और, समाज पर बोझ हुए बिना, समुचित जीविका का उपार्जन कर सकता है ।

यह मौलिक वर्णाश्रम व्यवस्था थी । पूर्व काल मे, इसी मे भारत की हजारो जातियाँ अधिकाधिक संख्या मे समाविष्ट हो कर, संघटित होती और सभ्य बनती रहीं । इस मे वह शक्ति थी कि, भारत के इतिहास की आरंभिक शताब्दियो मे, बिना अपना सम्प्रदाय, या जाति, या विशेष रीति-नीति रस्म-रिवाज, या मातृभाषा, छोड़े, कितनी ही जाति के, राष्ट्र के, देश के, सम्प्रदाय के, लोग, इस के भीतर आकर, संगमित सगृहीत हुए और इस मे मिल गये । वर्ण-आश्रम-समाज-व्यवस्था तो एक ऐसा सयान, सञ्चिका, साँचा, ढाँचा, चार कोष्ठो खानो का है, जिस मे सब प्रकार के मनुष्य, अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव गुण-(जीविका)-कर्म, के अनुसार, सहज मे ढाले जा सकते हैं, और ढाले जाते थे । आज भी यह प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि हमारे बीच मे पंजाबी, मारवाड़ी, अवधी, मध्यदेशी, बंगाली, मद्रासी, मराठे, गुजराती और बाली द्वीप के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मौजूद हैं, और इन के प्रत्येक दल (गरोह) मे ऐसे लोग हैं, जो अपने को वैष्णव वा शाक्त वा शैव वा सैकड़ों अन्य सम्प्रदायों मे से किसी एक सम्प्रदाय के विशेष नाम से पुकारते हैं, और विविध भाषाएं बोलते हैं ।

प्राचीन व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार, कोई कारण नहीं है कि ससार मे बसने वाले सभो लोग—चीनी, जापानी, ईरानी, अरबी, फ्रांसीसी, जर्मन, अंग्रेज, चाहे वे ईसाई, मुस्लिम, यहूदी, या और कोई मजहब के हों, इन्हीं चार जीविकानुसार गरोहों या पेशों मे विभक्त न किये जायँ। प्रत्युत बहुत से ऐसे कारण हैं जिन से ऐसा करना ही उचित है। वास्तव मे सब सभ्य जातियां मे स्थूल रीति से ये चार वर्ग अथवा श्रेणियाँ अथवा पेशे मौजूद हैं, यद्यपि वे प्रकट रूप से इस प्रकार के माने नहीं गये हैं, न इस प्रकार से नियमित रूप से संघटित किये गये हैं, जिस से काम, दाम, श्रम, आराम का, बुद्धिपूर्वक विभाग हो सके, जैसा प्राचीन भारत मे किया गया था।

रूस के सोवियट राज्य प्रबन्ध ने भी अपना नाम 'किसानों (वैश्य), सैनिकों (क्षत्रिय), श्रमजीवियों (अर्थात् मानसिक श्रमजीवियों या 'ब्राह्मणों', तथा शारीरिक श्रमजीवियों या शूद्रों) का सोवियट संघराज्य' ('पेजेन्ट्स, सोल्जर्स, ऐण्ड वर्कर्स सोवियट रिपब्लिक', प्रजातन्त्र राज), आरम्भ मे रक्खा।[1] इङ्गलैण्ड मे भी राष्ट्र के चार अग हैं, अर्थात् 'क्लर्जी' (ब्राह्मण) 'नोबिलिटी' (क्षत्रिय), 'कामन्स' (वैश्य), 'लेबर' (शूद्र)।[2] कुरान मे भी उल्-उल-इल्म (ब्राह्मण), उल्-उल्-अम्र (हुकूमत करने वाले, आमिर, अमोर, क्षत्रिय), जुर्रा (ज़िराअत, खेती, करने वाले), तीन तबीयत के आदमियों का ज़िक्र है, और चौथो श्रेणी मे मजदूर (उल्-उल् मिह्न) अध्याहार्य हैं, समझे जा सकते हैं।

बाहरी अन्वेषकों ने लिखा है कि यह कहना असम्भव है कि हिन्दू-धर्म है क्या ? वास्तव मे एक भी ऐसा विश्वास, ऐसा विचार, ऐसा आचार, ऐसा कर्म, ऐसा सस्कार नहीं है, जिस के सम्बन्ध मे यह कहा जा सके कि यह हिंदू धर्म अथवा हिंदू मनुष्य का विशेषक, व्यावर्त्तक, अपरिवर्त्ती, अनुवर्त्ती, अव्यभिचारी लक्षण है। अवश्य ही हिन्दूधर्म भी, मनुष्य के अन्य बड़े-बड़े धर्मों की तरह, विश्वव्यापी धर्म के प्रधान तत्त्वों को

१ Peasants, Soldiers, and Workers Soviet Republic.

२ Clergy, Nobility, Commons, Labor.

स्वीकार करता है; पर इन के अतिरिक्त, हिन्दुओं के किसी-न-किसी गरोह मे वे सब रस्म-रिवाज, विश्वास, आचार, पाये जायँगे, (चाहे वे सुसंस्कृत हों, चाहे नितान्त विकृत अधम, नीच, और घोर), जो ससार के किसी भी अन्य प्रदेश मे पाये जा सकते हैं। परमात्मवादी भी हिंदू हैं, देहात्मवादी भी; परम साधु, विरक्त, तपस्वी, पवित्राहारी, लोकोपकारी भी हिन्दू हैं, तथा 'ठग साधु' 'अघोरपन्थी', 'वाममार्गी', मुर्दा और विष्ठा तक खाने वाले भी, और नर-बलि देने वाले भी। 'सनातनी' हिन्दुओं मे भी, बालक और संन्यासी, शिखा और यज्ञोपवीत सूत्र नहीं रखते; बहुतेरे क्षत्रिय, वैश्य, और सभी शूद्र, सूत्र नहीं रखते; चर्मकार हिन्दू, गोमांस खाते हैं; जैन हिन्दू, बौद्ध हिन्दू, सिख हिन्दू, वेदों को नहीं मानते; 'आर्य' हिन्दू, मूर्त्तियों को नहीं मानते; इत्यादि। ईसाई धर्म मे सैकड़ों भेद हैं, परन्तु सब को ही ईसा मसीह मे विश्वास करना आवश्यक है। इस्लाम मे बीसों भेद हैं, पर सब को मुहम्मद पैगम्बर मे विश्वास करना जरूरी है। हिन्दू के लिये किसी पुरुष मे, किसी एक अवतार मे, किसी एक देव देवी मे, परमात्मा के किसी एक नाम या रूप मे, विश्वास रखना आवश्यक नहीं है। हिन्दू की विशेषता यदि कोई है, तो यही कही जा सकती है कि वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, जान कर अथवा बिना जाने, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से, यह मानता है कि एक समाज-व्यवस्था मे, वर्णाश्रम योजना मे, वह सम्मिलित है, और अपने को 'हिन्दू' कहता है। वास्तव मे, पुरानी पुस्तकों मे 'हिन्दू' शब्द नहीं मिलता। धर्म-शास्त्र मे 'मनुज', 'मनुष्य', 'मानव', 'नर', ये नाम मिलते हैं, जिन का अर्थ केवल मनुष्य, आदमी, ही है। शब्दों का मूल धातु, अंग्रेज़ी शब्दा 'मैन' का मूल धातु, और मनुष्य, मानव 'मन्', 'मनस्' एक ही है। यह सत्य है कि एक तरफ 'आर्य' शब्द, और दूसरी तरफ उस के विरोधी भावों को दिखाने वाले 'अनार्य', 'वृषल', 'म्लेच्छ', और 'दस्यु' शब्द भी धर्मशास्त्रों मे आते हैं। पर आर्य का अर्थ 'सभ्य,' और अनार्य आदि का 'असंस्कृत, असभ्य, पतित, बर्बर,' है, जाति-विशेष नहीं है। वर्त्तमान अर्थ मे 'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति उसी समय हुई है जिस

समय से उस 'अस्पर्श'-रोग का आरम्भ हुआ, जो धीरे धीरे, और अब तीव्रता से, उस समाज को जर्जर करने लगा, और अब मुमूर्षु कर रहा है, जिस समाज का अब यह नाम है । इस शब्द का अर्थ पहिले 'हिन्दी' अर्थात् 'हिन्द' का रहने वाला था, और यही उचित भी है । प्राचीन ईरानियों ('आर्याना'-वासियों) ने यह नाम रक्खा था, और पीछे यूनानियों ने, इस का नाम, सिन्धु नदी (सिन्ध, हिंध, इंड, इंडस) के आधार पर, 'इण्डिया' कर दिया । ईरानी, जो 'आर्यों' की ही एक शाखा थे, 'स' को 'ह' कहते थे । भारतीय मुस्लिम, जो निकट पश्चिम के इस्लामी देशों मे भ्रमण करते हैं, वहाँ 'हिन्दी' या 'हिन्दू' नाम से ही पुकारे जाते हैं ।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के विषय मे आजकाल चार पांच प्रकार के मत प्रचलित हैं । कोई गोरे, लाल, पीले, काले रंग पर जोर देते, कोई जाति पर, कोई सम्प्रदाय पर, कोई पेशे पर । ऊपर कहे प्रकार से देखने से, इन सब मतों का समन्वय हो जाता है; साथ ही इस के, इस व्यवस्था की बड़ी वैज्ञानिकता, और व्यवहार के क्षेत्र मे उपयोगिता भी, मालूम हो जाती है, क्योंकि इस दृष्टि मे जीविका-अनुसारी 'वर्णों' मे और शरीर-परम्परा-अनुसारी 'जातियों' मे भेद किया जाता है, और प्रत्येक व्यक्ति, चाहे किसी जाति का हो, जीविकोपार्जन-सम्बन्धी स्वभाव और वास्तविक पेशे के अनुसार, विशेष वर्ण मे रक्खा जाता है । 'जाति' और 'वर्ण' शब्दों के अर्थों मे भेद है । 'जाति' (जन् धातु से) जन्मना है, जैसे अंग्रेज, जर्मन, रूसी, अरबी, ईरानी, चीनी, जापानी, बंगाली, मद्रासी, आदि 'जातियां' । 'वर्ण' (वृञ् वा वर्ण धातु से) कर्मणा है ।

जीविका के साधनों का पृथक्करण

जीविका के साधनों के पृथक्करण पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये । जिस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति को, शिक्षकों (या विद्वानों), रक्षकों, व्यापारियों, और श्रमजीवियों के चार बड़े बड़े व्यूहों में से किसी एक मे, उस के स्वभाव और पेशे के अनुसार, रख दिया जाता था, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति से यह भी आशा की जाती थी, कि वह अपनी जीविका

का उपार्जन उसी प्रकार से करेगा जो उस के वर्ण के अनुकूल हो। उस को यह इजाजत नहीं थी, कि किसी दूसरे वर्ण के कार्य से वह अपनी जीविका चलावे। इस प्रकार से धन का उचित बटवारा होता था, और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उचित आकाक्षाओं और अभिलाषाओं को पूरा करने का भी मौका मिलता था। अन्य बातो मे भी, उपर्युक्त थोड़े से आवश्यक मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार चलने से, यह सम्भव होता था कि मनुष्य की स्वार्थ और परार्थ भावनाओं का समुचित समन्वय हो सके; व्यष्टिवाद और समाजवाद मे, प्रातिस्विकवाद और सार्वस्विकवाद मे, वैषम्यवाद और साम्यवाद मे, व्यक्तिवाद और समाजवाद मे, 'अहं'-वाद और 'वय वाद' मे, 'इण्डिविजुएलिज्म' और 'सोशलिज्म मे 'सोशलिज्म' और 'कॉम्यूनिज्म' मे, बुद्धिसंगत समझौता हो सके; और वे सब समस्याएं व्यवहार्य रूप से पूरी की जा सकें जो सदा मनुष्यो के सामने आती रहती हैं।[1]

वर्ण-व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्तो की ओर लापरवाही करने, उस के अर्थ का अनर्थ करने, उस के कुछ अशो पर अत्यधिक जोर देने और दूसरे अंशो को भुला देने, से, बलवानो और चालाको का सब अधिकारों को पकड़ने और कर्तव्यों से परहेज करने, से ही, जीविकानुसार विभाजित वर्ण-व्यवस्था बिगड़ गई, और आज उस का स्वांग मात्र रह गया है; तथा अन्य बहुत-सी खराबियो के साथ, विवाह सम्बन्धी वे खराबियां उत्पन्न हो गयी हैं, जिन को दूर करने के लिये नये कानून को बनवाने की परम आवश्यकता है।

नये विधान से कई लाभ

उपन्यस्त विधान का अभिप्राय केवल इतना ही है कि, यदि कोई चाहे तो 'अन्तर्वर्ण' विवाह कर सकता है; और ऐसा विवाह जायज, धर्म्य, शिष्ट, समझा जायगा; नाजायज, खिलाफ कानून, अधर्म्य अशिष्ट नहीं होगा। विधान, अनुज्ञा (अनुमति) ही देता है, आज्ञा नहीं; यदि चाहो तो कर सकते हो, यह नहीं कि जरूर करो। इस का सिद्धान्त सीधा,

१ Individualism, Socialism, Communism.

और लक्ष्य उपयुक्त, यही है, कि हम दूसरो को जीने दें और दूसरे हमे जीने दे, हम दूसरो के जीवन मे बाधा न डाले, और दूसरे हमारे जीवन मे बाधा न डालें। यदि यह विधान पक्का हो कर, धर्म-परिषत् (असेम्बली) मे स्वीकृत हो कर, कानून का रूप ग्रहण कर ले, तो हिन्दू समाज मे जो अत्यन्त भेदभाव का आतरिक दोष आ गया है, जिस के कारण वह नितात जर्जर हो रहा है, वह दूर हो सकेगा। भीतर और बाहर, हर तरह से, एक दूसरे से, आग्रहपूर्वक दुराव बराव करने का जो दुर्भाव इस समय हिन्दू समाज का सब से तीव्र और भयावह रोग है, उस का वेग कम हो जायगा; अन्य समुदायो से प्रेम-सम्बन्ध हो सकेगा, सारे हिन्दू धर्म का सब भाव मृदु और सुन्दर हो जायगा; विवाह सम्बन्धी बातचीत मे जो बहुत सी मक्कारी और बेईमानी और परस्पर धोखा देने की बुद्धि भरी रहती है, वह दूर हो जायगी, क्योकि इस की आवश्यकता ही न रह जायगी। सब को मालूम है, कि विवाह के योग्य लड़कियो और औरतो को भारत के कितने ही प्रदेशो मे भगाया और बेचा जाता है; इस लिये कि ऐसी उपजातियो को स्त्रियां मिले, जिन मे, किन्हीं कारणो से, स्त्रियों की कमी है; और बेचने के समय, स्त्री का 'वर्ण' नाम असल मे दूसरा भी हो तो भी, खरीददार की रुचि के अनुसार बता दिया जाता है। स्त्रियो की उक्त कमी का एक कारण यह भी है कि कई उपजातियो मे लड़कियां पैदा होते ही मार डाली जाती हैं। अब ऐसा शायद कम होता है, पर यह जुर्म इस प्रकार का है, और ऐसी सरलता से किया जा सकता है, कि यह कहना सम्भव नहीं है कि बिलकुल बंद हो गया है। इस नये विधान से, इस अपराध के बन्द होने मे भी, अप्रत्यक्ष रूप से सहायता मिलेगी। तथा यह सम्भव होगा कि अन्ध विश्वास के ही आधार पर विवाह सम्बन्ध न किया जाय, जैसा इस समय हो रहा है, (कि बिना विचार किये, 'धर्माभास', 'मिथ्या धर्म', 'मूढ़ग्राह' का अनुसरण करते हुए, विश्वास किया जाता है कि पैत्रिक वर्ण नाम मात्र मे कोई अलौकिक शक्ति है); प्रत्युत इस के, वैज्ञानिक सहेतुक सद्धर्म के आधार पर विवाह-सम्बन्ध किया जायगा;

वैदिक धर्म, वैज्ञानिक धर्म, आयुर्वेद, और काम-शास्त्र, गार्हस्थ्यशास्त्र, के अनुसार, स्त्री और पुरुष का शारीर और मानस सच्ची स-वर्णता, समान-शील-व्यसनता, परस्परानुकूलता, देख कर विवाह-सम्बन्ध किया जायगा।

हेतुभिर्धर्ममन्विच्छेन्, न लोकं विरसं चरेत्; (म० भा०)

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः; (मनु)

अनिंदितैः स्त्रीविवाहैरनिंद्या भवति प्रजा; (मनु)

विशिष्टायाः विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत्; (म० भा०, नलो०)

इस विधान से किसी को विवश नहीं किया जाता है, कि वह अपने वर्ण अथवा उपवर्ण के बाहर विवाह करे, परन्तु, यह, ऐसा करने वालों की, 'जातिच्युत' किये जाने से, केवल रक्षा करेगा। किसी के लिये यह भी, लाजिमी न होगा कि ऐसे किसी व्यक्ति के साथ वह सामाजिक सबंध रक्खे, जिस ने इस प्रकार का विवाह किया हो; पर यदि कोई प्रकट रूप से, खुले तौर पर, यह घोषणा करे, कि अन्तर्वर्ण विवाह करने के कारण कोई स्त्री या पुरुष 'जातिच्युत' हो गया, और सम्बन्ध रखने योग्य नहीं है, तो उस पर मानहानि का मुकद्दमा चल सकेगा और वह अदालत मे अपराधी और दण्डनीय समझा जायगा।

इस विधान से कुछ और लाभ भी होंगे। (१) युवा और युवती की साथ साथ पढ़ाई का कालिजों मे जो प्रचार अब चला है, और देश मे बढ़ता ही जा रहा है, (यद्यपि इस प्रथा मे दोष बहुत हैं), उस से बहुत से सुखदायी विवाह हो सकेंगे; और अनाचार की घृणाजनक भूलें, मन और शरीर को गन्दा करने वाले, आजीवन हृदय मे चोर और शोक-शंकु बैठा देने वाले, कार्य न होंगे; तरह तरह की बीमारियां, विशेष कर युवतियों को, न भोगनी पड़ेंगी; यदि इस 'सह-अध्ययन', 'को-एज्युकेशन',[1] के साथ, कुछ आवश्यक मर्यादाएँ बाँध दी जायं, और यह शिक्षा भी विशेष रूप से दी जाय, कि अविवाहित मैथुन के अनुबन्ध (फल) बहुधा इस इस तरह के, बड़े दारुण हुआ करते हैं। (२) युवतियों की आत्म-हत्याएँ और दूसरी खराबियां, जो अब शादी के समय बड़े-बड़े दहेज

1. Co-education.

(यौतुक) मांगने के कारण हो रहीं हैं, वे कम हो जांयगी; शिक्षित युवा और युवती, स्वतन्त्र रूप से अपना स्वयंवरण कर सकेंगे, और वर्ण के नाम मात्र से, अनुचित रूप से, बंध न जायंगे । याद रहे कि बहुत दहेज मागने की प्रथा, कुछ तो आर्थिक संकट के कारण, और कुछ आधुनिक सभ्यता की धनलोलुपता के भाव के कारण, हुई है । कही कन्या खरीदी जाती है, कही वर खरीदा जाता है ।

सद्धर्म के किस आवश्यक सिद्धान्त का, अथवा धर्म-शास्त्र के किसी मौलिक आदेश का, विरोध किये बिना, यह विधान,उस समाज को, सामाजिक जीवन और संघटन के बहुमूल्य सिद्धान्तों से पुनः अनुप्राणित कर सकेगा, जिसे अब 'हिन्दू' समाज कहते हैं, जिसे वास्तव मे 'मानव' समाज कहना चाहिए, पर जिस ने इन सिद्धान्तों को काल के प्रवाह मे धीरे धीरे बहा और भुला दिया है ।

शास्त्र इस के पक्ष मे हैं ।

जो लोग धर्मशास्त्र के शब्दों को बहुत मानते हैं, वे भी 'अन्तर्वर्ण' विवाह का समर्थन, प्राचीन ग्रन्थो मे, विशेष कर पुराणो मे, पावेंगे । मै भी, बहुत विनीत भाव से, धर्मशास्त्र के शब्दों का आदर करता हूँ; यदि शास्त्र वास्तव मे प्राचीन हों, और ऐसे समय के हों जब भातरवर्ष स्वाधीन स्वतन्त्र था और ऋषिजन शास्त्रकार थे, तथा उन के शब्दों का अर्थ, धर्मशास्त्र के मुख्य अंग निरुक्त और मीमांसा के अनुसार, ठीक तरह से लगाया जाय । जो लोग बुद्धिवादी, और साधारण समझदारी पर भरोसा-करने वाले, हैं, उन के लिये तो धर्मशास्त्र-सम्बन्धी किसी दलील की आवश्यकता ही नहीं है ।

विधान किसी को विवश नहीं करता

यह बात विशेष प्रकार से याद रखने की है कि, उपन्यस्त विधान के अनुसार कोई भी अन्तर्वर्ण विवाह करने के लिये मजबूर नहीं किया जाता है । प्रस्तावित विधान केवल यही व्यवस्था करना चाहता है कि, जो कोई इस प्रकार का विवाह करे, उस की सामाजिक अवस्था, और हिन्दू की हैसियत से उस के धार्मिक और कानूनी अधिकार और कर्तव्य, पहिले की तरह

सुरक्षित रहें, उस का सम्बन्ध ऐसे सब मित्रों और रिश्तेदारों से बना रहे जो उस से सम्बन्ध रखना चाहते हो: और समाज उन की सेवा से वंचित न हो, जो सेवा समय पर बहुत उपयोगी हो सकती है ।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे विवाह बहुत नहीं होंगे ।

अधिकतर लोग अपने ही परिचित और परम्परागत समुदायो मे रिश्तेदारी खोजेगे । अन्तर्वर्ण विवाह अपवादरूप ही रहेगा, उत्सर्गरूप नहीं; गैरमामूली मुस्तस्नियात मे दाखिल होगा, मामूल मे नहीं ; पर ऐसा अपवाद, इस्तिस्ना, लाभदायक और वाञ्छनीय होगा ।

'वर्ण' शब्द मे 'उपवर्ण' सम्मिलित है

वर्ण शब्द के अन्तर्गत 'उपवर्ण' भी सुतरा है। हिंदी मे 'जात' 'जाति' शब्दो मे उपजातिया भी अन्तर्गत है । वर्तमान प्रथा के अनुसार, कुछ अपवादो को छोड़ कर, दो वर्णों मे भी, और दो उपवर्णों मे भी, परस्पर विवाह, दोनो ही, एक ही तरह से, 'असवर्ण' विवाह माना जाता है, और अदालतो मे गैरकानूनी समझा जाता रहा है । पर सस्कृत के पण्डित, धर्मशास्त्र के शब्दो के आधार पर, यह कदापि नही कह सकते, कि प्रधान वर्ण के दो उपवर्णों का परस्पर विवाह धर्म के विरुद्ध है । सच तो यह है कि इतने उपवर्णों मे से अधिकतर के अस्तित्व के ही औचित्य का, वे समर्थन नही कर सकते । प्राचीन पुस्तको मे तो उन के नाम ही नहीं मिलते । ऐसे वर्ण जिन्हें वास्तव मे उपवर्ण मानना चाहिए, उन्हें भी हिन्दू जनता आज व्यवहार मे स्वतन्त्र वर्णो के ऐसा मान रही है ।

रीतियों की व्यामोहक भिन्नता और असंख्यता

उपवर्णों के सम्बन्ध मे यह विचार करने योग्य बात है कि, रस्म-रिवाज मे, पदे पदे अन्तर पाया जाता है । उदाहरणार्थ, उत्तर भारत मे ब्राह्मणो के उपवर्णो मे परस्पर विवाह नहीं होता । वैश्यो मे भी यही प्रथा है । प्रत्येक उपवर्ण अपने मे ही, गोत्र बचा कर, विवाह करता है । पर क्षत्रियो के उपवर्ण अपने बाहर विवाह करते हैं । अपने ही उपवर्ण मे कोई क्षत्रिय विवाह नहीं कर सकता, पूरे पूरे उपवर्ण को ही एक गोत्र जैसा मानते हैं । संयुक्त प्रान्त के कायस्थों की उपजातियों मे भी, गोत्र बचा कर, अपने मे

ही विवाह होता है। मसलन्, कायस्थ वर्ण मे, संयुक्तप्रान्त मे, श्रीवास्तव उप वर्ण मे, दो उप-उप-वर्ण हैं, अर्थात् 'दूसरे' और 'खरे', और ये दोनो परस्पर विवाह नहीं कर सकते। दक्षिण भारत मे, पंचद्राविड़ ब्राह्मणो के उपवर्णों मे भी, उपवर्ण के भीतर ही विवाह होता है। संयुक्तप्रान्त मे कहावत है, 'सात कनौजिया नौ चूल्हा'; पर गुजराती कहावत है, 'तेरह गुजराती तेंत्राश चूल्हा'। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण वर्ण के, पंचद्राविड़ उप-वर्ण के, गुजराती उप-उप-वर्ण के, नागर उप-उप-उप-वर्ण के तीन उप-उप-उप-उप-वर्ण हैं, वड़नगरा, विशनगरा, सिपहनगरा, और हर एक, अन्य दोनो से अपने को ऊँचा जानता है, और तीनो मे परस्पर विवाह नहीं हो सकता। बङ्गाल के ब्राह्मणो और कायस्थों के उपवर्ण, अपने (उपवर्ण) के बाहर विवाह करते हैं, क्षत्रियों के ऐसा सारे उपवर्ण को एक गोत्र सा मानते हैं। शूद्र नाम से कहे जा सकने वाले उपवर्ण भी, हिन्दुस्तान भर मे, प्रायः अपने भीतर ही शादी करते हैं।

और देखिये। स्मृतियों मे आठ प्रकार के विवाहों की चर्चा है, और दाय की दृष्टि से बारह या उस से भी अधिक प्रकार के पुत्र माने जाते हैं। और आज भी हम देखते हैं कि बहुत से अन्य प्रकार के विवाह के तरीके भी जारी हैं। उदाहरणार्थ, जाटों मे श्वशुर का, विधवा पतोहू से, विवाह होना, एक हाईकोर्ट द्वारा, हाल मे, जायज ठहराया गया है। मुझ से यह भी कहा गया है कि, जाटों मे एक स्त्री के कई पति एक ही समय मे होना भी जायज माना जाता है, और कभी-कभी दो तीन भाइयों के बीच एक ही विवाहिता स्त्री होती है। कुछ समुदायों मे विधवा सास के साथ दामाद का विवाह होना जायज है। किन्हीं-किन्हीं पहाड़ी हिन्दू जातियों मे पत्नियों का विनिमय भी होता है, तथा एक स्त्री का कई पुरुषों से एक समय मे ही विवाह होता है। यह, एक ओर, हद से गुजरे 'अति' के उदाहरण है। साथ ही इस के, दूसरी ओर, उच्च जातियों मे दूसरे प्रकार की 'अति' मिलती है। मुझ से दो मित्रों ने कहा है, जो ब्राह्मण वर्ण के पंचगौड़ उपवर्ण के सरयूपारी उप-उप-वर्ण के द्विवेदी और त्रिपाठी उप-उप-उप वर्ण थे (एक तो काशी के प्रसिद्ध परम

विद्वान् स्वामी मनीषानन्द, उपनाम हरिनाथ स्वामी, थे), कि उन मे और भी पवित्रतम दल हैं जो 'पंक्तिपावन' कहलाते हैं, और जो अवध के कुछ जिलों मे रहते हैं, जिन मे, अति क्षुद्र निस्सार हेतुओं से, इतने लोग जाति-च्युत कर दिये गये हैं, और विवाह सम्बन्ध के योग्य इतने थोड़े रह गये हैं, कि अब विवाह स-गोत्र मे होने लगा है, 'केवल दूध का बराव किया जाता है', अर्थात् एक माता का दूध पीने वाले भाई बहिन का ब्याह आपस मे नहीं किया जाता है। मुसलमानो मे, मै ने दोस्तों से सुना है कि इसी तरह से, कुरैशी, मिलकी, और सय्यद समुदाय हैं, जो भी यथासंभव यही प्रयत्न करते हैं कि अपने समुदाय के भीतर ही विवाह करें। दक्षिण मे, मालाबार समुद्रतट के प्रदेश मे, मातृ-परम्परा से दाय का अधिकार मिलता है, और वहा के उच्च श्रेणी के ब्राह्मणो के विवाह संबंधी नियमो मे, उत्तर के ब्राह्मणो के नियमो से, बहुत अन्तर है ; और उन मे भी, नाम्बुदिरि ब्राह्मणो की ही दो प्रकार की सन्तान होती हैं; एक तो नाम्बुदिरि ही कहलाते हैं, दूसरे, नायर, और इन दोनो मे परस्पर विवाह नहीं हो सकता।

रस्मो की यह अनन्त विभिन्नता, जो बुद्धि को चकरा देती है, प्रस्तावित विधान से उन लोगों के लिये बहुत सरल हो जायगी जो इस से लाभ उठाना चाहेंगे। जो ऐसा नहीं करना चाहते, वे बिना रोक-टोक के अपनी विशेष रीति के अनुसार कार्य करने और कौटुम्बिक जीवन का निर्वाह करने के लिये स्वतन्त्र रहेंगे।

'वर्ण' का अर्थ 'पेशा' है

जो लोग 'वर्ण' का मौलिक अर्थ 'जीविका', 'पेशा', मानते हैं, जिस से मनुष्य का 'वर्णन' होता है, 'वर्णयति इति वर्णः'; जिस से यह जाना जाता है कि व्यक्ति विशेष का समाज मे क्या स्थान और समाज से क्या संबंध है; ऐसे लोगों को यह समझने मे कोई दिक्कत न होगी, कि स्त्री के 'वर्ण' का नाम वही है जो उस के विवाहित पति का है, चाहे उस के पिता का वर्ण अथवा पेशा कुछ ही क्यों न रहा हो। उचित ही है कि ऐसा हो, क्योंकि स्त्री अपने पति के घर की स्वामिनी होती है, उस की

सुव्यवस्था करती है, अपने पति की जीवन-यात्रा मे और जीविका-उपार्जन मे सहायक होती है; अत एव, प्रत्यक्ष नही तो अप्रत्यक्ष रूप से, उसी जीविका की उपार्जक, उसी पेशे का करने वाली, वह भी हो जाती है। धर्मशास्त्र मे पति और पत्नी एक माने गये हैं,

यो भर्ता सा स्मृताऽङ्गना। (मनु, ९, ४५)

ईसाइयो के वेद अर्थात् बाइबिल मे भी ऐसा ही कहा हुआ है।

अदालतो मे गवाह से पहिले पूछा जाता है, नाम क्या है ? फिर पिता का नाम, उम्र, वासस्थान, मजहब; अन्त मे, 'पेशा' क्या है ? जब वह अपना पेशा, अर्थात् अपना 'वर्ण' बतला देता है, अपने जीविकोपार्जन का उपाय प्रकट कर देता है, तब उस का 'वर्णन', उसका 'पता', पूरा हो जाता है; तब यह ठीक ठीक मालूम हो जाता है कि वह किस प्रकार से समाज का अग है, किस प्रकार से समाज के साथ बँधा है, समाज के व्यूहन सग्रन्थन मे उस का क्या विशेष स्थान है।

वर्ण का परिवर्तन, गोत्र के परिवर्तन की तरह है

पर, कुछ लोग ऐसे है जिन का विश्वास है, कि गोत्र की तरह वर्ण भी जन्म से चलता है। रोमन लोगो मे जैसे 'जेन्स' होते थे, जैसे स्काट लोगो मे 'क्लान', अरब लोगो मे 'कबीला', और अफगानो मे 'खेल' या 'जई' होते है, वैसे ही हिन्दुओ के गोत्र है।[1] ऐसे लोगो के गण, जो किसी एक पौराणिक पूर्व पुरुष की सन्तति माने जायँ, एक गोत्र के नाम से कहे जाते है। पर हम देखते है कि कन्या का गोत्र, विवाह होने पर, बदल जाता है; जो उस के पति का गोत्र, वही उस का भी गोत्र हो जाता है। यदि गोत्र को, जो निर्विवाद जन्मना प्राप्त होता है, कन्या बदल सकती है, तो वर्ण को क्यो नही बदल सकती, जिस की जन्म परम्परा उतनी स्पष्ट नही है ? यह भी स्पष्ट है कि तीनो ही 'द्विज' वर्णो मे कई गोत्र एक ही है, जिस का अर्थ यह होता है कि तीन भिन्न वर्णो के पुरुष एक ही पूर्वपुरुष से उत्पन्न हुए है, और भिन्न-भिन्न जीविका-कर्मो को, वृत्तियों को, उठा लेने के कारण भिन्न-भिन्न वर्णो के हो गये। "कर्मभिर्वर्णतां

१ Gens ; Clan.

गता." । जो लोग वर्ण को जन्मना मानते हैं, वे इन बातों पर विचार करें, और, साथ ही, इस पर भी ध्यान रखें कि, वेद और पुराण स्पष्ट रूप से कहते और दिखाते है, कि एक ही कुटुंब के कई मनुष्य कई वर्णों के हुए है। पुराणो मे ऐसे उदाहरण बहुत मिलते हैं कि, एक व्यक्ति, या एक समग्र कुल, एक वर्ण छोड़ कर दूसरे वर्ण का हो गया है। बहुत से छोटे-छोटे समुदाय, जो पहिले शूद्र समझे जाते थे, वे अब, आज काल, अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य कहने लगे हैं। वास्तव मे यह वही भाव है जिसे पाश्चात्य देशो मे, 'सामाजिक दर्जे मे उन्नति करना' ('राइजिङ् इन् दि सोशल स्केल') कहा जाता है।[१] १६३१ ई० की मनुष्य-गणना के विवरण मे, कई कई छोटी उपजातीयों के एक मे मिल जाने की, कई के लुप्त हो जाने की, कई की नयी उत्पत्ति की, तथा अन्य प्रकार के परिवर्तनो की, चर्चा की गयी है। यह जाति परिवर्तन या वर्णों मवर्ण-परिवर्त्तन, लगातार, सब काल मे होता रहा है, अब भी जारी ही है, और इस के कारण, उपजातियों का ठीक ठीक गिनती करना इतना जटिल हो गया, कि मनुष्य-गणना करने वाले अधिकारियो ने इस उपजाति-गणना को, सन् १६३१ ई० और १६४१ ई० की गणना मे, छोड़ ही दिया।

वर्ण-नाम-परिवर्तन के प्रवर्त्तमान प्रयत्न

हाल की कुछ घटनाओ से यह विदित होता है कि वर्ण को, अर्थात वर्ण-नाम को, किस तरह, व्यापक रूप से, कई समुदायों से, बदलने का यत्न हो रहा है। संयुक्तप्रांत मे कायस्थ समुदाय के कितने ही पढ़े लिखे लोग यज्ञोपवीत पहिनने लगे हैं, जो द्विजत्व का चिन्ह है, और अपने को क्षत्रियो का एक उच्च वर्ण मानते हैं। ऐसे ही, वैश्यों की कई जातियों ने, जिन मे यज्ञोपवात लुप्त हो गया था, अब उस का धारण पुनः आरंभ किया है। मराठा 'प्रभु' जाति की भी ऐसी ही स्थिति प्रतीत होती है; वे भी पहिले एक प्रकार क कायस्थ वर्ण के समझे जाते थे; अब अपने को क्षत्रिय कहने लगे हैं। बंबई के 'भाटिया' समुदाय के कुछ लोगों को मैं ने कहते सुना है कि वे 'लोहाना क्षत्रिय' हैं, यद्यपि उन की गणना अब तक

१ Rising in the social scale; स्वाभाविक लोकैषणा।

वैश्यो मे होती रही है। संयुक्त प्रांत के कुर्मी और अहीर अब अपने को क्रमशः कूर्माचलीय और यादव क्षत्रिय पुकारने लगे हैं; कोई तो अपने को कूर्माचलीय ब्राह्मण भी कहते हैं। 'जायसवाल' जाति का पहिले उपवर्ण नाम 'कलवार' था, जो अधिकतर शराब बनाने का पेशा करते थे; किन्तु अब उन मे, बहुत से जमीदार, वकील, प्रोफेसर आदि हो गये हैं; कुछ महाजनी अर्थात् लेन-देन का व्यापार करते हैं; और कुछ, अन्य रोजगार और पेशे उठाये हुए हैं; अब उन मे यह यत्न हो रहा है, कि सब के सब जायसवाल, 'हैहय क्षत्रिय' पुकारे जाय; कुछ पंडित विद्वानो ने उन को इस ओर उत्साहित किया है, और पर्याप्त 'वकालती फीस' पर, पुराणो के कुछ ऐसे अध्यायो का 'पता लगाया' है जो 'खो' गये थे, और जिन मे से उपयोगी 'नजीर' (निदर्शन) और 'प्रमाण' मिल सकते हैं। संयुक्त प्रांत का एक समुदाय अथवा वर्ण, जो अपने को तीस चालीस वर्ष पहिले 'धूसर बनिया' पुकारता था, अब अपने को 'भार्गव ब्राह्मण' कहने लगा है। मद्रास प्रात मे सुनारों का एक समुदाय, जो पहिले अपने को शूद्र मानता था, अब अपने को 'स्वर्ण-वणिक्' कहने लगा है, अर्थात् वैश्यों का एक उपवर्ण हो गया है। यह भी जानने योग्य बात है कि, मद्रास के ब्राह्मण पण्डितों का, अहंकारवश, यह कहना है कि कलियुग मे केवल दो ही वर्ण रह गये हैं, अर्थात् ब्राह्मण और शूद्र, कोई क्षत्रिय या वैश्य बचा ही नहीं है, और भारत के किसी प्रांत मे जो अपने को क्षत्रिय या वैश्य कहते हैं, वे वास्तव मे शूद्र ही हैं। १९३१ ई० की 'सेन्सस-रिपोर्ट' (मनुष्य-गणना-विवरण) से मालूम होता है कि 'अहीर', 'ग्वाला', 'गोप', आदि उपजातियों के पशु-पालक सभी अब अपने को 'यादव' कहने लगे हैं। कुछ 'सोनारों' ने, १९२१ ई० मे, अपने को क्षत्रिय या राजपूत लिखवाया, १९३१ मे, ब्राह्मण या वैश्य। कुछ 'नाई' ('नापित, हजाम) लोगों ने (संयुक्तप्रात मे) १९२१ मे अपने को 'ठाकुर', १९३१ मे 'ब्राह्मण', लिखाया। तथा 'नापितों' ने (बंगाल मे) १९२१ मे 'वैश्य', १९३१ मे 'ब्राह्मण'। कुछ 'कहारों' ने १९२१ मे 'वैश्य', १९३१ मे 'क्षत्रिय'; कुछ 'सूत्रधारों' सुताड़ों ने, (बंगाल मे) १९११ मे, 'ब्राह्मण'; इत्यादि।

सामाजिक श्रेणियों का, अपनी उन्नति के लिये, यत्न करना उचित ही है। तथापि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जो यत्न हो रहा है, वह किसी बुद्धिसंगत वैज्ञानिक सिद्धान्त का अनुसारी नहीं है। यथा, 'जायसवालों' के समग्र समुदाय का एक साथ 'हैहय क्षत्रिय' बन जाने मे कोई मतलब नहीं मालूम पड़ता। पौराणिक समय मे, 'हैहय' जाति के क्षत्रियों मे बड़े शक्तिशाली कुल हुए; नर्मदा नदी के तटों पर उन का राज्य था; माहिष्मती नाम की राजधानी थी; कार्तवीर्य नाम के इन के सब से अधिक प्रतापी राजा हो गये हैं; आरंभ मे ये बड़े धर्मात्मा प्रजापालक थे; धीरे धीरे, ऐश्वर्य के मादक मद से, निरंकुश प्रजापीड़क हो गये; जमदग्नि आदि तपस्वी ऋषियों की 'कामधेनु' अर्थात् भूमि छीनने लगे; ब्राह्मण-ऋषियों ने भी, आवश्यकता से बहुत अधिक भूमि का परिग्रह कर लिया था; जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने ब्राह्मणों, वैश्यों, और शूद्रों की सेना बना कर, घोर संग्राम कर के, इन्हें मार डाला। स्यात् कार्तवीर्य के सैनिकों को मदिरा अधिक प्रिय थी; सैनिकों को तो साधारणतः मद्यपान बहुत पसन्द होता ही है; स्यात् यही कारण है कि जायसवालो को इस पौराणिक क्षत्रिय कुल से विशेष कर नाता जोड़ने का विचार हुआ। पाश्चात्य देशों मे भी, राजवंशों के, और अन्य उच्च कुलों के, लोगों की यही इच्छा रहा करती थी, कि 'हेरल्ड' (चारण) गण, उन की कुल परम्परा को 'आदम और हौआ' तक पहुँचा देवें। मै ने एक छपा कुर्सीनामा, 'वंशवृक्ष', देखा है, जिस मे मनुष्य जाति के उस 'आदिम' जोड़े से, ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया, १०८ वीं पीढ़ी मे दिखाई गई थीं। परन्तु सब जायसवालों को अपने को 'हैहय क्षत्रिय' के नाम से पुकारने से, न तो हृदय का ही, न बुद्धि का ही, कोई विशेष संतोष देख पड़ता है। हां, दोनो ही का संतोष हो, यदि उन मे जो लोग महाविद्वान् पुरातत्ववेत्ता या वकील या अध्यापक आदि 'विद्योपजीवी' हैं, वे अपने को 'ब्राह्मण' पुकारें; जो जमीदार या शासन विभाग मे गवमेंटी अहल्कार आदि 'शासनोपजीवी' हैं, वे अपने को 'क्षत्रिय' पुकारें; जो कृषक या दूकानदार या व्यापारी ताजिर आदि 'वार्त्तोपजीवी' है, वे अपने को 'वैश्य' कहें; और जो लोग 'सेवोपजीवी' 'भृति-उपजीवी'

हों, वे अपने को सत्-'शूद्र' कहें; तथा जो अब भी शराब बनाते हों, वे अपने को असत्-'शूद्र' समझें, ('असत्' इस कारण से कि शराब बनाना और बेचना निकृष्ट काम समझा जाता है; यद्यपि, सामाजिक जीवन के विचित्र असंगत विचारों के अनुसार, शराब पीना, क्षत्रियवृत्ति के लोगों के लिये भी, उचित माना जाता है)। यदि उन्हें 'जायसवाल' शब्द से विशेष प्रेम हो तो वे 'ब्राह्मण' 'क्षत्रिय' आदि के पहिले, विशेषण के रूप मे यह शब्द भी जोड़ ले सकते हैं, यथा जायसवाल ब्राह्मण, जायसवाल क्षत्रिय, आदि। पर उचित तो यह है कि वे इस नाम को ही, सद्यः नही तो धीरे धीरे, छोड़ दें, क्योंकि अब उस मे कुछ अर्थ नहीं रह गया है। संभव है कि आरम्भ मे इस उपजाति के पूर्वपुरुष संयुक्त-प्रान्त मे, 'जायस' नाम के उस शहर के (या उस के आसपास के प्रदेशों के) बाशिन्दे रहे हों, जो किसी समय मे बहुत प्रसिद्ध था, अब एक गांव रह गया है, और मलिक मुहम्मद 'जायसी' के 'पद्मावत' काव्य के कारण अब भी प्रसिद्ध है।

यही एक प्रकार है, जिस से हिन्दू-समाज, अपने जातियो और श्रेणियो का आधार, परंपरागत वर्ण के नाममात्र को न मान कर, बल्कि वास्तविक पेशे को अर्थात् जीविकोपार्जन के प्रकार को आधार बना कर, अपने को वैज्ञानिक रूप से पुनः सु-धारित, सुव्यवस्थित, सुव्यूढ़, और सुख-समृद्धि-शान्ति-शाली कर सकता है।

इस स्थान पर एक व्यावहारिक प्रश्न का उत्तर देना चाहिये। बीच-बीच मे मुझ से पूछा गया है कि 'एक वर्ण की स्त्री जब दूसरे वर्ण के पुरुष से विवाह करेगी, तो विवाह के बाद उस का, तथा उस के लड़कों का, वर्ण क्या होगा?'। सीधा और स्पष्ट उत्तर इस का वही है जो पहिले कहा गया, कि, जिस तरह वह अपना 'गोत्र' बदल कर पति के गोत्र की हो जायगी, उसी तरह वह अपना 'वर्ण' भी बदल कर पति के वर्ण की हो जायगी, और लड़के भी पिता के ही वर्ण के होंगे, तथा व्यवहार-धर्म-सम्बन्धी कानूनी अधिकार और कर्तव्य के लिये, उसी वर्ण के माने

जायंगे; जब तक वे, स्वतंत्र जीविका-कर्म (पेशा) उठा कर, अपना वर्ण-नाम स्वयं बदल न लें।

हर तरह से ऐसा मानना उचित और आवश्यक होगा। स्त्रियों की प्रतिभात्मक शीघ्रगामिनी बुद्धि, और पुरुषों की अनुमानात्मक शनैश्चरंती बुद्धि, दोनो ही इस उत्तर की समर्थक हैं। जिस तरह पाश्चात्य देशों मे 'किङ्ग' की पत्नी 'क्वीन', 'एम्परर' की 'एम्प्रेस', 'ड्यूक' की 'डचेस', इत्यादि, विवाह होने के साथ ही हो जाती है, चाहे वह किसान, या पादरी, या सैनिक की बेटी हो; जिस तरह 'मिस कार्टर' ('छकड़ावाल') मिस्टर पोर्टर ('मोटिया') के साथ विवाह कर के तत्काल 'मिसेज पोर्टर' हो जाती है, और 'कुमारी शकटवाल' नहीं रह जाती; जिस तरह 'मिस टेलर' (दर्जी), मिसेज स्मिथ ('लोहार') हो जाती है;[१] उसी तरह (कम से कम संयुक्त-प्रान्त मे), स्त्रियां, तहसीलदार की पत्नी को तहसीलदारिन, कोतवाल की कोतवालिन, सेठ की सेठानी, राजा की रानी, पण्डित की पण्डितानी, ठाकुर की ठकुरानी, पण्डे की पण्डाइन, डाक्टर की डाक्टरनी, सूबेदार की सूबेदारिन, रिसालदार की रिसालदारिन, जमादार की जमादारिन, हीरातराश की हीरातराशिन, चूड़ीहारे की पत्नी को चूड़ीहारिन पुकारती हैं। पुरातन धर्मव्यवस्थापक मनु ने भी यही कहा है, "यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना" जो पति है वही पत्नी भी है। इस प्रमाण से, जो वर्ण पुरुष का है वही वर्ण उस स्त्री का भी हो जायगा, जो उस के साथ विवाह करेगी और जिस से वह विवाह करेगा। यह ध्यान मे रखने की बात है कि 'कार्टर', 'पोटर' 'टेलर', 'स्मिथ' आदि, इंग्लिस्तान मे, कुलों के नाम हो गये हैं; जैसे यहां 'लोहार', 'माली' 'सोनार', 'कोंहार', आदि, उपजाति या उपवर्ण के, तथा, लोहारिन, मालिन, सोनारिन, कोंहारिन।

जान बूझ कर, ऊपर, उदाहरणार्थ, तहसीलदारिन आदि, ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो ऐसे प्रसिद्ध वर्णों अथवा उपवर्णों के नाम नहीं

१ King; Queen; Emperor; Empress; Duke; Duchess; Miss Carter; Mr. Porter; Mrs. Porter; Miss Taylor; Mrs. Smith.

हैं, जिन के स्त्रीवाचक और पुरुषवाचक नाम पहिले से मौजूद है, जैसे वैश्य वैश्या, क्षत्रिय क्षत्रिया, ब्राह्मण ब्राह्मणी । इन उदाहरणो से यह भी सूचित होता है कि कितने ही पुराने शब्द, जो अब वर्ण-उपवर्ण-सूचक हैं, आरम्भ मे जीविकासूचक, वृत्तिसूचक, 'पेशा-गो' थे । कुछ ऐसे भी हैं जो उस प्रदेश की सूचना देते हैं, जहा आरम्भ मे कोई समुदाय-विशेष बसा था, जैसे सारस्वत, कान्यकुब्ज, सरयूपारीण, चूरूवाल, ओसवाल, और कुछ, पौराणिक वंश-प्रवर्त्तक पूर्वपुरुष के सूचक हैं, जैसे रघुवंशी, यदुवंशी, सोमवंशी आदि । फरासीसी भाषा मे स्त्री 'वैद्य' (लेडी डाक्टर) को 'डाक्ट्रेस' कहते हैं । मै नही कह सकता कि वहा 'वकीलिनैं' 'बारिस्ट्रेसैं' भी होती हैं या नही, पर 'प्रासीक्यूट्रिक्स' तो मालूम हुआ है कि होती हैं ।[1] जो कुछ हो, सच्ची पुरानी भारती परम्परा यही जान पड़ती है, कि जिस पुरुष से स्त्री विवाह करे, उस का वर्ण भी उसी तरह से उठा ले, जिस तरह से गोत्र ले लेती है ।

पुरातन परिपाटी का पुनरुद्धार

इस विधान से कोई नया तरीका चलाने का प्रयत्न नहीं होता । उस परिपाटी का पुनरुद्धार ही होता है जो सातवीं शती ई० के पहिले इस देश मे वास्तव मे जारी थी, जब भारतीय जनता का जीवन अधिक सुखी, सप्राण, सबल, स्वाधीन, स्वराज्यवान् था ।

ऐसी पुरानी परिपाटी की तरफ फिर घूमना स्वाभाविक है । यह आवर्तन, सांसारिक प्रकृति के सभी अंगो मे, चारो ओर देख पड़ता है ।'नये' प्रकार जिन से परमात्मा अपनी प्रकृति रूपिणी वासना को पूरी करता रहता है, वे वास्तव मे और भी पुराने प्रकार हैं जिन पर घूम घूम कर वह वापस आता रहता है । हां, युगो के आवर्त्तन मे पुराने प्रकार जब पुनर्वार आते हैं, तो अपना रूप कुछ थोड़ा नया कर लेते हैं, कुछ उत्कृष्ट अवस्था मे देख पड़ते हैं । हर प्रश्न के दो पहलू (पक्ष) और केवल दो ही पहलू होते हैं; मनुष्य समाज सदा एक 'अति' की कोटि से दूसरी 'अति' की कोटि तक, आगे-पीछे, लगातार चलता रहता है, ("उभयकोटिस्पर्शिनी प्रकृतिः, अमध्यस्था")

1. Lady doctor, Doctress; Barristress; Prosecutrix.

लेकिन हर चक्कर मे कुछ आगे बढ़ता है; पृथिवी देवी इस नियम की प्रत्यक्ष उदहारण हैं, चक्कर खाती लुढ़कती भी हैं और आगे भी बढ़ती जाती हैं; दौड़ते चलते हुए सभी गेंदों, गोलों की यही हालत है। इस 'द्वंद्वमयी' अवस्था को अंग्रेजी मे 'एम्बी-वालेन्स' कहने लगे हैं। 'ड्यूआ-लिटी', 'पोलारिटी', भी कहते हैं।[1] प्रकृति मे स्थिरता, मध्यस्थता, किसी बीच के स्थान पर चिर काल तक ठहरना, नहीं होता। वह सदा एक तरफ की अति से दूसरी तरफ की अति की ओर दौड़ती रहती है। किन्तु ("पुरुषः मध्यस्थः") पुरुष का काम है कि बीच का रास्ता पकड़े, 'अति' बचावे; इस दोहरी खींचातानी का ही फल 'आवर्त', संसार-'चक्र' होता है। भवसागर के मंथन मे, 'वासुकि' (वासु, प्राण,) की रस्सी से लपेट कर, 'मन्दर' (स्वतः 'मन्द,' निश्चेष्ट) पर्वत को, एक ओर देव पक्ष (शुभवासना) दूसरी ओर दैत्य पक्ष 'अशुभ वासना', जब खींचता है, तब 'मन्दर' मे और 'सागर' मे 'भ्रम', भ्रमि, चक्र, उत्पन्न होते हैं, और विष भी और अमृत भी निकलता है।

'नया' आविष्कार करने वाले लोग यह समझते हैं कि हम सचमुच 'नया' उपज्ञान कर रहे हैं, 'नया' प्रकार निकाल रहे हैं, 'नये' मार्ग पर चल रहे हैं, जिसे किसी ने पहिले नहीं जाना था। दूसरे लोग, पुरावन-वादी अपरिवर्ती की हैसियत से, और इतिहास के पूर्वापर को, आगे पीछे को, दूरदर्शिता बहुदर्शिता से ग्रहण न कर के, ऐसे नये मार्ग को वास्तव मे नया समझ कर, उस का जोर से विरोध करते हैं। पर इतिहास यह बतलाता है कि नयी पीढ़ियां, नयी जातियां, नये समाज, नयी सभ्य-ताएं उन्हीं रास्तों से गुजरती हैं जिन से पुराने जा चुके हैं। हां, बाहरी नाम, रूप, भाषा आदि मे अवश्य अन्तर होता रहता है, पर मूलभूत द्वन्द्व-मयी वासना, प्रेरक-हेतु, प्रयोजन, राग-द्वेष, स्वार्थ-परार्थ, विचार के प्रकार, आवश्यकताएं (आहार की, वित्त की, घर-द्वार दारा-सुत की) एषणा-आकांक्षा, सब भीतर भीतर, सदा वही होती हैं।

पेड़ अपने पत्तों को झाड़ देते हैं, कोई अपनी छाल भी गिरा देते

1. Ambivalence, duality, polarity.

हैं, नये पत्ते और छाल पैदा करते हैं, जो भी काल पा कर क्रमशः पुरानों की तरह फिर हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के जन्तु भी अपने चमड़े, सीप, सींघ, पर, आदि, प्रतिवर्ष गिरा देते हैं और नये उत्पन्न करते हैं, जो पुरानों की ही तरह, आगे चल कर, हो जाते हैं। यदि बड़े परिमाण से, विस्तार-ग्राही नेत्रों से, स्फार-दृष्टि से, इतिहास देखा जाय, तो मनुष्यों मे भी आचार विचारों, रीति रस्मों, की यही गति देख पड़ती है।

दोनो का समन्वय कैसे हो

मनुष्य जीवन के सब अंगो मे सदा एक ही समस्या रहती है। स्वार्थ, परार्थ; एक व्यक्ति की इच्छा, अन्य सब की आवश्यकताएं, जरूरतें; अराजकता, और निरंकुश एक-राजकता; प्रत्येक व्यक्ति अपने मन माना करे, सब व्यक्ति एक व्यक्ति के गुलाम हो जायं; ऐसे विरोधी विचारों का समन्वय कैसे किया जाय ? । स्त्री पुरुष की परस्पर कामना और विवाह के संबंध मे, विगत तीस-चालीस वर्षों मे, पाश्चात्य देशो मे, इतने छोटे लेख और बड़े ग्रथ निकले हैं, कि ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भारी आमूल उलट-पलट हो रही है। पर ध्यान से देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है, कि इस सब अनंत लिखाई मे, एक ही प्रश्न के दो परस्पर विरोधी उत्तरों मे से, एक का या दूसरे का प्रतिपादन किया जा रहा है; वह एकमात्र प्रश्न यह है, (१) एक तरफ स्वार्थी शारीरिक काम-वासना, अनियंत्रित स्वच्छंदता, यथेच्छाचार, इंन्द्रिय-लौल्य, परिवर्तनशील राजस तामस आसक्तियां और विरक्तियां; और (२) दूसरी तरफ परार्थी, परोपकारी, स्थायी, सात्त्विक, पति-पत्नी-प्रीति के भाव, जिन के विना 'गृह' 'कुल', 'कुटुम्ब' आदि शब्द अर्थ-शून्य हो जाते हैं, और नयी पुश्त का पालन-पोषण असम्भव हो जाता है, और समाज मे से स्थिरता, बद्धमूलता, प्रति-ष्ठा (प्रकर्षेण स्थानं), व्यव-स्था (विधिपूर्वक स्थिति, विशिष्ट उत्तम रीति से स्थिति) सब लुप्त हो जाती हैं—इन दो विरुद्ध, मानव-प्रकृति मे विद्यमान, अशुभ और शुभ वासनाओ का समन्वय कैसे किया जाय; किस प्रकार से, स्वार्थपूर्ण आनन्द का, और कर्तव्य-परायणता पर आश्रित परार्थ-पूर्ण सन्तान-पालन का, समन्वय हो; किस प्रकार से दम्पति-रति का और संतति-

प्रीति का अ-विरोध हो ? । एक समुदाय, स्वार्थ-वासनाओं की तृप्ति पर ही बल देता है; दूसरा परार्थ-वासनाओं की ही पूर्ति पर ।

अभीष्ट मध्यम मार्ग

दूरदर्शिता, बुद्धिमानी, राष्ट्र-नायकत्व-योग्यता, राजशास्त्रज्ञता, इसी मे है, कि वैयक्तिक जीवन के, तथा सामाजिक, सामूहिक, राष्ट्रीय जीवन के, सभी अंगों की क्रियाओं को, बीच के रास्ते पर रक्खा जाय, और दोनो ओर से 'अति-कोटि' बचाई जाय; यदि घड़ी का लंगर, दोला (झुलुआ), एक ओर बहुत ज्यादा दौड़ जाय, तो सारा यन्त्र उलट पड़े और टूट जाय । याद रखना चाहिये कि, सामाजिक राष्ट्रीय जीवन के सभी अंगो का हृदय-स्थानीय, केन्द्रभूत, गार्हस्थ्य ही है । सब 'गृह' सम्पन्न हों, सब 'गृहस्थ', सब कुटुम्ब, सुखी हो, यही समग्र राष्ट्रप्रबन्ध का एकमात्र लक्ष्य है । प्रजा के हित के लिये, प्रजा को सुखी रखने के लिये, राजा बनाया जाता है, अपने मन-माना ऐश आराम करने के लिये नहीं; राजा के ऐश के लिये प्रजा नही बनाई जाती है । हिताय राजा क्रियते, न काम करणाय तु । (म० भा०)

पाश्चात्य देशो मे विवाह की प्रथा का अद्भुत परिवर्त्तन हो रहा है । काम-विषयक, मिथुनता-विषयक 'सेक्सुअल', स्त्री-पुरुष-आचारविषयक मर्य्यादा-विषयक 'मारल', विचारों मे विप्लव, परिवर्त्तन, अधरोत्तर, 'रिवोल्युशन' हो रहा है । इस के साथ साथ, समाज की अन्य चिर-कालीन संस्थाओं और प्रथाओं मे भी परिवर्त्तन हो रहे हैं । जो सस्था और प्रथा 'इंस्टिट्यूशन्स', समाज की स्तम्भ और आधार मानी जाती थीं, और जिन का इस विवाह-सम्बन्धी 'डोमेस्टिक', 'फैमिली', गार्हस्थ्य-सम्बन्धी[१] विचारो के परिवर्त्तन से सम्बन्ध, कारण और कार्य के रूप से, है, अर्थात् 'ईकोनोमिक', आर्थिक, व्यावसायिक, 'पोलिटिकल', राजनीतिक, 'रिलिजस' धार्मिक, और 'एड्युकेशनल', आध्यापनिक, सभी प्रथाओं मे परिवर्त्तन हो रहा है ।[१] राजनीति की जड़, आर्थिक है; अर्थनीति की जड़ गृहस्थी और मानव शील-स्वभाव है; गार्हस्थ्य नीति की और मानव शील

१ Sexual; moral; revolution; institutions; domestic; family; Economic; political; religious; educational,

और प्रवृत्ति की एक बड़ी जड़, शिक्षा है। सदा से परस्पर के विरोधी एतत्संबंधी अतिवादी विचारों के गुण दोष, छपी हुई अनन्त पुस्तकों मे पेश किये जा रहे हैं; बड़े परिश्रम से नए-नए शब्द और वाक्य गढ़े जा रहे हैं, नये नये 'दृष्टिकोण' और 'प्रस्थान' खोजे और बनाये जा रहे हैं, बड़े आटोप और आडम्बर वाले और कोई कोई सुन्दर भी, ग्रन्थ और लेख और व्याख्यान निकलते चले आ रहे हैं; पर जड़-मूल मे जो विचार-भेद का द्वन्द्व है, वह वैसे का वैसा ही रह जाता है। यह सब वाग्जाल उसी बहुरूपिये द्वन्द्व के अनन्त वेशों का फैलाव है।

सोवियट रूस भी, जिस ने इतिहास की सब से बड़ी 'क्रान्ति' ('विप्लव', पर्याप्लाव) किया है, जिस ने इतना घोर कष्ट और रक्तपात सहा है, वह भी बीस वर्षों के साहसपूर्ण प्रयोगों, 'योग्याओं', आज्मा-इशों, 'एक्सपेरिमेंट्स', के बाद, निर्भयता और 'सत्यवीरता' से अपनी भूलों को भी स्वीकार करता हुआ, फिर (जैसा यात्रियों के वर्णनो से मालूम हो रहा है) कुछ पुराने रास्ते पर वापस आ रहा है। 'साम्य' के आग्रह को छोड़ कर, व्यक्तिगत कम-बेश ('विषम') सम्पत्ति, परिग्रह ('प्रापर्टी'), को मानने लगा है; पर इस का उचित नियमन कर रहा है, जिसमे 'कम' और 'बेश' मे बहुत अधिक 'अति' अन्तर न होने पावे। तथा धार्मिक विचारों की तरफ अब सहिष्णुता, सम्मर्षण, रवादारी, ('टालरेन्स'), दिखा रहा है, पर पुरोहितशाही ('प्रीस्ट-क्राफ्ट') का अनन्याधिकार नहीं होने देता। तथा पति-पत्नी के संबंध को स्थायी बनाने की व्यवस्था कर रहा है, लेकिन एक का दूसरे को गुलाम नहीं बनने देता।[1]

भारत मे अन्तर्वर्णविवाह को रुकावट की कड़ाई, 'अति' को पहुँच गयी है; इस हेतु से, शिक्षित, प्रभावशाली, कार्यपरायण समुदायो मे, इस के विरुद्ध, विद्रोह-सा हो रहा है। यदि यह विद्रोह, बुद्धिसंमत और शिष्ट प्रकारो से, शान्त नही किया जायगा, और, समय से, उपयुक्त अनुमतियाँ, रियायतें, न दी और की जायगी, तो हिन्दू समाज मे घोर उत्पात मचने का, और समाज के नष्ट हो जाने का, भय है। "रसरी उतनिहि

१ Experiments; property; tolerance; priestcraft.

जानिये, जो नहिं जावै टूट"। शिक्षा, देशाटन, और जीविका की आवश्यकताओं के दबाव से, अंतर्वर्ण विवाह बढ़ रहे हैं; बहुत लोग, बहुत दिनो के लिये, अपने घरों से दूर-दूर प्रदेशों मे चले जाते हैं: विवाहित स्त्री-पुरुष, अपने रिश्तादारों से, और उन सब लोगों से जिन से साधारणतः उन का संबंध था, कट जाते हैं; यदि कोई कारगर तरीके नहीं निकाले जाते, जैसा कि यह विधान निकालने का यत्न कर रहा है, जिस से वे सब लोग सामाजिक व्यूहन मे अपना उपयुक्त स्थान बनाये रह सकें, तब, अवश्य ही, उन के कारण, समाज-शरीर मे ऐसे दुष्परिणाम उत्पन्न होंगे, जैसे रोगी, दुर्बल, और जर्जर व्यक्ति के शरीर मे पैदा हो जाते हैं, जब उस मे कोई बाहरी, प्रतिकूल, असात्म्य, अजरणीय, अपचनीय, पदार्थ प्रवेश कर के रह जाय, और निकाल कर दूर न किया जा सके। ऐसे अजीर्ण भी, और अनुद्गीर्ण भी, द्रव्य, शरीर मे बड़े उपद्रव उत्पन्न करते हैं। इस लिये उचित है, आवश्यक है, कि इन का स्नेहन कर के, इन को सात्म्य बना के, इन का, समाज-शरीर मे परिणमन, जरण, पाचन, मिश्रण, आत्मसात्करण, कर लिया जाय; क्यों कि अब जो उद्गिरण, 'जात् बाहर', हो रहा है, उस से समाज क्षीण होता जा रहा है; और सर्वथा उद्गिरण कर देना असम्भव भी है।

भारतवर्ष के प्राचीन, किम्वा 'सनातन', धर्म का, हृदय कहिये, मर्म कहिये, प्राण कहिये, मूल कहिये, अध्यात्मशास्त्रानुसारी 'वर्णाश्रम-धर्म' है। इस लिये उस वर्ण-धर्म के तत्त्व पर, उस का सच्चा रूप निश्चित करने के लिये, जितना भी विचार किया जाय, उचित है। लोग, 'शास्त्रों' के, 'आप्तों' के, ब्रह्म-तत्त्व तक 'प्राप्तों' के, वाक्यों का, प्रमाण चाहते हैं। चाहना उचित है। वृद्धों से, श्रद्धित ज्ञानियों अनुभवियों से, उपदेश लिये बिना नई पुश्त पनप नहीं सकती, ठीक रास्ते से भटकती रहेगी, बहुत ठोकर खा कर तब फिर सीधे रास्ते को पावेगी और पहिचानेगी। इस के विपरीत, यदि वृद्धों की उचित शुश्रूषा करेगी, तो बहुत भटकने से बच जायगी। पर, साथ ही इस सब के, यह भी सदा याद रखने की बात है कि, "श्रुति-द्वैधे यथेष्टम्"; जब दो श्रुतिया, दो वेद-वाक्य, दो आप्त-वाक्य, परस्पर

विरुद्ध हों, जब दो वृद्धों की राय न मिले, "नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं", "स्मृतयो विभिन्नाः", जब दो शास्त्रों मे, दो शास्त्रियों मे, विवाद हो, तो फिर सुनने वाले को चारा नहीं, सिवा इस के कि अपनी बुद्धि पर भरोसा करे, या "महाजनो येन गतः स पन्थाः", जिस रास्ते से, अन्तरात्मा की प्रेरणा से, महा-जनता, अधिकांश जनता, चल पड़े, उसी रास्ते पर आप भी चले। 'महाजन' शब्द का अर्थ जन-समूह, जनता, है, 'बड़ा आदमी' नहीं—यह, 'मानव-धर्म-सार' मे, 'शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद में', तथा 'समन्वय' मे, बहुत से पुराने संस्कृत ग्रन्थों के उद्धरणो से मै ने सिद्ध किया है। अन्ततो गत्वा, लोक-मत को ही ईश्वर-प्रेरित मानना पड़ता है। 'यही एक आदमी सब से अधिक मानने योग्य है, महर्षि है, अवतार है' —यह भी 'लोक-मत' से ही सिद्ध होता है।

वासना वासुदेवस्य, वासितं सकलं जगत्।

ऊपर बहुत बार कहा जा चुका है कि 'जन्मना वर्णाः', 'कर्मणा वर्णाः', यह दोनो पक्ष पुराणेतिहास मे मिलते हैं, इन की मीमासा भी की है, और अन्ततो गत्वा 'कर्म' ही बलीयान् कहा गया है।

कुछ पुराने वाक्यों का संग्रह यहाँ पर कर दिया जाता है। सुनने पढ़ने वाले सज्जन स्वयं इन पर विचार कर लें।[1]

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त का बहुत प्रसिद्ध मन्त्र है,

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः,
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।

इस सनातन पुरुष का मुख (स्थानीय) ब्राह्मण हुआ, इस के बाहु

१ 'मानव-धर्म-सारः' नाम के अपने संस्कृत पद्यमय ग्रन्थ मे, बहुतेरे अन्य उदाहरण भी, पुराणो से, मै ने उद्धृत कर दिया है; यह ग्रंथ, १६४० ई० मे छपा; इस के पश्चात्, श्री इंदिरा रमण शास्त्री ने "मानव-आर्ष-भाष्यं" नामक अपने ग्रन्थ मे, इस विषय पर, बहुत विस्तार से, बहुत से प्राचीन उदाहरणो और प्रमाण वाक्यों का संग्रह किया; इस ग्रंथ का पहिला खंड १६४२ ई० मे छपा। 'मानव-धर्म-सारः' का दूसरा संस्करण, बहुत उपबृंहित, १६४४ मे छप गया।

(के स्थान मे) राजन्य क्षत्रिय किया गया, जो वैश्य है वह इस का ऊरु हुआ, तथा पावों के लिये शूद्र उत्पन्न हुआ।[1]

अब, यदि इस वेद मंत्र का अक्षरार्थ ही लिया जाय, तब चारो वर्णों का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसे सिर, बाह, जाघ अथवा धड़, और पैर का। 'अथवा धड़' इस वास्ते कि भीष्मस्तवराज मे ऐसा ही कहा है, "कृतसमूरूदर विशः"। जब इन मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो भाई भाई के सम्बन्ध से कहीं अधिक नजदीकी है, तब इन के बीच 'छुओ मत', 'खाओ मत', 'ब्याहो मत' का दुराव बराव कैसा ?

पर यदि ऐसा अक्षरार्थ न किया जाय, और स्पष्ट ही न करना चाहिये, क्योकि रूपकमात्र है, तब भी यह विचारने की बात है कि, जहां तक मै ने देखा, पूछा, सुना, यह नही जान पड़ा कि वेद मे कहीं भी यह कहा है कि चारो वर्ण एक दूसरे को छूवे नहीं, साथ खायं नहीं, साथ विवाह न करें। ऐसी स्पष्ट मनाई वेद मे देखी सुनी नहीं गयी। प्रत्युत, मनु सन्तान के लिये वेद मे यह आज्ञा है।

समानी प्रपा, सह वो अन्नभागः,
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि,
सं गच्छध्वम्, सं वदध्वम्,
स वो मनांसि जानताम्। इत्यादि।

साथ पीयो, साथ खाओ, साथ अन्न मे भाग लो, समाज कार्य मे (समाज-व्यूहन के कार्य मे) तुम सब साथ लगाये जाते हो। साथ चलो, सम्वाद से बोलो, (विवाद से नही), मन एक दूसरे से मिलाओ। पौरा-

१ "पद्भ्यां" को पंचमी विभक्ति मान कर, इस का अर्थ 'पैरों से' शूद्र पैदा हुआ, यही प्रायः समझा जाता है। एक घूमते-फिरते वृद्ध संन्यासी से मुझे शिक्षा मिली, कि 'पद्भ्यां' चतुर्थी है, 'पैरों के लिये', विराट् पुरुष के शरीर मे पैरों के स्थान के लिये, पैर बनने या पैर होने के लिये, शूद्र हुआ। जैसे, ब्राह्मण मुख से पैदा हुआ नहीं, मुख हुआ; क्षत्रिय भुजा बनाया गया, भुजा से पैदा हुआ नहीं; वैश्य जांघ था, जांघ से पैदा नहीं हुआ; एवं, पैर का स्थान शूद्र ने लिया, पैर से पैदा नहीं हुआ।

णिक रूपक मे ब्रह्मा के चार पुत्र, 'अग्रजन्मा', 'अनुजन्मा', चारों वर्ण माने जायं, तो भी सगे भाई होते हैं।

पुराणो और स्मृतियों मे बहुशः कहा है कि आदि काल मे, सत्ययुग मे, वर्ण-व्यवस्था नहीं थी, त्रेता मे आरम्भ हुई।

अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः पुण्यपापयोः;
वर्णाश्रम-व्यवस्थाश्च न तदाऽऽसन् न संकरः।
त्रेतायुगे तु अविकलः कर्मारम्भः प्रसिध्यति;
वर्णानां प्रविभागाश्च त्रेतायां तु प्रकीर्तिताः।
(वायु पुराण, ८,३३,४६,५७ आदि अध्यायों मे)

इसी अर्थ के श्लोक भागवत मे, विष्णु पुराण मे, मार्कण्डेय पुराण मे, महाभारत मे, रामायण मे, भी मिलते हैं।

एक ही एक वंश से, पुनः-पुनः, चारों वर्णों के मनुष्य निकलते रहे। इस के उदाहरण ये हैं।

एते त्वंगिरसः पुत्राः जाताः वंशेऽथ भार्गवे,
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्च, भरतर्षभ !
सम्बन्धो ह्यस्य वंशेऽस्मिन् ब्रह्मक्षत्रस्य विश्रुतः;
दिवोदासश्च राजर्षिः, अहल्या च यशस्विनी × ×
दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिर्मित्रयुर्नृपः (हरिवंश, अ० ३२)।
प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायंभुवस्य यः,
तस्याग्नीध्रस्, ततो नाभिः, ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः;
तमाहुर्वासुदेवांशं, मोक्षधर्मविवक्षया
अवतीर्णं; सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्।
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो, नारायण-परायणः,
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतम् अद्भुतम्;
तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः;
कर्मतन्त्र-प्रणेतारः एकाशीतिर्द्विजातयः।

यवीयांसः एकाशीतिः महाश्रोत्रियाः कर्मविशुद्धाः ब्राह्मणाः बभूवुः ।

(भा० स्क० ११ अ० २ ; स्क० ५ अ० ४)

धृष्टाद्धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गत क्षितौ ;

ततो ब्रह्मकुलं जातं आग्निवेश्यायनं, नृप !;

नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यो कर्मणा वैश्यतां गतः । (भा० स्क० ६ अ० २)

शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः स बभूव ह,

यो वा अङ्गिरसां सत्रे द्वितीयमह ऊचिवान् । (भा० स्क० ६ अ० ३)

गर्गात् शिनिः, ततो गार्ग्यः, क्षत्राद् ब्रह्म ह्यवर्त्तत ।

दुरितक्षयो महावीर्यात् ; तस्य त्रय्यारुणिः, कविः,

पुष्करारुणिरप्यत्र, ये ब्राह्मणगतिं गताः ।

भर्म्याश्वस्, तनयाः तस्य पंचऽासन् मुद्गलादयः;

मुद्गलाद् ब्रह्म निर्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्य-सञ्ज्ञितम् ।

मिथुनं मुद्गलाद् भार्म्याद्, दिवोदासः पुमानभूत्,

अहल्या कन्यका, यस्यां शतानन्दस्तु गौतमात् (भा० स्क० ६ अ० २१) ।

ययाति क्षत्रिय का विवाह, शुक्राचार्य दैत्य ब्रह्मर्षि की बेटी देवयानी से हुआ, यह प्रसिद्ध है । उन्हीं के सब से बड़े बेटे यदु के वंश मे कृष्णावतार हुआ । ब्रह्मर्षि कर्दम की पुत्री काम्या (विष्णु पुराण मे नाम 'कन्या' लिखा है) राजा प्रियव्रत क्षत्रिय को ब्याही गयी ।

काम्या प्रियव्रताल्लेभे स्वायंभुवसमान् सुतान्

दश, कन्याद्वयं चैव, यैः क्षत्रं सम्प्रवर्तितं ।

रजसो (ब्रह्मर्षेः) चाप्यजनयन् मार्कण्डेयी यशस्विनी,

प्रतीच्यां दिशि राजन्यं(क्षत्रियं) केतुमंतं प्रजापतिम् । (वायु पु० अ० २८)

वैश्ययोन्यां समुत्पन्नाः, शूद्रयोन्यां तथैव च,

ब्रह्मर्षय इति प्रोक्ताः पुराणाः द्विजसत्तमाः ।

लोकोऽनुमन्यते चैतान्, प्रमाणं ह्यत्र वै तपः ।

कपिंजलादो ब्रह्मर्षिः चांडाल्याम् उदपद्यत ।

अदृश्यन्त्याः पिता वैश्यो नाम्ना चित्रमुखः, पुरा,

ब्राह्मणत्वमनुप्राप्तो, ब्रह्मर्षित्वं च, कौरव !;
वैश्यश्चित्रमुखः कन्यां, वसिष्ठ-तनयस्य वै,
शुभां प्रादात्, ततो जातो ब्रह्मर्षिस्तु पराशरः।
तथैव दाशकन्यायां सत्यवत्यां, महानृषिः,
पराशरात्प्रसूतश्च, व्यासो योगमयो मुनिः। (म० भा० अनु० अ० ५३)
वीतहव्यश्च नृपतिः, श्रुतो मे, विप्रतां गतः,
भृगोर्वचनमात्रेण; स च ब्रह्मर्षितां गतः,
वीतहव्यो महाराजो, ब्रह्मवादित्वमेव च। (म० भा० अनु० अ० ८)
शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणान् उपतिष्ठतः,
वैश्यत्वं भवति ब्रह्मन्, क्षत्रियत्वं तथैव च,
आर्जवे वर्त्तमानस्य ब्राह्मण्यम् अभिजायते। × ×
ब्राह्मणः, पतनीयेषु वर्त्तमानो विकर्मसु,
दाम्भिको दुष्कृतप्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत्।
यस्तु शूद्रो, दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः,
तं ब्राह्मणम् अहं मन्ये; वृत्तेन हि भवेद् द्विजः।
(म० भा० वन, अ० २१६–२१६, धर्मव्याधकथा)।
जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। (अत्रि स्मृति)
शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते।
शूद्रो ब्राह्मणताम् एति, ब्राह्मणश्च एति शूद्रताम्,
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्, वैश्यात् तथैव च। (मनु०)

अनुलोम अन्तर्वर्ण विवाह की तो विस्पष्ट अनुमति मन्वादि स्मृतियों मे दी है, बल्कि ऐसे विवाहों के लिये विशेष विधि और कर्मकांड भी बताया है, और यह भी कहा है कि जो गुण भर्त्ता का होता है वैसा ही गुण भार्या का भी हो जाता है। क्षत्रिय पति और ब्राह्मणी भार्या से उत्पन्न 'सूत', द्विज ही माना जाता था, और उस से, क्षत्रिय राजा, विवाह सम्बन्ध भी करते थे, यह भी कहा है। यदि शास्त्र पर आस्था है, तो इधर सैकड़ों वर्ष से अनुलोम अन्तवर्ण विवाह भी भारतवर्ष मे क्यों बन्द रक्खे हैं, और 'सूत' का आदर क्यों नहीं होता ?

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य, सा च स्वा च विश: स्मृते;
ते च स्वा चैव राज्ञश्च, ताश्च स्वा चाग्रजन्मन: ।×
असवर्णासु अयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि । × ×
यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत, यथाविधि;
तादृग्गुणा सा भवति, समुद्रेणेव निम्नगा ।
अक्षमाला वसिष्ठेन संयक्ताऽधमयोनिजा,
शारंगी मन्दपालेन, जगामाभ्यर्हणीयतां (मनु) ।
ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः, स सूतः इति कथ्यते;
प्रतिलोमजवर्णानां स हि एवैको द्विजः स्मृतः;
सूतैश्च सह सम्बन्धः पूर्वं नृपतिभिः कृतः ।(म०भा०विराट०कीचकाख्यान)

ये वाक्य निदर्शनमात्र, नमूने के लिये, लिखे गये । पुराणइतिहास मे ऐसे और भी बहुत हैं । अर्थ भी इन का स्पष्ट है, इस लिये हिंदी मे अनुवाद दुहरा कर विस्तार नहीं बढ़ाया जाता; विशेष कर इस लिये भी कि 'शास्त्र' के प्रमाणो को जो मागते हैं वे विद्वान् सज्जन प्रायः संस्कृत से सुपरिचित होते हैं ।

आदिकाल मे 'कर्मणा वर्णः पर ज्यादा जोर था । धीरे-धीरे 'जन्मनावर्णः' पर ज्यादा जोर होने लगा । पर जब जब लोग अपना-अपना स्वभावोचित धर्म-कर्म छोड़ देते थे, अधिकार छीनते थे, कर्तव्य से भागते थे, और सच्चा वर्ण-संकर, अर्थात् जीविका-संकर, वृत्ति-संकर, होता था, तब तब, पुनर्वार, प्रतापी पुरुषों की, अवतारों को, 'धर्मसंस्थापन', 'वर्णव्यवस्थापन', करना पड़ता था । भविष्य पुराण मे कथा कहीं हैं कि कण्व ऋषि ने 'मिश्र', 'इजिप्ट', देश मे, जहां वर्णव्यवस्था नहीं थी, नयी वर्ण व्यवस्था कायम की । यह कथा भी प्रायः सभी पुराणो मे संक्षेप या विस्तार से कही है कि, जब कलियुग मे, आगे चल कर, इतना वर्णसंकर हो जायगा कि सब 'एक-वर्णम् अभूत् सर्वं', सब एक वर्ण हो जायगा, तब फिर से कल्कि अवतार वर्ण-व्यवस्था का स्थापन करेंगे, अर्थात् उस समय के मनुष्यों मे जो मनुष्य जिस योग्य होगा उस को उस 'वर्ण' का नाम देंगे । नये स्त्री-पुरुषों की सृष्टि करेंगे, ऐसा नहीं कहा गया है ।

निष्कर्ष यह है कि, उपन्यस्त विधान किसी प्रकार से भी वर्णव्यवस्था का विरोध नहीं करता, प्रत्युत स्वभाव-गुण-(जीविका)-कर्म के अनुसार सच्ची वर्ण-व्यवस्था का ही समर्थक है। यह विधान स्वप्न मे भी यह नहीं चाहता कि उत्कृष्ट का निकृष्ट से विवाह हो, बल्कि यही चाहता है कि उत्कृष्ट का उत्कृष्ट से, समान का समान से, विवाह हो। और सर्वोपरि यह चाहता है कि 'जात बाहर' कर देने की प्रथा मिटे, जो हिन्दू 'समाज' को हिन्दू 'प्रतीपाज' 'विषमाज' बना रही है, (समं अजंति जनाः यस्मिन् स 'समाजः', जिस मे सब लोग साथ साथ मिल के चलें वह 'समाज'; 'परस्परस्य प्रतीपं विषमं विरुद्धं अजंति यस्मिन् सः 'प्रतीपाजः', 'विषमाजः', जिस मे सब लोग एक दूसरे के विरुद्ध चलें वह 'प्रतीपाज', 'विषमाज'), और जिस ने उस समाज को इतना क्षीण कर दिया है कि, इधर बारह सौ वर्ष मे जहा सौ फी सदी हिंदू बसते थे, वहां आज पैंसठ फी सदी रह गये हैं, रोज रोज और भी कम होते जाते हैं, और परस्पर भेद-भाव के कारण इतने अकर्मण्य निर्वीर्य भीरु हो गए हैं कि जिस का जी चाहता है इन को ठोकर लगा देता है।

यदि सच्ची वर्ण-व्यवस्था पुनर्वार स्थापित हो जाय, जिस सच्ची वर्ण व्यवस्था का इस उपन्यस्त विधान से सूत्रपात होता है, तो यह सब बात अति शीघ्र बदल जाय, समग्र समाज मे, 'सुसंहताश्चापि, न भिन्नवृत्तयः', 'संघशक्ति' नाम की 'दुर्गा देवी' का नवावतार हो, और सब अभीष्टों की सिद्धि हो।

पुनर्वार सज्जनो को याद दिलाता हूँ कि यह उपक्षिप्त उपन्यस्त विधान किसी को भी अपने जन्मवर्ण के बाहर विवाह करने को विवश नहीं करता। केवल यही कहता है कि यदि कोई पुरुष ऐसा विवाह कर ले, तो उस को, डिंडिम कर के, 'जात बाहर' मत करो, और उस की पत्नी का वही वर्ण समझो जो उस पुरुष का है।

हिन्दुत्व के आधुनिक बाह्य लक्षण

'जातिप्रथा' के असली और दिखाऊ अर्थ पर, उस के कृत्रिम, मिथ्या, बाहरी जाहिरी लक्षणो के, और उस के सच्चे, तात्त्विक, मौलिक लक्षणो

के, बारे मे, उस के वैज्ञानिक, शास्त्रीय, और अ-वैज्ञानिक, अ-शास्त्रीय, रूप के सम्बन्ध मे, कुछ कहना आवश्यक है, जिस से इस उपेक्षित विधान के आभ्यन्तर मार्मिक लक्ष्य पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा।

इधर कई शतियों, शताब्दियों, से 'हिन्दू' कहलाने वाले समाज का सब से अधिक व्यक्त रूप यह रहा है, कि वह परस्पर भेद भरी जातियों और उपजातियों का एक ढेर है, जिन की संख्या अभी तक बढ़ती ही जा रही है। सन् १९०१ ई० की मर्दुमशुमारी मे २३७८ जातियों और उपजातियों का उल्लेख किया गया है। १९३१ की गणना की रिपोर्ट मे, संख्या 'दो से तीन हजार तक' लिखी गयी है। और उस समाज के धर्म का, जो धर्म अब 'हिन्दुत्व' कहलाता है, सब से ज्यादा खास निशान, सब से अधिक प्रसिद्ध लक्षण, यह है कि, जातियाँ, और (कुछ अपवादों को छोड़ कर) उपजातियाँ, आपस मे रोटी-बेटी का व्यवहार न करें, और जो मनुष्य करें वे जाति से निकाल दिये जाँय, जातिच्युत हों, और बहुत सी सामाजिक सुविधाओं और कानूनी हकों से हाथ धो बैठें।

अन्य समाजों से तुलना

बाहरी देखने वालों को यह सामाजिक प्रबन्ध, बल्कि प्रबन्ध का अभाव, यह रूढ़ि, बल्कि परस्पर विरोधी रूढ़ियों का ढेर, बिलकुल अबोध्य अर्थरहित पहेली और अचम्भा जान पड़ता है। ठीक ऐसी प्रथा अन्य किसी देश मे नहीं मिलती; यद्यपि जैसे सर्वथा नीरोग मनुष्य नहीं मिलता, वैसे ही कोई समाज भी ऐसा नहीं है जिस मे कोई विशेष रोग का दोष न हो। मुसलमानी समाज मे आपस मे झगड़ने वाले कोड़ियों फिरके हैं। ईसाई धर्म मे सैकड़ों। १९११-१२ के बड़े राष्ट्रविप्लव (रिवोल्यूशन) तक, चीन देश, अपनी स्त्रियों के पैर छोटे रखने के लिये, नितान्त निर्बुद्धि और निर्दय क्रूरता से, बचपन मे ही, कपड़े के वेष्टनों से, या लकड़ी लोहे के जूते मे, कस दिया करता था, कि बढ़ने न पावें। ब्रिटेन मे भी, सन् १८८४ ईस्वी तक भी, पत्नियों की खरीद बिक्री होती रहती थी। उस साल, स्त्रियों के, प्रति स्त्री २० गिन्नी से ले कर आधा पियाला शराब पर, बेचे जाने के बीस उदाहरण, नाम सहित, लिखे पाये जाते हैं। १९ वीं

सदी के प्रारम्भ तक, ब्रिटेन मे, कहीं-कहीं, देहात मे, गले मे डोरी बाँध कर, स्त्रियाँ, हाट मे बेचने के लिये, लायी जाती थीं, यह साबित करने को कि वे पशुओं की भाँति अपने पतियों की सम्पत्ति हैं[1] । मुझे, मौलवी मित्रों से मालूम हुआ है कि, भारत मे, रूढ़ि ने, मुसलिम स्त्रियों का, तलाक देने का, अधिकार बिलकुल छीन लिया है, और केवल पुरुषों को दे दिया है; यद्यपि कुरान ने यह हक दोनों को समान रूप मे दिया है ।

हिंदू समाज का यह विशेष रोग वस्तुतः ऊपरी सतही मैल की एक तह है, जो समाज शरीर पर जम गयी है । पर इतनी मोटी और कड़ी हो गयी है, कि उस ने प्राण के यथोचित संचार को रोक कर स्वास्थ्य नष्ट कर दिया है, और जीवन को खतरे में डाल दिया है ।

कुरूपता का कारण, अङ्ग-विशेष की अति वृद्धि

यदि यह मैल की तह सावधानी से निकाल दी जाय, तो शुद्ध वर्ण-धर्म, आश्रमधर्म का जौहर फिर से खुलेगा, और यह भी देख पड़ेगा कि उस तह के नीचे ऐसे तत्त्व पाये जाते हैं, जिन के अनुरूप, किन्तु अपरिष्कृत, तत्त्व, सब सभ्य समाजों मे पाये जाते हैं। समाज संघटन के जो तत्त्व और सिद्धान्त अपने पूर्णरूप मे सर्वथा सहेतुक और लाभदायक हैं, उन का अंगभंग करने से, और अर्ध-सत्यों को पूर्ण-सत्य समझ लेने से ही, यह महा रोग पैदा हो गया है । व्यंग्य चित्र, हास्य चित्र, ('कार्टून'), का रहस्य इतना ही है, कि कोई एक अंग-विशेष, बिगाड़ कर, बहुत बड़ा या बहुत छोटा दिखाया जाय । सुन्दर से सुन्दर मनुष्य का मुख अत्यन्त कुरूप देख पड़ेगा, यदि उस की नाक या कान बहुत बढ़ा कर या बहुत घटा कर दिखाये जांय । हिन्दू समाज का अंग विकृत इस लिये हुआ है, कि उस मे उस नियम पर हद से ज्यादा जोर दिया गया है, जिसे पाश्चात्य विज्ञान शास्त्री 'ला आफ हेरिडिटी' वा 'आनुवंशिकता नियम', 'जन्मना

1 *Sex in Civilisation*, edited by Calverton and Schmalhausen, art: 'Sex and Social Struggle,' p. 275.

वर्णः', कहते हैं; और उतने ही उपयोगी और उस के सहकारी दूसरे नियम की उपेक्षा कर दी गई है, जिसे 'ला आफ म्यूटेशन', 'स्वभावविशेषोन्मेष नियम' 'कर्मणा वर्णः', कहते हैं।[1] इस के विपरीत, पाश्चात्य समाज मे (आधुनिक रूस को स्यात् छोड़ कर) 'कर्मणा वर्णः' पर ही अधिक जोर दिया जाता है, जिस का परिणाम, नितान्त अव्यवस्थित, अनियन्त्रित, भयावनी प्रतियोगिता, संघर्ष, और नित्य की उथलपुथल, है। इन दोनो मे प्रत्येक नियम अर्द्ध-सत्य है; दोनो मिल कर पूर्ण-सत्य होते हैं। 'जन्मना वर्णः' का नियम, शिक्षा के आरम्भ मे इस बात की सूचना करता है, कि किस प्रकार की शिक्षा किस शिष्य को देना 'प्रायः' उचित होगा; फिर, विद्यार्थी अवस्था मे, ब्रह्मचर्याश्रम मे, क्रमशः, छात्र की जैसी विशेष स्वाभाविक प्रवृत्ति उन्मिषित हो और देख पड़े, तदनुसार शिक्षा मे परिवर्तन कर के, उस आश्रम के अन्त मे, 'कर्मणा वर्णः' का नियम निर्णायक होना चाहिये। अर्थात् एक नियम शिक्षा के आरम्भ मे 'सूचक', दूसरा नियम उस के अन्त मे 'निर्णायक'।

साधारणतः आनुवंशिकता नियम से, अर्थात् 'जन्मना' से, शिक्षा, जीविका, और विवाह के संबंध मे, कर्तव्य का मार्ग निर्धारित करने मे सहायता मिलती है, और अधिकतर व्यक्तियों के लिये इसी से अन्तिम निर्णय भी हो जाता है। पर जहाँ विशेष प्राकृतिक परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हों, वहाँ 'कर्मणा' के नियम की रक्षा होनी चाहिये।

महाभारत जैसे धर्मशास्त्र के ग्रंथ मे, जो पंचम वेद कहलाता है, यह नियम, केवल प्रसंगतः और आपाततः नहीं, किन्तु सहेतुक विचार करने के बाद, कि जन्म प्रबल है या कर्म, स्पष्ट शब्दों मे कहा गया है, कि 'कर्म' ही प्रबल है।

न योनिर्, नापि संस्कारो, न श्रुतं, न च संततिः,
कारणानि द्विजत्वस्य; वृत्तमेव तु कारणम्।

(वनपर्व, यक्षयुधिष्ठिर-संवाद, अ० ३१४)

ग्रामो मे, जहाँ की बस्ती प्रायः एक सी होती है, स्वभावतः 'आनुव-

१ Cartoon; Law of Heredity; Law of Mutation.

शिकता नियम' का प्राधान्य होगा ; पर नगरों मे, जहां सगे भाइयों की रुचि, प्रकृति, और बुद्धि मे अकसर बहुत अन्तर दिखाई देता है, दूसरा नियम अधिक प्रयोजनीय होता है ।

जो समाज अपने अन्तर्भूत व्यक्तियों या समुदायों की, शिक्षा या जीविका या विवाह के सम्बन्ध मे, ऐसी स्वारसिक प्रवृत्तियों और आत्म-निर्णयों को, अन्धाधुन्ध लकीर पीटने से, बद्धमुष्टिवानर-न्याय से, दबाना ही चाहता है, वह समाज अपने कुटुम्बों मे भारी क्षोभ, असन्तोष, और क्रोध उत्पन्न करता है, तथा इस का फल उस को अवश्य, काल पा कर, भोगना ही पड़ता है । दोनो के बीच का रास्ता पकड़ना चाहिए । सामान्य नीति 'जन्मना', विशेष नीति 'कर्मणा' । उत्सर्ग 'जन्मना', अपवाद 'कर्मणा' ।

विवाह के, तथा वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के अन्य कर्मों के, संबंध मे, बीच का मार्ग अवलम्बन करने से ही; परस्पर विरोधी नियमो का समन्वय करने से ही; प्रत्येक नियम और प्रवृत्ति को व्यक्त होने के लिये, भली भांति सुविचारित, नियमित, नियंत्रित अवसर देने से ही; व्यक्ति और समाज, दोनो, अपने स्वास्थ्य की रक्षा करते हुए, समृद्ध हो सकते हैं ।

वर्णव्यवस्था का, 'कर्म' अर्थात् पेशा के आधार से हट कर, जन्म के आधार पर चला जाना

यह विश्वास करने के लिये अनेक कारण हैं, कि भारतीय सभ्यता के प्रारम्भ मे नियम यह था, कि मनुष्य अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुरूप, जिस का निर्णय उस के शिक्षक आचार्य करते थे, वृत्ति अर्थात् जीवि-का कर्म वा पेशा ग्रहण करता था । आचार्य ही उसे, उस की प्रवृत्ति और वृत्ति के अनुरूप, 'वर्ण'-नामात्मक उपाधि देते थे, जैसे आजकाल 'प्रोफेसर', 'डाक्टर', 'जेनरल', 'जज', 'बैंकर' आदि उपाधि दी जाती हैं । उसे पाने के बाद, पुरुष केवल उन्ही उपायो से जीविकोपार्जन कर सकता था, जो उस वर्ण के लिये निर्दिष्ट थे । दूसरे वर्णों की जीविका के उपायों पर हस्तक्षेप नहीं कर सकता था । तथा अपनी जीविका से जो अधिकार सम्बद्ध थे, वे ही उसे मिलते थे, और उसी के कर्तव्य उसे पालन करने पड़ते थे । अन्य अधिकारों और कर्तव्यों से उस का कोई

सम्बन्ध नहीं होता था। इस सिद्धांत की न्याय्यता, आज भी, स्वभावतः, किसी किसी बात मे स्वीकार की जाती है, जैसे गवर्मेन्ट के नौकरों को दूसरी नौकरी करना मना है। पर, अपने वेतन के सिवा, कई अन्य प्रकारों से भी धन का उपार्जन करना उन के लिये मना नहीं है। प्राचीन प्रथा के अनुसार मना होना चाहिये।

षण्णां तु कर्मणां अस्य त्रीणि कर्माणि जीविका.
अध्यापन, याजनं च, विशुद्धात् च प्रतिग्रहः;
शस्त्र-अस्त्र-भृत्वं क्षत्रस्य; वणिक्-पशु-कृषिर् विशः।
विघसऽाशी भवेन्नित्यं, नित्यं वाऽमृत-भाजनः;
विघसो भुक्तशेषं तु, यज्ञशेषं तथाऽमृतम्। (मनु)
अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते।
देवताभ्यः पितृभ्यश्च भृत्येभ्योऽतिथिभिः सह,
अवशिष्ट तु योऽश्नाति, विघसऽऽशी स उच्यते।
भृत्यशेषं तु यो भुङ्क्ते, यज्ञशेषं तथाऽमृतम्,
यो मुनिश्च सदा, धीमान्, विघसाऽशी च उच्यते।
(म० भा०, शान्ति० ५६,२२६,२२८)

ब्राह्मणवर्ग की वृत्ति को जीविका के, उपाय, जरिया, त न हैं, अध्यापन की दक्षिणा, याजन की दक्षिणा, प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना; क्षत्रिय-वर्ग की, शस्त्र-अस्त्र से सब की रक्षा कर के उन की आय मे से एक भाग, 'कर', 'टिकस', तनख्वाह, मासिक वेतन, लेना; वैश्य वर्ग की, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य के सब प्रकार; शूद्र-वर्ग की, अन्य तीनो वर्णों की सेवा सहायता कर के, उन से भृति, भरण-पोषण, अन्न वस्त्र, पाना। शूद्र का तिरस्कार तो दूर रहा, मनु की, भीष्म की, स्मृतिकारों की, आज्ञा है कि, गृहस्थ और गृहिणी, बच्चों, अतिथियों, और भृत्यों को पहिले खिला कर, तब पीछे आप खायँ और 'विघसऽाशी' कहलायं। 'देवताओं', अतिथियों, भृत्यों को खिला-पिला चुकने के बाद, 'पंच-महा-यज्ञ' प्रति दिन कर लेने के पीछे, 'यज्ञ-शेष', 'यज्ञ' से बचा हुआ, अन्न, जो खाय, वह 'विघसऽाशी' 'अमृतऽाशी'। जैसे अन्य सब भाव बिगड़ गये, वैसे ही इस विषय का

भी। दया के स्थान मे गर्व तिरस्कार; स्नेह आदर, के स्थान मे भय; चारों ओर दम्भ, मत्सर, द्रोह; अधिकारों पर छीन झपट, कर्तव्यों से दूर भाग; कमजोरों का तिरस्कार और अधिकाधिक पददलन और अर्दन; शहजोरों के जूतों की धूल का सिर पर चढ़ाना, खुशामद करना; चारो ओर इन्ही दूषित भावों और असद्विचारों का राज्य हो रहा है।

कर्मणा वर्णः के सिद्धान्त से, कार्य का और वेतन का, श्रम का और विश्राम का, शरीर और मन के खेदन और रंजन का, काम और दाम का, व्यायाम और आराम का, मिहनत और उज्रत का, न्याय्य विभाजन होता है; तथा बेकारी घटाने मे सहायता मिलती है।

वर्ण-व्यवस्थापन के आरम्भ काल मे ऐसा ही विभाजन, स्मृतियों से सिद्ध होता है। बाद को, जीविका, वृत्ति, मआश, रिज़्क़, के मामले मे, 'जन्म' का प्रभाव अधिकाधिक पड़ने लगा। वृत्ति के अनुसार बने हुए वर्ग, मध्ययुग मे, जातियों और उपजातियों के रूप मे परिणत हो गये, जो एक दूसरे का बराव करने लगे। इन जात्युपजातियों का भीतरी मतलब, सबब, हेतु, प्रयोजन, प्रायः यही होता था, जो व्यापारी वा औद्योगिक संघों, पूगों, निगमों, श्रेणियों, दलो, साथों का हुआ करता है। आजकाल के शब्दों मे, इन को 'ट्रेड यूनियन', 'आर्टेल', 'कार्टेल', 'गिल्ड', 'असोसियेशन', 'कम्पनी' आदि नाम से पुकारते हैं। इन का अभीष्ट, मकसद, यही होता है कि अपने अपने भीतर के व्यक्तियों की आर्थिक समृद्धि और जीविका प्राप्ति मे सहायता की जाय, और बाहर वालों के मुकाबिले रक्षा की जाय। आर्थिक स्वार्थी कारणो से ही प्रेरित हो कर, ये संघ नये व्यक्ति को जल्दी अपने भीतर आने नहीं देते थे। आज भी, सर्वत्र, व्यवसाय-संघ के से समूहों मे, इस प्रकार की आर्थिक शंका-शीलता और ईर्ष्या दिखाई देती है। इस देश के एक प्रधान नगर मे एक ऐसा 'अटोर्नियों' का 'असोसियेशन' है जिस मे किसी ऐसे नये व्यक्ति का प्रवेश सम्भव नहीं है, जो किसी वर्तमान सदस्य का बेटा या दामाद या ऐसा ही कोई नजदीकी रिश्तादार या विशिष्ट मित्र न हो।[1]

1. Trade union; Artel; Cartel; Guild; Association; company; Attornies' association.

मुख्य चार वर्णों के नामो की व्युत्पत्ति ही से सिद्ध होता है कि ये प्रधानतः वृत्तियों के, पेशे के, जीविका के, द्योतक थे। जैसे (१) ब्राह्मण, ('ब्रह्म' अर्थात् वेद अर्थात् आध्यात्मिक और आधिभौतिक शास्त्रों के वेत्ता), अध्यापक, याजक, ऋत्विक्, इष्टाऽपूर्त मे, वापी-कूप-तटाकादि सब प्रकार के सार्वजनिक कार्यों मे, यज्ञो मे, उचित शास्त्रोय सलाह देने वाले और निगरानी करने वाले; आजकाल के शब्दों मे 'सायंटिस्ट', 'एंजिनियर', 'आर्किटेक्ट', आदि[1]; (२) क्षत्रिय ('क्षतात्', चोट से, 'त्राण', रक्षा, करने वाले) पुलिस, शासक, आदि; (३) वैश्य ('विशः', सम्पत्ति, रखने वाले), कृषि आदि व्यापार करने वाले, जिस व्यापार से धनधान्य मिलता है; और (४) शूद्र ('आशु', शीघ्र, 'द्रवन्ति', दौड़ते हैं) शारीरिक परिश्रम से जीविका उपार्जन करने वाले। उसी प्रकार, नयी उपजातियों के नये नाम भी प्रधानतः वृत्ति या पेशे के सूचक हैं; जैसे माली लोहार, कुम्भार (कुम्भकार), गड़ेरिया (गाडर यानी भेड़ बकरी चराने वाले), ग्वाला (गोपालक, गाय बैल रखने वाले), लोनिया (लवण, नोन, बनाने वाले), मुसहर, बनजारा, चमार (चर्मकार), धोबी (धावक), कोयरी (कोयर, तरकारी, पैदा करने वाले), आदि। ब्रिटेन मे, ऐसे नाम परिवारों के हो गये, और भारत मे उपजातियों के; पर जैसे वहाँ 'स्मिथ' (लोहार) नाम का पुरुष, पेशे मे, आजकाल पुरोहित, या जज, या सिपाही, या व्यापारी, या मजदूर हो सकता है, वैसे यहाँ भी, अब, जातियों और उपजातियों के नाम से तो कोई दूसरा पेशा प्रकट होता है, पर वास्तिविक पेशा अकसर कुछ दूसरा ही होता है। सभी 'जात' के लोग सभी 'पेशों' मे देख पड़ते हैं। यह परिवर्तन प्रायः हज़ार बारह सौ वर्ष पहिले ही शुरू हुआ, किन्तु इस देश मे पाश्चात्य सभ्यता के आने के बाद ज़ोर से होने लगा है। उस नयी सभ्यता ने यहां के जीवन मे चौमुहाँ, चतुर्दिक, विप्लव कर डाला है, कुछ अच्छा भी, कुछ बुरा भी। उन्ही विप्लवों परिवर्तनो मे से एक यह भी है। इस में बुराई का अंश यह है, कि 'पारम्परिक-जीविका' मे जो स्थिरता और निश्चिंतता

१ Secientist ; Engineer ; Architect.

थी वह मारी गयी ; किसी को नहीं मालूम होता कि किस रोजगार में लगना चाहिए या लग सकेंगे ; सभी अपने लिये, नहीं तो अपनी अगली पुश्त के लिये, चिंताग्रस्त रहते हैं। भलाई का अँश यह है कि, क्रमशः, सारा देश, नये वैज्ञानिक रूप से, समाज का नया व्यवस्थापन करने के लिए मजबूर होगा ; प्रकृति, स्वभाव, रुचि, रुझान के मुताबिक, प्रत्येक आदमी को जीविका दिलाई जायगी ; केवल 'पारम्परिक-जीविका', स्वभाव और रुचि और योग्यता के विरुद्ध होते हुए भी, किसी पर न लाद दी जायगी ।

भिन्न-भिन्न वृत्तियों के भिन्न भिन्न संघों में बड़ी उपयोगिता और कार्यसाधकता थी; पश्चिम और पूर्व में सर्वत्र; यंत्रों के अविष्कार से, अब वह प्रबंध सब जगह टूट गया; उस संघ व्यवस्था ('गिल्ड-सिस्टेम') के टूटने का प्रधान कारण, अति लोभ, ईर्ष्या, और परस्पर दुराव हुआ है। पर संभव है कि क्रमशः पुनर्वार अधिक अच्छा रीति से, व्यवसाय संघ, पूग, निगम, श्रेणी, 'ट्रेड यूनियन', 'गिल्ड', पंचायत,[१] बिरादरी, आदि, नये नये नाम और अंशतः नये नये रूप भी, देश-काल-निमित्तानुसार धारण कर के, पुनर्जीवित हों; जैसा रूस मे तथा अन्यत्र भी होता मालूम होता है। मनमाना पेशा उठा लेने पर जो भारतवर्ष मे पहिले रुकावट थी, वह जब दूर हो गयी है, और कुलऽागत, वंशऽागत, 'जातीय', पेशा करने पर जोर नहीं दिया जाता, तब अन्तर्वर्ण विवाह की रुकावट को बनाये रखने का कोई अर्थ नहीं रह गया है। उस से कोई लाभ नहीं देख पड़ता। अब उस रुकावट मे उपयोगिता कुछ भी नहीं रह गयी है; प्रत्युत प्रत्यक्ष हानिकारकता बहुत हो गयी है।

यदि लोग वर्ण-नाम के विरुद्ध पेशा न करने पाते, तो वर्ण नाम के विरुद्ध विवाह भी न करना कुछ सार्थक था। "समानशीलव्यसनेषु सख्यं" जिन का एक चाल का रोजगार, उन का प्रायः एक चाल का रहन-सहन, खान-पान, आहार-विहार, आचार-विचार, घर-द्वार, उठक बैठक, रस्म-रिवाज, रीति-नीति, बोल बतलाव, शील-स्वभाव। ऐसों ही का परस्पर

१ Guild system; Trade union.

प्राण-सम्बन्ध, विवाह-सम्बन्ध, अन्न-सम्बन्ध, आदि उचित है। जहाँ पेशा एक नहीं, चाल व्यवहार एक नहीं, वहाँ एकवर्णता का कुछ अर्थ नहीं; नाममात्र की सवर्णता होगी। प्रकृत्या, फ़ित्रतन्, आजकाल यह हो रहा है कि, गवर्मेंटी नौकरी के हिन्दुस्तानी अफसर लोग आपस मे विवाह-सम्बन्ध करने का यत्न करते हैं; क्योंकि उन का रहन-सहन एक-सा हो रहा है; मानो ऐसे 'अफ़सरों' की एक नई 'अन्तराल' 'उपजाति' ही बनरही है।

शास्त्रीय विचार

अत्यन्त अ-परिवर्त-वादी, शास्त्रवाक्यश्रद्धालु, पण्डितजन भी (और काशी, जिस का आजन्म मै एक परम क्षुद्र दास हूं, संस्कृतशास्त्रज्ञ पण्डितों का केन्द्र ही है), स्वीकार करते हैं कि आधुनिक जातियों और उपजातियों की, जो लगभग तीन हजार संख्या हो गयी है, वह बहुत अधिक है, अप्रामाणिक है, धर्मशास्त्र से उस का समर्थन नहीं किया जा सकता। धर्मशास्त्र के मुख्य ग्रन्थों मे मुख्य चार, तथा अन्तर्वर्ण-विवाह से उत्पन्न कुछ थोड़े से अन्तराल, वर्णों का उल्लेख है। मनु ने प्रायः चवालीस के नाम, अ० १० मे, गिनाये हैं, और सब की अलग अलग वृत्तियां बांध दी हैं। कोई टीकाकार इन नामो को छत्तीस गिनते हैं, कोई चौंसठ, क्योंकि स्मृति के शब्द कहीं कहीं अस्पष्ट हैं; इतना और गोल लिख देते हैं कि इन के पुनः-पुनः संकर से नये-नये प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं। स्मृति मे लिखे नामो की उपजातियाँ बहुतेरो अब नहीं मिलती हैं।

पण्डितगण यह भी स्वीकार करते हैं कि धर्मशास्त्र ने 'अनुलोम' अन्तर्वर्ण विवाहों की अनुमति भी दी है, और उन को जायज, धर्म्य, माना है। 'प्रतिलोम' अन्तर्वर्ण विवाह को मना किया है। 'ऊंचे' वर्ण के पुरुष के, 'नीचे' वर्ण की स्त्री से, विवाह को 'अनुलोम' विवाह कहते हैं। 'नीचे' वर्ण के पुरुष के, 'ऊंचे' वर्ण की स्त्री से विवाह को, 'प्रतिलोम' कहते हैं। पर वस्तुतः प्रतिलोम विवाह भी होते हैं, यह बात स्वीकार की गयी है, तथा उन की सन्तति को विशेष विशेष नाम दिये गये हैं। साथ ही, आर्थिक संघटन और बेकारी दूर करने के प्राचीन

सिद्धान्तो के अनुसार प्रत्येक 'अन्तराल' वर्ण को एक छोटे दर्जे का काम भी दिया गया है। इन अन्तराल वर्णों के व्यक्तियो वा परिवारो के लिये, आत्मोन्नति कर के, मुख्य चार वर्णो मे से किसी के अन्तर्भूत हो जाने के उपाय भी बताये गये हैं। महाभारत मे, जो धर्मशास्त्र का ग्रन्थ समझा जाता है, विराट पर्व (अ० २१) मे कहा गया है कि, मत्स्य देश मे ब्राह्मण क्षत्रिय मे परस्पर विवाह होता है, और उन की सन्तति द्विज ही समझी जाती है। क्षत्रिय पुरुष से ब्राह्मण स्त्री को जो पुत्र हो वह 'सूत' कहा जाता था, और राजा लोग उस से विवाह-सबध करते थे; सूतो के एक राजा का नाम केकय था। स्यात् दशरथ को पत्नी केकयी उसी जाति की रही हो।

ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः सूतो भवति, पार्थिव !
प्रातिलोम्येन जातानां स हि एको द्विजः एव तु।
सूतेन सह सम्बन्धः कृतः पूर्वं नराधिपैः;
सूतानां अधिपो राजा केकयो नाम विश्रुतः।

कर्ण पर्व मे, जब कर्ण और शल्य एक दूसरे की निन्दा कर रहे थे, तब, आक्षेपबुद्धि से, पर वास्तविक स्थिति दिखाते हुए, कर्ण ने कहा है कि, पंचनद के अन्तर्गत वाल्हीक देश मे पुरुष अपना वर्ण अक्सर बदलते रहते हैं।

तत्र वै ब्राह्मणो भूत्वा, पुनर्भवति क्षत्रियः,
वैश्यः, शूद्रश्च, वाह्लीकः, ततो भवति नापितः,
नापितश्च ततो भूत्वा, पुनर् भवति ब्राह्मणः,
द्विजो भूत्वा च तत्रैव, पुनर् दाशोऽभिजायते। (कर्ण पर्व, अ० ३६)

वाह्लीक (बल्ख़?) देश मे, वही पुरुष कभी ब्राह्मण, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य कभी शूद्र, हो जाता है; 'नापित'(नाई,हज्जाम)हो कर पुनः ब्राह्मण, और पुनः दाश (मछुआ, धीवर) हो जाता है। मतलब यह कि पंचनद प्रदेश मे, महाभारत के समय मे भी, 'जन्मना' पर उतना जोर नही दिया जाता था जितना ब्रह्मावर्त्त प्रान्त मे; बल्कि 'कर्मणा' ही पर अधिक जोर दिया जाता था; पर दोनो प्रान्तों मे यौन-सम्बन्ध निरन्तर होते थे। शल्य स्वयं युधिष्ठिर के मातुल थे।

आज भी नेपाल मे 'अनुलोम' विवाह होते हैं; अन्यत्र कहीं, खुले तौर पर, नहीं होते। इस सम्बन्ध मे, लोकमत-परिवर्त्तन होने के कारण, हिन्दूसमाज ने अपने धर्मशास्त्र को प्रत्यक्ष बदल दिया है, और 'अनुलोम' विवाह करने वाले स्त्री पुरुष; धर्मशास्त्र की आज्ञा होते हुए भी, (नैपाल को छोड़ कर, अन्यत्र) 'जात बाहर' कर दिये जाते हैं। अवश्य ही उद्देश्य इस नियम का, कि सवर्णों मे ही विवाह हो, यह है कि 'बीज' शुद्ध रहे, कुल की, वंश की, संस्कृति मे, परिशुद्धि मे, त्रुटि न हो। उद्देश्य बहुत अच्छा है, पर जो उपाय अब काम मे लाया जाता है, वह सर्वथा अकिंचित्कर हो गया है; क्योंकि 'बीज शुद्धि', 'रक्त-शुद्धि', 'जाति-शुद्धि,' किसी 'जाति' या 'वर्ण'[1] मे रह नहीं गयी है। प्रत्यक्ष ही सब तरह के स्वभाव सब तरह की प्रकृतियां, सब तरह के रंग रूप, सब तरह की बुद्धियां, सब 'वर्णों' अथवा जातियों मे देख पड़ती हैं।

> जातिर् अत्र, महासर्प ! मनुष्यत्वे, महामते !,
> संकरात् सर्ववर्णानाम्, दुष्परीक्ष्या इति मे मतिः,
> सर्वे सर्वासु अपत्यानि जनयन्ति यदा नराः।(म०भा०वन०अ०१८२)

'जाति' की परीक्षा करना, निश्चय करना, असम्भव है; क्योंकि सब वर्णो के पुरुष सब वर्णों की स्त्रियों मे सन्तान उत्पन्न करते हैं।

शारीर विज्ञान के एक आधुनिक पाश्चात्य विशेषज्ञ ने यही बात ऐसे शब्दों मे कही है, मानो इन कई हजार वर्ष पुराने श्लोकों के शब्दों का अनुवाद ही किया हो, यद्यपि यह निश्चित है कि उस को इन की जानकारी नहीं थी। वह कहता है, 'मनुष्य-जाति-विज्ञान के किसी शास्त्री को अब तक एक भी 'विशुद्ध' जाति ('रेस') वा मूल आदर्श-आकार ('टाइप') नहीं मिला है;' क्योंकि इस का अस्तित्व ही अब नहीं है। अतः सम्भावना यह है कि शुद्ध जातियां हैं ही नहीं; और कभी रही भी हों तो आज वे पहिचानी नहीं जा सकतीं; क्योंकि वे परस्पर, आपस के, विवाह से मिल गयी हैं 'संकीर्ण' हो गयी हैं। मनुष्य के आकार के असंख्य भेद

१ *Race*, Type.

हैं, और वे ऐसे मिल गये हैं कि अलग नहीं किये जा सकते। सब आकार प्रकार के मनुष्य सब जातियों मे पाये जाते है। कोई ऐसा विशेषक व्यावर्त्तक लक्षण नही है जो एक ही जाति मे पाया जाता हो, दूसरा किसी मे न मिलता हो। सभी जातियों की हदें, परिधियां, एक दूसरे मे, सूक्ष्म रीति से लीन हो जाती हैं। जातिया नही हैं, वर्ग हैं'।[1] यह एक श्वेत वर्ण के 'अमेरिकन' का लेख है। सब को मालूम ही है कि श्वेतागों मे जातिगर्व कितना बढ़ा हुआ है; भारत के द्विजो से बहुत अधिक; पर वह लेखक सत्य-काम है, गर्व-काम नही, जाति-मद-मत्त नही। ऐसी दशा मे, यदि विवेकपूर्वक, 'विशिष्टायाः विशिष्टेन', 'समानायाः समानेन' विवाह हों, चाहे वे 'अन्तर्वर्ण विवाह' हो, चाहे 'वर्णान्तर-विवाह हो', चाहे 'वर्णान्त-विवाह' हो, चाहे नाम को 'असवर्ण' विवाह कहावे, चाहें 'सवर्ण विवाह' कहावें, वे ही सच्चे असली 'स-वर्ण' अर्थात् 'सम-शील-व्यसन-विवाह' होगे, और तभी भारतीय मानव-वंश का बौद्ध भी और शारीर भी उत्कर्ष हो सकता है। केवल नाममात्र जाति वा उपजाति वा वर्ण वा उपवर्ण के बाहर विवाह न करने की अन्धप्रथा से तो अपकर्ष ही होता जाता है, और होता जायगा।

पाश्चात्य देशो मे भी, विशेष कर सम्पत्तिशाली मण्डलो मे, 'असम' विवाह, 'मेस-आलियांस', का विरोध किया ही जाता है[2]। पर वहां 'असम' विवाह का अर्थ है, अपने पद, अपनी संस्कृति, और अपने सामाजिक गौरव के नीचे विवाह करना। एक 'रईस' घराने की लड़की यदि

१ सी० ए० बियर्ड, 'ह्विदर मैनकाइंड', पृष्ठ २५२–२५४, 'रेस एंड सिविलिजेशन' शीर्षक का अध्याय। इस के कई वर्ष बाद, १९३९ ई० मे छपी, 'वी यूरोपीयन्स' नाम की पुस्तक को, जूलियन हक्स्ली और ए० सी० हैडन नाम के दो प्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने छपवाई; इस मे भी इसी बात का विस्तार से, विविध प्रमाणो से, समर्थन किया है। C.A. Beard, *Whither Mankind*; Julian Huxley and A.C. Haddon, *We Europeans*.

२ Mesalliance.

किसी गाड़ीवान, या बागवान, या घोड़ा फेरने वाले सवार, या 'शोफर' के साथ भाग जाय, तो उस की निन्दा बहुत होती है, जैसे यहाँ 'प्रतिलोम' कहलाने वाले विवाह की। धाय की या किसान की लड़की से शादी करने वाले रईस युवक की उतनी निंदा नही की जाती है; जैसे यहाँ 'अनुलोम' कहलाने वाले विवाह की उतनी निदा नही की जाती जितनी प्रतिलोम की। तथा श्वेत और अश्वेत व्यक्तियो के परस्पर विवाह के विरुद्ध तो लोकमत पश्चिम मे बहुत ही उग्र है। एवं जैसे यहाँ 'ऊँची जाति का' अभिमान करने वाला मनुष्य, ऐसे आदमी के साथ बैठ कर खाना नही खाता जिसे वह नीची जाति का समझता है, चाहे इस 'नीचे' की सस्कृति 'ऊँची' हो या 'नीची', उसी तरह पश्चिम मे भी, (श्वेत अश्वेत रग विषयक आग्रहो के अलावा भी), कोई 'रईस'-मिजाज आदमी, ऐसे आदमी के साथ बैठ कर जल्दी खाना नहीं खाता, जो ठीक उसी के जैसे कपड़े नही पहिनता, उसी की तरह हँसना बोलना, दुआ सलाम करना, झुकना सीधे खड़े होना, नहीं जानता, उसी की तरह धन्यवाद नही देता, और खाने के वक्त का सारा अदब कायदा उसी के जैसा अदा नहीं करता, काँटे चमचे आदि का प्रयोग उसी के ऐसा नही करता। पर इस सब का अर्थ वहाँ 'समानशील-व्यसनेषु सख्यम्' ही है।

महासमर के साथ-साथ पश्चिम मे जो मिथुनता-विषयक ('सेक्सुअल'), कामीय-आचार-विषयक, तथा नैतिक, आर्थिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक, शैक्षिक आदि 'क्रातियां' हुई हैं, उन से भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्गों के लोगो के परस्पर विवाह का विरोधी भाव नष्ट होता जा रहा है; पर निस्सार और हानिकारक बातें भी नष्ट होती दिखाई देती हैं। "सगच्छध्वम्, संवदध्वम्, सं वो मनासि जानताम्", ऐसा वेद का उपदेश है। उस के विरुद्ध, बिना सगति के, बिना संवाद के, जब पुराना जर्जर मकान, चांड़ लगा कर धीरे धीरे उतारने और मरम्मत करने की जगह, रम्भो की अंधाधुन्ध मार से गिराया जाने लगे, तो अवश्य ही उस को धरन, पटिया, फर्श के पत्थर, दरवाजे, शीशा, सामान, जो अच्छा दुरुस्त काम लायक हो, वह भी चूर हो जायगा। बिना आँख से काम

लिये, केवल हाथो से झाड़ू ही चौफेर चलायी जाय, तो कूड़ा करकट झाले मकड़े के साथ, सोना चाँदी हीरा मोती की चीजे भी फिक जायगी। भीतरी और बाहरी, पुरानी और नयी, प्राचीन और अर्वाचीन, पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओ के भीषण सघर्ष से, अपरिवर्ती 'पूर्व' देशो मे भी व्यापक परिवर्तन होने लगे हैं। आपस की फूट से जर्जर, असख्य जातियो के परस्पर भेद भाव से शीर्ण जीर्ण, भारतवर्ष मे, यह परिवर्तन, ब्रिटिश जाति के राजनीतिक प्रभुत्व के कारण और भी तीव्र, विवेक-शून्य, और दूषित हो रहा है। विपरीत इस के, जापान मे, जो अपने उत्कृष्ट गुणो के कारण स्वाधान और पाश्चात्य राष्ट्रो के तुल्य महापराक्रमी हो रहा है, जो परिवर्तन किये जा रहे हैं, वह सब सुविचारपूर्वक सुविवेकपूर्वक हो रहे हैं।[1] भारत का पश्चिम से संपर्क हुआ, और राजनातिक स्वतंत्रता स्वराजकता लुप्त हो गई, दासता पराधानता आ गई; जापान का भो पश्चिम से संपर्क हुआ, पर वह अपनी उद्दाम स्वाधीनता सर्वथा बनाये रहा, बल्कि अधिकाधिक उत्कृष्ट और बलवती करता रहा है; यही, इन दोनो देशो की दशाओ मे जो जमीन-आस्मान का, आकाश-पाताल का, अन्तर है, उस का कारण है। पच्छिम के पैरो मे भारत जनता, अपने पापिष्ठ भेदभावो के कारण, बँध गयी है, सर्वथा पराधीन हो गई है। इस लिये जैसे-जैसे वे पैर चलाते हैं, हम भी उधर खिचते घसिटते हैं। अतः वहाँ के कार्यों और विचारो की लहरे, हमारे जीवन के सभी अशो मे, वैसे ही विक्षोभ उत्पन्न कर रही हैं। इस अवस्था मे हमारा कर्तव्य यही है, कि प्राचीन से नवीन मे सक्रमण के समय होने वाली आकुलता को, जहाँ तक हो सके,

१ १९३१ ई० से थोड़ा-थोड़ा, और १९३७ ई० से बहुत उग्र रूप से, जापान ने चीन पर आक्रमण कर रक्खा था; इस कारण उस की, सभी देशों मे बड़ी निन्दा हुई; चीन देश ने भी, जापान को क्रुद्ध करने वाली, कोई भारी भूल की या नही, यह भविष्य मे विदित होगा। अब, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, जापान की सब महिमा नष्ट हो गई ; यू० स्टे० अमेरिका ने उस को १९४५ ई० युद्ध मे परास्त और नष्ट भ्रष्ट कर दिया। जापान ने अति गर्व किया, उसी का यह फल हुआ।

कम करने का यत्न करें, और निरुपयोगी तथा मूढ़ग्राह और मिथ्याग्रह की सब बातों को, जिन से समाज की बड़ी हानि हो रही है, दूर करने मे सहायक होते हुए, प्राचीन मे जो कुछ सच्चा, सात्त्विक, अंश है, उस को रक्षा करें।

सब के साथ, बिना समझे बूझे, बिना साथी की शुचिता और समान-शील व्यसनता का विचार किये, भोजन या विवाह न करना चाहिये—यह बुद्धि मनुष्य मे स्वभावतः होती है, और बहुत ही उपयोगी है। 'बिना विचारे' शब्द का अर्थ ठीक समझना चाहिये। जितने मानसिक और शारीरिक विकार, जितने मन के और तन के रोग, देखने मे आते हैं, उन मे प्रतिशत ९० का कारण, आहार की और कामीयता की, मैथुन की, भूलें होती हैं; और केवल १० ऐसे होते हैं जिन के कारण परायत्त हैं, वा अपने अधिकार के बाहर होते हैं, जैसे हिंस्रपशु, कीट, अपघात, संक्रामक रोग, दूसरों के पाप और अपराध आदि। इस देश मे जो तीन चार जगत्प्रसिद्ध और व्यापक चिकित्सा-पद्धतियां प्रचलित हैं, वैद्यक, हकीमी, आलोपेथी, होमियोपेथी प्रभृति, उन सब के वृद्ध और अनुभवी चिकित्सकों मे जिन-जिन से मैंने पूछा, उन सब ने इस मत की पुष्टि ही की है। आहार मे विवेक, सावधानता, और पवित्रता की रक्षा करने से व्यक्ति के निजी स्वास्थ्य की रक्षा और वृद्धि होती है। विवाह मे विवेक, सावधानता, मानसिक और शारीरिक पवित्रता, तथा स्वभाव-साम्य का ध्यान, रखने से पारिवारिक सुख, तथा आनुवंशिक जातीय ('रेशियल')[1] पुश्त दर पुश्त का स्वास्थ्य, सिद्ध और समृद्ध होता है। इन दो अत्यन्त आवश्यक विषयों मे जितनी भी सावधानता रक्खी जाय थोड़ी है। यही 'विज्ञान' या 'वैदिक' धर्म का, वैज्ञानिक धर्म और धार्मिक विज्ञान का, प्रधान तत्त्व है, जिस का विचार अन्तर्वर्ण-भोजन और अन्तर्वर्ण-विवाह के करने या न करने मे अवश्य करना चाहिये। केवल आनुवंशिक जातिनाम या वर्णनाम एक होने से ही पवित्रता और गुणसाम्य की सिद्धि होती है—यह प्रचलित धारणा, धर्माभास या मिथ्याधर्म के

१ Racial.

सिवा, जिस को गीता मे 'मूढ़ग्राह' का नाम दिया है, और कुछ नहीं है। सच्ची पवित्रता और समता प्राप्त होने पर भी, केवल इस लिये विवाह न होने देना, कि वर-वधू का जन्मना वर्ण नाम एक नहीं है, यह नितांत मूढ़ग्राह है। ऐसे मूढ़ग्राहों से, केवल जाति-नाम वर्ण नाम पर ही जोर देने से, लाखों विवाह, नितान्त बेमेल बेजोड़, आज भारत मे हो रहे हैं, यह किस को नहीं मालूम। काले और गोरे का, सुशील और दुःशील का, पढ़े लिखे और अनपढ़ का, बुद्धिमान् और नितान्त मूर्ख का, अक्सर ही विवाह हो जाता है।

ज्योतिष के विचार

इस सम्बन्ध मे एक कुतूहल-जनक और गुर्वर्थ बात पर, अपरिवर्तवादी सज्जनो को ध्यान से विचार करना चाहिए। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार, जो जन्म-पत्रिका बनाई जाती है, उस मे नवजात शिशु का जो वर्ण बताया जाता है, वह अक्सर माता पिता के 'जाति' या 'वर्ण' के नाम से भिन्न होता है। ज्योतिष शास्त्र के संबंध मे, यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान युङ्ग, जो अभी जीवित हैं, तथा जो चित्तचिकित्सा ('साइको-ऐनालिसिस') के नवीन विज्ञान के प्रसिद्ध प्रवर्त्तकों और जनकों मे गिने जाते हैं, अपनी एक हाल की पुस्तक ('मोडर्न मैन इन् सर्च आफ् ए सोल') मे कहते हैं कि—ज्योतिष से, किसी व्यक्ति के जन्मकाल की ग्रह-स्थिति से, उस का स्वभाव निर्द्धारित करने में बड़ी सहायता मिलती है।[1] आप यह भी कहते हैं कि, प्राचीन काल के लोगों के मानस-शास्त्र-विषयक उत्कृष्ट ज्ञान का प्रभाव इस शास्त्र से मिलता है। इस ज्योतिष शास्त्र पर बहुतेरे यूरोपियन, ईसाई, तथा मुसलमान भी, जाहिरा नहीं तो चुपके-चुपके, गहिरा विश्वास करते हैं। इसी शास्त्र की सहायता से हमारे अपरिवर्तवादी हिन्दू भाई यह जताने की चेष्टा करते हैं कि वर और वधू ३६ गुणो मे अधिकांश मिलते हैं या नहीं। वर-वधू के शारीरिक और मानसिक गुण तथा उन के स्वभाव मिलते हैं या नहीं, यह जानने की इच्छा अत्यन्त स्वाभाविक और वैज्ञा-

1. Jung; Psycho-analysis; *Modern Man in Search of a Soul.*

निक है। इस के निर्णय के लिये, जहाँ इस से अधिक विश्वसनीय साधन न मिलें, वहाँ सच्चे ज्योतिषी के ज्योतिष की अवहेलना करना कदापि उचित नहीं है। कम से कम प्रत्येक हिन्दू, जो अपने को सर्वज्ञ नहीं समझता, इस की अवहेलना नहीं करता, प्रत्युत इस पर विश्वास करता है। पर यही हिन्दू इस शास्त्र की उपेक्षा और अवमानना करते हैं, जब वह बताता है कि किसी मनुष्य का सच्चा वर्ण, उस के कौटुम्बिक नाम-वर्ण से भिन्न है। ज्योतिष के बताये इस सच्चे वर्ण से ही उस के विवाह-सम्बन्धी गुणों का, तथा वृत्ति (पेशा) सम्बन्धी योग्यता का, भी परिचय मिलता है। शरीर और मानस स्वभाव प्रधानतः चार प्रकार के होते हैं, और तदनुरूप प्रधान वृत्तियाँ अर्थात् जीविका-कर्म भी चार प्रकार के होते हैं—इस का समर्थन पाश्चात्य मानस शास्त्र से भी किया जा सकता है; प्राच्य शास्त्र मे तो यह बात स्पष्ट ही बहुत जोर से कही गयी है। एक 'जाति' के सब लोगों की, यहाँ तक कि सगे भाई-बहिनों की, प्रकृति और वृत्तिविषयक योग्यता एक सी होती है—यह तो ऐसा भ्रम है, जो बहुत थोड़े से ही विचार और परीक्षण से नष्ट हो जाता है।

पारस्कर गृह्यसूत्र और जीविका-वर्ण

ज्योतिष के सिवा, एक और प्रकार, बचपन मे ही जीविका-वर्ण की योग्यता के निर्णय का, पारस्कर गृह्य-सूत्र आदि आर्ष धर्म-ग्रंथों मे लिखा है। अन्नप्राशन संस्कार के समय, भूमि पर, (१) पुस्तक, लेखनी, मसीपात्र आदि, (२) शस्त्र अस्त्र, छुरी, तलवार, धनुष, बाण आदि, (३) चाँदी, सोना, ताम्बा, आदि के सिक्के, अन्न, कपड़ा, आदि, (४) फावड़ा, कुदाल, आदि, फैला कर, बच्चे को, इन वस्तुओं के पास छोड़ देना चाहिये। रेङ्गता (रिङ्गण करता) हुआ, वह जिस वस्तु की ओर पहिले जाय और उस को पकड़े, तदनुरूप उस की जीविका-वर्ण-योग्यता है, ऐसा जानना। मूर्धा की धुकधुकी जब तक अस्थि से बंद नहीं हो जाती तब तक, सूक्ष्म शरीर द्वारा, अन्तरात्मा, बच्चे के स्थूल शरीर का प्रेरण और रक्षण करता रहता है। इस से भी यही सिद्ध होता है कि एक ही कुल मे भिन्न भिन्न 'वर्ण' के पुरुष उत्पन्न होते हैं। प्राचीन काल मे

एक ही कुल मे कई कई वर्णों के अपत्य होते और माने जाते थे, इस के उदाहरण, आर्ष ग्रन्थों से, पृ० ४६२-५ पर, दिये जा चुके हैं। 'ऐतिहासिक काल' के वृत्तों से 'पुराणकाल' की अवस्था ठीक समझ मे आ जाती है। ईसा से पूर्व की छः सात शतियों मे जब रोम के राष्ट्र मे संघराज्य (रिपब्लिक) का शासन-प्रबन्ध था, तब उन्हीं-उन्हीं 'पैट्रिशन' कुलों मे से 'पांटिफ, हारुस्पेक्स, फ्लामेन' आदि धर्माधिकारी 'ब्राह्मण' भी, और 'कान्सल, सेन्सर, डिक्टेटर, प्राइटर', 'सेनापति', 'जेनरल', आदि शासनाधिकारी 'क्षत्रिय' भी, चुने और नियुक्त किये जाते थे। एव ईसा के बाद, मध्ययुग मे, यूरोप मे, 'प्रिंस आफ दी लैंड', पृथ्वी-शासक, 'भूपति', 'क्षत्रिय', और 'प्रिंस आफ दी चर्च', 'देवालय-शासक', 'धर्म-पति', 'ब्राह्मण', अक्सर सगे भाई होते थे। एव, भारत मे, बौद्धकाल मे, एक भाई राजा और एक भाई भिक्खु संघ का नायक।[१]

सवर्ण विवाह और वर्ण-संकर का सच्चा अर्थ

यदि दो व्यक्ति, युवक युवती, समान आचार-व्यवहार और समान जीविका वाले दो परिवारों मे उत्पन्न हो और पाले-पोसे जायँ, तो यह अनुमान करना और मानना, कि उन के मानसिक और शारीरिक गुण परस्पर-विरोधी न होंगे, यह अनुचित नहीं है। अपनी जाति के भीतर ही—अर्थात् 'सवर्ण' विवाह के मूल मे शास्त्रीय वा वैज्ञानिक तथ्य इतना ही है। पर यह कहना, या इस बात पर जोर देना, कि दो व्यक्ति दो भिन्न नाम की जातियों मे उत्पन्न हुए हैं, इस लिये उन के स्वभाव वा गुण नहीं ही मिल सकते, यह वर्तमान स्थिति मे, जब कि जाति वा वर्ण का नाम किसी व्यक्ति के शील, आचार, विचार, व्यवहार, और वृत्ति का द्योतक कुछ भी नहीं होता, केवल मूढ़ग्राह है।

वस्तुतः सवर्ण विवाह का अर्थ ऐसे व्यक्तियों का विवाह है जिन के गुण-कर्म, जिन के बौद्ध और शारीर व्यसन, जिन की ज्ञान-इच्छा-क्रिया

१ Republic; patrician; pontiff, haruspex, flammen; consul, censor, dictator, praetor, general; prince of the land, prince of the church.

संबंधी रुचि-अरुचि, समान वा अ-विरोधी हों, परस्पर संगत हों। सवर्ण का अर्थ यह नहीं है कि केवल उन के जाति-नाम वर्ण-नाम मात्र एक हों। मनुष्यों के लिये यह भ्रम साधारण है, कि कार्य को कारण और कारण को कार्य मान लें। ऐसे ही भ्रम मे हम हिन्दू लोग विशेष रूप से पड़ गये हैं, और गाड़ी आगे और घोड़ा पीछे जोत रहे हैं; अर्थ की अपेक्षा शब्द को अधिक महत्त्व दे रहे हैं। स्वाभाविक क्रम यह है—स्वभाव से गुण, गुण के अनुसार शिक्षा और जीविका-कर्म, कर्म के अनुसार वर्णनाम; भगवद्गीता के शब्दों मे, पहिले स्वभाव, उस से गुण, उस से कर्म।

चातुर्वर्ण्यम् मया सृष्टम् गुण-कर्म-विभागशः;
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव-प्रभवैर् गुणैः (गीता)।

आज हम ने इस क्रम को उलट दिया है; मान रक्खा है कि पहिले आनुवंशिक जाति या वर्ण नाम, फिर उस से वृत्ति, फिर उस से स्वभाव उत्पन्न होता है; अर्थात् एक आदमी का जन्म एक विशेष जाति वा वर्ण मे हुआ है, अतः उस का वही कर्म होगा जो उस जाति के नाम से जाना जाता है; और यतः उस का वह कर्म है अत: उस मे तदनुकूल गुण भी अवश्य है! प्राकृतिक क्रम के इस विपर्यय का ही स्वाभाविक परिणाम यह है कि गुण, कर्म, और वर्ण-नामो वा जाति-नामो के असंख्य अनमेल बेमेल सयोग दिखाई देने लगे हैं; जन्म से वर्ण-नाम जाति-नाम कुछ है, शील-स्वभाव योग्यता कुछ और ही है; जिस जीविका-कर्म मे लग गये हैं वह कुछ तीसरा ही है; वर्ण-नाम बहुत अर्थ-रहित और मिथ्या हो रहा है; अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता सफल नहीं होती, प्राकृतिक रुचि तृप्त नहीं होती, उस की योग्यता न होने से वह जीविका-क्रम भी ठीक नहीं सधता। वर्ण-व्यवस्था बिगड़ते-बिगड़ते, अब उस का अर्थ सिर्फ यह रह गया है कि नाम-वर्ण वा जाति के बाहर भोजन-सम्बन्ध और विवाह-सम्बन्ध न हो; अनेक ऐसे विवाह होने लगे हैं जो नाम को तो सवर्ण हैं, पर वस्तुतः नितान्त अ-सवर्ण हैं, पति और पत्नी का रूप रंग शील स्वभाव कुछ भी नहीं मिलता, परस्पर अप्रसन्नता वैर द्रोह रहता है, तथा समाज मे वह अन्धाधुन्धी और जीविका-सम्बन्धी अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी है, जो ही

संस्कृत शब्द 'वर्ण-संकर' का सच्चा अर्थ है।

अस्पृश्यता का प्रश्न

अन्तर्वर्ण विवाह के इस प्रश्न से अस्पृश्यता के प्रश्न का भी सम्बन्ध है। अस्पृश्यता-विषयक भाव मे विज्ञान का अंश इतना ही है, कि स्पर्श उन लोगों का अनुचित है जो मलिन हैं, अथवा संक्रामक या छूत के रोगों से पीड़ित हैं। पर मनुष्य चाहे जैसा निर्मल और नीरोग और शुभ्र हो, यदि उस का जाति-वर्ण-नाम किसी ऐसी जाति का है जो प्रचलित प्रथा से अस्पृश्य है, तो उसे छूना न चाहिये—यह केवल 'मूढ़-ग्राह' है। और ऐसे आदमियों का, अपने लिये, ऐसे जाति-वर्ण-नाम को दाँतों से पकड़े रहना, यह और भी घोर 'मूढ़-ग्राह' है।[1]

वस्तुतः, किसी का नाम ही ऐसा न होना चाहिये, जिस से कोई पेशा

[1] कई वर्ष हुए, महात्मा गांधी ने जब अछूतों के लिये 'हरिजन' शब्द ईजाद किया, उस के थोड़े ही दिन बाद, एक सज्जन मेरे पास आये; साधारण धोती कुर्ता टोपी पहिने थे ; मै ने पास की कुरसी पर बैठने को कहा; बैठे। पर आरम्भ मे ही उन्हों ने कहा कि मैं 'चमार' हूं। मुझे दुःख हुआ; उन से कहा—'मै ने तो आप से आप की जाति नहीं पूछी, आप ने हठात् मुझ को क्यों सुनाया कि आप 'चमार' हैं; मेरे लिये यही पर्याप्त था कि आप मनुष्य हैं, और मलिन नहीं हैं; पर जब आप को यह हठ है कि आप 'चमार' ही हैं, तो मेरा भी पुराना संस्कार जागता है और याद दिलाता है कि मै प्रचलित रीति से, त्रैवर्णिक द्विज (वैश्य अग्रवाल) हूं, और आप 'अस्पृश्य' हैं; इस कुर्सी पर मेरे पास आप को नहीं बैठना चाहिये; खैर अब आप बैठ गये हो तो बैठे रहिये, पर 'जाति' न बतला कर, अपना जीविका कर्म बतलाइये। उन्हों ने कहा कि 'आटा दाल आदि बेचता हूँ, पंसारी की दूकान करता हूं'। मै ने उन से फिर इसार से, निर्बन्ध से, कहा, 'तब आप अपने को वैश्य कहो, चमार मत ही कहो'। ख़ैर, दूसरी बातों के बाद वे चले गये।

इसी आशय की प्रार्थना, मै ने, तीस पैंतीस हज़ार आदमियों के भारी समागम, 'पब्लिक् मीटिङ्', मे १९३४ ई० मे, काशी मे, महात्मा गांधी से

समझा जाता हो, पर वह उस पेशे का न हो। 'दलित वर्ग' का प्रश्न एक क्षण मे हल हो जाय, यदि वे हज़ारों क्षुद्र जातिनामो का त्याग कर दें, और प्रधान चार वर्णों मे से ऐसे वर्ण के नाम का ग्रहण करें जिस के अन्तर्गत उन का पेशा हो; यथा, करोरा 'हरिजन', जो कृषि से जीविका करते हैं, वे सब अपने को 'वैश्य' ही कहें, और अन्य सब नाम छोड़ दें। साथ ही, यदि उन का पेशा मैले काम का हो, तो, उन्हें वह काम कर के, तुरन्त अपना शरीर धो कर साफ करना चाहिये; तथा समाज की ओर से उन्हें शिक्षा मिलनी चाहिये, कि वे अपना शौच इस तरह करें। यह प्रश्न वस्तुतः बहुत सरल है, पर उसे हल करने की नीयत का, और उपाय के ज्ञान का अभाव है; इसी से सरल भी अत्यन्त कठिन हो गया।

की, कि "हरिजन' शब्द को छोड़िये, इस से आप का अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा, बल्कि एक और नई जाति, 'हरिजन' नाम की, बन जायगी, और जो इस समय प्रायः दो हज़ार 'अछूत' कहलाने वाली जातियां हैं वे ज्यों की त्यों परस्पर 'अछूत' बनी रहेंगी, आपस मे अन्न-यौन-सम्बन्ध नहीं करेंगी, (महात्मा जी के, हरिजनोद्धार कार्य करने वाले अनुयायियों से भी यही प्रार्थना समय समय पर करता रहा), 'हरि-जन' शब्द के स्थान मे 'मनु-जन' शब्द का प्रयोग कीजिये, और सब को यह उपदेश दीजिये कि अपने पेशे के अनुसार, चार मे से एक वर्ण का अपने को बतलावें, और दो हज़ार भिन्न नामो को बिल्कुल छोड़ दें (जैसा बौद्धयुग मे हुआ था)"। पर मेरी प्रार्थना सुनी नहीं गई। हरिजनोद्धार जिस प्रकार से हो रहा है, वह सब को प्रत्यक्ष है। हाँ, अपना 'हक' मांगने का बल उन मे, कुछ अधिक हुआ है, उच्चम्मन्यों को कुछ नीचा देखना पड़ा है, 'नीची' कहलाने वाली जातियों ने सिर ऊंचा किया है; उन के साथ वैसा तिरस्कार का व्यवहार 'ऊंच जात वाले' अब नहीं करते जैसा पहिले, पर मन मे अधिक बुरा मानते हैं। लेकिन, जो महात्मा गांधी जी का और उनके अनुयायियों का लक्ष्य था, वह बात, तो बिल्कुल सिद्ध नहीं हुई, अर्थात् हिन्दु-मुस्लिम एका तो बहुत दूर रहा, बल्कि परस्पर द्वेष नितरां बढ़ता ही गया, और केवल 'हिन्दू' कहलाने वालों का भी थोड़ा भी सच्चा एका नहीं ही हुआ। वह एका,

प्राणहारक शब्द और प्राणकारक भाव

सभी देशों और सभी कालों मे मनुष्य के स्वभाव की इस दुर्बलता का परिचय मिलता है कि, वह प्राण बढ़ाने वाले 'भाव' की तो उपेक्षा करता है और मार डालने वाले 'शब्दों' को पकड़े रहता है; अनाज की हीर फेंक देता है, और भूसी को हिफाज़त से रखता है।

तान्येव भावोपहतानि कल्कः। (म० भा०)

अच्छा काम भी, बुरे भाव से, बुरी नीयत से, किया जाय, तो बुरा हो जाता है; ग़लत काम भी, नेक नीयत से किया जाय, तो अच्छा हो जाता है।

शब्दों को पकड़ने की, शब्दो के पीछे दौड़ने की, अर्थों की ओर ध्यान न देने की, इस दुर्बलता से बचने का प्रयत्न सदा बड़ी सावधानी से करते रहना चाहिये।

एक अंग्रेज मित्र से मैं ने सुना है कि, उन के देश मे, जब, चालीस पचास वर्ष हुए, यह बात अव्वल-अव्वल वैज्ञानिकों को मालूम हुई, कि मैले हाथो मे लगे हुए रोगाणुओं से रोग, स्पर्श द्वारा, एक शरीर से दूसरे शरीर मे सक्रमण करते हैं, तब वैज्ञानिकों ने कहा कि, आटा तथा अन्य खाद्य पदार्थ, हाथ से साने गूंधे या अन्य प्रकार से छूए न जाने चाहियें। ज्यों ही यह बात कही गयी, त्यों ही खाद्य पदार्थ बनाने वाले, अपनी बनाई जिन्सों पर इस मज़मून के पुर्जे लगाने लगे– 'हाथ नहीं लगाया गया।'[1] (न केवल हिन्दुओं का, बल्कि मानव-मात्र का), तभी संभव है, जब 'कर्मणा वर्णः' और 'वयसा आश्रमः' के सिद्धान्त पर, समाज-व्यवस्था पर ज़ोर लगाया जाय। 'हरि-जन' नाम की निष्फलता, और 'चतुर्वर्णात्मक' 'मनु-जन' नाम की सत्फल-गर्भता, मै ने बहुत बार पुनः पुनः हिन्दी और अंग्रेज़ी अख़बारों मे, लेखों द्वारा, जब से 'हरि-जन' शब्द चला, तब से दिखाने का यत्न किया है। 'अछूत' जातियों ने जो कुछ सिर उठाया, वह 'हरि-जन' नाम के बल से नहीं, बल्कि सारे देश के, जो सब का सब ही 'दलित' है, राजनीति के क्षेत्र मे सिर उठाने से।

१ Untouched by hand, 'अन्-टच्ड बाइ हैण्ड'।

मेरे मित्र को यह जानने की इच्छा हुई कि, देखूं, अन्य किस प्रकार से गूंधने आदि का काम ऐसे कारखानो मे किया जाता है, जहाँ 'डबल रोटी', 'बिसकिट', आदि खाद्य द्रव्य बनाये जाते हैं। वे एक कारखाने मे गये तो क्या देखा कि, मज़दूर अपने नंगे पैरों से आटा गूंध रहे हैं! डाक्टरों ने 'हाथ' लगाने को मना किया था, 'पैरों' के बारे मे तो कुछ नहीं कहा था!

जहाँ बुद्धि का अभाव होता है, या सदाचार का स्थान अहंकार या लोभ ग्रहण करता है, या धोखा देने, बहकाने, और ठगने की प्रवृत्ति होती है, या स्वत्वों या अधिकारों को हथियाने और कर्तव्यों को टालने की इच्छा होती है, वहां ऐसा अर्थ का अनर्थ सदा हुआ ही करता है। वर्णव्यवस्था की भी यही दशा हुई है।

उद्देश्य यह था, और चिरकाल तक सफल भी होता रहा, कि भारत की हज़ारों जातियों और फ़िर्कों को 'अंगांगिभाव' से, 'मुख-बाहु-ऊरु-पाद'वत् मिला कर, उन का एक पूर्ण 'समाज-शरीर' संघटित किया जाय, जिस मे प्रत्येक व्यक्ति को उस के ख़ास स्वाभाविक गुणो को बढ़ाने और आत्मविकास करने का अवसर मिले। और प्रत्येक को उस के उपयुक्त स्वभावानुकूल जीविका-साधन का काम दे कर यह व्यवस्था भी की गयी, कि उस के ख़ास गुणो के सदुपयोग से सारे समाज की सेवा भी हो।

आगे चल कर यह भाव ही उलट गया। जहाँ मूल-कल्पना, गुणानुरूप जीविका-कर्म की थी, वहां नई कल्पना हुई जन्म से कम की, गुण का स्थान जन्म ने लिया, जन्म से कर्म स्थिर किया जाने लगा; और आगे चल के यह भी व्यवस्था गिर गयी, वर्ण कुछ और कर्म कुछ होने लगा। फलतः, सुसंघटित, सुसंहत, सुव्यूढ़ समाज, विशृंखल, असंहत, विदीर्ण हो गया, और उस के हज़ारों टुकड़े ऐसे हो गये जो एक दूसरे से ईर्ष्या, मत्सर, विरोध, स्पर्धा करने ही मे अपना भला मानते हैं।

वर्णव्यवस्था की सर्वसंग्राहकता

यदि वर्णव्यवस्था के, अर्थात् चतुर्विध जीविका-कर्मो के, अनुसार, समाज के वर्गीकरण के मूलगत, अन्तःकरण-शास्त्रानुकूल, अध्यात्

शास्त्रानुकूल, सिद्धान्तों का अर्थ ठीक ठीक और उदारतापूर्वक किया जाय, तो वह व्यवस्था अब भी अपना मूल उद्देश्य सिद्ध कर सकती है। समस्त जगत् के मनुष्य-जीवन को बुद्धिपूर्वक, खूब सोच समझ कर, परस्पर-सम्बद्ध, अन्योऽन्याश्रित, चार विभागों में विभक्त कर के सुसंघटित और सुसंयोजित करना—यही वह उद्देश्य है। पूर्वकथनानुसार चार वर्ग वा व्यूह ये हैं—पहिला वर्ग 'शिक्षकों', ब्राह्मणों, ज्ञानियों, आलिमों, आरिफ़ों का है, यानी उन लोगों का जो ज्ञान, इल्म, 'इर्फ़ान' के अधिकारी हैं—वह ज्ञान जो विज्ञान और विश्वप्रेम से युक्त है; दूसरा वर्ग 'रक्षकों' का है, जिस मे क्षत्रिय, महाफ़िज़, आमिल, 'आमिर' या 'अमीर' जिन मे 'अम्र', 'हुकूमत', 'आज्ञाशक्ति', तथा शौर्य है—वह शौर्य जो परोपकारी है; तीसरा वर्ग आर्थिक 'पोषकों' का है, जिस मे वाणिज्य व्यापार के कुशल व्यक्ति हैं—वह वाणिज्य और तिजारत जिस से सब मनुष्योपयोगी पदार्थों का संग्रह और वितरण, कुशलता और उदारता से होता है; अन्तिम और चौथा वर्ग 'सहायकों' वा 'भारकों' का है, जिस मे सेवा, परिश्रम, जिस्मानी मिहनत, मश्क़, मशक्कत करने वाले हैं—वह सेवा जिस का भाव (बलात्कारेण, अपनी इच्छा के विरुद्ध, सेवा का नहीं, बल्कि) दूसरों की सहायता करने का स्वयं रुचि, उत्साह, श्रद्धा का है। इस प्रकार से, पुस्तक (अर्थात् ज्ञान-विज्ञान, शास्त्र, विद्या, वेद, शास्त्रबल) के द्वारा तलवार (दण्ड, दमन-शक्ति, आज्ञाशक्ति, शासनबल, शस्त्रबल) का नियमन, नयन, प्रणयन होता है; खड्ग के द्वारा थैली (धन-धान्य, कोषागार-अन्नागार, धनबल) का रक्षण होता है; थैली के द्वारा हल-बैल, फावड़ा-कुदाल (शारीर श्रमबल) का भरण-पोषण होता है; और हल-बैल से चारो की सहायता होती है।'[1]

'कर्मणा' वर्ण-धर्म और 'वयसा' आश्रम-धर्म के, अर्थात् सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के, संघटनो के संयोग से बनी हुई यह व्यवस्था, व्यक्तिवाद, समाजवाद, तथा अन्य सब 'वादों' का सुन्दर समन्वय करती है; जिस को जो चाहिये उसे उतना ही, न अधिक न कम,

१ इन के तुल्यार्थ अंग्रेज़ी शब्द, पृ० ४५८-९ पर, फुट-नोट मे दिये हैं।

दे कर, यह, मनुष्यजीवन की आवश्यकताओं के परस्पर-विरोधी द्वन्द्वों के बीच का मार्ग दिखाती है; पारिवारिक जीवन मे अच्छे मनोरंजन और सुप्रजनन की, रति-प्रीति सुरति की, यथेष्ट, न अधिक न कम, सुविधा कर देती है; सब प्रकार की प्रकृतियो के लोगों को अपने अपने कृत्यों और रुचियों के लिये उचित अवसर देती है। समस्त मानव संघ की, सर्व-लोक-संग्रह का, उदार और उदात्त कल्पना इस से सम्भव होती है। कृषक (और व्यापारी), सैनिक (और शासक), श्रमजीवी (बौद्धिक और शारीरिक उभय प्रकार के श्रम करने वाले) लोगो के सोवियेट (संघ) स्थापित कर के, रूस इसी ओर जाता दिखाई देता है; यद्यपि वह इस काम मे बड़ी ग़लतियां भी करता रहा है, और मनुष्य स्वभाव की अंगभूत आध्यात्मिक और मानसिक कई व्यवस्थाओं की उपेक्षा कर रहा है, जिस का परिणाम, आगे चल कर भयंकर हो सकता है। जापान, बाह्यतः, समाज व्यवस्था मे रूस के बिलकुल विरोधी दिखाई देने वाले मार्गों से, पर कई गुर्वर्थ बातों मे तत्सदृश ही, व्यवस्थित समाज-संघटन का काम करता रहा है। भारत की प्राचीन व्यवस्था ने इन दोनों का समन्वय करने और ऊपरी नुमाइशी विरोधों का परिहार करने का मार्ग दिखाया है।

मूल 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' मे स्थान पाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई मनुष्य अपने देश, राष्ट्र, मातृभाषा, वा विशेष धर्म का त्याग करे। किसी देश का रहने वाला, किसी राष्ट्र का सदस्य, किसी भाषा का बोलने वाला, कोई भी नाम धारण करने वाला, वेद मे, कुरान में, पुरानी तौरेत मे, नई इञ्जील मे, जिंदाविस्ता मे, बौद्ध त्रिपिटक मे, जिनऽागम मे, या 'ग्रन्थ साहब' मे विश्वास करने वाला, अपने विशेष विश्वासों की, तथा अन्य सब लवाजिमों की, रक्षा करता हुआ, अपने अपने पेशे के अनुसार वृत्तिसूचक वर्ण-नाम का ग्रहण कर सकता है; और यदि वह सोच समझ कर समान शील वाली 'सहधर्मिणी' से विवाह करे, तो उस की अर्द्धांगिनी को भी उस का वृत्तिसूचक वर्ण नाम प्राप्त होगा।

इस की विशेषता

मूल वर्णव्यवस्था तो एक ऐसा सांचा ढांचा है जिस मे मानव जाति

की सब अवांतर जातियों के मनुष्य, अपने अपने स्वाभाविक गुणो और जीविका-कर्मो के अनुसार ढाले जा सकते हैं; और भारतवर्ष मे प्रायः बौद्ध-काल के अन्त तक ढाले जाते थे। 'व्रात्यस्तोम' आदि विधियों से उन का संस्कार कर के 'व्रात्य' से 'शालीन', 'अनार्य' से 'आर्य', 'वर्ण-रहित' से 'वर्ण-सहित', 'अव्यक्त-वर्ण' से 'सुव्यक्त-वर्ण', बना लिए जाते थे। 'शाक-द्वीपी ब्राह्मण' आदि का अर्थ यही है कि जो 'शक' जाति के लोग भारत-वर्ष मे आ कर बस गये उन मे से ज्ञान-प्रधान व्यक्ति 'ब्राह्मण' वर्ण मे शामिल हो गये और 'शाक द्वीपी' कहलाये। एवं चौहान परमार आदि राजपूतों के जो चार 'अग्निकुल' क्षत्रिय इस प्रथा के साथ प्रसिद्ध हैं, कि ब्राह्मणो ने विदेशियों के आक्रमण से भारत की रक्षा के लिये यज्ञ किया और अग्निकुण्ड मे से अस्त्र-शस्त्र से सुसज्ज चार क्षत्रिय निकल आये और उन्हो ने विदेशी आक्रमणकारियों को युद्ध मे हरा कर निकाल दिया--इस प्रथा का अर्थ यही है कि, वेदी-कुंड मे अग्नि को प्रज्वलित कर के वेद-विधि से चार विदेशी शूरों को, या ऐसे स्वदेशी शूरों को जो 'जन्मना' क्षत्रिय नहीं थे, वैदिक याज्ञिक आदि विधि से 'क्षत्रिय' बनाया। परशुराम ने नये ब्राह्मण बनाये, यह कथा पुराणो मे प्रसिद्ध है, और महाराष्ट्र देश के 'चित्पावन' ब्राह्मणा के विषय मे ऐसी किंवदंती है कि परशुराम के उन्हीं ब्राह्मणो के यह वंशज हैं। महाभारत मे यह स्पष्ट लिखा है कि, जमदग्नि और परशुराम के सेनापत्य मे, अन्य तीन वर्णो ने मिल कर, प्रजोत्पीड़क 'क्षत्रियो' का ऐसा सहार किया, कि क्षत्रिय, रक्षा कार्य के लिये, पर्याप्त बचे नही; तब उन्हीं तीन वर्णो मे से, 'स्वर्णकार' 'व्योकार' आदि मे जो विशेष शूरवीर और रक्षा-धर्म-निष्ठ थे, उन को 'क्षत्रिय' बना दिया गया। इत्यादि। निष्कर्ष यह कि वर्ण-व्यवस्था एक ऐसा उपाय है कि, समस्त मानवजाति के सभी सदस्य, सृष्टि-विकास के क्रम मे चाहे वे किसी दर्जे पर हों, चाहे 'मानसिक' बाल्य वा कौमार वा यौवन वा प्रौढ़ वा वृद्ध और शान्त अवस्था मे हों, सब प्रकार की प्रकृतियों के, यथा-स्थान, इस मे समावेश पा सकते हैं। पाच पीढ़ियों के संयुक्त बृहत्तर परिवार के सदस्यों की तरह इस के सदस्य भी, परस्पर प्रेम, परस्पर संमर्ष, सहनशीलता, रवादारी, परस्पर सहानुति, और परस्पर सहा-

यता के भावों से भावित हो कर, सुख से रह सकते हैं।

इस पर यह कहा जा सकता है कि, व्यवहार मे यह तो पृथ्वी मे सर्वत्र हो ही रहा है, फिर वर्ण व्यवस्था मे विशेषता ही क्या है ? इस का उत्तर यह है कि, (१) इस से मनुष्य मात्र की एकता और संग्रहण का आदर्श सब के आंख के सामने सदा बना रहता है, और समस्त मानव-समाज के संगठन के उत्तम स्वरूप का, और उस के नियामक सिद्धांतों का, स्मरण सब को सदा बना रहता है; यह बड़े महत्व की बात है; इस के अभाव मे, प्रचलित व्यवस्था, सर्वत्र अत्यन्त अपूर्ण रह जाती है, अन्ध-संघर्ष होता रहता है, और सहयोग की जगह प्रतियोग प्रबल होता है; (२) सामाजिक जीविका-कर्मों, और सब प्रकार के व्यवसायों और उद्योगों का, बुद्धिपूर्वक विभाग कर के, और तदनुसार पारितोषिक की व्यवस्था कर के, यह व्यवस्था, व्यक्ति-वाद और समाजवाद का वैज्ञानिक समन्वय करता है। ऐसा बुद्धिपूर्वक-समन्वय, वर्तमान स्थिति मे, कही पाया नही जाता। इस व्यवस्था मे यह संभव नही है कि एक मनुष्य अपने वर्ण वा वर्ग के लिए निर्धारित जीविका-कर्मों के सिवा, अन्य वर्गों के लिए निर्धारित किसी कर्म के द्वारा, अधिक धन उपार्जन करने का चेष्टा करे। इस व्यवस्था मे कोई अध्यापक, आचार्य, वकील, सैनिक, मजिस्ट्रेट, जज वा जमींदार, अपना कर्म करता हुआ, बैंकर, साहूकार, या कम्पनी डाइरेक्टर का काम नहीं उठा सकेगा। उसी तरह, लेन-देन करने वाला सूदखोर कुसीद-जीवी वार्धुषिक 'महाजन' या कम्पनी डाइरेक्टर भी, अध्यापकी, वकीली, जजी, जमींदारी, सिपाहीगीरी, कान्सटेबली, मजिस्ट्रेटी आदि का काम नहीं करने पावेगा। इस मे वेतन लाभ, कर, पुरस्कार, राजाओं की तनख़ाह ('सिविल लिस्ट') आदि, न्याय्य परिमाण की सीमा का अतिक्रमण नहीं करने पावेगी। तथा 'गरीब अमीर' मे अत्यन्त अन्तर न होने पावेगा। यही इस प्राचीन 'कर्मणा' वर्ण व्यवस्था का, आजकाल जो अन्य देशों मे समाजों का रूप है उस से, विशेष भेद है।

ज्ञात इतिहास-काल मे, मालूम होता है कि, समस्त मानवजाति मे से केवल प्राचीन भारतीयों ने ही, बुद्धिपूर्वक और क्रमपूर्वक, मानवजाति के

प्राकृतिक नियमों और चित्त की वृत्तियों का अनुसरण करते हुए, वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अंगों वा अंशों का वैज्ञानिक विभाग करने का प्रयत्न किया है, और सफलता के साथ किया है। दक्षिण अमेरिका के 'पेरू' नामक देश मे, ईसा की १२ वीं से १५ वीं शताब्दियों के बीच, अर्थात् चार सौ वर्ष तक, भारतीय वर्णव्यवस्था से कुछ मिलता-जुलता, समाज का प्रबंध हुआ। बुद्धदेव के बाद, बौद्ध धर्म को फैलाने के लिये, चारो ओर भिक्षु लोग गये। आधुनिक पाश्चात्यों की ही खोज से इस का पता चल रहा है कि अमेरिका मे भी ये लोग चीन जापान से होते हुए गये। क्या अजब जो ऐसों ने ही, पेरू मे यह व्यवस्था चलाने का यत्न किया हो। स्पेन देश के आक्रमणकारियों ने पेरू और मेकसिको को नितरां ध्वंस कर दिया। आधुनिक समय मे रूस भी कुछ ऐसी ही समाज व्यवस्था का यत्न कर रहा है, जैसा पहिले कहा जा चुका है।

सिद्धान्तों की उपेक्षा

इस देश मे कर्मानुसार वर्णव्यवस्था के सब मूल सिद्धान्त अब भुला दिये गये हैं। आज, चतुर आदमी, सम्मान, पदाधिकार, धन, और विनोद को, अर्थात् इज़्ज़त, हुकूमत, दौलत, खेल तमाशा, इन चारो को अधिक से अधिक मात्रा मे प्राप्त करने का यत्न करता है; जैसा अन्य देशों मे हो रहा है। सारांश यह कि वह, सब अधिकारो को प्राप्त कर लेने का, और सब कर्तव्यों का त्याग कर देने का, यत्न करता है; अधिक चतुर और भाग्यवान् मनुष्य, इस मे कृतार्थ भी हो जाता है। सर्वहरण के इस अति-प्रचलित यत्न से, इस वर्णसंकर से, कर्म और पुरस्कार के बटवारे की पद्धति की इस अस्तव्यस्तता से, मानव-समाज मे भयंकर क्षोभ उत्पन्न हो गया है; तथा भारतवासी, और विशेष कर हिंदू, बहुत ही शोचनीय दशा को प्राप्त हो गये हैं। जिस व्यवस्था का मूल उद्देश्य यह था कि परस्पर संगठन और एकता कराने वाली शक्ति उत्पन्न हो, वही व्यवस्था, सिद्धान्तों को भूल जाने से, समाज को खण्ड-खण्ड करने का, असंख्य भागों मे विभक्त करने का, कारण हो रही है। जो एक समय 'वर'

(वर-दान, 'ब्लेसिङ्') था, वही अब 'शाप' (कर्स) हो गया है।'[1]

जैसे 'अनियंत्रित व्यक्तिवाद', अपना-अपना खिचड़ी अलग पकाने की बुद्धि, 'जिस का जैसा जो चाहे वैसा वह करे'—यह बुद्धि, जैसे जात्युपजाति के भेदों की हेतु, भारत मे है, वैसे ही राजनीतिक, राष्ट्रीय, प्रान्तीय, आदि मनमाना स्वच्छन्दता से उत्पन्न भेदों की जननी यहाँ भी और पच्छिम मे भी है। मूल भाव के बिगड़ जाने से सारी बातें बिगड़ जाती हैं। 'तान्येव भावोपहतानि कल्कः'। यदि हम प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की स्थापना, पुनः उस के सच्चे प्राचीन गुण-कर्म के आधार पर कर सकें, यदि हम निश्चय कर सकें कि सम्मान और अधिकार केवल उन को ही मिलेंगे जो ज्ञानी, आत्मत्यागी, और जनसेवक हैं; तथा विलासी धन बटोरने वालों को कभी न दिये जायँगे; जैसा वर्ण धर्म के द्वारा प्राचीन समय मे निरोध किया जाता था; तो व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद और उन सब 'वादों' का अन्त हो जायगा, जो पच्छिम की नयी वैज्ञानिक सभ्यता को वैज्ञानिक राक्षसता और दुर्बल-पीड़क बर्बरता बनाये हुए हैं। ऐसा होने से मनुष्यता का, इन्सानियत का, भाव पुनः उदित होगा, तथा हमारे सब प्रश्नों का सुलझाव आप ही हो जायगा; क्योंकि जब भाव शुद्ध हो जायगा, जो विलासिता और धनप्रियता से सम्मान और आज्ञाशक्ति को अलग कर देने से अवश्यम्भावी है, तो सब बातें आप ही सुधर जायँगी। जब कर्मों का प्रेरक चित्त, शुद्ध और ज्ञानवान् है, तब कर्म अवश्य ही शुद्ध और सुख सचारक होंगे।

आज जाति और उपजाति की पंचायतों के मुखिया भूल गये हैं कि उन का कर्तव्य, अपनी-अपनी सीमा के भीतर, अपनी बिरादरी की सेवा सहायता करना है। इस की जगह, वे भोजन, विवाह, और छूतछात के मामिलों मे, उन की राय से जरा भी प्रतिकूल काम करने वालों को जातिच्युत कर के, अपनी अधिकार-शक्ति का रस ले रहे हैं। सर्वत्र अधिकार का अर्थ हो गया है, दुख देने का अधिकार, न कि सुख देने का; दूसरों को दबाने, दुःख देने, मे ही शक्ति का रस माना जाता है, सुख देने मे शक्ति के

१ Blessing; curse.

उत्तम महत्तम स्वाद होता है—यह भूल गया है।

तीन मूढ़ग्राह

(१) अन्तर्वर्ण-भोजन-विषयक मूढ़ग्राह तो अब उन लोगों मे से अधिकांश मे मिट गया है जिन्हें नयी शिक्षा मिली है। दक्षिण भारत मे अभी नहीं मिटा है। वर्तमान अवस्था के दबाव से, विशेषतः व्यवसाय कर्म और मनोरञ्जन के लिये दूर दूर के प्रवास करने की प्रथा के बढ़ने से, अधिकाधिक घटता जा रहा है। (२) स्पर्शास्पर्श के सम्बन्ध का मूढ़ग्राह भी नष्ट हो रहा है; पर इस के नाश की क्रिया को क़ानून की सहायता चाहिये, क्योंकि बहुत से चिराभ्यस्त स्वार्थ और कालपोषित हक़ इस मे बाधक हो रहे हैं। साथ हो इस भाव के प्रचार की भी आवश्यकता है, कि मल अस्पृश्य है, मनुष्य अस्पृश्य नहीं। (३) अन्तर्वर्ण-विवाह सम्बन्धी मूढ़ग्राह सब से प्रबल है, कारण यह कि इस का सम्बन्ध कानूनी अधिकारों से और 'अदालती मुआमिलों' से है। इस लिये इस विषय मे खास क़ानून की आवश्यकता है, जैसा कि इस उपक्षिप्त विधान द्वारा बनाने का उद्योग किया गया है।

इन तीनो मूढ़ग्राहों का उन्मूलन करने वाला वैज्ञानिक सिद्धान्त, सूत्ररूप से, इस सुप्रसिद्ध संस्कृत वाक्य मे कहा हुआ है—

समान-शील व्यसनेषु सख्यम्

सच्ची मित्रता उन मे ही सम्भव है, जिन के आचार-विचार, शील-स्वभाव, एक से, वा अ-विरोधी, परस्पर सहायक होते हैं।

देशकाल-अवस्था के परिवर्त्तन से धर्म-परिवर्त्तन

केन्द्रीय धर्मऽाम्नात्री सभा, धर्मपरिषत्, 'लेजिस्लेटिव असेम्बली,' 'सेन्ट्रल लेजिस्लेचर' मे इस विधान का उपन्यास होने के बाद, कई जगह सार्वजनिक सभाएं हुईं।[1] उस के सभापतियों और मन्त्रियों के हस्ताक्षर से सभाओं के निश्चयों की प्रतियाँ मेरे पास आईं। समाचार पत्रों मे कुछ लेख भी छपे। निश्चय ही, लेख भी, कुछ विरोधी हैं, कुछ समर्थक। ऐसी ही आशा थी। कुछ समर्थकों ने परामर्श भी दिया, कि उपन्यस्त

१ Legislative Assembly; Central Lagislature.

विधान मे ऐसी-ऐसी त्रुटि की पूर्ति कर देन चाहिये। अन्तर्वर्ण विवाह के सम्बन्ध मे इस समय जो कानून मौजूद हैं, उन का हवाला दे कर कुछ सज्जनो ने यह लिखा कि नये कानून का जरूरत नहीं मालूम होती।

इन लेखों पर मैंने आदर से ध्यान दिया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वर्तमान विधानो मे कई ऐसी शर्तें हैं, जो ऐसे कुछ सज्जनों को ग्राह्य नहीं हैं जो अन्तर्वर्ण-विवाह करना चाहते हैं। वर्तमान विधानो मे केवल हिन्दू धर्म की ही चर्चा नहीं है, बल्कि अन्य धर्मों को भी है; तथा उन के अनुसार, ऐसे लोगों को जो अन्तर्वर्ण विवाह करना चाहते हैं, या तो यह क़रार करना पड़ता है कि हम किसी विशेष धर्म के अनुयायी नहीं हैं; या, यदि वे हिंदू बने रहना चाहते हैं तो उन्हें कई हक़ छोड़ देने पड़ते हैं; यथा, यदि अविभक्त कुल के अग हैं तो कुल से उन का सम्बन्ध कट जायगा; उन के पिता को दूसरा लड़का गोद लेने का हक़ हो जायगा; उन को स्वयम् गोद लेने का हक़ न रहेगा; उन की सन्तान को सिर्फ उन्हीं की निजी जायदाद पाने का हक़ 'इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट' के अनुसार होगा, स्मृत्युक्त दाय-विभाग के अनुसार नहीं;[१] उन की संतान को अपने दादा आदि की जायदाद मे स्मृत्युक्त दाय-विभाग के अनुसार अधिकार न होगा; उन का किसी धमदाय या सम्पति के प्रबन्ध का अधिकार न रहेगा; कुल-दवता के मन्दिर मे पूजा नहीं कर सकते; कुल के स्थापित देन्त्र ('ट्रस्ट') की समिति के सदस्य नहीं हो सकते; इत्यादि। जिन सज्जनो को यह शर्तें मजूर हों, उन के लिये तो वर्तमान विधानो का रास्ता खुला है, और वे उस पर चल सकते हैं और चलेंगे। पर कुछ सज्जन ऐसे हैं जो अपने कुल कुटुम्ब से कानूनन् सन्बन्ध-विच्छेद करना, और स्मृत्युक्त दाय-विभाग के और दत्तक पुत्र को गोद लेने आदि के अधिकार का त्याग करना, नहीं चाहते; 'हिंदू' होने के नाते जो अधिकार-कर्तव्य उन को प्राप्त हैं उन सब को बनाये रखना चाहते हैं, सर्वथा 'हिंदू' बने रहना चाहते हैं, केवल अन्तर्वर्णविवाह की अनुमति चाहते हैं। ऐसे लोगों के अभीष्ट की पूर्ति के

१ Indian Succession Act.

लिये यह सीधा सादा विधान, श्री विट्ठलभाई पटेल जी ने प्रस्तुत किया था, और मै ने उन का अनुकरण कर के पुनर्वार प्रस्तुत किया । जहाँ तक मै विचार सका हूँ, इस विधान से किसी को कोई हानि नहीं होती है, प्रत्युत कुछ सज्जनो की अभीष्ट-सिद्धि होती है, और, 'दीर्घं पश्यत, मा ह्रस्वं, परं पश्यत माऽपरम्' के न्याय से, समस्त हिंदू समाज के उत्तम समर्थन, उपोद्बलन, दृढ़ीकरण का आरम्भ होता है । इस लिये हिंदू समाज के विविध समुदायों के नेताओं से मेरी विनीत प्रार्थना है कि इस पर शान्तिपूर्वक विचार कर के इस विधान को आशीर्वाद दें, कि हिंदू समाज के राजयक्ष्मा क्षयरोग को दूर करने के लिये, अति वीर्य-वान् औषध का यह काम करे । ज़रूर है कि बहुत दिनो से जिस बात का, जिस दस्तूर का, अभ्यास पड़ जाता है, उस को बदलते मन बहुत हिचकता है, पर देश-काल-निमित्त को पहिचान कर, विचारशील पुरुष, पुराने संस्कार को बदल कर, नयी मर्यादा स्थापित करते ही रहते हैं । श्लोक प्रसिद्ध है,

> अश्वालम्भं, गवालम्भं, संन्यासं, पलपैतृकं,
> देवराच्च सुतोत्पत्तिं, कलौ पंच विवर्जयेत् ;
> निवर्त्तितानि पंचाऽपि, व्यवस्थापूर्वकं, बुधैः,
> दृष्ट्वा कालगतिं सम्यक् कलेर् आदौ महात्मभिः ।

अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, श्राद्ध मे मांस का पिण्डदान, देवर से विधवा को सन्तान—इन पाँच बातों को, जो पहिले धर्म्य थीं, जायज़ थीं, कलि के आरम्भ मे, बुद्धिमान् महात्माओं ने, काल की गति को अच्छी तरह विचार कर के, मना कर दिया । तिस पर भी संन्यासी आज तक होते ही हैं, और उन मे कोई कोई, सौ दो सौ मे एक, सच्चे तपस्वी ज्ञानी वृद्ध भी होते हैं, जिन की तपस्या के बल से भारतवर्ष का आध्यात्मिक प्राण अभी तक बचा हुआ है । तथा अश्वमेध भी होते ही रहे हैं । कलि के आरम्भ से प्रायः तीन हज़ार वर्ष पीछे, समुद्रगुप्त ने काशी मे अश्वमेध यज्ञ किया, उस के अश्व की पाषाण मूर्ति अब तक, प्रायः पन्द्रह सौ वर्ष पुरानी, संकटमोचन हनुमान्

के मन्दिर के सामने वर्तमान रही है'; इस का पता श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की स्फूर्तिमती बुद्धि ने, उस मूर्ति पर खुदे, अधिकांश मिटे हुए, अक्षरों को पढ़ कर लगाया। और भी ऊपर कह चुके हैं, कि हिन्दू कहलाने वाले समाज मे कोई ऐसा आचार (सदाचार वा दुराचार) नहीं है जो, किसी न किसी समुदाय-विशेष मे, किया न जाता हो। संन्यासी स्वामी भावानन्द तीर्थ के, अनशन व्रत से, शरीर-त्याग को भी मै ने १८८८ ई० मे, काशी मे, केदार-घाट पर, गंगा के तीर पर, देखा है, जिस से बढ़ कर किसी पुराणोक्त ऋषि की तपस्या नहीं हो सकती। तथा सब प्रकार की पशुबलि, साक्षात् गो-मेध नहीं तो महिष-मेध, अज-मेध अवि-मेध, कुक्कुट-मेध आदि भी जारी हैं; यहाँ तक कि 'अघोर' पन्थियों मे, विष्ठा-भक्षण, मूत्रपान, नर-शव-भक्षण, और अवसर मिलने पर नर-बलि-दान भी, हो रहा है; वाममार्गी द्विजों मे भी पंच 'मकार' का सेवन प्रसिद्ध है; विवाह के विषय मे सभी चाल की प्रथा की प्रथित है; दक्षिण मे सगे भाई-बहिन के बेटा-बेटी का, अर्थात् सगे फुफेरे-ममेरी भाई-बहिन का, तथा मामा और भाजी का भी, परस्पर विवाह बहुत होता है. (जैसा कृष्ण के बेटे प्रद्युम्न और उन के मामा रुक्मी की बेटी का हुआ); उत्तर मे यह घोर अनाचार समझा जाता है; नीच कहलाने वाली 'हिन्दू' जातियों मे, देवर से, जेठ से, श्वशुर से, जामाता से भी, तथा अन्यों से, विधवाओं के विवाह आज हो रहे हैं; पत्नियों का विनिमय , बदलौवल, भी होता है। शाबर-भाष्य मे और तन्त्रवार्त्तिक मे और भी बहुत से विशेष प्रान्तों के विशेष विशेष अनाचार गिनाये हैं। दाय के सम्बन्ध मे, उत्तर भारत मे मिताक्षरा का कानून, पूर्वभारत बंगाल मे जीमूतवाहन का कानून, त्रावणकोर कोचीन आदि मालाबार प्रान्त मे 'नराणां मातुल-क्रमः,' अर्थात् बेटे को नहीं, भांजे को जायदाद मिले, जारी है। पर सभी 'हिंदू' धर्म और 'हिंदू' समाज के अन्तर्गत हैं। 'शास्त्र' 'शास्त्र' की दुहाई तिहाई बहुत दी जाती है, पर प्रत्येक समुदाय

१ अब यह अश्व-प्रतिमा, संकटमोचन से हटा कर, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कला-भवन मे रख दी गई है।

अपना 'शास्त्र-विशेष' अलग रखता है, और उस से अपने 'आचार-विशेष' का समर्थन करता है। ऐसी 'सर्वमेवऽाकुलीकृतं' की अवस्था मे, जब सब प्रकार की मर्यादाओं का ऐसी संकर हो रहा है कि 'निर्मर्यादम् अवर्तत', तब केवल शब्दों को पकड़े रहना, अर्थ को न देखना, ठीक नहीं। गम्भीर विचार कर के मर्यादा का ऐसा संशोधन करना चाहिये जो लोकसंग्राहक हो, लोकविग्राहक, भेदवर्धक, न हो। केवल 'धर्मनाश' 'धर्मनाश' पुकार कर के ही विधान का विरोध करना उचित नहीं। अर्थ को अच्छी तरह विचारना चाहिये। धर्मनाश तो वर्तमान प्रथाओं से हो रहा है। उपन्यस्त विधान सद्धर्मरक्षा करने का उपाय है। पुनः पुनः विपक्षी सज्जनो से प्रार्थना करता हूँ, कि आप विश्वास कीजिये कि, जितना आप कहते हो कि आप को 'धर्म' प्रिय है, उस से किसी तरह कम प्रिय मुझ को नहीं है; कम से कम उतना ही प्रिय है; पर हां, धर्म क्या है, इस विषय मे आप के और मेरे विचार मे कुछ अन्तर है; उस अन्तर को, मै, आप के सामने, अपना विचार, नितान्त विनय से रख कर, मिटाना चाहता हूं।

> **पुराणम् इत्येव न साधु सर्वं,**
> **न चापि काव्यं नवम् इति अवद्यं;**
> **संतः परीक्ष्य ऽन्यतरद् भजंते,**
> **मूढः पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धिः ।**

(कालिदास, 'मालविका-अग्निमित्र')।

सब पुराने ही काव्य अच्छे हैं, सब नये काव्य बुरे हैं, यह ठीक नहीं; भले आदमी जांचते हैं कि कौन अच्छा कौन बुरा, और अच्छे को अपनाते हैं; मूढ़ लोग दूसरों के कहने पर ही चलते हैं; आभाणक भी प्रसिद्ध है—

> **तातस्य कूपोऽयं इति ब्रुवाणाः**
> **क्षारं जलं कापुरुषाः पिबंति।**

पिता का बनाया हुआ कूआ है, ऐसा कहते हुए, वे ही आदमी खारा पानी पीते हैं, जो निरुद्यम, अशक्त, आलसी हैं; उत्साही पुरुष नया कूआ बना कर, मीठा पानी निकालते और पीते हैं।

सो मै तो कोई नयी बात भी नहीं कहता; जिस को दृढ़ विश्वास से मानता हूँ कि यही परम पुरानी बात है, उसी को आप के सामने कहता हूँ। आदि काल के वेद-पुराण-सम्मत तात्विक धर्म का, शुद्धरूप से, पुनः प्रतिष्ठापन चाहता हूँ। चारो ओर रहन सहन बदल रहा है, और निर्मर्यादता, उच्छृंखलता, स्वच्छन्दता की लहर उठ रही है। उस सर्व-संकर की दशा में, सच्ची वर्णव्यवस्था के प्रतिष्ठापन का यत्न, अपनी अत्यन्त क्षुद्र शक्ति भर कर रहा हूँ, और इस कार्य मे सब विचारशील सज्जनो से सहायता की प्रार्थना करता हूं।

यह मानता हूं कि इस विधान के दुरुपयोग का भय है। किस उत्तमोत्तम पदार्थ के दुरुपयोग का भय नहीं है?

कृष्ण भगवान् ने कहा है,

सर्वारम्भाः हि दोषेण धूमेन अग्निर् इव ऽावृताः।

इस वाक्य के भीतर बैठे हुए अर्थ को पूरा अभिव्यक्त करने के लिये यह व्याख्या भी जोड़नी पड़ती है, अर्थात्,

तथैव गर्भिताः सर्वे गुणैर्धूमो यथा ऽग्निना।

सभी कार्यों मे कुछ गुण रहते हैं, कुछ दोष। द्वन्द्वमय संसार है। अग्नि के साथ धूम लगा हुआ है, तो धूंएं के साथ अग्नि भी। एक समय मे उसी कार्य से गुण अधिक निकलते हैं, दूसरे समय मे दोष; जैसे 'अश्वालम्भ' आदि मे, जिन की चर्चा ऊपर की गई। मर्यादा-स्थापक शासक का, और उस के परामर्शदाता निस्स्वार्थी अनुभवी विद्वानो का, यह काम है, कि सदा सावधान हो कर देखते रहें कि किस मर्यादा से, जिस से पहिले गुण अधिक निकलते थे, अब दोष अधिक पैदा होने लगे हैं, और तब उस को बदल कर दूसरी मर्यादा स्थापन करे। धर्म-परिषत्, 'लेजिस्लेचर', 'मज्लिसि-कानून' का एकमात्र यही कर्तव्य है। सो अब चातुर्वर्ण्य की मर्यादा के तीन हजार उपो-पो-पो-पो-पोप-जातियो मे बिखर जाने से, निश्चयेन ऐसी दशा आ गयी है कि, यदि चातुर्वर्ण्य का सर्वथा नाश इष्ट न हो, उसे बचाना मंज़ूर हो, तो यह नया विधान स्वीकार करना चाहिये।

एक विवाह, तथा विवाह-सम्बन्ध के विच्छेद, के विषय मे विचार

कुछ सज्जनो ने यह सूचना की है कि उपन्यस्त विधान मे ऐसी शर्त बढ़ा देनी चाहिये जिस से एक पत्नी के जीवन-काल मे, इस विधान के अनुसार, दूसरी स्त्री से विवाह न हो सकेगा, तथा यह भी कि विशेष-विशेष कारणो से विवाह-सम्बन्ध का विच्छेद भी हो सकेगा। बम्बई प्रान्त के एक सज्जन का एक लेख, प्रयाग के 'लीडर' अखबार मे, निकला था, जिस मे उन्हो ने यह कहा है कि बम्बई प्रान्त में कई ऐसे विवाह हुए है जिन मे, पहिले बाल्यावस्था मे ब्याही अनपढ़ पुराने चाल की सीधी सादी पत्नी मौजूद होते हुए, उन के पतियों ने, नयी 'ग्रेजुएट' (बी० ए० आदि पास) स्त्रियों के लोभ मे पड़ कर, इन से ब्याह कर लिया है, और पहिली पत्नियों का त्याग कर दिया है, जिस से वे घोर कष्ट मे पड़ी हैं। इस बात पर मैं ने बुद्धि भर, शक्ति भर, ध्यान दिया; मित्रों से भी सलाह की; अन्त मे मेरा विचार यही स्थिर हुआ कि उपन्यस्त विधान मे विवाह-विच्छेद, एक-विवाह, आदि की शर्त बढ़ाने से कोई लाभ न होगा, प्रत्युत हानि होगी।

विवाह-विच्छेद

पहिले, विवाह-विच्छेद-विषयक विचार लिखता हूँ। विवाह-विच्छेद के लिये कोई शर्त रखना उचित नहीं जान पड़ता। जो स्त्री पुरुष अन्तर्वर्ण विवाह करना चाहेंगे, वे प्रायः प्राप्त-वयस्क, बालिग़, सयाने, होंगे, "सारडा ऐक्ट" मे बाधी उमर की हद की (कन्या १४ वर्ष और वर १८ वर्ष से कम न हों) पार पहुँचे होंगे। जब ऐसे स्त्री-पुरुष, स्नेह प्रेम से, विवेक-पूर्वक, आँख खोल कर, आगा पीछा विचार कर, धार्मिक संस्कार की विधि से विवाह करे, तब उन की प्रेमशाला के द्वार पर सम्भवी विच्छेद का विकराल पहरुआ पहिले से खड़ा कर देना कदापि ठीक नहीं। इस विवाह-संस्कार-कर्म का जो प्राचीन आध्यात्मिक आदर्श और प्रभाव है, कि न केवल इसी जन्म मे, अपितु 'आवयोः सर्वदा संगो भवेत् जन्मनि जन्मनि' हम दोनो का जन्म-जन्म मे साथ रहे, यह आत्मोत्कर्षक भाव, इस विकट

चौकीदार को देखते ही भाग जायगा। यह भी याद रखने की बात है, कि विवाह की हृदय-ग्रंथि को काट देने वाली 'तलाक़' 'त्याग' 'डाइवोर्स' की तलवार दुधारी है, और जो धार स्त्री की ओर है वही अधिक निशित है, उस से स्त्री की ही अधिक हानि होने का भय है; 'न पुनरेति गतं चतुर वयः,' 'अचिरस्थायि यौवनम्', 'वयसि गते कः कामविकारः', पुरुष की अपेक्षा स्त्री के रूप मे जीर्णता जल्दी और अधिक आ जाती है, और विगत-यौवना स्त्री के पुनर्विवाह मे कठिनाई होती है। यदि इस हानि से उस की रक्षा करना है, तो उस की जीविका का भार, विच्छिन्न पति के ऊपर डालना होगा; तब नया भय उत्पन्न होगा, जैसा समाचार-पत्रों और पुस्तकों के देखने से मालूम होता है, कि अमेरिका आदि देशो मे यह दशा उत्पन्न हो गयी है, कि अकसर जवान स्त्रियाँ, धनिको को फुसला बहला कर, उन से ब्याह कर लेती हैं; फिर मिथ्या बहानो से तलाक कर के, अदालतों की डिक्रियों के अनुसार, उन से अच्छी-अच्छी बँधी रक़मे, माहाना या सालाना, वसूल करती हैं, और मनमाना भोग विलास और चैन, 'गिगोलो' पुरुषों (नर-वेश्याओं, विटों) के साथ, करती हैं। छपी पुस्तकों और समाचार-पत्रों से मालूम होता है कि अमेरिका के बड़े शहरों मे तो अब यह नौबत आ गयी है, कि सौ विवाह पीछे पचास में तलाक होता है, और समग्र 'युनाइटेड स्टेट्स' का अनुपात, सात विवाह पीछे एक तलाक, यानी पंद्रह फी सदी है। यह सब दशा तो अपने विधान के लक्ष्य के नितरां विरुद्ध है। अपना मंशा तो यह है कि पति-पत्नी का, कुल-कुटुम्ब का, समस्त हिन्दू समाज का, परस्पर सम्बन्धन अधिक दृढ़ हो, न कि शिथिल। त्यागों तलाक़ों की वृद्धि से तो यह सम्बन्ध, व्यूहन, ग्रंथन, बहुत दुर्बल हो जायगा।

ज़रूर है कि बीच-बीच मे ऐसे मामिले होते रहे हैं, हो रहे हैं, होते रहेंगे, जिन में पति-पत्नी मे किसी कारण से अनबन हो कर सहवास असह्य हो जाता है। पर 'सर्वारम्भाः हि दोषेण', 'नास्ति कोऽपि खलु तादृग् उपायः सर्व-लोक-परितोष-करो यः', कोई भी प्रबन्ध किया जाय, ऐसा नहीं होगा कि उस से सुख-ही सुख निकले, कोई उपाय ऐसा नहीं है जो सब मनुष्यों

का एक साथ संतोष कर सके। मेरी समझ मे यही आता है कि, त्याग-तलाक़ को सुकर बनाने मे बहुत अधिक दोष है, बहुत अधिक सामूहिक कष्ट है, और दुष्कर बनाने मे कम। बुद्धिमानी यही है कि कम कष्ट की राह पकड़ी जाय। समाज के आगे यही आदर्श सदा रक्खे रहना अच्छा है, कि जो स्त्री-पुरुष परस्पर विवाह करना चाहें, उन को गम्भीर भाव से, धार्मिक संस्कार के भाव से, यह दृढ़ निश्चय कर के, कि आ-मरण, अथ किम् उसके बाद भी, एक दूसरे के साथ स्नेह प्रीति से निर्वाह करना है, उस स्नेह प्रीति को आत्म-विनयन से, एक दूसरे की भूलों के संमर्षण से, परस्पर गुणोद्बोधन और दोषाच्छादन से, सदा बुद्धिपूर्वक बढ़ाते रहने का यत्न करना है, और सन्तान के सुख के लिये अपना स्वार्थ सदा बहुत कुछ त्यागना है—ऐसा दृढ़ निश्चय कर के विवाह करना चाहिये, न कि छिछोरी, क्षुद्र, बुद्धि से, कि परस्पर की क्षणिक काम-वासना को पूरा करने के लिये, केवल एक दूसरे के शरीर के स्पर्श का सुख अनुभव कर लेने के लिये, आज विवाह और कल अति-तृप्ति-जनित परस्पर ग्लानि से तलाक़ के लिये। इस प्रकार की अति तृप्ति और परस्पर ग्लानि उन लोगों के चित्तों में बहुत जल्दी आ जाती है, जो स्त्री-पुरुष के विवाह मे कोई आध्यात्मिक भाव, रूहानी जज़बा और फ़ायदा, 'स्पिरिचुअल वैल्यू', नहीं देखते, प्रत्युत उस को केवल शारीर सम्बन्ध ही जानते मानते हैं, तथा, आज के समय मे प्रचलित, पश्चिम देश मे आविष्कृत, नूतन उपायों से अतिमात्र सन्ताननिरोध कर लेते हैं। निश्चयेन अति संतान से भी अति कष्ट होता है; पर अतिमात्र सर्वथा सन्ताननिरोध से, स्त्री पुरुष दोनो की प्रकृति स्वार्थमय और द्रोहमय हो जाती है, जिस से अधिकतर कष्ट अन्ततो गत्वा होता है। यदि पश्चिम की दासता मे पड़ जाने के कारण, इस देश के भाग्य मे यही लिखा है कि यहाँ भी यह सब अति-तीव्र अनुभव, दुःख के (भी, तथा सुख के भी, पर सुख के बहुत कम, दासता के कारण), भोगना लाज़िमी है, तो भोगे जायंगे। पर इस उपन्यस्त विधान को ऐसे अनुभवों का साधन बनाना उचित नहीं है। उचित यही है कि विवाह-सम्बन्ध का और कौटुम्बिक जीवन का, वही प्राचीन वैदिक, आध्यात्मिक,

धार्मिक, सांस्कारिक आदर्श यहाँ बना रहे; पाश्चात्य देशों का भाव नहीं, कि विवाह केवल लौकिक, आधिभौतिक, सावित्क, (संवित्-सम्बन्धी, मोआहिदी, 'कांट्रैक्चुअल'), या सांकेतिक, सामयिक, 'औपयिक' (सीता ने कहा है, "नऽहं औपयिकी भार्या", शारीर कामवेग को तृप्त करने की उपाय-मात्र), 'पाणिक', वाणिजिक, (आपस के संकेत, समय, 'पण', वाणिज्य, 'बिजिनेस-कांट्रैक्ट', लेन-देन, तिजारती क़ौल क़रार, मुआहिदा की बात), "अपरस्पर-सम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्" (गीता), व्यवहार है। इस नवीन पाश्चात्य भाव से हमारा कल्याण नहीं।

भारतवर्ष की प्राचीन धारणा इस विषय में यह है कि, जैसे चिनगारी का (आजकल दियासलाई का) कार्य इतना ही है कि वह दीपक बाल दे, वैसे ही दो शरीरों के विवाह और क्षणिक 'रति' का प्रधान कार्य यह है, कि दो हृदयों मे, चित्तों मे, जीवों मे आध्यात्मिक स्नेह प्रीति के चिरस्थायी, सत्वप्रकाशक, जीवनोद्योतक दीपक बाल दे; 'अग्निहोत्र' के 'गार्हपत्य अग्नि' को बालना और बलते रखना—इस का भी एक अर्थ यह भी है।

> न गृहं गृहमित्याहुः; गृहिणी गृहमुच्यते ;
> न गृहेण गृहस्थः स्याद्, भार्यया कथ्यते गृही ;
> यत्र भार्या गृहं तत्र, भार्याहीनं गृहं वनं ।
> एतावानेव पुरुषः यज्जायाऽऽत्मा प्रजा इति ह ;
> विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृतांगना (मनु०);

घर को घर नहीं कहते, घरवाली को घर कहते हैं; घर से घरवाला नहीं होता; जहां भार्या नहीं वह गृह भी वन है। अकेला पुरुष, पुरुष नहीं; पिता, पत्नी, पुत्र, तीनो मिल कर पूरा पुरुष बनता है।

सब धार्मिक सम्प्रदायों मे सब से पवित्र और मीठे नाम हैं—'जगत्पिता' परमेश्वर, 'जगज्जननी' प्रकृति; दोनो का 'अपत्य', मानव है।

पिताऽहं अस्य जगतः, माता, धाता, पितामहः। (गीता)

इसी हेतु से मनु की आज्ञा है कि पिता, माता, प्रजा, तीनो मिल कर एक सम्पूर्ण पुरुष बनते हैं; किसी एक के बिना, अन्य दोनो खंडित

असम्पूर्ण रहते हैं; तत्रापि विशेष कर पति-पत्नी एक ही हैं, जो वह सो वह, उन मे भेद नहीं, परस्पर अर्धांग-अर्धांगिनी। ऐसे आदर्श के साथ, आरम्भ मे ही, परस्पर त्याग-तलाक़ के सम्भव को लगा देना, किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता। 'प्रथम-कवले मक्षिकापातः'।

हा, जो ऐसी ही विशेष कर्कश स्थिति हो, कि पति-पत्नी का किसी प्रकार परस्पर निर्वाह नही ही हो सके, तो उन के लिये स्वय स्मृतियों ने, उत्सर्ग के अपवाद रूप से, प्रबन्ध कर दिया है, कि ऐसी अवस्था मे वैवाहिक ग्रन्थि तोड़ दी जाय, पति के ऐसे ऐसे दोषों से पत्नी के इन इन दोषों से, विवाह-बंध-मोचन कर दिया जाय, तथा इन इन अवस्थाओं मे विच्छिन्ना पत्नी का भी भरण पोषण कराया जाय। यदि बिरादरियों की पंचायतें अपना कर्तव्य सच्ची नेकनीयती और धर्मबुद्धि से करने लगें, और उक्त स्मृतियों के वाक्यों से काम लेवें, और स्त्री, पुरुष, और अपत्यों के हक़ों की, और जीविका की, उचित रक्षा का प्रबन्ध कर के, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का, ऐसी विशेष असह्य दशाओं मे, विच्छेद कर दे, तो ऐसे निर्णय सर्वमान्य होंगे।

वर्तमान अवस्था मे जब सब प्रकार के अधिकार गवमेंटी नौकरों और कचहरियों के हाथ मे आ गये हैं, इस विषय मे अदालतें बहुत कुछ सहायता दे सकती हैं। यदि किसी पुरुष ने अपनी पत्नी का त्याग, बिना उचित कारण के, कर दिया है, तो अदालत का काम है कि उस स्त्री को पति से पर्याप्त जीविका दिलावे, बिना इस शर्त के कि पत्नी ख़ाह-म-ख़ाह अपने पति के साथ सहवास करे। और ऐसे निर्णय करने मे प्राड्विवाक, मुजव्विज, को उस बिरादरी की पंचायत के वृद्ध स्त्री पुरुषों से सहायता मिल सकती है, जो उन स्त्री-पुरुष की रहन-सहन से वाकिफ़ हों। पर यदि सारे देश की मानस हवा बिगड़ी है, भाव दूषित हैं, और स्वयं न्यायाधीश ही निष्पक्ष नहीं हों, और पहिले से ही मन मे निश्चय कर लिये हों, कि स्त्रियों के ख़िलाफ़ या पुरुषों के ख़िलाफ़ ही ऐसे मामिलों मे निर्णय करना चाहिये, तब तो कितनी भी सूक्ष्मेक्षिका कर के क़ानून के शब्द फूँक फूँक कर रक्खे जाँय, कोई नतीजा नहीं निकलेगा, सिवा इस के

कि, बाल की खाल निकाली जाय, शब्दों की खींचा-तानी तोड़-मरोर की जाय, वकीलों की बहसें और लम्बी हों, तजवीजें और ज़्यादा लंबी लिखी जाँय, वादी-प्रतिवादी फरीक़ैन की और ज्यादा बरबादी, अदालती रसूम और अहलकारी शुक्राना और जब्राना और वकीली मिहनताना देते देते, और 'ला-रिपोर्ट्स' का हजम, परिमाण, अधिक भारी हो। एक ऐसा मुक़द्दमा हाल मे, काशी मे, हुआ है जिस मे, एक मृत सब-जज को विधवा को उस के सौतेले बेटे के खिलाफ़, केवल पांच रुपया मासिक 'नान-व-नफ़का', 'रोटी कपड़ा', को डिक्री, एक ज़िन्दा सब-जज ने दी, यद्यपि मृत सब-जज ने कई लाख की जायदाद छोड़ी थी।

ऐसी वजहों से यही मुनासिब मालूम होता है कि विवाह-सम्बन्ध तोड़ने या न तोड़ने का निश्चय, स्त्री-पुरुष के शुभचिन्तकों और रिश्तेदारों की पंचायत पर ही छोड़ना चाहिये; कचहरियों पर नहीं। जब ऐसी पंचायत (जिस मे आदृत सम्मानित अनुभवी कुटुम्बिनी महिलाओं को अवश्य सम्मिलित होना चाहिये) निर्णय कर दे, कि स्त्री का दोष नहीं और पुरुष ऐसा नालायक़ है कि उस के साथ स्त्री का रहना असम्भव है, और स्त्री के जीवन के निर्वाह के लिये पुरुष को इतना इतना मासिक या वार्षिक देना चाहिये, और पुरुष इस फैसले को न माने, तब स्त्री अदालत मे भले ही उसी फैसले के भरोसे, नान-व-नफ़का की नालिश कर सकती है, और मुजव्विज को जब तक कोई खास सबब उस पंचायती फ़ैसले के खिलाफ़ मालूम न हो, उसी के अनुसार डिक्री देना चाहिये। यदि पंचायत के सामने सिद्ध हो कि पत्नी का दोष है, पति का नहीं, तो पति उस को अलग कर दे सकेगा, और दूसरा विवाह करने की अनुमति भी पा सकेगा; किंतु यदि पहिली पत्नी व्यभिचारिणी न हो, तो उस को रोटी कपड़ा देता रहेगा। काशी की एक ऐसी बिरादरी मे, जिस मे से चिरकाल से बहु विवाह की प्रथा उठ गई है, कुछ वर्ष हुए, एक युवा की पत्नी को ऐसा रोग हो गया जिस से वह बिल्कुल अपाहज हो गई, चारपाई से उठने योग्य न रही; पंचायत से अनुमति ले कर उस युवा ने उसी की छोटी बहिन से विवाह

कर लिया और उस की भी बीमारदारी अंत तक करता रहा।

पहिले लिखा गया है कि भारतवर्ष का प्राचीन आदर्श यही था कि पति-पत्नी का संग जन्म-जन्म से बना रहे। प्रसक्त अधिकरण के अन्त मे पुनः कुछ वेद-मंत्रो का उद्धरण करता हूँ जिन से भी यही आशय निकलता है कि कम-से-कम इस जन्म मे तो विवाह का विच्छेद न हो—

> ध्रुवा द्यौः, ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवं विश्वं इदं जगत,
> ध्रुवा सपर्वता मही, ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयं।
> इह धृतिर्, इह स्व-धृतिर्, इह रतिर्, इह रमस्व;
> मयि धृतिर्, मयि स्वधृतिर्, मयि रमो, मयि रमस्व;
> यद् एतद् हृदयं तव, तद्अस्तु हृदयं मम,
> यदिदं हृदयं मम, तदस्तु हृदयं तव,
> अन्नपाशेन मणिना, प्राणसूत्रेण पृश्निना,
> बध्नामि सत्यग्रन्थिना, मनश्च हृदयं च ते। (वे०)

जैसे आकाश, पृथ्वी, यह सब विश्व, पर्वत-सहित मही, ध्रुव हैं, वैसे पति के कुल मे पत्नी ध्रुव हो, स्थिर हो। यहीं तुम धृतिमती हो, अपने को, आत्मा को, पहिचानो, और उस मे निष्ठित हो; हम तुम यहीं एक-दूसरे मे रमे, मेरा तुम्हारा हृदय एक हो, अन्न के, मणियों के, विविध गोधन के, सूत्रों और पाशों से तुम्हारे और अपने मन को और हृदय को, सत्य की गाँठ मे बांधता हूँ।

एक-विवाह की व्यवस्था

बम्बई तथा अन्य प्रान्त के कुछ शिक्षित पुरुष, शिक्षित युवतियों के प्रलोभन से अपनी पहिली बाल्यावस्था की ब्याही अशिक्षित पत्नियों का, निर्दयता से, त्याग कर के, उन के जीते जी, नवशिक्षित स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं; और स्त्रियां भी, नवशिक्षित होती हुई भी, पहिली पत्नियों की मौजूदगी और उन के त्याग का हाल जान कर भी, ऐसे ब्याह कर लेती हैं— ऐसा अनाचार अ-सद्-आचार अवश्य ही अनिष्ट है, सत्पुरुषों के आचार के विरुद्ध है। भारतवर्ष का प्राचीन आदर्श यही है कि यदि माता वा अन्य गुरुजनो, वृद्धों, अपने शुभचिन्तकों, की भूल से भी, बाल्यावस्था मे

किसी ऐसी कन्या से विवाह कर दिया गया है जिस से आगे चल कर यौवन-काल मे पुरुष का मन नहीं भरता, तौ भी उस का निर्वाह करना ही चाहिये, अपने मन का निग्रह करना ही चाहिये; उस पत्नी को ईश्वर की सौंपी घरोहर समझ कर अपने मनोऽनुकूल बनाने की, शिक्षित-संस्कृत करने की, उसको ईश्वरकृत अपनी परीक्षा का उपकरण मान कर, अपने और उस के, दोनों के, आत्म-विनयन की कोशिश करनी चाहिये। आदर्श तो यह है। पर इस आदर्श को व्यवहार मे लाने के लिये, स्वयं पुरुष को बहुत ऊंचे दर्जे का सुसंस्कृत, सुशिक्षित, अध्यात्म-विश्वासी होना चाहिये। ऐसे लोग, विशेष कर नयी पाश्चात्य शिक्षा और भावों के प्रभाव से, कम होते जाते हैं। 'वरं अद्य-कपोतः, श्वो-मयूरात्', 'ए बर्ड इन् दि हैंड इज़ वर्थ टू इन् दि बुश',[१] यह न्याय संसार मे अधिकाधिक जोर कर रहा है। 'आज का चैन साधो, कल की कल देखी जायगी'; हिन्दी के कवि भी कह गये कि 'खाये खरचे जो बचै तो जोरिये करोर', यद्यपि यह भी उनको कहना चाहता था कि 'खरचै जो बिनु समुझ तौ जाय कुबेर निचोर'। निष्कर्ष यह कि ऊंचा आदर्श सामने तो रखना ही चाहिये, नहीं तो अधिकाधिक नीचे ही गिरते जायंगे; पर यह भी याद रखना चाहिये कि ऊंचे आदर्श के पास पहुंचना कठिन है; 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्' ही कर सकता है। इस लिये मध्यम श्रेणी की प्रकृति की आवश्यकताओं की पूर्ति का यत्न व्यवहारतः करने से अधम तो मध्यम की ओर खिचेंगे, और मध्यम को उत्तम, अपनी ओर, स्वभावतः खींचते रहेंगे; उत्तम के लिये विशेष विधि निषेध का प्रयोजन नहीं है।

इन मूल सूत्रों (सूचनात् सूत्रम्) 'प्रिंसिपल्स'[२] ('प्रिंसिपियम्' आदि, अस्ल, मूल) सिद्धांतों को मन मे रख कर यह विचारना चाहिये कि इन से प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर के लिये क्या व्यावहारिक सूचना मिलती है। वस्तु-स्थिति को पहिले निश्चय करना चाहिये। जिस प्रकार के द्वितीय विवाहों की बम्बई प्रांत के सज्जन ने चर्चा की, क्या वैसे मामिले बहुत होते हैं?

१ A bird in the hand is worth two in the bush.

२. Principles,

यदि बहुत होते हैं तो, उपन्यस्त विधान मे एतद्विषयक निषेध की शर्त न बढ़ाने से, क्या ऐसी घटनाएं और भी बढ़ेगी ? इन दोनो उप-प्रश्नो का यदि उत्तर हो कि हां, तब तो निश्चयेन उपन्यस्त विधान मे संशोधन करना उचित होगा; अन्यथा नहीं । जहां तक जाच-खोज कर सका हूँ, ऐसा विश्वास करने के लिये कोई पर्याप्त हेतु नहीं है, कि ऐसे द्वितीय विवाह बहुत होते हैं, या उपन्यस्त विधान से इन की संख्या बढ़ेगी ।

नया विधान अठाईस कोटि संख्या वाले हिंदू समाज की दृष्टि से बनाना चाहिये । सौ दो सौ, या हज़ार दो हज़ार भी, ऐसी घटना हों, जो सचमुच 'अपवाद' रूप हैं तो, उन की बुनियाद पर एक नया 'उत्सर्ग', नया नियम कानून, नहीं बना देना चाहिये, जिस से अवशिष्ट कोटियों की प्रगति और उन्नति मे कुछ भी बाधा पड़े ।

इस समय, हिन्दू समाज और हिंदू धर्म के सर्व-शरीर-व्यापी क्षय-रोग की सब से उत्तम औषध और उन का एक मात्र अभीष्ट साध्य, यही जान पड़ता है कि, अंतर्वर्ण-विवाह, धर्म्य, जायज, प्रामाणिक, धर्माविरुद्ध सिद्ध हो जाय । इस भेषज के साथ ऐसा कोई अनुपान लगा देना उचित नहीं है जिस से उस के प्रभाव और प्रयोग मे कुछ भी संकोच, कुछ भी प्रतिबंध, पड़ जाय ।

हिंदू समाज मे, एक दो ही नहीं, बहुत से अनाचार हो रहे हैं, जैसा कई वेर पहिले कह चुका । सत्तर अस्सी वर्ष पहिले तक, बंगाल के कुलीन ब्राह्मणो मे, पुरुषो के पचास-पचास और सौ-सौ स्त्रियों से विवाह होते थे । युवावस्था मे मै ने, पचास वर्ष पहिले, एक सामाजिक हिन्दी पुस्तक मे पढ़ा था, कि कुछ समय पहिले, एक कुलीन के अस्सी और एक के डेढ़ सौ विवाह हुए थे । ऐसे 'भाग्यशाली' जामाताओ की जीविका ही यह होती थी कि श्वशुरालयो मे दो-दो, चार-चार, आठ-आठ दिन ठहरते हुए, भोजन-मैथुन करते हुए, अपनी उमर बिता दें । पत्नियाँ पति के घर मे नहीं, पिताओं के घर मे ही रहती थीं । बहुत वर्ष हुए एक सज्जन मित्र से सुना कि वे बम्बई गये थे; वहाँ एक जान पहिचान के पुरुष से बातचीत चली; 'बम्बई तो बड़े रोज़गारियों धनवानों का शहर है, कौन

सब से अधिक सुखी है ?'; बम्बई-निवासी मित्र ने कहा, 'मगरू ग्वाला का नर-भैंसा और वल्लभ-कुलियों का गुरु 'महराज'; नित्य उत्तम भोजन और नित्य नया मैथुन —यह सुख इन्हीं दो को है'। मध्य युग मे बहुतेरे ईसाई पादरियों का यही हाल था; विवाह नहीं करते थे, अनुयायियों के घरों मे व्यभिचार मनमाना। काल के प्रवाह से यह सब दारुण अनाचार कम होते जाते हैं, पर उन के स्थान पर नये प्रकार के दुराचार पैदा होते जाते हैं। राजा रजवाड़ों मे अब भी बहुत बहु-विवाह होते हैं; इस के अलावा, बड़े-बड़े 'अवरोध', 'हरम', 'स्त्री-गृह' भी होते हैं, जहाँ सैकड़ों रखेलियाँ सहेलियाँ रक्खी जाती हैं। कई वर्ष हुए, कुंवर मदन सिंह जी के कई लेख काशी के दैनिक 'आज' मे छपे थे, जिन मे ऐसी बातों का त्रासकारी और घृणाकारी वर्णन किया था। ऐसे 'अवरोधों' मे सब प्रकार के व्यभिचार भी, और हत्याएँ भी होती थीं; और अब भी होती ही होगीं। प्रायः पैंतीस वर्ष हुए, (१६०३—१६०६ ई० मे), कई रियासतों मे घूमने का मुझे अवसर हुआ। कई जगह, रनवास के नीचे, दीवार से मिले, बड़े-बड़े तालाब देखे; वहाँ के आदमियों ने कहा कि इन मे मगर हैं;यदि राजा किसी स्त्री पर व्यभिचार आदि की शंका से क्रुद्ध हुए, तो खिरकी से तालाब मे वह गिरा दी जाती थी; इत्यादि। वात्स्यायन के काम सूत्र मे भी, (और 'अलिफ़ लैला' मे भी, जिस मे, बहुत सी झूठी कथा के साथ, उस समय की अवस्था का यथातथ वर्णन भी बहुत कुछ है), दिखाया है कि कैसे 'सुरक्षित' अव-रोधों मे भी व्यभिचार होता ही था; मुग़ल बादशाहों, तथा अन्य पूर्वीय पश्चिमीय देशों के शाहनशाहों, सुलतानों, राजाओं के महलों मे भी, कम बेश, यही हालत रही है। और, वह तो दूर की बातें हैं, आजकाल भी, राजाओं की, नवाबों की, रियासतों मे जो घोर पाप हो रहे हैं, तथा, उस से स्यात् कुछ कम मात्रा मे, अन्य धनाढ्य घरों मे, मठों मे, तीर्थ स्थानो मे भी, वे सब, थोड़ा सा ही दर्याफ्त करने से, मालूम हो जाते हैं; अथवा, यह कहना चाहिये, कि सभो मध्यवयस्क आदमियों को विदित हैं ही। गाँव गाँव मे, शहर शहर मे, तरह तरह के व्यभिचार, कुछ स्त्रियों के आरंभ किये, कुछ पुरुषों के आरंभ किये, हो रहे हैं; नये प्रकार

की प्रच्छन्न वेश्याएँ भी बड़े शहरों मे बढ़ रही हैं; बल्कि पुराने चाल की, तौर्यत्रिक मे, वाद्य, गीत, नृत्य कलाओं मे, प्रवीण, प्रकट वारागंना कम हो रही हैं; सिनेमा आदि के प्रभाव से। इन सब पापों के परिशोध का यत्न करना नितात आवश्यक है। पर, उपन्यस्त विधान मे इन सब के संबंध मे शर्त बढ़ाना तो स्पष्ट ही किसी को भी उचित और सुप्रसक्त नहीं जान पड़ेगा। उक्त द्वितीय विवाह को भी इसी कोटि मे डालना चाहिये, और इन के परिशोध का यत्न अलग करना चाहिये; वह भी, पूर्वऽपर को, कार्य-कारण को, बहुत विचार कर के। आजकाल, पच्छिम मे, रोज़ नये क़ानून बनाने, बिगाड़ने, का शेवा हो रहा है। ब्रिटेन मे १६१६ से १६३० तक, बारह वर्ष मे प्रायः आठ सौ कानून बने, जो प्रायः आठ हज़ार पृष्ठों पर छपे हैं। जल्दबाजी से, बिना दूर-अन्देशी के, एक फुंसी पर तेज़ाब डाल दिया; फुंसी तो जल गयी, पर जलन से दूर दूर तक नसों मे विकार पैदा हो गये; अब एक-एक नस के विकार की अलग अलग चिकित्सा होने लगी, अनर्थ-परम्परा बढ़ती ही गयी। जल्दबाज़ी के 'लेजिस्लेशन' का यही नतीजा होता है।

जब बीमारी सारे शरीर मे व्याप्त हो गयी है, और एक एक अंग प्रत्यङ्ग में तरह तरह के विकार देख पड़ते हैं, तो एक एक विकार की अलग अलग चिकित्सा करने का यत्न व्यर्थ है। 'हमा तन दाग दाग शुद्, पुम्बा कुजा कुजा निहम्'। हजारों फोड़े देह मे भर गये हैं, एक एक पर फाहा कहाँ तक रखा जायगा। 'तनक़ीया' करना चाहिये, 'मुन्ज़िज' देना चाहिये, 'कायाकल्प' करना चाहिये, 'आल्टरेटिव' पिलाना चाहिये, ऐसे भेषज का प्रयोग करना चाहिये जिस से स्नेहन, स्वेदन, लेखन, सारण, वमन, विरेचन हो कर, रक्तशोधन हो कर, समस्त शरीर का पुनर्नवीकरण हो जाय, 'कास्टिट्यूशन आल्टर' हो जाय, बदल जाय, दूसरा, नया, हो जाय।

पचास वर्ष से विचार करते-करते, 'कारणं चिकित्स्यं, न तु कार्यं', 'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिताः मलाः', इन सूत्रों पर ध्यान देते देते, मेरी बुद्धि मे तो यही बैठा है, कि जिस स्वार्थ-बुद्धि, भेद-बुद्धि, परस्पर-द्रोह-बुद्धि, मिथ्या-बुद्धि से आज तीन सहस्र खंडों मे यह 'हिन्दू'-नामक

समाज छिन्न-भिन्न हो रहा है, यह दूषित बुद्धि ही इन सब उपर्युक्त दोषों और रोगों का एकमात्र निदान कारण है, और उस के शोधन से, वर्णाश्रम-धर्म का शोधन हो कर, सब रोग स्वयं शांत होंगे, कम हो जायँगे—जहाँ तक ऐसा कम होना, शांत होना सम्भव है; क्योंकि सब दुःख, सब शोक, सब पाप, संसार से उठ जाय, यह तो 'न भूतो, न भविष्यति', न कभी हुआ, न होगा।

अन्तर्वर्ण-विवाह से कई आपत्तियों का निवारण

जिन कुल कुटुम्बों मे अन्तर्वर्ण-विवाह की चर्चा स्वप्न मे भी नहीं हुई है, उन मे से कितनी ही विधवा या अविवाहिता युवती, प्रतिवर्ष, हज़ारों की ही संख्या मे, अपने ही घर के पुरुषों द्वारा भ्रष्ट हो कर, घर से, घोर निर्दयता से, निकाल दी जाती हैं, और जीते जी तरह तरह के नरकों मे झोंक दी जाती हैं; इन की यातना के आगे उन स्त्रियों की संख्या कितनी है, और उन का दुःख क्या है, जिन के पतियों ने दूसरा विवाह कर लिया है, पर पहिली स्त्री को जीविका देने के लिये अदालत से मजबूर किये जा सकते हैं ?

यदि अन्तर्वर्ण-विवाह का सिद्धान्त देश मे फैले, तो धीरे-धीरे ऐसी भयंकर घटनाएं भी कम हो जायंगी।

विचारने की और भी बातें हैं। अत्यधिकांश हिंदू आज भी ऐसे ही हैं जिन की एक ही पत्नी है। बहुत अल्पसंख्यक धनाढ्यों की, राजाओं की, कई-कई पत्नियां होंगी। आर्थिक कष्ट, बे-रोज़गारी, ऐसी हो रही है कि एक भार्या का भरण भी कठिन हो रहा है, विवाह का वयस्, इसी हेतु से, मध्यवित्त वर्ग मे 'सारडा-विधान' के भी आगे, आप से आप बढ़ा जा रहा है; युवती स्त्रियां भी, स्वतन्त्र रोटी कपड़ा कमाने की चिंता मे, पाठशाला आदि की नौकरियां खोज रही हैं और उठा लेती हैं, और विवाह करने से रुकती हैं, क्योंकि विवाहिता को, ऐसी नौकरी के कर्तव्य निबाहना कठिन होता है; पढ़े-लिखे युवा पुरुष, लाखों की संख्या मे बेकार हो रहे हैं, और ब्याह करने से हिचकते हैं, अपने खाने का ठिकाना नहीं, पत्नी को और बच्चों को क्या खिलावेंगे ? ऐसी दशा मे, जब प्रथम

विवाह ही मध्यवित्त पुरुष के लिये कठिन हो रहा है, तब उक्त दूषित अभियुक्त प्रकार के द्वितीय विवाहों की संख्या निश्चयेन न-गण्य होगी; उन के विचार से इस विधान मे विशेष 'समय' अर्थात् शर्त बढ़ाना उचित नहीं, उन के लिये सामाजिक भर्त्सना और आक्रोश पर्याप्त है, इसी से वे धीरे-धीरे कम होते जायंगे। और भी, अशिक्षिता स्त्रियों का सुशिक्षित पुरुषों से विवाह भी धीरे-धीरे असम्भव हो रहा है, और थोड़े ही दिनो मे सर्वथा असम्भव हो जायगा; इस लिये भी ऐसे विशेष समय की, शर्त की, ज़रूरत नहीं। रहा यह कि, परस्पर मनमुटाव से, वैमनस्य से, त्याग—यह तो किसी भी अवस्था मे सम्भाव्य रहेगा ही; उस का प्रतीकार इतना ही होना चाहिये, और आज भी कानूनन् हो सकता है, कि यदि स्त्री निर्दोष है तो उस की जीविका, पर्याप्त मात्रा मे, पुरुष दे।

जापान ऐसे स्वतन्त्र, स्वाधीन, पराक्रमी, पुरुषार्थी, सुसंहत, देश मे भी, जब विवाह के सम्बन्ध मे उथल पुथल हो रही है, तो भारतवर्ष ऐसे अभागे देश का क्या कहना ? जापान के भी आदर्श, विवाह के, गार्हस्थ्य के, और स्त्री-कर्तव्य के पुरुष-कर्तव्य से भिन्न होने के, विषय मे, वैसे ही थे जैसे भारतवर्ष के। पर, 'यंत्र'-देव के अवतार के कारण, और उस की फलभूत, सहगामिनी, नयी 'यंत्रप्रधान' सभ्यता के आगमन के कारण, वहाँ भी वह सब पुराने आदर्श प्रायः अव्यवहार्य हो गये हैं। आमदनी काफी न होने से पुरुष जल्दी ब्याह नहीं करते; लड़की वाले अल्पवित्त माता-पिता को, बहुत वर्ष तक अनब्याही लड़कियों को अपने घर मे रखना बोझ होता है, लड़कियाँ, मजबूरन्, नौकरी मज़दूरी आदि, पैसे कमाने का कोई काम ढूंढ़ती हैं, जापान मे बहुसंख्यक और वर्धमान कल के कारखानों मे, तथा वहां की गवर्नमेण्ट और नेताओं की दूरदर्शिता के और प्रजाभक्ति के कारण बनायी गयी अन्य बहुत प्रकार की रोज़गारी संस्थाओं मे, ऐसी लड़कियों को भी, लड़कों के साथ, काम बहुत कुछ मिल जाता है; तथा उन के खाने, पीने, सोने, लिखाने पढ़ाने, और सब प्रकार क रक्षा, का भी पर्याप्त प्रबन्ध होता है, और मज़दूरी इतनी पूरी दी जाती है कि उस मे से, सब खाने पहिनने का खर्च देने के बाद भी,

अच्छी रक़म बच जाती है। यही रक़म उन लड़कियों का स्वतो-दत्त यौतुक, दहेज, जहेज़, होता है, और इस के बल पर वे अपना विवाह स्वयं ठीक कर लेती हैं।

भारत की दशा दूसरी है। आजकाल यहाँ भी यह विचार और भाव उठा है, कि स्त्रियों को भी 'आर्थिक स्वतन्त्रता' होनी चाहिये। ठीक है; पर जो ही अवस्था एक दृष्टि से 'आर्थिक स्वतंत्रता' जान पड़ती है, वही दूसरी दृष्टि से 'आर्थिक दासता' मालूम होती है। ज़रूर, बहुवित्त और मध्यवित्त कुलों मे भी यदि स्त्रियों को पैसे पैसे के लिये तरसना हो, और पुरुषों का मुंह ताकना हो, तो घोर अन्याय है। भारतवर्ष मे, सभी सद्भावों के, सदाचारों के, भ्रंश के कारण, स्यात् ऐसा अन्याय बहुत घरो मे होता होगा; बहुतेरों मे ऐसा नहीं भी है; प्रत्युत, स्त्रियों के हाथ मे, पुरानी स्मृतियों की आज्ञा के अनुसार, जहा पति-पत्नी मे यथोचित परस्पर स्नेह प्रेम विश्वास है, सब, या पर्याप्त अंश मे, आमदनी दे दी जाती है; पर अल्पवित्त, किं वा दरिद्र, घरों मे तो (और नब्बे फ़ी सदी हिंदू अति दरिद्र ही हैं), मियां-बीबी दोनो, बेचारे, बल्कि छोटे बच्चे भी, सुबह से शाम तक पिसते रहते हैं, और तिस पर भी दो वक़्त की रोटी नहीं पा सकते; ऐसों के लिये, अलग अलग कमाते हुए भी, 'आर्थिक स्वतन्त्रता' और 'आर्थिक दासता' मे कोई भेद नहीं।

देश मे शिक्षा फैले, रक्षा फैले, जीविका फैले, इस लिये 'पुरोहित', धर्मऽाम्नाता, 'लेजिस्लेटर्', चुने माने जाते हैं, तथा राजा बनाये जाते हैं; व्यापारी रोजगारी के पास धन-धान्य का संचय होने दिया जाता है; उन के निजी ऐश आराम ही के लिये नहीं।

हिताय राजा भवति, न कामकरणाय तु।
षड् एतान् पुरुषो जह्याद्, भिन्नां नावम् इव ऽर्णवे,
अप्रवक्तारं आचार्यं, अनधीयानं ऋत्विजम्,
अरक्षितारं राजानं, भार्यां च ऽप्रियवादिनीम्,
ग्रामकामं च गोपालं, वनकामं च नापितम्।
लोकरंजनं एव ऽत्र राज्ञां धर्मः सनातनः;

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्याः महीक्षिता ।

(म० भा०, शान्ति०, अ० ५६)

अरक्षितारं राजानं, बलि-षड्भागहारिणम्,

तं आहुः सर्वलोकस्य समग्र-मल-हारकम् । (म०)

जो पुरोहित पढ़े पढ़ावे नहीं, सच्चा उपयोगी ज्ञान न सीखे न सिखावे, जो राजा टैक्स, कर, ले, पर रक्षा न करे, चातुर्वर्ण्य के धर्मों का पालन पोषण न करे, जो ऋत्विक् अपना कर्मकांड न जानता हो, जो भार्या नितान्त कलहिनी कटु-भाषिणी हो, जो ग्वाला पशुओं को चराने के लिये जंगल मे जाने से हिचकता हो और गाँव के भीतर बस्ती मे ही घुसा रहता हो, और जो नापित हजाम जंगल मे ही घूमा करता हो—इन छः को त्याग देना चाहिये, निकाल देना चाहिये; जैसे टूटे वहित्र को नाविक और यात्री समुद्र मे छोड़ देते हैं । जो राजा, प्रजा से कर लेता है, और प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह कर नहीं खाता, बल्कि समग्र प्रजा की विष्ठा खाता है । शेख़ सादी ने भी, अपने प्रसिद्ध काव्य बोस्तां मे, यही आशय प्रकट किया है,

चो दुश्मन् ख़रे रोस्ताई बरद्,

मलिक् बाजो-दह्यक् चिरा मी ख़ुर्द ?

अगर काश्तकार के हल बैल ख़च्चर गधे को, चोर डाकू मनमाना उठा ले जायं, तो राजा किस वास्ते 'बाज' और 'दह-यक्', कर, खाय ?

निष्कर्ष यह कि महासम्राट् सार्वभौम चक्रवर्ती से चौकीदार पटवारी तक, महामहोपाध्याय आचार्य से गांव के छोटे 'मास्टर' तक, कोटिपति से छोटे दूकानदार तक की सत्ता का उद्देश्य यही है, कि समस्त प्रजा सुखी रहे, शिक्षित, रक्षित, पोषित रहे, और घर घर मे स्त्रियां और बच्चे हंसैं खेलैं । यह सब तभी हो सकता है जब प्रत्येक वर्ग के—शिक्षक वर्ग, रक्षक वर्ग, धनधान्योत्पादक वर्ग, श्रमिक वर्ग के—अनुभवी वृद्ध एकत्र हो कर, लोकहित की बुद्धि से, समग्र समाज की व्यवस्था करें । उस व्यवस्था का, इस देश के स्वदेशी प्राचीन विचारों के अनुसार, एक परमावश्यक अंग यह है कि 'वर्ण' का अर्थ 'पेशा', 'रोज़गार', समझा जाय, 'वर्ण-

व्यवस्था', पेशे के अनुसार बांधी जाय, और इस का आनुषंगिक और गुर्वर्थ कर्तव्य यह है कि 'समान-शील-व्यसनेषु सख्यं' की दृष्टि से, 'अन्तर्वर्ण-विवाह' की अनुमति दी जाय, अन्तर्वर्ण विवाह की धर्म्यता, और पत्नी का पति के वर्ण को धारण कर लेने की धर्म्यता, स्वीकार कर ली जाय, 'जात-बाहर' करने की प्रथा बन्द हो, परस्पर सौमनस्य बढ़े। यदि यह सिद्ध हो गया, तो क्रमशः अन्य सब दोष, आप से आप, घट जायंगे।

वर-वधू की परस्पर प्रतिज्ञाएं

हिन्दुओं मे धार्मिक संस्कार-पद्धति के अनुसार जो विवाह होते हैं, उन मे वर-वधू, परस्पर, कई सीधी सादी सुन्दर प्रतिज्ञा करते हैं, कि परस्पर स्नेह प्रेम से, अव्यभिचार से, आमरण और जन्मनि-जन्मनि भी, एक दूसरे के साथ जीवन बितावेंगे, एक दूसरे की भूल चूक को क्षमा करेंगे, एक दूसरे का मन रक्खेंगे, एक दूसरे को दुर्गम संसार-सागर के पार करने मे सहायता देंगे, वर अपनी कमाई वधू के हाथ मे देगा, वर की सलाह से वधू किफायत से खर्च करेगी, कोई भारी गैरमामूली काम एक दूसरे से परामर्श किये बिना न करेंगे, गृहस्थी के सुख दुःख के कामों मे धीरज से एक-दूसरे का साथ देंगे और रुष्ट न होंगे, पत्नी को पति अलंकार आभूषण अच्छे वस्त्र देगा, पत्नी अपने को स्वच्छ सुसंस्कृत अलंकृत प्रहृष्ट प्रसन्न रक्खेगी, तथा गृह को भी; किन्तु जब पति विदेश गया हो तब अपना अलंकार आदि न करेगी; न पराये घर जायगी, मित्रों के भी; तथा साधारणतः तीर्थस्नान, देवालय, आदि को पति से कह कर जायगी; इत्यादि।

> धर्मे चार्थे च कामे च, कर्त्तव्येषु अखिलेषु च;
> आवां न ऽतिचरिष्यावः कदाचन परस्परं।
> 'त्व मया लभ्यसे भर्ता पुण्यैस्तु विविधैः कृतैः;
> देवी संपूजिता नित्यं; वंदनीयोऽसि मे सदा'।
> 'पुण्यैः पूर्वैः मया त्वं च प्राप्ता भार्या सुलक्षणा,
> आराधनीया, पाल्या च, माननीया च सर्वदा।

पत्नी मनोरमा भूयाः, मनोवृत्तानुसारिणी,
तारिणी दुर्ग-संसार-सागरस्य, कुलोद्भवा'।
'सुखदुःखानि कर्माणि गृहस्थस्य भवंति हि,
त्वं सदैव भवेः सौम्यः, मयि रोषं च मा कृथाः;
वापी-कूप-तडागानि, यात्रा-मख-महोत्सवान्,
बहुलऽयासकार्याणि, विज्ञाप्यैव रमस्व मां:
व्रतोद्यापन-दानानि, स्त्रीणां बाल-स्वभावतः,
कुर्यां चेत्, तत् तु भवता प्रसन्नेन ऽनुमन्यतां;
स्वकर्मणाऽर्जितं वित्तं पशु-धान्य-धनऽागमं,
सर्वं निवेदयेः मह्यं; गोऽश्वादीनां क्रयं तथा
मां अनापृच्छ्य मा कार्षीः; दद्याश्च ऽाभरणानि मे,
गीतवादित्रमांगल्ये बन्धूनां तु गृहे यदा,
अनाहूता गमिष्यामि, तदा मां प्रतिपालय।'
'सौम्यः एव भविष्यामि, वाणीं त्वं मधुरां वदेः;
वित्तं निवेदयिष्ये त्वां, मुक्तहस्ता तु मा भवेः;
आभूषणानि दास्यामि, संस्कृता ऽलङ्कृता भवेः;
आयव्ययौ त्वां वक्ष्यामि, सत्परामर्शदा भवेः;
उद्यानेषु, विहारेषु, पितृमित्रगृहेषु च,
देवालयेषु, तीर्थेषु, गच्छेर् आपृच्छ्य मां तथा;
क्रीडां, शरीरालङ्कारं, समाजोत्सवदर्शनं,
हास्यं, परगृहे यानं, वर्जयेः प्रोषिते मयि;
आदरो मम बन्धूनां, अतिथीनां च सत्क्रिया,
मम चित्तऽनुचारित्वं, कर्त्तव्यं तु त्वया सदा;
चरिष्यामि अनु ते चित्तं, तथैव ऽहमपि, प्रिये!;
दाम्पत्येन विना धर्मो न ऽाश्रमाणां प्रवर्त्तते,
अर्धाङ्गिनौ ततो हि आवां ध्रुवं स्याव परस्परं।
विष्णुर् वैश्वानरो ऽग्निश्च, वृद्धाश्च, ज्ञाति-बान्धवाः,
सर्वे कुर्वन्तु साक्षित्वं विवाहस्य ऽावयोः शुभं।'

दूसरा प्रकार, प्रतिज्ञा का, पर उसी आशय का, यह भी कहा है—

'तीर्थ-व्रत-उद्यापन-यज्ञ-दानं मया सह त्वं यदि, कान्त !, कुर्याः,
वामाङ्गं आयामि तदा त्वदीयं, (जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी);
हव्यप्रदानैर् अमरान्, पितॄंश्च कव्यप्रदानैर्यदि पूजयेथाः,
वामाङ्गं आयामि तदा त्वदीयं, (जगाद कन्या वचनं द्वितीयं);
कुटुम्बरक्षाभरणे यदि त्वां, कुर्याः पशूनां परिपालनं च;
आय-व्ययौ धान्यधनादिकानां पृष्ट्वा निवेशं च गृहे विदध्याः;
देवालय-ऽऽराम-तडाग-कूप-वापीर् विदध्याः यदि, मां तु पृच्छेः;
देशान्तरे वा स्वपुरान्तरे वा, यदा विदध्याः क्रयविक्रयौ त्वं;
न सेवनीया यदि पारकीया त्वया भवेद् भावविकारमेत्य;
वामाङ्गं आयामि तदा त्वदीयं, जगाद कन्या वचनानि सप्त;
वरोऽपि तद्वत् वचनं ब्रवीति, सर्वं करिष्यामि यथा तवेष्टं,
मदीयचित्तानुगतं च चित्तं कुर्याः, ममेच्छापरिपालनं च,
पतिव्रतं च ऽऽचर यत्नशीला, त्वमप्यथो स्नेहपरा कुले मे' ।

(१) यदि तीर्थ यात्रा, व्रत, आदि, मुझे साथ ले कर करो, (२) देव-पितृ-धर्म कार्य मे मुझे साथ रक्खो, (३) कुटुम्ब का और पशुओं का पालन पोषण अच्छी तरह से करो, (४) आय-व्यय के विषय मे मुझ से सलाह कर लिया करो, (५) बाग-बगीचा, कूआ-तालाब, मंदिर आदि मुझ से पूछ कर बनाओं; (६) देश विदेश को, किसी हेतु से, यदि जाओ तो मुझे बता कर, (७) दूसरी स्त्री का स्पर्श न करो—यदि यह सात प्रतिज्ञा करो तो मै तुम्हारी वामांगिनी होऊं; यह वधू कहती है । वर स्वीकार करता है—तुम भी पतिव्रता होना, मीठा बोलना । मेरे कुल वालों का आदर सत्कार करना, मेरे चित्त मे अपना चित्त मिलाये रहना ।

माता पिता के घर से विदा हो कर, पति के घर को जाती हुई कन्या, द्वार पर फिर कर, माता पिता के कुल और घर के लिये आशीर्वाद करती है—

मात्रा, पित्रा,ऽन्यवृद्धैश्च, पालिता, लालिता तथा,
स्वसृभिर्भ्रातृभिस्सार्धं क्रीडन्ती न्यवसं सुखं,

यत्र ऽहं अद्यपर्यन्तं, तद् विहाय पितृगृहं,
पत्युगृहं तु गच्छामि, स्वस्ति अस्तु अस्य कुलस्य मे,
पित्रोः, ऋद्धिर्भवतु अस्य सर्वथा, प्रथतां यशः,
देव्यः एतच् च रक्षंतु, गौरी, लक्ष्मीः सरस्वती,
मया याः पूजिताः नित्यं, मातुरङ्के निलीनया।

माता पिता और अन्य वृद्ध जनो ने जहा मेरा आज तक लालन पालन किया, जहा मै भाई बहिनो के साथ हंसती खेलती आज तक सुख से रही, सो उस घर को छोड़ कर पति के घर को जा रही हूँ; सो, हे गौरी देवी, हे लक्ष्मी देवी, हे सरस्वती देवी ! जिन की, मै ने माता की गोद मे बैठ कर, नित्य पूजा की है, आप इस घर की, इस कुल की, सदा रक्षा करना, यह सब प्रकार से सम्पन्न समृद्ध हो, सदा फूलै फलै, इस का यश सब ओर फैले।

जब प्रतिज्ञा करने वाले वर-वधू, वयःस्थ, प्राप्त-वयाः, बालिग़, प्रौढ़, 'मेजर' हैं, अल्पवयस्क नही, और विचार-पूर्वक परस्पर स्वयं-वरण करते हैं, तब बन्धु-बान्धवों के, गुरुजनो के, पुरोहितों के समक्ष की गयी ऐसी प्रतिज्ञाओं मे, कम से कम उतना बल होना चाहिये जितना 'स्टाम्प' पर लिखे क़ानूनी मुआहिदों मे, सन्धि-पत्रों में, होता है; अर्थात्, यदि दुर्भाग्य से कचहरी तक मामिला पहुचे ही, बिरादरी की पंचायत से तै न हो जाय, तो इन प्रतिज्ञाओं के अनुसार, अदालतों को डिक्री देना चाहिये; तथा, यदि पुरुष एक पत्नी के जीते जी दूसरा विवाह करे, तो उस को वही दण्ड होना चाहिये जो व्यभिचार और बहु-विवाह के लिये निर्दिष्ट है; तथा पहिली ही पत्नी धर्म पत्नी समझी जाय, और उस को उचित जीविका इस पति से दिलायी जाय। अच्छा हो, यदि न्यायालय मे उक्त विचार के सम्भव की दृष्टि से, सप्तपदी के समय की प्रतिज्ञाओं मे ही यह प्रतिज्ञा भी पुरुष की ओर से करा ली जाय, कि दूसरा विवाह इस वधू के जीते जी न करूँगा; यद्यपि, परस्पर अव्यभिचार की प्रतिज्ञा मे यह अंतर्गत है ही।[1]

१ सप्तपदी का मंत्र यह है, जिस से भी स्पष्ट होता हैं कि प्राचीन आदर्श यही था कि गृहिणी घर की स्वामिनी हो— "एकं इषे, द्वे ऊर्जे,

नये विचारों की बाढ़ मे कुछ लोग यह तर्क फैला रहे हैं, कि प्रतिज्ञा ही अनुचित है, क्योंकि प्रतिज्ञा करते ही अपने मन मे यह भाव उठता है कि हम तो बँध गये, दास हो गये ; इस दासता का विरोधी भाव भी तत्काल उठता है कि इस बन्धन को तोड़ देना चाहिये; और इस आभ्यन्तर द्वंद्व के कारण सब ज़िंदगी खट्टी हो जाती है, स्नेह मारा जाता है; स्त्री-पुरुष के चित्त, एक दूसरे से मिलने सटने की जगह, एक दूसरे से फटने हटने लगते हैं, और उन प्रतिज्ञाओं का प्रभाव उलटा ही हो जाता है; तथा, ऐसे लोगों का कहना है कि, परस्पर प्रतिज्ञा न करने से ही अ-बद्ध स्त्री पुरुष परस्पर सु-सं-बद्ध रहते है। इस शंका का समाधान करना उचित है। दो प्रकार से समाधान होगा।

प्रकृति अनन्त है; स्व-भावों के प्रकार असंख्य हैं; मनुष्यों से नीचे, पशुओं को ऐसी परस्पर प्रतिज्ञा का प्रयोजन नहीं; उन के जीव, उन की बुद्धि, अभी उतनी विकसित नहीं है कि प्रतिज्ञा, व्यक्त रूप से, कर सकें, या उस का अर्थ समझ सकें। मनुष्यों से ऊँचे, देवताओं को भी, यदि उन्हों ने अहंता-ममता को जीत लिया है तो, ऐसी प्रतिज्ञाओं की, परस्पर विश्वासोत्पादन के लिये, आवश्यकता न होगी; "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः।" (यह उन के लिये लिखा जाता है जो इस बात को मानते हैं कि मनुष्य से ऊँची काष्ठा के भी, तथा अन्य प्रकारों के शरीर धारण करने वाले भी, जीव हो सकते हैं, और जिन्हों ने अपने को सर्वज्ञ मान कर यह निर्णय नहीं कर लिया है कि मनुष्य मे ही जीव का उत्कर्ष, परा काष्ठा को पहुँच कर, समाप्त हो जाता है)। साधारण मनुष्यों को, सदाचार के अध्यवसाय को दृढ़ करने के लिये, अपनी इच्छा-शक्ति को बढ़ाने के

त्रीणि रायस्पोषाय, चत्वारि मयो-भवाय, पंच पशुभ्यः, षड् ऋतुभ्यः, सखे सप्तपदा भव, सा मां अनुव्रता भव" (वे०)। वधू से वर कहता है, 'हे सखे!, साथी, मित्र!, पहिले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें, छठवें, पद (कदम) पर हम दोनो साथ साथ, अन्न, प्राण, धन, पृथ्वी के सब सुख, पशु, और उत्तम ऋतु, पावैं, और आगे सातवां पद चलैं'। इस मंत्र के और गम्भीर अर्थ भी हो सकते हैं, यथा सातो लोकों मे साथ रहैं।

लिये, अपने जीव के विकाश के लिये, अगले जन्मो मे उत्तम शरीर और बुद्धि पाने के लिये, अपने चित्त की शिक्षा और विनयन के लिये, यह आवश्यक है कि वे ऐसी प्रतिज्ञा और शपथ करें, और अपने चित्त के भीतर सत् और असत् वासनाओं की मुड़-भेड़ का अनुभव करें, अशुभ कामनाओं को जीतें और दबावें। उचित परिग्रह, सुसंस्कृत कुल-कुटुम्ब, आध्यात्मिक धर्म, की सामग्री के बीच मे, ऐसी प्रतिज्ञाएँ, उस सामग्री को शुद्ध रखने के लिये, आवश्यक हैं। अतः सब काल और सब देशों मे, मनुष्य, स्वभावतः, बड़े और जोखिम के कार्यों के आरम्भ मे, परस्पर विश्वासन आश्वासन के लिये, सदा से शपथ और प्रतिज्ञा करते चले आये हैं। अभिषेक के समय, राजाओं से, अधिकारियों से, ऐसी प्रतिज्ञाएँ कराई जाती हैं। न्यायालयों मे साक्षियों को शपथ दी जाती है; इत्यादि।

और भी। जैसे भिन्न प्रकार के पेशों वृत्तियों कर्मों के लिये भिन्न प्रकार के स्वभाव और गुण चाहते हैं, वैसे ही भिन्न प्रकृतियों के लिये भिन्न प्रकार के विवाह उपयुक्त होते हैं। यह देख कर, मनु ने आठ प्रकार के विवाह कहे हैं। एक तो पापिष्ठ पैशाच कह कर मना ही किया है, दो को कम अच्छा कहा है, पर अनुमति दे दी है; पाँच को अच्छा कहा है। 'ब्राह्म, प्राजापत्य, दैव, आर्ष', चार मे, माता पिता ही विवाह तै करते हैं; 'गांधर्व' वा 'स्वयंवर' मे कन्या और युवा परस्पर रुचि से निश्चय करते हैं; 'राक्षस' मे, युद्धवृत्ति वाले, क्षत्रिय आदि, कन्या को उठा ले जाते हैं; 'आसुर' मे धन दे कर कन्या ली जाती है। आज काल भी यह सब प्रकार पृथ्वी के भिन्न भिन्न देशों मे जारी ही हैं। पहिले, कन्या खरीदी जाती थीं, अब तो भारत मे, वर ही अधिक खरीदे जाते हैं। 'विवाह के इतिहास', जो पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने बड़ी खोज से लिखे हैं, उन मे इन सब प्रकारों का वर्णन है। स्वयं यूरोप मे, अल्पवित्त श्रेणियों मे सब देशों मे, तथा 'लैटिन' जातियों मे विशेष कर, (फ्रांस, स्पेन, इटली आदि मे), माता-पिता ही प्रायः विवाह तै करते हैं; बहुवित्त श्रेणियों मे सब देशों में, तथा 'ऐंग्लो-सेक्सन' जातियों मे (ब्रिटेन, जर्मनी आदि मे), विशेष कर संपन्न कुलों मे, स्वयंवर की प्रथा प्रचलित है। पुराणो मे

कहीं-कहीं, यथा शिव पुराण मे, पशुओं के नाम से, विवाह के सम्बन्ध मे, मानव प्रकृतियों का इशारा किया है, यथा सिंह-सिंही, अश्व-अश्विनी, कपोत-कपोती, वृष- सुरभि, इत्यादि ।

इन सब बातों को विचार कर के, यही उचित जान पड़ता है कि, जो स्त्री पुरुष, स्पष्ट रूप से विवाह-भंग के सम्भव की, और एक-विवाह आदि की, शर्तों के साथ ही विवाह करना चाहते हों, वे १६२३ ई० के वर्तमान कानून के अनुसार विवाह कर सकते हैं। दूसरी प्रकृति के सभी स्त्री-पुरुषों के लिये, जिन की आध्यात्मिक बातों मे और धार्मिक कर्मकाण्ड मे आस्था है, और जो, साथ ही इस के, केवल नाम मात्र के वर्णभेद मे आस्था नही रखते, उन के लिये यह उपन्यस्त विधान उपकारी होगा ।

अन्तर्वर्ण-विवाह का नाम लेते ही, 'अपरिवर्तवादी' सज्जनो को तत्काल ध्यान यही हो जाता है कि यह तो ऊंच नीच को एक करना चाहता है, उत्कृष्ट स्त्री वा पुरुष का सम्बन्ध निकृष्ट पुरुष वा स्त्री से कराना चाहता है। इस लिये पुनः पुनः यह बात दुहरानी तिहरानी पड़ती है कि ऐसा मन्शा इस विधान का स्वप्न मे भी नहीं है। यह तो सुतरां नितरां सच्चे उत्कृष्ट का (केवल वर्णनाम से ही नहीं) सच्ची उत्कृष्टा से ही सम्बन्ध चाहता है; और तत्रापि यह किसी से स्वप्न मे भी ऐसा नहीं कहता कि तुम ख़ाह-म-ख़ाह ऐसा-ऐसा विवाह करो; बल्कि केवल इतना ही कहता है कि यदि कभी कदाचित् किसी किसी स्त्री पुरुष ने, परस्पर स्नेह प्रीति से, मन मिलने के कारण, विवाह कर लिया, तो चाहे उन के वर्णनाम भिन्न भी रहे हों, तौ भी उस विवाह को धर्म्य ही जानो, उन दोनों को जातिच्युत करने का यत्न मत करो, और पत्नी का नाम-वर्ण भी वही मानो जो पति का है ।

एक अपूर्व दृष्टान्त

३१ मई, १६३६ ई० के 'आज' मे एक मुकद्दमे की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जिस का फैसला २८ अप्रैल १६३६ ई० को ब्रिटिश साम्राज्य के सब से बड़े न्यायालय प्रिवी कौंसिल, ने किया है। इस मामिले मे 'हिंदू' कहलाने

वाले, 'हिंदू-धर्म' को मानने वाले, 'धर्म' का बाना बाधने वाले लोगो मे प्रचलित रूढ़ियो और रस्म-रिवाजो का, जिन का उल्लेख किया जा चुका है, ऐसा विचारोद्बोधक प्रदर्शन होता है, कि उस की मुख्य बातों का निर्देश यहा नितान्त प्रसक्त और प्रयोजक है।

मुसम्मात जग्गो का पहिला विवाह बैजनाथ से हुआ। दोनो वैश्य-वर्ण की एक ही उपजाति के थे। यह उस रिपोर्ट से स्पष्ट है, यद्यपि उस उपजाति का नाम नहीं दिया गया है। बैजनाथ मर गया। जग्गो ने अपने देवर, यानी बैजनाथ के छोटे भाई शिवनाथ, से ब्याह कर लिया। पर शिवनाथ का एक विवाह इस के पहले भी हो चुका था, और उस ब्याह की स्त्री जीवित थी। दोनो सौतो मे रोज झगड़ा होने लगा। ऊब कर शिवनाथ ने जग्गो का त्याग कर दिया। जग्गो ने निक्कूलाल से सगाई कर ली। निक्कूलाल वैश्य वर्ण की कसौंधन उपजाति का था। जग्गो की उपजाति दूसरी थी। निक्कूलाल की मृत्यु के बाद, उस की अपनी उपजाति की स्त्री से उत्पन्न पुत्र गोपीकृष्ण, और जग्गो से उत्पन्न पुत्र श्रीकृष्ण, में, निक्कूलाल की सम्पत्ति के आधे हिस्से के लिये, झगड़ा हुआ।

गोपीकृष्ण का कहना था कि जग्गो का निक्कूलाल से जो विवाह हुआ था वह धर्मानुकूल वा जायज़ नही था, क्योकि (१) ब्याह के समय जग्गो का पहिला पति जीवित था और (२) जग्गो और निक्कूलाल एक ही उपजाति के नही थे, इस लिये जग्गो का लड़का श्रीकृष्ण, निक्कूलाल की सम्पत्ति का वारिस नहीं हो सकता।

प्रिवी कौंसिल के विचारपतियों ने राय दी है, कि निक्कूलाल से जग्गो का विवाह जायज़ है, यद्यपि इस विवाह के समय उस का पहिला पति जीवित था। विचारपतियो ने स्पष्ट लिखा है—यद्यपि यह 'विवाह' द्विजों से गिने जाने वाले वैश्य वर्ण की दो भिन्न उपजातियों के व्यक्तियों मे हुआ है, फिर भी, 'विवाह सम्बन्धी हिन्दू विधि, जिन धर्मशास्त्रो से ठहरायी जाती है, उन मे एक ही वर्ण की दो उपजातियों मे परस्पर विवाह का निषेध कहीं नहीं पाया जाता, और न कोई पहिले की ऐसी नज़ीर या साधारण सिद्धान्त

ही है, जिस के अनुसार ऐसा विवाह निषिद्ध माना जाय।

पति के मरने के बाद देवर से विवाह; देवर का, एक पत्नी के रहते, दूसरी स्त्री से विवाह; पति द्वारा पत्नी का त्याग, यानी दर असल तलाक़; फिर उस त्यक्ता स्त्री का एक पति के जीवित रहते दूसरे पुरुष से विवाह; अन्त मे एक द्विज वर्ण के अन्तर्गत दो उपजातियों के स्त्री-पुरुष का विवाह— इस एक ही मामिले मे, ब्रिटिश-भारत के सब से बड़े न्यायालय ने, अंशतः रूढ़ि, अंशतः शास्त्र, के आधार पर, इन सब बातों को जायज़, धर्म्य, हिन्दूधर्मानुकूल क़रार दे दिया है।

हाल मे, एक समाचार पत्र मे मै ने पढ़ा, कि बिहार प्रान्त के एक क़सबे मे एक ऐसा कुल क्षत्रियों का है, जिस के आदमी दारोग़ा तहसील-दार आदि गवर्मेंटी नौकर हुए हैं, पर उस मे कई पुश्तों से लड़की पैदा ही नहीं हुई। इस का अर्थ पाठक सज्जन स्वयं लगा सकते हैं।

मथुरा प्रान्त मे चौबे उपजाति मे, भगिनी-विनिमय से विवाह अक्-सर होता है, अर्थात् एक सज्जन की बहिन दूसरे सज्जन से ब्याही जाती है, तो उस दूसरे सज्जन की बहिन पहिले सज्जन से ब्याही जाती है। दोनो सज्जन परस्पर साले भी और बहनोई भी होते हैं। अब जैन समाज मे भी 'जन्मना वर्णः,' माना जाता है, यद्यपि महावीर जिन का और प्राचीन जैनाचार्यों का मत 'कर्मणा वर्णः,' का ही था, यथा—

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ,
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।
(उत्तराध्ययन सूत्र, जैनागम)

बुद्धदेव का भी श्लोक इसी अभिप्राय के हैं।

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मात्ति-सम्भवम्;
अकिंचनं अनादानं तं अहं ब्रूमि ब्राह्मणम्।
सन्नद्धो खत्तियो तपति, झायी तपति ब्राह्मणो। (धम्मपद)
न जच्चा वुसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो;
कम्मणा वुसलो होति, कम्मणा होति ब्राह्मणो।
(वुसल-सुत्त, सुत्त-निपात)

अर्थात्, माता की योनि से जन्मे को ही मै ब्राह्मण नहीं मानता, नहीं कहता; जो धन संग्रह नहीं करता, दान पाने लेने का लोभ नहीं करता, उस को ब्राह्मण जानता हूं। अस्त्र शस्त्र से सज्ज, दुर्बल की रक्षा के लिये सदा सन्नद्ध, क्षत्रिय होता है; ध्यायी, ध्यान-शील, विद्या-व्यसनी, तपस्वी, ब्राह्मण होता है।

पर अब जैनो मे 'जन्मना वर्णः' की प्रथा फिर से हो गयी है, और इस के दुष्फलो मे एक सुफल यह हुआ है, कि नाम से एक ही उपवर्ण वाले, जैन और वैष्णव 'हिन्दू' कुलों मे, विवाह सम्बन्ध अक्सर होता है। यद्यपि दोनो उपधर्मों की विवाह-पद्धतियों मे बहुत भेद है, पर प्रायः वर के पक्ष की पद्धति से विवाह हो जाता है। 'सिक्खों' के एक वर्ग के साथ भी हिन्दुओं के विवाह-सम्बन्ध इस प्रकार के होते हैं। किन्ही-किन्ही हिंदू 'जातियों' मे ज्योतिष की बारीकी इतनी की जाती है और लग्न ऐसे साधे जाते हैं, कि एक या दो या तीन या चार बजे रात को ही पाणि-ग्रहण हो सकता है; किन्हो हिन्दू 'जातियों' मे यह प्रथा है कि ज्योतिषी विद्वान् एक दिन अच्छा निश्चित कर देते हैं, और उसी एक दिन मे उस जाति के, बल्कि आस-पास के गांवों के भी, सभी विवाह हो जाते हैं। १८९१ ई० मे काशी मे कल (वाटरवर्क्स) के जल का, 'धर्म' के नाम से बड़ा भारी विरोध हुआ; 'रामहल्ला' के नाम से एक छोटा बलवा भी हो गया; आज यह हालत है कि संयुक्त प्रांत भर मे, अन्य सब शहरों से अधिक घरों के भीतर काशी में ही 'पाइप कनेक्शन' है।

जब इन सब प्रकारों को, व्यवहारों को, 'सर्वसहा मेदिनी' के ऐसा सर्वसह 'हिन्दू धर्म', 'सनातन धर्म', 'मानव धर्म', बर्दाश्त कर रहा है, बल्कि खुशी से ढो रहा है, तब फिर अन्तर्वर्ण-विवाह मे वधू का वर्ण-परिवर्तन हो कर वर के वर्ण मे सम्मिलित हो जाने को, और उस विवाह को, धर्मानुकूल मान लेने को, क्यों अति-भार माने? "दधता किमु मन्दराचलं परमाणुः कमठेन दुर्धरः ?"। अभी हाल मे एक सरयूपारी ब्राह्मण सज्जन से मै ने सुना कि उन के, और असपास के, गाँवों मे, उन की बिरादरी मे, हर गाँव मे दस पन्द्रह लड़के 'क्वांरे', कुमार, अनब्याहे, रह जाते हैं; और दस

पन्द्रह लड़कियाँ भी; लाञ्छन लगा देने के कारण। यही हालत, कई वर्ष हुए, आरा नगर के एक भूमिहार रईस से, उन की बिरादरी की, मै ने सुनी, पर दूसरे कारण से। कहीं लड़कियाँ ब्याह के लिये बेची खरीदी जा रही हैं, कहीं जामाता। हाथी को निगल गये, चूहा गले मे अटकता है!

ऐसी वस्तुस्थिति मे, शास्त्रोक्त विधि से किये गये अन्तर्वर्ण-विवाह को, ऐसा विवाह जिस मे वर और वधू दोनो ही परस्पर अतिचार व्यभिचार न करने और संसार मे परस्पर सहायता करने की एक सी प्रतिज्ञा करते हैं, जिस का पालन करने के लिए उभय पक्ष को पंचायत के और अदालत के द्वारा बाध्य किया जा सकना चाहिये—ऐसे अन्तर्वर्ण-विवाह को क़ानून बना कर जायज़ क़रार देने से, सच्चे वर्णाश्रम धर्म का अणुमात्र भी ह्रास नहीं होगा; प्रत्युत, अधिकतर उत्कृष्ट, और सर्व प्रकार से विज्ञानसिद्ध और विवेकसम्मत आदर्श, की ही स्थापना होगी; और धीरे धीरे सद्धर्मविरुद्ध रूढ़ियों, व्यवहारों, रस्म-रिवाजों की प्रचलित अस्तव्यस्तता को, जो ही वस्तुतः 'वर्णसंकर', उचित अनुचित का संकर, है, दूर कर के उस की जगह सुव्यवस्था स्थापित होगी।

क़ानून की आवश्यकता

एक और बात का विचार करना बाक़ी है। कुछ मित्रों का कहना है कि हम उपन्यस्त विधान के मूलस्थ, अन्तस्थ, सिद्धान्त को मानते हैं, पर हमे यह मजूर नहीं कि वर्तमान व्यवस्थापक सभाओं द्वारा इस प्रकार का विधान या क़ानून बनवाया जाय। इन मित्रों के भाव को मै समझता हूँ। पर मेरी उन से प्रार्थना है कि वे इस बात पर विचार करें कि इस उपन्यस्त विधान के सिद्धान्त को, जिसे वे जी से पसन्द करते हैं, यदि वे वर्तमान व्यवस्थापक सभा द्वारा विधानबद्ध करने मे सहायता न करेंगे, तो अनेक युवक युवतियों को, विवश हो कर, पूर्वोक्त अन्य वर्तमान विधानो द्वारा, केवल लौकिक, या अहितकर या असुविधाजनक या हानिकारक, विवाह करना पड़ेगा, यद्यपि वे हृदय से चाहते है कि वैदिक विधि से विवाह करें। उन मित्रों से इस बात का भी स्मरण रखने की प्रार्थना करता हूं, कि प्राचीन धर्मशास्त्र मे 'लौकिक' और 'वैदिक' अथवा 'धार्मिक' बातों के बीच, वैसा तीव्र विवेक और भेद

नही किया गया गया है, जैसा आज पच्छिम मे भी और पूर्व मे भी दिखाई देता है। यदि हम भीतर पैठ कर विचार करे, तो यह विवेचन और भेदन टिक भी न सकेगा। यदि इस भेद को आत्यंतिक माना जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि देह और आत्मा का, शरीर और मन का, सम्पूर्ण सजीव समवाय वा संघात मनुष्य नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्न वस्तुओं का एक आकस्मिक समुच्चय वा गट्ठर है, जैसा ईंधन की लकड़ियों का हुआ करता है। प्राचीन धर्मशास्त्रों मे, मानव-जीवन के अंगभूत समस्त विषयों का, आज 'धार्मिक' और 'लौकिक' समझे जाने वाले उभयविध विषयों का, समावेश किया गया है। सब से प्राचीन और आज भी सर्वमान्य धर्म-शास्त्र के ग्रन्थ मनुस्मृति मे, समाज के व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयो का समावेश देख पड़ता है; और उन सभी विषयों पर, अन्यूनाधिक आवश्यक विस्तार के साथ, आज्ञा दी गई है। शिक्षा और संस्कृति, कुटुम्ब और दाम्पत्य, व्यवसाय और सम्पत्ति, संरक्षण और शासन और राजनीति, इहलोक और परलोक, ऐहिक जीवन और पारलौकिक जीवन, इन सब विषयों का एक ही संग्राहक नाम दिया गया है, 'धर्म', अर्थात् मनुष्य का कर्तव्य, अधिकारयुक्त कर्तव्य और कर्तव्ययुक्त अधिकार। इस मे आचार-धर्म, प्रायश्चित्त-धर्म, संस्कार-धर्म, शिक्षा-धर्म, रक्षा-धर्म, वार्ता-धर्म, देवपितृ-धर्म, महायज्ञ-धर्म आदि, सर्वोपरि वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म, सभी शामिल हैं। साथ ही, यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी है, कि सर्वसंग्राहक 'राज-धर्म' मे यह सब धर्म अन्तर्गत हैं।

सर्वे धर्माः राजधर्मे प्रविष्टाः। (म०भा० शान्ति०अ०६२।
वर्णानाम् आश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता। (म०)
लोकरंजनं एव अत्र राज्ञो धर्मः सनातनः;
चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्याः महीक्षिता;
'धर्मसंकर'-रक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः,
चतुर्वर्णाश्रमाणां च, राजधर्माश्च ये मताः;
स्वेषु धर्मेषु अवस्थाप्य प्रजाः सर्वाः, महीपतिः,
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत्।

दण्डनीतिं परित्यज्य, यदा, कार्त्स्न्येन, भूमिपः,
प्रजाः क्लिश्नाति अयोगेन, प्रवर्तेत तदा कलिः ।
कलौ अधर्मो भूयिष्ठो, धर्मो भवति न क्वचित् ;
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्मात् च्यवते मनः ;
शूद्राः भैक्षेण जीवंति, ब्राह्मणाः परिचर्यया ;
योगक्षेमस्य नाशश्च, वर्त्तते 'वर्णसंकरः' ;
ह्रसंति च मनुष्याणां स्वर-वर्ण-मनांसि उत ;
व्याधयश्च भवंत्यत्र, म्रियन्ते चापि अनायुषः ;
विधवाश्च भवंति अत्र, नृशंसा जायते प्रजा ;
क्वचिद् वर्षति पर्जन्यः, क्वचित् सस्यं प्ररोहति ;
रसाः सर्वे क्षयं यान्ति, यदा न इच्छति भूमिपः
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग् दण्डनीतिसमाहितः ।
राजा कृतयुगस्रष्टा, त्रेतायाः, द्वापरस्य च
युगस्य च चतुर्थस्य, राजा भवति कारणम् ।

(म० भा०, शान्ति०, अ०५६,५६,६६)

इस प्रकार से राजा और राजधर्म पर सब धर्म को आश्रित कर दिया है। और राजा के विनयन, सत्पथ पर प्रणयन, असन्मार्ग से निवर्त्तन, धर्माऽऽदेशन, तर्जन, नियन्त्रण का भार पुरोहित पर रक्खा है। निष्कर्ष यह कि राजधर्म के बाहर कोई धर्म नहीं रक्खा है, और उद्धृत श्लोकों से यह भी स्पष्ट होता है, कि केवल विवाह से ही सम्बन्ध 'संकर' शब्द का नहीं है, अपितु वर्णों और आश्रमो के पृथक् पृथक् विवेचित मर्यादित धर्मों अर्थात् अधिकार-कर्त्तव्यों का संकर ही, गड़बड़ हो जाना ही, 'संकर' शब्द का पूरा अर्थ है। 'धर्मसंकर' शब्द और 'वर्णसंकर' शब्द दोनो ही उक्त श्लोकों मे आये हैं।

धर्मशास्त्र कहिये, या क़ानून का ग्रन्थ कहिये, सभ्य मनुष्य के जीवन के प्रत्येक अंग का, प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से, स्पर्श किये बिना नहीं रह सकता ; क्योंकि मर्यादा का बांधना सभी के लिये चाहिये ; हां, यह स्पर्श, यथोचित मृदुता और उदारता से होना चाहिये; और

अच्छे को उभारना, बुरे को दबाना, शिष्टसग्रह, दुष्टनिग्रह, उस का उद्देश्य होना चाहिये। अपने को अत्यन्त व्यवहार-कुशल, अत्यन्त कर्मण्य, मानने वाली, और अत्यन्त पैसा-प्रिय, भारत की वर्त्तमान गवर्मेंट का भी एक धर्म विभाग ('इक्लीजियास्टिकल डिपार्टमेंट') भी है, (यद्यपि वह उचित कर्तव्य नहीं करता)। उपनयन वा यज्ञोपवीत संस्कार (पारसियों की 'जुन्नार' या 'नवजोत' की रस्म), जिस का आधुनिक रूप, हेड-मास्टरों द्वारा रजिस्टर मे विद्यार्थी के नाम का लिखा जाना है, विद्यारम्भ वा ब्रह्मचर्याश्रम के प्रारम्भ का द्योतक है। यह संस्कार, विवाह-संस्कार से, जिस से गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ होता है, अधिक पवित्र समझा जाना चाहिये। यज्ञोपवीत संस्कार न किया जाय तो द्विज 'पतित' होता है, अर्थात् पद भ्रष्ट, वर्ण भ्रष्ट, 'व्रात्य' समझा जाता है। विवाह न करने से कोई पतित नही होता। स्पष्ट है कि विद्या को प्राप्त न करे तो मनुष्य सभ्यता से गिर जाता है, 'असभ्य' हो जाता है; और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से, यदि यह ब्रह्मचर्य सच्चा हो तो, कोई इस तरह गिरता नहीं, प्रत्युत तपस्या से उत्कर्ष ही पाता है। पर जो सज्जन विवाह के विषय मे वर्तमान व्यवस्थापक सभाओं का हस्तक्षेप असहनीय मानते हैं, वे इस मे कोई आपत्ति नही करते कि वर्तमान व्यवस्थापक सभा, शिक्षा के सम्बन्ध मे कानून बनावे, और 'अन्तर्वर्ण' शिक्षा भी चलावे, जिस मे सब जातियों के लड़के और लड़किया एक स्कूल, एक कालेज, मे, एक साथ बैठ कर, एक ही शिक्षा पाया करे। 'सती' प्रथा, विधवाओं के आग मे जल जाने या जला दिये जाने की प्रथा, को बन्द कर देने वाले ब्रिटिश क़ानून का विरोध करने की हिम्मत किसी हिंदू धर्म-धुरंधर की नहीं हुई। ऐसे ही और भी क़ानून, प्रचलित हिन्दू 'धार्मिक' प्रथाओं को बदल देने वाले कई हैं। विधवा-विवाह का क़ानून ('हिंदू-विडो-री-मैरेज-ऐक्ट') भी, ब्रिटिश-इडियन-ग्रावर्नमेंट ने बना दिया; और बनाया भी पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ऐसे धर्मिष्ठ विद्वान् विख्यात सज्जन की प्रेरणा से। पंजाब मे एक क़ानून बनाया गया है जिस से विशेष-विशेष 'जाति' के हिन्दुओं को ज़मीन ख़रीदने से रोक दिया है; 'सारडा ऐक्ट',

जिस से, १६ वर्ष के वयस् से कम पुरुष और १४ वर्ष से कम स्त्री के विवाह का निषेध कर दिया गया है, वह भी इसी कोटि मे है; इत्यादि। 'राजा' के द्वारा 'धर्म' मे हस्तक्षेप का एक मध्यकालीन उदाहरण यहा कहने योग्य है। पर्वतीय ब्राह्मणो मे 'पन्त', 'जोशी', 'पाण्डे', तीन मुख्य उपजातिया हैं; 'उप्रेती', 'कुक्रेती', प्रभृति अवान्तर; प्रसिद्ध है कि 'पन्त' महाराष्ट्र देश से आरम्भ मे गये, 'पांडे' संयुक्त प्रान्त से, 'जोशी' स्थानीय हैं; 'पंत' शाकाहारी हैं, 'पाडे' और 'जोशी' मासाहारी हैं; इन मे पहिले परस्पर विवाह-सम्बन्ध नही होता था; बाद मे, एक समय, उस काल के राजा की दृढ़ आज्ञा से ही होने लगा, और अब बराबर होता है। स्मृतियों के अनुसार, 'ब्राह्मण' चाहे जो महापातक कर डाले, अवध्य है; अंग्रज़ी दड-विधान से फांसी पाता ही है; इस के विरुद्ध, 'धर्म-शास्त्रियों' ने आवाज़ नहीं उठाई।

हम यह भी देखते हैं कि अंग्रेज़ों के बनाये व्यवस्था-मण्डल और न्यायालय, उत्तराधिकार-सम्बन्धी विधानो मे, तथा और भी ऐसे अनेक विषयों मे, जिन्हें अपरिवर्तनवादी केवल 'धर्म' का विषय समझते हैं, हस्तक्षेप कर रहे हैं। उन की दृष्टि से तो यह अधिकार केवल 'धार्मिक' न्यायालयों अर्थात् परम्परागत धर्माधिकारियों की ही सभाओं, अथवा वर्णों और उपवर्णों की पंचायतों और मुखियों, को ही होना चाहिये; किंतु संसार की वर्तमान अवस्था मे प्रचलित सरकारी न्यायालयों की प्रथा को बदलना न सम्भव है, न इष्ट ही।

केवल यही नहीं। हिंदुत्व और हिंदू समाज मे भी बहुत परिवर्तन होते चले आ रहे हैं। कुछ परिवर्तन धीरे धीरे, अस्पष्ट, अव्यक्त, 'बे-मालूम' तरीक़े से हो जाते हैं, और कुछ के होते समय शोर-गुल मचता है, और शास्त्रार्थ, भाष्य, टीका, पण्डितजन की लिखित 'व्यवस्था', आदि से सहायता ली जाती है। जिसे हम नयी व्यवस्था, नयी टीका, नया भाष्य कहते हैं, उसी का आधुनिक रूप है 'हाइ कोर्ट' की नज़ीर या जज का बनाया क़ानून। इधर सैकड़ों वर्षों से, धर्मशास्त्र मे संशोधन ('एमेंडमेंट'), परिवर्तन ('चेंज'), परिवर्द्धन ('एडिशन'), निवर्तन ('रिपील'), या

नव-विधान ('इनैक्टमेंट')[१] स्पष्ट रूप से नहीं किया जाता रहा है, पर समाज के विश्वास-भाजन विद्वान् उस 'शास्त्र' का समयानुरूप नया 'अर्थ' करते रहे हैं, तथा समाज उसे मान लेता रहा है। जब से स्मृति-कारों का, धर्म बनाने वाले 'परिकल्पक' 'व्यवसायक' 'प्रवर्तक' ऋषियों और पुरोहितों का, युग समाप्त हो गया, तब से धर्मशास्त्र मे, स्मृतियों मे, साक्षात् संशोधनादि करने की रीति उठ गयी। स्पष्ट है कि न्यायालय चाहे जैसे हों, उन का सघटन चाहे जिस रीति से किया गया हो, पोथी मे क़ानून के शब्द कैसे भी हों, मामिले मुक़द्दमे का निर्णय, क़ानून के विवादास्पद अर्थ का निर्णय, जजों की, न्यायाधीशों की, योग्यता वा अयोग्यता के अनुसार ही, अच्छा या बुरा होगा। यदि जज, प्राड्विवाक, न्यायपति, सत्प्रकृति का, बुद्धिमान्, धीमान् हो, तो उस का निर्णय भी अच्छा होगा, नज़ीर अच्छी क़ायम करेगा। यदि जज अच्छा न हो, मूर्ख, अविचारी, अविवेकी, जल्दबाज़, बेईमान, रिश्वत-ख़ोर, उत्कोच-ग्राही, रागद्वेषी, स्वार्थी, अदूरदर्शी, देश-काल-अवस्था को न पहिचानने वाला, कूप-मण्डूक हो, तो फ़ैसला और तजवीज़ ख़राब होगी, और नज़ीर ख़राब, हानिकारक, क़ायम करेगा। ऐसा हुआ भी है। हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे परम्परागत धर्माधिकारी और धर्मशास्त्री, केवल प्राचीन संस्कृत पोथियों का ही अध्ययन करते हैं, और यद्यपि कोई-कोई अपने विषय के बड़े प्रकांड विद्वान् होते हैं, पर उन्हें संसार की गति का, नये विचारों, नयी समस्याओं, नयी ग्रंथियों, नये प्रश्नों, नयी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, व्यावहारिक, कठिनाइयों और आवश्यकताओं, का ज्ञान बिलकुल नहीं होता ; अत-एव ये प्राचीन 'शास्त्रों' का, नवीन और समयानुकूल 'अर्थ' कर के, जीवन की नित्य-नैमित्तिक कठिनाइयों का सामना करने मे, जनता की कुछ भी सहायता नहीं कर सकते ; प्रत्युत, 'पुराणमित्येव हि साधु सर्वं' को हठ से पकड़े रहने के कारण, हिन्दू समाज को अधिक कठिनाई और व्याकुलता मे डाल देते हैं। अगत्या, नया 'भाष्य' करने का भार

१ Amendment; change; addition; repeal; enactment.

ऐसे लोगों पर आ पड़ा है, जो परम्परागत धर्माधिकारी तो नहीं हैं, पर प्राचीन और नवीन दोनों अवस्थाओं, भावनाओं, विचारों, और आन्दोलनो से परिचित हैं ; और आज जो व्यवस्थामण्डल, व्यवस्थापकसभा, धर्मपरिषत्, हैं, उन्हीं की सहायता से, नवीन 'भाष्यों' को, विधान का, कानून का, बल और गौरव और रूप दिलाने का यत्न, उन्हें ही करना पड़ता है ; जिस मे नित्य के जीवन मे, जनता उन का उपयोग कर के, जीवन की कठिनाइयों को सुलझा सके । स्वयं मनु ने कहा है, "वेदः, स्मृतिः, सदाचारः, स्वस्थ च प्रिय आत्मनः", 'वेद, स्मृति, सदाचार, और अपनी आत्मा की सात्त्विक वृत्ति को जो बात प्रिय, उचित, जान पडे, यह चार धर्म के लक्षण हैं, उत्पत्ति-स्थान हैं'; जिस का भी अर्थ यही है कि अन्त मे जा कर सात्त्विक बुद्धि, विद्वान् 'पुरोहित' प्राड्विवाक की, धर्म की व्याख्या करती है । और भी मनु की आज्ञा है कि न्यायपति, देश-काल-अवस्था-अनुबन्ध का विचार कर के निर्णय करे, तजवीज़ दे, 'फ़ैसला'[1] मनावे । "अनुबन्ध परिज्ञाय, देश-कालौ च तत्त्वतः, सारापराधौ चावेक्ष्य, दंडं दडेषु पातयेत्" । (८. १२६).

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, कोई खास हिन्दू विवाह, शास्त्र-सम्मत, धर्मसंगत, जायज़ है या नहीं, इस का निर्णय करने का अधिकार अब न्यायालयों या अदालतों को ही प्राप्त है । धर्माधिकारी नयी व्यवस्था दे भी दें, तो वह, न्यायालयों मे, किसी हिन्दू-विवाह को धर्म्य, जायज़, सिद्ध न कर सकेगी, यदि कोई स्वार्थी मनुष्य, रूढ़ि या रिवाज आदि की दोहाई देता हुआ, अदालत मे उस के विरुद्ध जाय । इस कारण से, 'व्यवस्थामण्डल' से, अर्थात् 'लेजिस्लेचर'[2] से, जो ही वर्त्तमान समय मे 'धर्म-सभा', 'धर्म-परिषत्' है, सहायता लेना अनिवार्य हो गया है । जनता के हित के नये क़ानून बनाने मे, और पुराने हानिकारक दस्तूरों और कानूनों को हटाने मे, हमे व्यवस्थामण्डलों से अवश्य सहायता लेनी चाहिये । प्राचीन स्मृतियाँ ही हमे सलाह देती हैं, कि 'नये क़ानूनो,

१. Case-law.

२ Legislature.

वैज्ञानिक आविष्कारो, नयी विद्याओ, शुचिता और आरोग्य-रक्षा के नियमो, सुभाषितो और हित-कर उपदेश-वाक्यों, नवीन शिल्पों और कला-कौशलों, सभी अच्छी नयी चीज़ों का, और विशेष कर विवाहार्थ अच्छी स्त्रियो का ग्रहण सब स्थानो से करना चाहिये।'

स्त्रियो, रत्नानि, अथो विद्याः, धर्माः, शौचम्, सुभाषितम्,
विविधानि च शिल्पानि, समादेयानि सर्वतः। (मनु०)

मनु की यह आज्ञा है कि,

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्याद् इति चेद् भवेत्,
यं शिष्टाः ब्राह्मणाः ब्रूयुः सः धर्मः स्याद् अशंकितः।
धर्मेण ऽधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः,
ते शिष्टाः ब्राह्मणाः ज्ञेयाः, श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः। (मनु० अ० १२)

नई अवस्था मे नया कानून बनाने की जरूरत हो, तब, इतिहास पुराण और सब अंग उपाग से परिबृंहित वेद को जानने वाले, प्रज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न, सुने को कर दिखा सकने वाले 'ब्राह्मण' जो कहें, कि इस अवस्था मे यह धर्म है, वही धर्म माना जाना चाहिये। अब, न ऐसे 'ब्राह्मण' हैं, न अपने को 'ब्राह्मण' कहने वालो को कोई धर्म-कानून बनाने का अधिकार रह गया है। सब प्रकार के 'धर्म-कानून' सर्कारी 'लेजिस्लेचर' के सभासद ही बनाते हैं; और इन सभासदों मे, अच्छी संख्या मे, प्रजा के मनोनीत, वृत, 'प्रतिनिधि' भी होते हैं; प्रतिनिधि, प्र-णि-धि, आदि शब्दों की व्युत्पत्ति, उसी 'धा' धातु से है जिस से 'पुरो-हित' 'पुरो-धाः' की ; 'प्रजाना हिताय, धर्म-कार्येषु, सर्वेषां हितचिन्तकः, यः विद्वान् तपस्वी सज्जनः, पुरः, अग्रे, धीयते, सः प्रजाभिश्च, शासकेन राज्ञा च, अग्रस्थाने स्थापितः, वि-हितः, नि-हितः, प्र-हितः, पुरो-धाः पुरो-हितः'। वर्तमान युग (जमाने) मे, ऐसे प्रति-निधि ही पुरो-हित हैं, और धर्मऽाम्नान, धर्मव्यवसान, धर्मपरिकल्पन कर सकते हैं। ऐसी अवस्था मे यह कहना कि, 'लेजिस्लेचर' से यह काम नहीं लेना चाहिये, अब नितरा व्यर्थ है। बरोदा राज्य मे, राजा और 'लेजिस्लेचर' ने परस्पर सम्मति से, 'अंतर्वर्ण-विवाह' का कानून बना भी दिया है, जो उस रियासत की बीस लाख

हिंदू प्रजा पर लागू है। ऐसे अन्य कानून भी उस रियासत मे बना दिये गये हैं।

इस स्थान पर और भी कई बातें, सज्जनो के विचारार्थ, कहता हूं। (अभी जीवित) भूतपूर्व महाराज तुको जी राव होल्कर की अमेरिकन पत्नी, मिस् मिलर को, (कोल्हापुर के) करवीरपीठ के भूतपूर्व 'शंकराचार्य' डाक्टर कुर्त्तकोटि ने, शर्मिष्ठा देवी का नाम दे कर, 'हिन्दू' बनाया ; ऐसे ही अन्य कई यूरोपीय स्त्रियों और पुरुषों को, जिन को मै जानता हूं, ऐसे विद्वानो ने, जो 'जन्मना' ब्राह्मण हैं, पर उदार बुद्धि और परार्थी हृदय रखते हैं, हिन्दू-धर्म मे दीक्षित किया है।

गवर्मेंट ने इस उपन्यस्त विधान के विषय मे, देश के प्रमुख अधिकारियों, नेताओं, समितियों, से राय मागी; उस के उत्तर मे, बम्बई, बिहार, पंजाब, मद्रास, अवध के हाइ-कोर्टों के जजों मे से २१ ने (अधिकांश हिन्दू) ने इस का समर्थन किया, ९ तटस्थ रहे, ६ विरुद्ध रहे ; युक्त-प्रांत, बंगाल, बर्मा के हाई-कोर्ट तटस्थ रहे ; बहुत से कमिशनर, मिनिस्टर, गवर्मेंण्ट मेम्बर, डिस्ट्रिक्ट जज, कलेक्टर, लीगल रिमेम्ब्रासर आदि ने इस के पक्ष मे राय दी; कुछ थोडों ने प्रतिपक्ष मे भी; देश-भर की सभी स्त्रियों की समितियों ने इस का समर्थन किया ; अखिल-भारतीय स्त्री-सभा ने, महारानी त्रावणकोर के सभापतित्व मे, इस का समर्थन किया ; बहुत से 'बार-असोसियेशनो' ने भी ऐसा ही किया ; इत्यादि।[1]

इन हेतुओं से हिन्दू समाज के सब अंगों और वर्गों को उचित है, कि हृदय से इस उपन्यस्त विधान का समर्थन करें; इस से हिन्दुत्व और हिन्दू

१—एक-विवाह और विवाह-भंग के विषय मे जो ऊपर लिखा गया उस के सम्बन्ध मे, ये वाक्य, स्मृतियों के, आलोचनीय हैं; मनु० अ० ९, श्लो० ४६ –८९, १०१; "धर्मप्रजासम्पन्ने दारे, न ऽन्यां कुर्वीत," आपस्तम्ब-धर्मसूत्रं; "नष्टे, मृते, प्रव्रजिते, क्लीबे च, पतिते, पतौ, पंचसु आपत्सु नारीणां पतिर् अन्यो विधीयते", पराशरस्मृतिः; "यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि, तादृग्गुणा सा भवति, समुद्रेणेव निम्नगा", मनु०, ९.२२; "व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलाद्, एवं पतिव्रता नारी भर्तारं

समाज मे उस सुधार, संस्कार, और पुनर्जीवन का सूत्रपात होगा, जो ही उन्हें विनाशकारी, सर्वांगव्यापी, भेदबुद्धि-रूप, परस्पर-द्रोह-रूप महारोग से बचा सकता है, उन को नया प्राण नया जीवन दे सकता है, और अपने समाज के भीतर, तथा अन्य समाजों और धर्मों और सम्प्रदायों के साथ, शान्तिपूर्वक रहने की शक्ति दे सकता है।

संक्षिप्त निष्कर्ष और समाप्ति

(१) उपन्यस्त विधान किसी को अन्तर्वर्ण-विवाह करने के लिये, या ऐसा विवाह करने वालों के साथ सहवास, सहासन, सहाशन, आदि सामाजिक सम्बन्ध करने या बनाये रहने के लिये, कदापि विवश नहीं करता। इस विषय मे सब को यथेष्ट आचरण का अधिकार रहेगा।

(२) पर, किसी को यह अधिकार न रहेगा कि अन्तर्वर्ण-विवाह करने वाले को, यह लांछन लगा कर कि इन्हों ने धर्मविरुद्ध आचरण किया है, जाति-बहिष्कृत करने की घोषणा करे, या किसी दूसरे को इन के साथ संसर्ग करने से मना करे।

(३) ऐसे विवाह करने वाले स्त्री-पुरुषों के उत्तराधिकार के विषय मे, जो पति का 'निजी क़ानून', धर्मशास्त्र के अनुसार हो, ('दि हस्-बैंडस् हिन्दू पर्सनल ला'), वही लागू होगा। पत्नी का वर्ण वही माना जायगा जो पति का हो; तथा सन्तान का वही वर्ण माना जायगा जो पिता का हो। ऐसा होने से वर्ण का अस्तित्व सर्वथा बना रहेगा, और व्यवहार मे कोई अड़चन या कठिनाई न होने पावेगी। यदि, आगे चल कर, इस का प्रयोजन पड़ा, तो उपन्यस्त विधान मे उक्त आशय के शब्द, स्पष्ट रुप से बढ़ा दिये जायंगे।

(४) इस उपन्यस्त विधान का आशय स्वप्न मे भी कदापि नहीं है, कि सचमुच उत्कृष्ट का विवाह सचमुच निकृष्ट से हो। प्रत्युत, इस का हार्दिक

नीचगामिनं, अपि वा नरकं प्राप्तं, स्यात् चेत् तं अनु-संस्थिता", पराशर०। यह भी विचारणीय है कि १९३१ ई० की भारतीय मनुष्यगणना 'रिपोर्ट' मे लिखा है कि विवाहित स्त्रियों मे, हजार मे केवल आठ को सपत्नियां हैं; अर्थात् बहुविवाह प्रायः न-गण्य है।

अभिप्राय और अभीष्ट यह है कि, ज़रा ज़रा सी थोथी बातों पर 'जात-बाहर' कर देने की समाजोच्छेदक, संघटन-विनाशक, द्रोह-वर्धक, संघ-क्षय-कारक, प्रथा बन्द हो; तथा, जो 'वर्ण' शब्द अब नितरां अर्थ-शून्य हो रहा है, वह पुनः अर्थ-पूर्ण हो; स्वाभाविक, स्वप्रकृत्यनुकूल, धर्म-कर्म, जिस वर्ण का जो करे, वह उस वर्ण का नाम पावे ; विद्या-तपः-शील का विवाह विद्या-तपः-शील से हो, शूर-वीर का शूर-वीर से, धन-संग्रही दानी का धन-संग्रही दानी से, सेवा-चतुर का सेवा-चतुर से, सचमुच विशिष्ट का सचमुच विशिष्ट से, समान का समान से ; केवल वर्ण-नाम ही पर एकमात्र अत्यन्त ज़ोर न दिया जाय।

इन बातों पर शान्त मन से, ('हिंदू') 'मानव' धर्म और ('हिंदू') 'मानव' समाज के जीर्णोद्धार के भाव से, सब सज्जन, गंभीर विचार करें; त्वरा से नहीं, रागद्वेष के भाव से नहीं ; यह काल युग-संधि का है; दो समयों ज़मानों की, दो समुदाचारों शिष्टताओं की, पुराने नये विचारों आचारों प्रकारों की, मुठभेड़, टक्कर, घोर प्रतिस्पर्धा हो रही है; भारत के हितैषियों को, ऐसे शांत विचार के अनन्तर, यदि निश्चय हो जाय कि यह उद्योग किसी दुर्भाव से, किसी बदनीयती से, प्रेरित नहीं है, तथा सचमुच इस विधान से हिंदू समाज और धर्म का कल्याण ही होगा, और दोनो प्रतिद्वंद्वियो का, सहूलियत से, सरलता से समझौता हो जायगा, तब दिल खोल कर प्रसन्न हृदय से इस को आशीर्वाद दें।

ॐ, सह नः अवतु, सह नः भुनक्तु, सह वीर्यं करवामहै;
तेजस्वि नः अधीतमस्तु, मा विद्विषामहै, ॐ

ॐ, उद्बुद्ध्यध्वम् समनसः सखायः, समग्निमिंध्वम् बहवः सनीडाः;
संगच्छध्वम्, संवदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम् ;
समानो मन्त्रः, समितिः समानी, समानं मनः, सह चित्तं अस्तु;
समानं मन्त्रम् अभिमंत्रये वः, समानेन वो हविषा संजुहोमि,
समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः,
समानम् अस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति;

समानी प्रपा, सह वोऽन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि;
सम्यंचो ऽग्निं सपर्य्यत, अरा नाभिमिव ऽभितः । ॐ

सत्यं भणामि, अपि समाजहितं गृणामि, संसारयात्रिकसहायकरं ब्रवीमि,
प्राचीनशास्त्रहृदयं प्रणवीकरोमि; स्वार्थेषु मा कुरुत मत्सरमार्यधीराः ।
न्याय्यं वदामि, उभयलोकहितं गदामि, लोकौ अतीत्य परमार्थयुजं स्तवीमि,
शंसामि यन् ननु निदेशनं आर्षमेव, गृह्णीत हृष्टहृदयाः तद् अथऽार्यवर्याः ।
वर्णाश्रमाऽर्यमत-मानवधर्म-सारं, विच्छिन्नभिन्नजनताक्षतपूर्तिकारं,
सौहार्द-संघ-बलकृत्परमोपचारं, व्याख्यामि, संगतं इह ऽाचरत ऽार्यमिश्राः ।

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु । ॐ

: ६ :

चतुःपुरुषार्थसाधक, विश्वव्यवस्था-कारक, विश्वधर्म ।

(काशी के 'सिद्धान्त' नामक साप्ताहिक पत्र के १९९८ वि० (३ जून १९४१ ई०) के अंक मे, मेरे अंग्रेजी ग्रन्थ 'सब धर्मों की तात्त्विक एकता' की छोटी समालोचना छपी ; तथा, १९९९ वि० (१०,१७,२४ मार्च १९४२ ई०) के तीन अंकों मे मेरे अंग्रेजी ग्रन्थ 'विश्व-युद्ध और उस की एकमात्र औषध—विश्वव्यवस्थाकारक विश्वधर्म' की विस्तीर्ण परीक्षा । समालोचक सज्जन ने अपने अन्तिम लेख मे यह इच्छा भी प्रकट की, कि मै उत्तर लिखूं । इस लिये उन की उठाई शंकाओं के समाधान के लिये मै ने कुछ लिखा । वह १९९९ वि० (२६ मई, २,९,१६,२३,३० जून, १९-४२ ई०) के छः अंकों मे छपा । उस का पुनर्दृष्ट, कुछ संक्षिप्त कुछ परिबृंहित रूप यहाँ छापा जाता है ।)

विश्वव्यवस्था और विश्वधर्म ।

समालोचक ने, २४-३-१९४२ ई० के लेख के आदि मे लिखा है कि "जिस तरह हम डाक्टर भगवान्दास जी की 'विश्वव्यवस्था' समझने मे असमर्थ हैं, उसी तरह 'विश्वधर्म' से उन का क्या अभिप्राय है, यह भी हम नहीं समझ सके हैं" । इस से मै कुछ संकट मे पड़ गया ; ७५० पृष्ठों की पुस्तक (दि एसेन्शल् यूनिटी आफ् आल् रिलिजन्स्', 'सब धर्मों की तात्त्विक एकता') मे, जब मै 'विश्वधर्म' का रूप समझा न सका, और ५५० पृष्ठों की दूसरी पुस्तक ('वर्ल्ड् वार ऐण्ड इट्स ओन्ली क्यूर—वर्ल्ड आर्डर ऐण्ड वर्ल्ड रिलिजन', 'विश्वयुद्ध और उस की एकमात्र औषध—विश्व-व्यवस्था और विश्वधर्म)' मे, 'विश्वव्यवस्था' का आकार-

१ *The Essential Unity of All Religions. World War and Its Only Cure—World Order and World Religion.*

प्रकार समझाने मे असमर्थ हुआ, तब नये छोटे लेख मे, यह साध्य सिद्ध करने मे कृतार्थ कैसे हो सकूंगा! और अब, 'विवाद' तो दूर, 'वाद' के लिये भी जरा देवी और उन के परिवारभूत व्याधियों की कृपा से, शक्ति नहीं रही! वाद के लिये भी बहुत प्राण की आवश्यकता है। "विकल्प्य दशधा च ऽर्थं प्रत्येकं दशधा ऽच्छिनत्...दिनाष्टकं वाक्कलहो जजृम्भे च तयोस्तथा," "अथ सा कथा प्रववृते स्म तयोः, उभयोः परस्पर-जयोत्सुकयोः; न दिवा न निश्यपि च वादकथा विरराम, नैयमिककालंऋते; अतिजल्पतोः समं अनल्पधियोर् दिवसानि सप्तदश च ऽत्यगमन्"; इत्यादि शङ्कराचार्य के वादों की कथा प्रथित है। यद्यपि, पहिले, 'वाद' क्या 'विवाद' मे भी, मूढतावश, मुझे कुछ रस रहा, पर अब, विशेषतः पिछली कड़ी बीमारी के बाद, 'अङ्ग गलितं, क्षीणा शक्तिः, हीना वादविवादेऽासक्तिः, किञ्चिद् अहन्ता-भाव-विरक्तिः अंकुरिता, शान्तेऽपि च भक्तिः'। ऐसे हेतुओं से मन ने तो यही चाहा कि इतना ही लिख कर सन्तोष करूं कि सब शङ्काओं का समाधान करने का यत्न उक्त ग्रन्थों मे तथा 'मानव धर्म-सार' मे किया जा चुका है। पर समालोचयिता की इच्छा का यथाशक्ति आदर करना उचित जान पड़ा, इस से यह लिखा।

मुख्य मतभेद का स्थान —'वर्णः जन्मना वा कर्मणा वा ?'

मतभेद मुख्यतः इसी प्रश्न पर है कि 'वर्णभेद' 'जन्मना' ही होता है, वा 'कर्मणा' होना चाहिये। मै 'वर्ण' और 'जाति' के अर्थों मे विवेक करता हूँ; 'वर्ण' का अर्थ पेशा, रोजगार, जीविका-साधक 'कर्म' वा व्यवसाय, (यथा शास्त्रोपजीवी, शस्त्रोपजीवी, वार्त्तोपजीवी, सेवोपजीवी), और 'जाति' का अर्थ विशेष देश वा वंश मे 'जन्म' से साधित दल वा वर्ग, (यथा, कुरवः, यादवाः, राघवाः, सारस्वताः, वाङ्गाः, गौर्जराः, अंग्रेज, जर्मन, चीनी, जापानी, हिन्दी, ईरानी, आदि)। दूसरे पक्ष के लोग वर्ण और जाति मे विवेक नहीं करते, दोनो को एक ही मानते हैं।

एक और मतभेद का स्थान—'सामान्य' और 'विशेष'।

मै 'सामान्य' और विशेष' मे 'समवाय' सम्बन्ध को, उन दोनो के सर्वथा अपृथक्-कार्यत्व अयुत-सिद्धत्व को, सुतरां नितरा मानता हुआ, 'सामान्य' को अधिक गौरव देता हूँ, और 'विशेष' को उस से कुछ कम; विशेषतः इस दारुण समय मे, समस्त मानव 'जाति' के कल्याण के लिये, 'व्यवस्था-सामान्य' अर्थात् 'विश्व-व्यवस्था' और "धर्म-सामान्य' अर्थात् 'विश्व-धर्म' की आवश्यकता देखता हूं; व्यवस्था-विशेषों और धर्म-विशेषों के साथ साथ, परन्तु उन के ऊपर; परऽपर-जाति-न्याय से; जैसे परम-सामान्य, सत्ता-सामान्य, चैतन्य-सामान्य, परम-महान्, के अन्तर्गत असंख्य चरम-विशेष, सत्ता-विशेष, जीव-विशेष, परम-अणु। उस मानव जाति के कल्याण के लिये इन की आवश्यकता मानता हूं, जो आदि प्रजापति' 'मनु' की (जिस के कई अर्थ हैं, 'एतंएके वदन्तिअग्नि, मनुम्-अन्ये प्रजापतिं" इत्यादि) सन्तति है, और जो कोटियों सिर, भुजा, धड़, पैर वाली जाति "अनेक-बाहू-उदर-वक्त्र-नेत्रः", "सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात्, स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्ग(ङ्गु)लम्", अपने दस अङ्गों इन्द्रियों के बल से, तथा दो हाथों की दस अँगुलियो के बल से, समग्र भूतल पर 'स्पृत', (अंग्रेजी 'स्प्रेड्' फैलना, फैलाना), वि-स्तृत (अंग्रेजी 'स्ट्रेच') हो रही है।[1]

प्रतिपक्षी सज्जन, व्यवस्था-विशेष और धर्म-विशेष को ही समझते मानते हैं। इस सम्बन्ध मे, 'सामान्य' पदार्थ को, वे कोई भी स्थान देते हैं वा नहीं, और यदि हाँ तो क्या, यह मुझे नहीं विदित हुआ।

आखिर यह तो प्रत्यक्ष ही सभी देखते हैं, कि हिन्दू-धर्म नाम के पदार्थ के अन्तर्गत बहुत से विशेष-धर्म हैं, शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर आदि; उन विशेष-धर्मों की अपेक्षा से, 'हिन्दू'-धर्म पदार्थ को 'सामान्य' धर्म आप मानेंगे और कहेंगे वा नहीं? इस 'हिन्दू-सामान्य-धर्म' वा 'हिन्दू-विश्व-धर्म' का रूप, भारतीय तथा विदेशी जिज्ञासुओं विद्यार्थियों को बताने के लिये ही, चालीस वर्ष हुए, 'सेन्ट्रल हिन्दू कालिज' के 'बोर्ड आफ़ ट्रस्टीज' ने 'टेक्स्ट

[1] Spread; stretch.

-बुक्स आफ सनातन-धर्म' तयार की;[१] और उन का स्वागत और प्रचार भारत वर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों मे, कई बड़ी देशी रियासतो मे भी, (हिन्दू ही नही, अपितु मुसल्मानी राज्यों मे भी, यथा निजाम के हैदराबाद के सर्कारी स्कूलो मे), बहुत अच्छा हुआ; पर 'सेन्ट्रल हिन्दू कालिज' के 'बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी' के रूप मे परिणत हो जाने पर, वह प्रचार बन्द हो गया! 'हिन्दू' धर्म का स्वरूप-निरूपण, निर्वचन, पहिले 'अनिर्वचनीय' हो रहा था; विशेष कर अंग्रेजी पढों के लिये; यहाँ तक कि जब 'बनारस हिन्दू यूनिव-र्सिटी ऐक्ट' पर, केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा मे, विचार हो रहा था, उस समय, श्री मोतीलाल जी नेहरू ने यह शङ्का उठाई कि "ऐक्ट के नाम मे जो 'जो हिन्दू शब्द है उस का क्या अर्थ है, उस को समझाने मे सभी असमर्थ हो रहे हैं, असख्य मतों, सम्प्रदायो, आचार-विचारो के सङ्कुल सम्बाध समुच्चय का नाम 'हिन्दूधर्म' हो रहा है; हिन्दू यूनिवर्सिटी बनाने वाले कहते हैं कि 'हिन्दू-धर्म' सिखावेंगे; क्या सिखावेंगे ?"। इस शङ्का का समाधान थोड़े शब्दो मे पूर्णतया श्री मदनमोहन मालवीय जी ने उस समय यही कर दिया कि "क्या सिखावेंगे, इस प्रश्न का अवसर ही नहीं है; इन पुस्तकों द्वारा बारह वर्ष से सिखा रहे हैं"। परन्तु, 'एक्ट' के 'पास' हो जाने के बाद वह सिखाना बन्द कर दिया। क्यों ? अस्तु।

जैसे हिन्दू-जगत् हिन्दू विश्व का हिन्दू-विश्व-धर्म हिन्दू-धर्म-सामान्य पदार्थ एक वस्तु है, और समझ मे आ सकता है, वैसे ही मानव-जगत् मानव-विश्व का मानव-धर्म-सामान्य मानव-विश्व-धर्म। 'हिन्दू' (वा वैदिक), पारसी (जिन्द-अवस्ता), यहूदी, ईसाई, बौद्ध, जैन, सिख, शिन्तो (जापानी), कङ्फुत्से और लाओत्से (चीनी) आदि सभी मुख्य धर्मो का अन्तर्भावक; उन सब मे व्याप्त अनुस्यूत; उन सब का संग्राहक; ऐसा धर्म भी एक वस्तु है; और समझ मे आ सकता है। उसी को, विभिन्न भाषाओं मे, वेदान्त, तसव्वुफ़, ग्नास्टिक-मिस्टिसिज्म आदि नामो से कहते है। हां, इतना

१ Cental Hindu College; Board of Trustees; *Text-books of Sanatana Dharma.*

और है कि भारत मे कई शताब्दियों से, वेदान्त केवल आत्माऽवबोधक, और संसार से सर्वथा वैराग्य का रूप रखने वाला, कुछ भक्ति का रूप भी लिये हुए, समझा और बर्त्ता जाता है। यद्यपि मनु, वसिष्ठ, राम, व्यास, कृष्ण का वेदान्त, सर्वसंग्राहक, सर्व-मानव-जीवन का व्यवस्थापक, आत्माऽवबोधक भी और प्रकृति-प्रसाधक भी, ज्ञानशोधक भी और कर्ममार्जक भी, था। "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्", "राजविद्या राजगुह्यम्" (गी०), "यस्मात् त्रयो ऽन्याश्रमिणः ज्ञानेन ऽन्नेन च ऽन्वहम्, गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज् ज्येष्ठऽाश्रमो गृही (म०)", "आन्वीक्षिकी", "व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद् विमुखस्य दोषबुद्ध्या, कुमतिम् अहरद् आत्मविद्यया यः, चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु" (भाग०), "राज्ञां दैन्यऽपनोदऽर्थं, सम्यग्दृष्टिक्रमाय च, ततो ऽस्मदादिभिः प्रोक्ताः महत्यमो ज्ञानदृष्टयः, अध्यात्मविद्या तेनेयं राजविद्या इत्युदाहृता"(यो० वा०), "न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलं उपाश्नुते", "सैनापत्यं च, राज्यं च, दंडनेतृत्वमेव च, सर्वलोकाधिपत्यं वा वेदशास्त्रविद् अर्हति" (मनु०), इत्यादि ; इस सब का आशय, विस्तार से 'दर्शन का प्रयोजन' नामक हिन्दी ग्रन्थ के दूसरे अध्याय मे, दिखाने का यत्न मै ने किया है।

'सामान्य' और 'विशेष' के सम्बन्ध मे, इस स्थान पर दो श्लोक चरक के लिख देता हूँ, जो मुझे बहुत प्रिय हैं, और प्रसक्त विषय पर बहुत प्रकाश डालते हैं—

> सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्,
> ह्रासहेतुर्विशेषश्च; प्रवृत्तिर् उभयस्य तु।
> सामान्यम् एकत्वकरं; विशेषस्तु पृथक्त्वकृत;
> तुल्यार्थता हि सामान्यं; विशेषस्तु विपर्ययः" । (चरक)

'विश्वधर्म' कोई 'विशेषधर्म' नहीं।

समालोचक ने लिखा है कि "डाक्टर साहब के वाक्यों से तो ऐसा ज्ञात होता है कि वे 'जीवित' धर्मों से भिन्न कोई 'विशेष विश्व-धर्म' चाहते हैं।" इस पर 'योगवासिष्ठ' का पुराना श्लोक याद आता है। "सकललोकचमत्कृतिकारिणोऽप्यभिमतं यदि राघवचेतसः फलति नो, तद् इमे

वयमेव हि स्फुटतरं मुनयो हतबुद्धयः"। निश्चयेन यह मेरी हतबुद्धि और हतशब्दों का ही दोष है, कि ७५० पृष्ठों की एक पुस्तक के प्रत्येक पन्ने मे, और ५५० पृष्ठों की दूसरी पुस्तक के प्रायः प्रति तृतीय चतुर्थ पृष्ठ मे, यही दिखाने का यत्न करता हुआ भी, कि 'विश्व-धर्म' 'विशेष' नहीं है, और किसी विशेष धर्म से 'भिन्न' नहीं है, प्रत्युत 'सामान्य' है और सब विशेष धर्मो से 'समवेत' है, सब मे अनुस्यूत है, उस यत्न मे कृतार्थ नही हुआ; और आप को ऐसा भान हुआ, जो भान मेरे अभीष्ट अभिप्राय के सर्वथा विपरीत है। 'सारी रामायण सुनकर पूछा, सीता किसका बाप'!

'वैज्ञानिक' शब्द का अर्थ।

मै इस 'विश्वधर्म' को 'प्राज्ञानिक' भी और 'वैज्ञानिक', विज्ञान-सम्मत, भी मानता हूं। आप पूछते हैं, "फिर 'वैज्ञानिक' का क्या अर्थ है?"। शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। यहां तक कि आरम्भ मे जो अर्थ एक शब्द के साथ बांधा जाता है, उस का सर्वथा विपरीत अर्थ, कुछ काल पीछे, उस से बंध जाता है। यथा, ज्यौतिष मित्रों से सुना है कि 'मङ्गल' ग्रह क्रूर ग्रह है। रौद्र भावों का, युद्ध आदि का, जनक है। परन्तु "प्रथमहिं बन्दौं दुर्जन चरना" न्याय से उस के प्रसादनार्थ, 'आप तो परम शुभ हैं', उस का वाचक शब्द, शुभ का द्योतक कर दिया गया। 'नाग' को 'नागराज', और आस्तीक मुनि के मातुल, अतः साधारण जनता मे 'मामा', की पदवी मिल गयी, और उन की पूजा होने लगी। अरबी शब्द 'हरम्' की यही दशा हुई; आदिम अर्थ उस का 'मना किया हुआ' है; इस अर्थ की प्रवृत्ति दो विरुद्ध दिशाओं मे हुई; 'अति पवित्र', इस लिये उस का स्पर्श निषिद्ध, वह 'अ-स्पृश्य'; 'अति अ-पवित्र', इस लिये भी 'अस्पृश्य', 'हराम्'। ऐसे ही अंग्रेज़ी शब्द 'पिटि-फ़ुल्' और संस्कृत 'कृपण' का अर्थ 'कृपायोग्य' भी और 'तिरस्कारयोग्य' भी।[1] वैयाकरण मित्रों से सुना है कि 'महाभाष्य' मे पतञ्जलि लिख गये हैं, "सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः"। ठीक ही है। कोई भी शब्द किसी भी

१ पाणिनीय धातुपाठ मे, दो विरुद्ध अर्थ रखने वाले एक ही एक धातु, बहुत से मिलते हैं।

अर्थ के साथ, समाज के संकेत से, बाँध दिया जा सकता है। प्रायः यही देख कर, और यह भी देख कर कि शब्द और अर्थ के घनिष्ठ सङ्कर से तत्त्व के ज्ञान मे कितनी भ्रान्ति उपज सकती और उपजती ही है, उन्हीं पतञ्जलि ने, (अथवा सम-नाम किन्ही अन्य परम-विवेकी विद्वान् ने), योग-सूत्र मे, "शब्द-अर्थ-ज्ञान" को "असङ्कीर्ण" करने का, उन मे विवेक करने का, और "अर्थमात्र-निर्भास" साधने का, उपदेश किया है। कई भाषाओं का ज्ञान, इस 'चित्त-विनयन', 'चित्त-निरोधन', 'चित्त-परिकर्म', मे बहुत सहायक होता है। विविध भाषाओं के विविध शब्दों द्वारा एक ही अर्थ को पहिचानने से, पद और अर्थ का पार्थक्य अनायासेन सिद्ध हो जाता है। प्रसक्त वक्तव्य यह कि, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, प्रयोक्ता मनुष्यों के परस्पर सङ्केत से, (सम्-अय ,सं-गति) 'समय' समझौते से, बंधता है और टूटता है; और इसी हेतु से यदि दो मनुष्य एक सङ्केत मे सम्मिलित नहीं हैं, तो उन के बीच मे एक दूसरे के अभिप्राय का अ-ग्रहण, विपरीत-ग्रहण, भ्रान्त-ग्रहण, और वाद-विवादादि उत्पन्न हो जाते हैं। "वाचि अर्थाः निहिताः सर्वे, वाङ्मूलाः वाग्विनिःसृताः, तस्माद् यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन् नरः" (म०); पर, अबुद्धिपूर्वक किये ऐसे 'स्तेय' से बचना बहुत कठिन हो गया है; उक्त हेतु से, और शब्द-बाहुल्य से। 'विज्ञान' शब्द अब कई अर्थों मे प्रयुक्त होने लगा है; मै ने, अपनी उक्त अंग्रेज़ी पुस्तकों मे, 'सायंटिफ़िक्' शब्द का प्रयोग किया है; प्रायः उसी का अनुवाद आप ने 'वैज्ञानिक' किया है; ठीक ही किया है, आजकाल ('अद्य काले') हिन्दी मे प्रायः ऐसा ही सब लेखक करते है। अंग्रेज़ी 'सायंस' शब्द का भी मूल धातु 'शंस्' 'शास्' जान पड़ता है, जिस से 'शास्त्र' बना है; ऐसे ही अंग्रेज़ी 'क्नो' का (जिस का उच्चारण 'नो' होता है) मूल धातु 'ज्ञा' है (जिस का उच्चारण महाराष्ट्र प्रान्त मे 'ग्ना' होता है, जैसा अंग्रेज़ी 'ग्नास्टिक' अर्थात् 'ज्ञानी' मे)। 'सायंस' का अनुवाद 'शास्त्र', और 'सायंटिफिक्' का 'शास्त्रीय' होता, तो स्यात् अच्छा होता; किन्तु 'सायंस्' का प्रयोग पच्छिम मे प्रायः 'अधिभूत-शास्त्र' के लिये ही आरम्भ हुआ, जिसे भारत मे लोग 'विज्ञान'

कहने लगे हैं; और 'सायंस्' और 'सायंटिफ़िक' शब्दो के अर्थ मे 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' की अनुकूलता, और 'शब्द' 'आगम' आदि मे तर्करहित आस्था श्रद्धा की प्रतिकूलता भी, सम्मिलित सकेतित हो गयी है। भारत मे, 'शास्त्र' मे चतुर्विध शास्त्र, 'धर्म-अर्थ-काम-शास्त्र' भी, और 'मोक्ष-शास्त्र' भी जो ही प्रायः 'ब्रह्मज्ञान' शब्द से अब अभिप्रेत होता है, अन्तर्गत हैं; तथा श्रुति, स्मृति, पुराणादि, शब्द, प्रमाण मे, तर्का-नपेक्ष, बुद्ध्य-तीत, आस्था श्रद्धा प्रायः मिल गयी हैं; और 'शास्त्रीय' शब्द से वह अर्थ अब नहीं निकलता जो 'वैज्ञानिक' से लिया जाता है; सब सङ्केत कालवशात् बदल गये हैं। किन्तु, पच्छिम मे भी, 'सायंस्' के अर्थ का विस्तार, क्रमशः, 'शास्त्र' के अर्थ के समान, होता जाता है; 'साइकी', 'जीव', का शास्त्र, 'सैकालोजी', अन्तःकरणशास्त्र, चित्तशास्त्र, जिस को हिन्दी ग्रन्थकर्त्ता 'मनोविज्ञान' कहने लग गये हैं, और जिस का निकटतम प्राचीन संस्कृत शब्द 'अध्यात्म-विद्या' जान पड़ता है—यह 'सैकालोजी' तो अब पश्चिम मे निश्चित रूप से 'सायन्सों' मे गिनी जाती है। फ़िला-सोफ़ी', 'मेटा-फ़िज़िक्', को भी, 'सायन्स् आफ़् रियालिटी, आफ़् बीइङ्, आफ़् ट्रूथ', अर्थात् 'वास्तविकता' का शास्त्र, ("वेद्यं वास्तवम् अत्र वस्तु विशदं") 'सत्, सत्ता, सन्मय' का शास्त्र, ("ॐ तत् सत्", "सत्-चिद्-आनन्दं ब्रह्म"), 'सत्य' का, 'तत्त्व' का, शास्त्र, ("सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म", "परं तत्त्वं"), यहाँ तक कि 'सायंस् आफ़ सायंसेज़्', शास्त्रों का शास्त्र, अब कहने लगे हैं; तथा 'सायंस् आफ़् दी इनफ़िनिट्', अर्थात् 'अपरिमित पदार्थ' का शास्त्र, 'परा विद्या', और 'सायन्सेज् आफ् दी फ़ाइनाइट्', 'परिमित पदार्थों के शास्त्र'—ऐसा भी प्रयोग होने लगा है; "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या-प्रतिष्ठाम्"।[१]

संस्कृत वाङ्मय मे, 'ब्रह्म' वा 'आत्मा' शब्द के साथ 'शास्त्र'

१ इस धारा (पैरा) मे आये हुए अंग्रेजी शब्दों के मूल रूप ये हैं; Pitiful; scientific; science; know; gnostic, psyche; psychology; philosophy; metaphysic; science of

शब्द प्रायः नहीं, और 'विद्या' शब्द ही बहुधा, लगाया जाता है; 'मोक्ष' के साथ 'शास्त्र'; ऐसी रूढ़ि हो रही है ; स्यात् इस हेतु से कि 'आत्मा' 'शास्य' नहीं, 'निजानुभववेद्य' ही है ; परन्तु "प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्म-विद्यां", "तत् त्वं असि", यह गुरु का उपदेश, 'शासन' ही है। अस्तु।

ऐसी अवस्था मे, 'विज्ञान' शब्द का किस अर्थ मे प्रयोग करना उचित है, यह निर्णय है । यह शब्द उपनिषदों मे बहुत आया है ; गीता मे चार हो बार, और इस के रूपान्तर, 'विज्ञातुं' और 'विज्ञाय', एक एक बेर; उपनिषदों मे अन्य उपसर्गों के साथ भी 'ज्ञा' का प्रयोग हुआ है, "संज्ञानं आज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं" आदि; 'ज्ञानं' का तो बहुतायत से ; भाष्य और टीका करने वालों ने अपने अपने कई अर्थ लगाये हैं; पर हिन्दी-लेखक-लोक-मत ने 'विज्ञान' का अर्थ 'आधिभौतिक-शास्त्र', वा विद्या, वा ज्ञान मान लिया है, जिसे पश्चिम मे प्रायः "फ़िज़िकल् सायंस्' कहते हैं।[१]

"श्रुतिद्वैधे यथेष्टं" न्याय से, और हिन्दी लेखक वर्ग के स्वीकृत सङ्केत के अनुसार, तथा व्युत्पत्ति-निरुक्ति की दृष्टि से भी, मेरे मन मे यही बैठता है कि, 'ज्ञान' शब्द को 'सामान्य', उभय-संग्राहक, अर्थ मे प्रयोग करना उचित है; "ज्ञानिनो मनुजाः नूनं, किन्तु ते नहि केवलं ; ज्ञानम् अस्ति समस्तस्य जन्तोः विषयगोचरे" (दुर्गा०); और उसके अवान्तर दो मुख्य 'विशेष' करना ठीक है; यथा, (१) 'प्रकृष्टं ज्ञानं, प्रकृष्टस्य, उत्कृष्टस्य, श्रेष्ठ-प्रेष्ठ-पदार्थस्य, आत्मनः, परमात्मनः, सर्वविशेषेषु सामान्येन समवेतस्य, व्याप्तस्य ज्ञानं आत्मज्ञानं, प्रज्ञानं'; और (२) 'विशिष्टं ज्ञानं, विशेषेण, विशेष-विशेष-पदार्थानां ज्ञानं, विज्ञानं'; "यदा भूतपृथग्-भावं एकस्थ अनुपश्यति" यह प्रज्ञान; "तत एव च विस्तारं" यह विज्ञान; "ब्रह्म सम्पद्यते तदा" (गी०); "ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा", प्रज्ञान-विज्ञान उभय से सम्पन्न हो कर उस ज्ञानी द्रष्टा का ब्रह्म, वेद, ज्ञान, सम्पन्न पूर्ण reality, of being, of truth; science of sciences; science of the infinite; sciences of the finite.

१ Physical science.

होता है, और वह द्रष्टा, ज्ञानी, ब्रह्मत्वेन स्वय सम्पन्न हो जाता है; "ब्रह्म वेद ब्रह्म एव भवति, परम्‌एव ब्रह्म भवति यः एवं वेद", ब्रह्ममय, परमात्म-मय, हो जाता है। ऊपर कहा कि, 'साइकालोजी' शब्द का अनुवाद 'अध्यात्म-विद्या' शब्द से हो तो अच्छा है; इस से, अन्य विद्याओं विज्ञानो की अपेक्षा से, उस का निकटतम सम्बन्ध 'फिलासोफी', 'आत्मविद्या', से प्रकाशित हो जाता है; जैसा होना चाहिये। गीता मे, 'ज्ञान' शब्द, उक्त 'प्रज्ञान' के अर्थ मे बहुधा प्रयोग किया गया है; यथा—"आवृत ज्ञान-मेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा कामरूपेण"; "विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनं"; "उपदेक्ष्यति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः", "श्रद्धावान् लभते ज्ञानं", "ज्ञानं लब्ध्वा परा शांतिं अचिरेणाधिगच्छति", "अज्ञानेनऽावृतं ज्ञानं", "ज्ञान प्रकाशयति तत्पर", "ज्ञान तेऽह स-विज्ञान इद वक्ष्या-म्यशेषतः", "ज्ञान विज्ञानसहितं", "बुद्धिर्ज्ञानमसमोहः", "ज्ञानं ज्ञानव-तामह", "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञान यत् तज् ज्ञानं मत मम", "एतज्ज्ञान इति प्रोक्त", "ज्ञानाना ज्ञानं उत्तम", "इद ज्ञानं उपाश्रित्य", "ज्ञान आवृत्य तु तमः," "ज्ञान विज्ञानं आस्तिक्य", "इति ते ज्ञानं आख्यातं गुह्याद् गुह्यतर मया"; इति प्रभृति। और लोकरूढ़ि भी ऐसी ही हो रही है कि ज्ञान का अर्थ आत्मज्ञान, और ज्ञानी का अर्थ आत्मज्ञानी है। तथापि, गीता मे यह भी कहा है, "तज् ज्ञानं विद्धि सात्त्विक, तज् ज्ञानं विद्धि राजस, तत् (ज्ञानं) तामस उदाहृतं"; इस लिये, साधारण बोल चाल मे चाहे जो भी व्यवहार होता हो, जहाँ सूक्ष्म विवेक और संदेहऽभाव इष्ट हो, वहाँ ब्रह्म-परमात्म-आत्म-ज्ञान के लिये 'प्रज्ञान', और 'प्रकृति-ज्ञान' के लिये 'विज्ञान', का प्रयोग उचित जान पड़ता है।

"विश्व-धर्म" किस रीति से 'आध्यात्मिक' 'दार्शनिक' भी और 'वैज्ञानिक' भी है, "गुह्यतम" भी और "प्रत्यक्षावगम" भी है, तर्कसिद्ध भी और प्रत्यक्षसिद्ध भी है; पाश्चात्य भौतिक विज्ञान के सुनिश्चित तथ्यों के अविरुद्ध है, श्रद्धेय है; अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत सभी शास्त्रों के अनुकूल क्या सब का संग्राहक, प्रतिष्ठापक, "सर्वविद्याप्रतिष्ठा" है—यह उक्त दो अंग्रेज़ी पुस्तकों मे सविस्तर दिखाने का यत्न मैंने किया है। "प्रत्यक्ष-

परा प्रमितिः", सब प्रमाणों का पर्यवसान 'प्रत्यक्ष' मे है; और सब प्रत्यक्षों का पर्यवसान प्रतिक्षणाऽनुभूयमान आत्म-प्रत्यक्ष मे है, "नहि कश्चित् संदिग्धे अहं वा नऽहं वा, इति" (भामती); अतः उस एकमात्र 'सनातन' पर निष्ठित प्रतिष्ठित 'सनातनधर्म', गाताक्त धर्म, नितान्त तर्कानुकूल भी और आत्यन्तिक आस्था श्रद्धा का पात्र भी है—यह सब भी दिखाने का उद्योग वहाँ किया है । और बीसियों आधुनिक प्रसिद्धतम पाश्चात्य 'सायंटिस्ट' विज्ञानशास्त्रियों के लेखों से उद्धरण कर के, उन सब का विश्वास इस की ओर झुक रहा है, यह भी दिखाया है ।

'विश्व-धर्म' का क्या अर्थ है ?

आप ने पूछा है, "विश्व-धर्म शब्द का 'विश्व किस अर्थ मे लिया जाय ?", और कई वैकल्पिक अर्थों की उद्भावना की है । ऊपर जो 'सामान्य' और 'विशेष' के 'समवाय' के विषय मे कहा गया है, उस पर यदि आप ध्यान देंगे, तो स्यात् यह स्फुट हो जायगा, कि आप के सभी विकल्प, संवादी है, विवादी नहीं; परस्पर अनुकल्प हैं, विकल्प नहीं; अनुरोधी हैं, विरोधी नहीं ; एक ही अर्थ के विविध 'अस्र', अंश, अंशु, पक्ष हैं । यह 'विश्व-धर्म' (१) मानव विश्वभर मे फैला भी है, (२, उसे सब लोग चाहते भी हैं, (३) वह सब मे समान भी है, (४) सनातन सत्य भी है । किन्तु, जिन भिन्न-भिन्न भाषाओं, शब्दों, संकेतो मे, भिन्न-भिन्न देशों और जन-समुदायों ने उसे लपेट रखा है, उन सब शब्दों और संकेतों की एकार्थता, सामान्यार्थता, समानार्थता, तुल्यार्थता को वे सब देश और समूह पहिचानते नहीं; और, अहंकारवश, अपने ही शब्दों संकेतों मे अभिनिवेश करते हैं, तथा दूसरों के शब्दों संकेतों से प्रतिनिवेश । अविद्या के पाँच पर्व ही महामाया की 'आवरण' और 'विक्षेप' शक्तियों के प्रत्यक्ष रूप हैं; "आवृतं ज्ञानमेतेन कामरूपेण वैरिणा", "आवृत्य विक्षिपति संस्फुरदात्मतत्त्वं", "ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति"; सज्ज्ञान पर आवरण, सत्य को देखने वाली आँख पर पर्दा, अहंकार-काम-क्रोध से पड़ जाता है; और ये ही मनुष्य को अभिनिविष्ट प्रतिनिविष्ट 'विक्षिप्त' बना कर, असन्मार्ग

पर, अधर्म, अन्याय, पाप के पथ पर, पुनः पुनः धक्का देते हुए, दौड़ाते रहते हैं। इन आवरणों और विक्षेपों से, आज समस्त मानव जगत् मे कलि का, कलह का, विवाद, वैर, घोर युद्ध का 'साम्राज्यवाद' हो रहा है। "सोऽयमात्मा श्रेष्ठश्च, प्रेष्ठश्च, सर्वसमश्च, विभुश्च"; परन्तु शरीरों मे, उपाधियों मे, "आप्रणखात् प्रविष्टः" हो कर, अत्यन्त आवृत और विक्षिप्त हो गया है, नितान्त छिप गया है; उस को देखने समझने पहिचानने मे सभी मनुष्य असमर्थ हो रहे हैं। घनिष्ठ मित्र भी नाम बदल कर, कपड़े बदल कर, दूसरे-दूसरे वेश मे सामने आता है तो पहिचाना नहीं जाता; क्योंकि हमी ने उस के कपड़ों, आवरणों, ही पर ध्यान सदा जमाया, उस के वास्तविक, तात्त्विक, असली स्व-रूप पर, मुख पर, आँख नहीं लगाया।

'विश्वधर्म', 'धर्मसार', 'धर्मसामान्य', की रूप-रेखा।

'सब धर्मों की तात्त्विक एकता' नामक उक्त अंग्रेजी ग्रन्थ मे, इसी लिये, ११ (ग्यारह) मुख्य प्रवर्त्तमान धर्मों (चार भारतीय—हिन्दू वा वैदिक, बौद्ध, जैन, सिख; एक पारसीक; तीन अरबी—यहूदी, ईसाई, मुस्लिम; दो चीनी—कङ्फुत्से, लाओत्से, के नाम वाले; एक जापानी—शिंतो) के, 'अपौरुषेय' 'श्रुति' ग्रंथों, वा तद्वत्सम्मानित 'स्मृति' ग्रन्थों, से, प्रायः ११५० (साढ़े ग्यारह सौ) तुल्यार्थ वाक्यों का संकलन कर के, तीन अध्यायों मे बाँटा है, अर्थात् 'ज्ञानाङ्ग' (ज्ञानमार्ग, ज्ञानकाण्ड), 'भक्त्यङ्ग' (भक्तिमार्ग, भक्तिकाण्ड, इच्छाङ्ग), 'कर्माङ्ग' (कर्ममार्ग, कर्मकाण्ड, क्रियाङ्ग) मे[1]। ये तीन, प्रायः वही वस्तु हैं जिन की चर्चा समालोचक ने 'आध्यात्मिक वा दार्शनिक', 'व्यावहारिक और उपासनात्मक', तथा 'सदाचारविषयक' नामो से की है; और ये ही तीन,

[1] इस ग्रन्थ का भारत मे भी (भारतीयों के लिखे ग्रन्थों की दशा देखते हुए, अपेक्षा-दृष्टि से, कहना पड़ता है कि) प्रचार अच्छा ही हुआ; और विदेशों मे भी कुछ और अच्छा हुआ। पांच वर्ष मे ४००० (चार हज़ार) प्रतियां लोगों ने ले लीं। नये संस्करण का छपना आरम्भ हो गया है। इस मे १३५० (तेरह सौ) से अधिक उद्धरण रहेंगे।

प्रत्येक विशेष धर्म के भी अस्र, अङ्ग, अवयव, रूप, (अंग्रेजी 'आस्पेक्ट', फारसी 'पहलू') हैं; क्योंकि शरीरोपहित चेतन, जीव, चित्त, अन्तःकरण के तीन अस्र हैं, ज्ञान, इच्छा, क्रिया, वा सत्त्व, तमस्, रजस्, (जिन का संवाद कहिये, उद्गम कहिये, चिद्, आनन्द, सत्, और गुण, द्रव्य, कर्म, से है)। उक्त तीन अध्यायों को ३५ (पैंतीस) अधिकरणों मे विभक्त कर के, प्रायः १२ (बारह) भाषाओं के मूल शब्दों को 'रोमन' अक्षरों मे, और उन सब का अनुवाद अंग्रेजी मे, रख दिया है। इन उद्धरणो से यह दिखाने का यत्न किया है, कि इन सब धर्मों मे, आध्यात्मिक दार्शनिक अङ्ग मे प्रायः ऐक्य है; उपासना भाव और सदाचार के अङ्ग मे ऐक्यप्राय साम्य है; केवल, उपास्य पदार्थ के नाम-रूप मे कुछ वैविध्य है ; तथा कर्मकाण्ड मे कुछ वैदृश्य होते हुए भी अधिकतर सादृश्य है। अन्य चार अध्यायों मे, इस ग्रंथ मे, 'अभ्युदय-निःश्रेयस' दोनो के साधक, भोग-मोक्ष उभय के दाता, देह और चित्त दोनो की भूख के शमन तोषण करने वाले, शारीरिक आहार और आध्यात्मिक आहार दोनो को देने वाले, स्वार्थ-परमार्थ दोनों को साधने वाले, प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनो की वासनाओं को पूरा करने वाले, दुनिया और आक़बत दोनो को बनाने वाले, 'सिन' और 'साल्वेशन' दोनो के पार लगाने वाले—ऐसे 'धार्मिक प्रज्ञान विज्ञान' और 'वैज्ञानिक प्राज्ञानिक धर्म' की, मनुष्य को, अपरिहार्य अनिवार्य आवश्यकता का, और तत्सम्बन्धी शिक्षा का, और तद्द्वारा पृथ्वीतल पर शान्ति स्थापित करने के प्रकार का, प्रतिपादन विवरण किया है।

साम्प्रदायिक ('धार्मिक,' 'धर्मीय' !) उपद्रव।

सन् १६३१ ई० के फ़रवरी मास मे, काशी मे, भारी हिन्दू-मुस्लिम 'साम्प्रदायिक उपद्रव' हुआ। दोनो पक्षो के सब मिल कर प्रायः चालीस आदमियों ने प्राण खोया, और प्रायः चार सौ घायल हुए। इस के बाद, मार्च मास में, कानपुर मे बहुत अधिक उपद्रव हुआ। प्रायः चार सौ आदमी, स्त्री, पुरुष, बालक, जान से गये, प्रायः बारह सौ घायल हुए, कुछ मन्दिर-मस्जिद तोड़े गये, पचासों छोटे-बड़े मकान जलाये-ढहाये

गये, सैकड़ो दूकाने लूट ली गयी। उपद्रव के कारणो की जांच और चिकित्सा के उपायो की सूचना के लिए कांग्रेस ने, (जिस का वार्षिक अधिवेशन, उन्हीं दिनो, कराची मे हो रहा था), छः आदमियो की, तीन हिन्दू तीन मुसलमान की, एक कमेटी नियुक्त की, जिस के 'चेयरमेन' का कार्य मेरे जिम्मे किया गया; तीन महीने कानपुर मे रह कर और गली-गली घूम कर, इस कमेटी ने जांच की; और प्रायः चालीस हिन्दू मुसल्मान, और दो तीन ईसाई, जानकार सज्जनो के, जिन मे कई प्रकार के व्यवसायों के लोग थे, साक्षित्वेन कथन, गवाही के बयान इज़हार, इस कमेटी ने लिखे।

ऐसे उपद्रवों के उन्मूलन का उपाय।

उपद्रव रोकने के उपायों के सम्बन्ध मे प्रायः सब साक्षियों ने यह स्वीकार किया कि (१) दोनो धर्मों के मूलतत्त्व एक ही हैं, केवल कर्मकाण्ड और भाषाओं मे, जैसा पहिनावे मे हुआ करता है, भेद है; और (२) समान मूलतत्त्वो का प्रचार, शिक्षा संस्थाओं मे और जनता मे किया जाय, तो धर्म के नाम से उपद्रव न हो; रोटी के लिए हों तो हों। केवल एक या दो साक्षियों ने इस मे सन्देह किया, सर्वथा वैमत्य नहीं। सिवा इन एक दो के, सब ने यह माना कि सब लड़कों-लड़कियों को, विद्यार्थी अवस्था मे, इस 'धर्मसार' वा 'धर्मसामान्य' वा 'विश्वधर्म' की मुख्य-मुख्य बातें सिखा देना, उन को सयाने वयस् मे साम्प्रदायिक उपद्रवों से अलग रखने का उत्तम उपाय है; यथा, 'ईश्वर' का पर्याय 'अल्ला', 'परम' का पर्याय 'अकबर' (सत्र मे 'कबीर', बड़ा), 'अल्लाह-अकबर' का पर्याय 'परमेश्वर' 'महा-देव'। सन् १९३१ ई० के पहिले भी और उस के पीछे भी, अब तक जिन-जिन सज्जनों से इस विषय पर मुझे वार्तालाप का अवसर हुआ है, उन मे से अधिकतर यह मान लेते हैं कि ऐसा सार-धर्म, सब विशेष धर्मों मे ओत-प्रोत है, और शिक्षणीय शासनीय है।[1]

१ इस कमेटी की रिपोर्ट के अन्त मे इस उपाय को मुख्य स्थान दिया गया, तथा अन्य अवान्तर उपाय भी, शैक्षिक, सामाजिक, राज-नीतिक, आर्थिक, और स्व-स्व-विशेष-धर्मऽाचरण सम्बन्धी, बताये गये।

'सामाजिक धर्म', 'साधारण धर्म' 'धर्मसर्वस्व'।

'सामासिक धर्म', 'साधारण धर्म', 'परम धर्म', 'धर्मसर्वस्व', ऐसे शब्द, मनु, याज्ञवल्क्य, आदि की स्मृतियों मे आये हैं।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवऽधार्यतां,

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत,

यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्। (म. भा.)

यह व्यास ने, भीष्म के कहे का, शान्तिपर्व मे, अनुवाद किया है,

कांग्रेस की 'वर्किङ् कमेटी' ने तथा अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी ने, इस रिपोर्ट को मञ्जूर भी कर लिया। पर तदनुसार कांग्रेस ने प्रचार का कुछ भी यत्न नहीं किया। मुस्लिम लीग, और हिन्दू महा सभा, और कांग्रेस का परस्पर वैर बढ़ता ही गया। १ मई १९४६ ई०को सात आठ प्रान्तों, (सूबों, 'प्राविन्स') मे कांग्रेस मिनिस्ट्रियां बनी, तीन चार मे मुस्लिम लीगी ; केन्द्र मे ९-९-१९४६ ई० को कांग्रेसी नई सर्कार, 'केबिनेट' के नाम से बनी। फुटकर कामो ही मे मन देते और समय खोते रहे, मूल कारणो की ओर नहीं; स्वराज की सर्वसन्तोष-कारक रूप-रेखा देश के सामने नहीं रक्खी; विशेष पुलिस और 'होम-गार्ड' (गृह-रक्षक') दलों द्वारा ही दंगों के दमन के उपाय सोचते रहे; शिक्षा के द्वारा नहीं। इस भ्रान्तिमय शासन का फल क्या हुआ? १६ अगस्त से २१ अगस्त १९४६ तक कलकत्ते मे ऐसा उपद्रव हुआ जैसा अंग्रेजी शासन मे पहिले कभी नहीं हुआ; प्रायः दस हजार स्त्री पुरुष बच्चे, हिन्दू भी मुस्लिम भी, जान से गये, बहुत दारुण दारुण प्रकारो से चीरे फाडे गये, और प्रायः तीस हजार को गहिरे घाव लगे। यह अंक, बगाल कौंसिल की १८ सितम्बर १९४६ की बैठक मे और ८-१०-४६ को, ब्रिटेन मे, मध्य प्रान्त के गवर्नर, ट्विनाम, के व्याख्यान मे, बताये गये। नोआखाली मे इससे भी घोरतर। ढाका, प्रयाग, अहमदाबाद और बीसियों अन्य स्थानो मे बहुत मार काट हुई, और हो रही है। बम्बई मे १-९-४६ से दंगा आरम्भ हुआ; २१-९-४६ तक ३००० मनुष्य मार डाले गये, ३४० घायल हुए। शासन प्रबन्ध मे, उत्तम शिक्षक और उत्तम शिक्षा को सर्वोत्तम स्थान न देने का यह फल है।

जिन भीष्म के लिये कृष्ण ने कहा कि "ज्ञानानि अल्पीभविष्यन्ति दिवं याते पितामहे", पितामह जब देवलोक को चले जायंगे तब पृथ्वी पर सब ज्ञान कम हो जायगे। इस धर्म-सर्वस्व के अक्षरशः एकार्थ वाक्य, अन्य धर्मों के धर्म-ग्रन्थों से उद्धार कर के, मै ने उक्त ग्रन्थ मे ग्रथा है।

व्यवहार मे कैसे लाया जाय ?

रही, इस विश्वास को व्यवहार मे लाने और व्यापक करने की बात; तो अभी, विविध धर्मों के, सम्प्रदायों के, राष्ट्रों के, मुखियों मे, कहीं भी, ऐसे जीव पर्याप्त संख्या मे वर्त्तमान काल मे नहीं है, जं "मनसि एकं, वचसि एकं, कर्मणि एकं महात्मना" के उदाहरण हों; और इस विश्वास को रखते हुए, शपथ ले कर 'संशप्तक' हो कर, इस के प्रचार मे कटिबद्ध हों। सब देशों, सब युगों, मे जीर्णोद्धार के, सुधार के, धर्म के नए रूपों और प्रकारों के, भावा और विचारों का प्रचारण, ऐसे ही 'मिशनरियों', परमात्मा के 'संदेशहरों,' द्वारा हुआ; यथा बुद्ध, जिन, मूसा, ईसा, मुहम्मद, शङ्कराचार्य, रामानुज, मध्व, चैतन्य, मार्टिन लूथर, कबीर, नानक, गुरु गोविन्दसिंह, आदि के समय मे। मानव-जगत् के वर्त्तमान काल मे, इस युग मे, इस अवस्था और 'परि'स्था मे, 'विश्व-व्यवस्था से उपहित विश्वधर्म' के रूप मे 'धर्म' पदार्थ को ला कर, उस के जीर्णोद्धार की परम आवश्यकता है; यदि इस के विश्वासी, श्रद्धालु, 'सम्यग्व्यवसित', दृढ़-प्रतिज्ञ, संशप्तक प्रचारक, पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न हो गये, तब यह जीर्णोद्धार सिद्ध, और उन का सङ्कल्प सत्य, हो जायगा। ऐसे विचार और विश्वास वालों की संख्या प्रत्येक देश मे बढ़ती देख पड़ती है। ये सज्जन, समस्त मानव-जातियों और देशों का, इस युग मे, अभूतपूर्व सम्बन्धन, विज्ञानकृत और वार्त्ताकृत, दृढतर होता हुआ, देख रहे हैं; साथ ही, इन जातियों के हृदयों मे, प्रतिस्पर्धा-संघर्ष-ऽात्मक, द्वेष-द्रोह-कारक, पार्थक्यभाव, को भी वर्धमान देख रहे हैं; और 'विशेष-धर्म' और 'विशेष-राष्ट्रीयता' ('नैशनलिज़्म') के भावों से उत्पन्न परिखाओं, भित्तियों, प्रावारों प्राकारों, को, 'सामान्य-धर्म' और 'सामान्य-मानवीयता' ('ह्यु मैनिज़्म') के विरोधी उग्र भेदभाव का, और अब जगत् के क्षय का, कारण, जानते-मानते हैं; इस लिए इन को

हटाना-मिटाना चाहते हैं। यह मतलब नहीं, कि सब विशेषता, सब जातीयता, सब राष्ट्रीयता मिट जाय; कदापि नहीं; यह तो असम्भव है; किन्तु यह कि, ये सब विशेषताएं, 'सामान्यता', 'समानता' के 'अधीन' रहें; 'उपरीण' नहीं; विशेष ही नहीं, विशेष भी रहें, और सामान्य भी, संग्राहकत्वेन, समन्वय-कारकत्वेन, समवाय-कारकत्वेन, सार्व-भौमत्वेन, रहे। परन्तु ऐसा चाहने वालों के विचार अभी स्थिर, निश्चित, निर्णीत, सु-दृब्ध, सु-व्यूढ़ ('आर्गेनाइज़्ड्', 'सिस्टेमाटाइज़्ड्') नहीं हुए हैं; प्राचीन आर्ष निर्णयों का प्रतिपादन, नये शब्दों मे कर के, इस निश्चयन, सु-दर्भण, सु-व्यूहन, स्थिरीकरण मे सहायक होना, मेरी उक्त पुस्तकों के लिखे जाने की प्रेरक आशा है।[1]

"क्लिश्यतिअन्तरितो जनः"।

यत्न करते रहना चाहिये; 'कर्मण्येवाधिकारस्ते, फलसिद्धिरयेश्वरे'; कर्त्तव्य कर्म कर देना मनुष्य के हाथ है; फलसिद्धि ईश्वर के हाथ है; जब हो तब हो। इस बीच मे, अस्मिता-अहंकृति-देवी, "संसारस्थितिकारिणी", के बवंडर मे ही, प्रायः सभी मुखिया नेता महोदय उड़ते रहते हैं; गहिरी बातों की ओर, मूल कारणों की खोज मे, रोग-निर्मूलक औषधों को ढूँढ निकालने और काम मे लाने मे, मन देते ही नहीं; "सर्वे प्राथम्यमिच्छन्ति", "कोऽन्योस्ति सदृशो मया ?", "मेरा ही मत सर्वोत्तम और अस्पृश्य", इसी धुन मे अलग-अलग पड़े हैं। 'मुझी को सब से ऊंचा पद मिलना चाहिये', 'मेरे मुक़ाबिले का दूसरा है कौन ?', 'हम् चु मन् दीगरे नीस्त', हमारा वेद, हमारे पुराण इतिहास, हमारे शास्त्र, हमारे ऋषि महर्षि, हमारा परमेश्वर', हमारा क़ुरान, हमारी हदीस, हमारे रसूल पैग़म्बर, हमारे औलिया, हमारा अल्ला अकबर', 'हमारा मसीहा, हमारा यहोवा, हमारा अपासल्,' इसी 'मै-मेरा-हमारा' की अहन्ता-ममता मे मस्त हो रहे हैं; समझते हैं कि हम को और हमारे पूर्वजों को, हमारे वंश, हमारी जाति को, उत्पन्न कर के, और उन के द्वारा एक विशेष भाषा मे कुछ ग्रन्थों का सं-हनन, (संहती-करण, संघी-करण, संघाती-

[1] Nationalism ; Humanism; organised, systematised.

करण, सं-घान,) सहिती-करण, सङ्कलन, प्रकाशन, प्रवचन करा के, परमात्मा की, अल्लाह का, 'गॉड' का, समस्त शक्ति रिक्त और वीत हो गयी। ('हा' 'हन्' धातु के साथ भिन्न उपसर्ग लगाने से अर्थ भिन्न तथा विरुद्ध भी, हो जाते हैं; 'स-हत', 'सं-हनन', 'सं-घात', 'स-घ', का अर्थ एकीकरण है; 'वि-हत', 'वि-हनन' 'वि-घात', 'वि-घ्न', 'आ-घात' 'आ-हत', 'वि हत', का अर्थ, इस का विपरीत है। ऐसे ही 'सं-भिन्न' और 'वि भिन्न')।

राजनीतिक व्यवहार मे उदाहरण देखिये—ब्रिटिश गवर्मेंट की ओर से दूत रूप मे, भारत से समझौता करने को, मार्च, १९४२ ई० मे, सर स्टाफ़ार्ड क्रिप्स नई दिल्ली मे पहुँचे; पर, भारतीय नेताओं के 'विशेष धर्मों' के मिथ्याकल्पित परस्पर विरोध ही पर ज़ोर देने के कारण, (शिखा ही; दाढ़ी ही; धोती ही; सूथन ही; दो सन्ध्या ही; पांच नमाज़ ही; हिन्दी-संस्कृत ही; उर्दू-अरबी-फ़ारसी ही; माला ही; तस्बीह ही; मन्दिर ही; मस्जिद ही; मूर्त्ति ही, क़ब्र ही; हिन्दू और मुस्लिम का, जीवन-प्रकार मे, पार्थक्य ही; इत्यादि भावों के ही मन मे बसे धँसे रहने के कारण), और सर्व-मानव-कल्याण-कारक 'मानव-धर्म' 'सामान्य-धर्म' पर ध्यान न देने के कारण, समझौता नहीं हो सका; मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा एक दूसरे के दोष ही देखती-दिखाती रही; अपने दोष नहीं; दूसरे के गुण नहीं; कांग्रेस दोनो से वि-मत; "मुरारेस्तृतीयः पन्थाः"; कांग्रेस के भीतर भी वैमत्य; कुछ सज्जन, परम-पुरुष की 'द्वन्द्वात्मक' प्रकृति को आमूल बदल कर 'एकात्मक', शुद्ध अहिंसात्मक, बना डालने पर तुले हुए; केवल इतना कहने से सन्तुष्ट नहीं कि, यद्यपि 'हिंसा' और 'दण्ड' मे महा-भेद है, और न्याय्य दण्ड राजा के परम धर्मों मे परिगणित है, तथा चतुर्विध राजनीति मे चतुर्थ अन्तिम नीति है; तथापि, भारतवर्ष की जो दुर्दशा, अपने और पराये पापों के कारण हो गयी है, उस दुर्दशा की अवस्था मे, भारत-जनता के पास, सिवा 'अहिंसा' के, बर्दाश्त के, "क्षमाशस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति" पर भरोसा करने के, अथवा यथा-शक्ति यथा-सम्भव शान्त-प्रतिरोध और तटस्थता के, कोई दूसरा

उपाय, ब्रिटिश प्रभुता के विरुद्ध नहीं — केवल इतना कह कर संतोष नहीं । (कांग्रेस के ही कुछ अन्य सज्जन, इस अंश मे अहिंसा-वाद को छोड़ कर, शूरता-वीरता से, जापानियों के आक्रमण को रोकने की सलाह देते रहे, पर उसी शूरता वीरता से वर्तमान ब्रिटिश-साम्राज्य के स्थान मे भारतीय स्वराज्य क़ायम नहीं कर सकते); इत्यादि ।

धर्म-सामान्य; ब्रिटेन-भारतीय-संघ से मानवजगत्संघ ।

यदि ये सब सज्जन 'धर्म-सामान्य' और 'सामाजिक-व्यवस्था-सामान्य', अर्थात् 'विश्व-धर्म' और विश्व व्यवस्था' पर ध्यान दिये होते और इन को पहिचानते, तो, स्यात् बीस वर्ष पहिले ही, भारतवर्ष को 'स्वराज' मिल गया होता; भारत के भीतर भी शान्ति होती; और समस्त मानव-जगत् मे भी; क्योंकि चारो ओर ईर्ष्या-मत्सर-द्रोह का, और तज्जनित दारुण युद्ध का, एकमात्र कारण, ब्रिटिश साम्राज्यवाद, भूतल से उठ गया होता, और उस के स्थान मे, 'ब्रिटिश-इण्डियन-कामन्वेल्थ', 'ब्रिटेन-भारत-संघ', ('वृष्णि-अन्धक-संघ' के ऐसा), प्रतिष्ठित हो जाता; जो 'विश्व महासंघ' का आरम्भक केन्द्र वा बीज होता, जिस मे क्रमशः अन्य सब राष्ट्र, भूतल के, शामिल होते, और जो थोड़े ही काल मे मानव-जगत्-संघ के रूप मे परिणत हो जाता । यह बात निरी स्वप्न नहीं, शेख़ चिल्ली का क़िस्सा नहीं; प्रत्युत मानव-जगत् की सूत्रात्मा, बुद्धि-समष्टि, इसी ओर जा रही है, और इसी लक्ष्य तक सब राष्ट्रों और जातियों को पहुँचाने का द्वार, इन युद्धों को भी बना रही है—यह बात मै ने 'विश्वयुद्ध और उस की एकमात्र औषध, विश्वधर्मानुप्राणित-विश्वव्यवस्था', पुस्तक मे, प्रायः सवा सौ पाश्चात्य और भारतीय प्रमुख लेखकों, ग्रन्थ-कर्ताओं, नेताओं के वाक्यों का उद्धरण कर के, दिखाने का यत्न किया है ।[१]

प्रकृत यह कि क्रिप्स जी से समझौता न हो सकने का एकमात्र कारण यही, कि अपने-अपने 'विशेष' ही की ओर प्रत्येक दल वा उपदल

१ British Indian Commonwealth. *The World-War and its only Cure—WorldReligion and World-Order.*

के नेताओं का ध्यान रहा, 'सामान्य' की ओर भी नहीं, बल्कि कुछ भी नहीं; प्रत्येक नेता, दूसरों ही का दोष देखता दिखाता रहा, अपना नहीं; "राजन्, सर्षपमात्राणि पर-छिद्राणि पश्यसि, आत्मनो बिल्वमात्राणि, पश्यन्नपि न पश्यसि", सरसो ऐसे दूसरों के छिद्र देखते हो, बेल ऐसे अपने छिद्र देखते हुए भी नही देखते हो। "देवाना तु शरीरतः निर्गतं सुमहत्तेजः, तच्चैक्य समगच्छत", जब सब देवों का तेजस् मिल कर एक देवी का शरीर बन गया, तभी दैत्य परास्त हुए, बिना ऐक्य को, सामान्य को, सिद्ध किये, गति नही—यह मुह से कहते हुए भी, उस के साधने के मर्म से सर्वथा अनभिज्ञ। साधने का मर्म, उपाय, रहस्य, एक ही है— 'विश्व-धर्म से अनुप्राणित विश्व-व्यवस्था' का डिण्डिम।

सर्व-धर्म-सम्मेलन सभाएं।

कितने ही वर्षों से 'थियोसाफिकल सोसाइटी' की, 'पार्लिमेंट आफ़ रिलिजन्स्' की, 'वर्ल्ड काग्रेस आफ् फ़ेथ्स्' को, प्रायः सभी देशों मे फैली हुई शाखाओं के द्वारा, 'विश्व बन्धुत्व' की, 'विश्व-धर्म' की, पुकार हो रही है, तथा 'सोशलिस्ट' नेताओं और ग्रन्थकर्त्ताओं द्वारा 'विश्व-व्यवस्था' की पुकार हो रही है; रूस देश मे अंशतः ऐसी समाज-व्यवस्था बनायी भी गयी है। और अब, गत विश्वयुद्ध के बाद से, और वर्त्तमान विश्वयुद्ध के आरम्भ से तो बहुत ही, 'न्यू वर्ल्ड आर्डर' की पुकार चारो ओर हो रही है; पर हमारे देश के प्रमुख नेताओं का ध्यान, एक दो छोड़ कर इस 'सामान्य' की ओर गया ही नहीं है; अपने अपने 'विशेष' ही मे रम रहे हैं।[1]

क्या 'सामान्य' पर जोर देने से 'विशेष' भूल जायगा ?

एक समालोचक ने यह बात कई बेर, प्रश्न के, शका के, स्वमत-प्रकाश के, शब्दों मे, लिखा है कि, "अधिकतर ज़ोर समानता पर ही देने से अपने विशेष धर्म पर आस्था या श्रद्धा ही क्या रहेगी?" क्या विशेष का पालन भी अनावश्यक न समझ लिया जायगा ? वास्तव मे

1 Parliament of Religions; World Fellowship of faiths; socialist; New World Order.

जो सब को मानने का दावा रखता है वह किसी को नहीं मनवा ', इत्यादि । इन का उत्तर, एक प्रकार से, ऊपर हो गया है ; तो भी, पुनर्वार, मनफेर के लिए, प्रति-शब्दकों से करूँगा । 'अधिकतर जोर शरीर के सामान्य स्वास्थ्य, सौंदय, दार्ढ्य पर देने से, क्या अपने विशेष कपड़ों पर आस्था श्रद्धा रह जायगी ?', 'जो मनुष्य गोहूं-सामान्य का भोजन मे प्रयोग करता है, उसे किसी विशेष प्रकार की रोटी, पूरी, पराठे, दलिया, माठ, मठली, दल के लड्डू, 'सत्यनारायण के चूर्ण', सूजी के हलवे, शकरपारे, या पाव-रोटी, बिस्किट, नान-खताई, केक, सैंडविच, रोल, बन, स्कोन मे रुचि क्या रह जायगी ?', 'जो सामान्य दूध का सेवन करता है, वह नवनीत, हैयङ्गवीन, घृत, दधि, मन्थ, तक्र, छच्छ, के सेवन को अनावश्यक न समझ लेगा ?', अथवा, 'जो विशेष प्रकार के अपने पहिनावे को अच्छा समझता है, वह क्या दूसरे सब विशेष प्रकारों को बुरा न समझेगा?' इत्यादि । ऐसा नहीं; प्रत्येक चित्त मे, सामान्य के लिये भी निसर्गतः स्थान है, और विशेष के लिए भी; केवल इस बात को बुद्धिपूर्वक, अभिव्यक्त रूप से, पहिचानने, 'प्रत्यभिज्ञान' करने, की देर है; ऐसा होते ही, अमर्ष के स्थान मे सम्मर्ष, तअस्सुब की जगह रवा-दारी, का प्रवाह होने लगेगा । यह पहिचनवाना, सत्-शिक्षकों का कर्त्तव्य-धर्म है । और एक बात ध्यान देने की है; समालोचक ने उपर्युक्त अपनी प्रथम शंका मे, "अधिकतर जोर समानता पर देने से..." लिखा है; जिस ने ऐसा जोर समानता पर दिया हो, उस से यह प्रश्न करना उचित है; मैं ने तो ऐसा कभी नहीं किया; मै तो ही के स्थान मे भी का प्रयोग करता रहता हूँ; आप ही 'विशेष' पर ही जोर देते हो । दूसरे प्रकार से भी आप के प्रश्न का उत्तर लिखने की चेष्टा करता हूँ। आप के वाक्यों की 'ध्वनि' यही निकलती है कि 'सब को' नहीं मानना चाहिये, किसी एक विशेष को ही मानना चाहिये । इस 'विशेषता' का कहां पर्यवसान होगा ? भारत मे 'तैंतीस कोटि' देवता प्रथित हैं; क्या उन मे से एक-एक को एक एक मनुष्य चुन ले ? सैकड़ों विशेष पन्थ चल रहे हैं, किस को कौन पकड़े ? जिस का जिस को जी चाहे ? बलदायक ऐक्य का संघशक्ति कैसे हो ? "संघे शक्तिः कलौ युगे", "तच्चैक्यं समगच्छत", कैसे सिद्ध हों ?

प्राचीन ऋषियों ने ब्रह्म और आत्मा के वर्णन में 'सर्व' शब्द का बहुत प्रयोग किया है; "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामानि, प्रज्ञान ब्रह्म", "सर्वं असि", "आत्मैव देवताः सर्वाः", "सर्वमात्मनि संपश्येत्", "सर्व अस्म त्युपासीत" 'यस्तद्वेद स वेद सर्वं', "आत्मवेदं सर्वं", "यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति", "समं पश्यति योऽर्जुन" "सर्वत्र समदर्शनः", "सर्वसमतामेत्य"—ऐसे सैकड़ों वाक्य और महावाक्य उपनिषदों में, गीता में, मनु में, भरे हैं। 'वेदों' का जहां 'अन्त' होता है, समाप्ति सम्पूर्ति सम्पन्नता होता है, वह 'वेदान्त', उसी वस्तु को मानने पर जोर देता है जो वस्तु 'सब' है। मनु की इस आज्ञा पर भी विचार कीजिये—

> जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः,
>
> कुर्याद् अन्यन्, न वा कुर्यान्, मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।
>
> सावित्री-मात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः,
>
> न ऽयन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि, सर्वाऽशी सर्व-विक्रयी। (म०)[1]

इस का आशय तो यही जान पड़ता है कि मुख्य सामान्य-धर्म, जो गायत्री के शब्दों में निहित है, अर्थात् सदा सर्वत्र परमात्मध्यान परमात्म-भावन, उस का पालन करना चाहिये; गौण, विशेष-विशेष, धर्मों आचारों में कमी भी हो पर सदाचार रक्खा जाय, तो इतना भी पर्याप्त है।

साथ ही जिन महापुरुषों ने 'सब' को', 'समता' को, 'समान' को, इस प्रकार से अधिक महत्व, गुरुत्व, दिया है, उन्हीं ने वर्ण और आश्रम के विशेष धर्मों का भी विधान किया है, और, दूसरी कुछ नीची काष्ठा में, उन को भी गौरव दिया है। इन दोनो में, सामान्य और विशेषों में, कोई शत्रुता नहीं; प्रत्युत घनिष्ठ मित्रता और परस्परोपकारिता है। 'त्रैगुण्यविषयाः वेदाः, निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन !", ऐसा परामर्श देते हुए भी,

१—जिस प्राचीन काल मे यह श्लोक लिखा गया, उस समय मे भी, 'सर्वाऽशी, सर्वविक्रयी', 'बकव्रतिक', 'बिडालव्रतिक', 'मार्जारलिङ्गी' "यथा काष्ठमयो हस्ती, यथा चर्ममयो मृगः, तथा विप्रोऽनधीयानः, त्रयस्ते नाम बिभ्रति" (म०)—ऐसे 'विप्र' होने लगे थे।

"स्वधर्ममपि...क्षात्रियस्य" को भी पालने का उपदेश, कृष्ण ने दिया है।

वेदान्त के अर्वाचीन प्रतिपादकों ने, "न वर्णाऽश्रमऽाचार-धर्माः" "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो का विधिः को निषेधः" 'अतिवर्णाश्रमी' आदि लिखा है। इन का अर्थ, अपनी अपनी सुविधा से, विविध व्याख्याता विविध प्रकार से लगाते हैं। यद्यपि इन शब्दों से सूचित भावों, आचरणों, व्यवहारों का यथोचित समावेश, वानप्रस्थ और सन्यास मे हो सकता है।

मेरी क्षुद्र बुद्धि तो वर्ण-आश्रम धर्मों के (प्रचलित नहीं, प्रत्युत) उचित, अध्यात्मविद्या से सशोधित, सुसंस्कृत, परिमार्जित विधान, विवेचन, विभाजन, परिपालन को, (भारतीयो या ब्रह्मावर्त्तायो का ही नहीं, अपितु) समस्त मानव जगत् क कल्याण के लिये परमावश्यक जानती है। पर, हाँ, 'उचित' क्या है, 'वर्ण' जन्मना है और होना चाहिये, वा 'स्वभाव-गुण-(जीविका) कर्मभिः"—इस प्रश्न का उत्तर, मेरे विश्वास से, "(जीविका-) कर्मभिः" उचित है। अन्यथा यह 'मानव' धर्म, मनु की आज्ञा के अनुसार "पृथिव्यां सर्व मानवाः" को ग्राह्य नहीं हो सकता, सर्वलोकहितकारी, सर्व मनुष्यमात्र का शिक्षक-रक्षक-पोषक-धारक, नहीं हो सकता। केवल मूठी-भर परस्पर संघृष्यमाण आदमियों की धरोहर बन कर, उस कलह और संघर्ष के कारण क्रमशः अधिकाधिक घिस कर, क्षीण हो कर, लुप्त हो जायगा।

'जन्मना वर्णः' का प्रत्यक्ष दुर्विपाक।

क्या यह 'जन्मना वर्णः' का ही फल है, या नहीं, कि 'हिन्दू' कहलाने वाले समाज मे ढाई हज़ार से ऊपर ऊपर (राष्ट्रीय मनुष्य गणना के विवरण के अनुसार) परस्पर बाह्य जाति, उपजाति, उपोपजाति, उपोपोपजातिया बन गयी हैं ? क्या इन जात्युपजातियों मे परस्पर स्नेह, प्रीति, समवेदिता, सहायता, अनु-क्रोश, अनुकम्पन, अतः 'संघ-शक्ति-जनक ऐक्य', की बुद्धि है ? वा परस्पर ईर्ष्या, मत्सर, द्रोह आदि ही अधिक हैं ? क्या 'जन्मना वर्ण' का यह फल है या नहीं, कि 'उच्च' वर्णों मे 'अधिकार' तो जन्मना सिद्ध मान लिये जाते हैं, और 'कर्तव्य' सब भुला दिये जाते हैं ?

कौन वर्ण-व्यावस्था सनातन और व्यावहारिक है ?

समालोचक ने लिखा है, 'जो वर्ण-व्यवस्था (अर्थात् 'कर्मणा')

डाक्टर साहब बतलाते हैं; वह न भारतीय है, न सनातन है, और न व्यावहारिक है; उससे संघर्ष दबेगा नहीं; उलटे बढ़ेगा"। मेरा विश्वास है कि 'कर्मणा वर्णः' की व्यवस्था ही तत्त्वतः भारतीय है, सनातन है, व्यावहारिक है, अध्यात्मशास्त्रसम्मत है, अथ कि, वेद-वेदान्त की सम्मत ही नहीं आदिष्ट भी है; तथा यह भी कि, उसी से संघर्षण कम, और सं-मनन, स-वदन, स-गमन अधिक किये जा सकते हैं। और 'जन्मना वर्णः' ही अ-सनातन, अ-व्यावहारिक, संघर्ष-वर्धक है; यद्यपि अब 'भारतीय' तो, 'विशेषेण' क्या 'केवलत्वेन' है, क्योंकि और किसी देश मे नहीं है; यथा राष्ट्रीय दासता भी 'भारतीय' है।

प्रत्यक्षं च अनुमानं च शास्त्रं च विविधऽागमं,
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता। (मनु)

इस मेरे विश्वास के पोषक, साधक, जनक, प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम के प्रमाणों का संग्रह करने का यत्न, मानव-धर्म-सारः' नाम की संस्कृत पुस्तक मे मै ने किया है।

'भारतवर्ष की, समाजशास्त्र, को खास देन'।

जैसा आपने लिखा है, मै भी मानता हूँ कि, 'वर्ण-व्यवस्था, भारत की, समाजशास्त्र को खास देन है'; इस दृढ़ता, से मानता हूँकि, आज प्रायः पैंतीस (अब, १९४७ ई० मे, चालीस) वर्ष से, पुस्तकों और छोटे लेखों द्वारा इस तथ्य की ओर, सब देशों का ध्यान आकृष्ट करने का यत्न कर रहा हूँ; और 'थियोसाफ़िकल् सोसायटी' की सब देशों मे वितत शाखाओं के द्वारा, स्वल्पलेशतः कृतार्थ भी स्यात् हुआ हूँ ; जैसा, मेरी जान मे, कोई अन्य स्वदेशी वा बिदेशी जन ने स्यात् यत्न नहीं किया, न कृतार्थ हुए; तथा, भारत के भी, 'नयी पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए' सज्जनो का भी ध्यान इधर आकृष्ट करने मे। पर, बहुत सम्भव है कि, अन्य जनो के यत्न का ज्ञान मुझे नहीं है। अस्तु। प्रसक्त निवेदन मेरा यह है कि 'वर्ण-व्यवस्था' को 'खास देन' मै भी हृदयेन मानता हूँ, परन्तु 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' को, क्योंकि वही अध्यात्मशास्त्र-सम्मत है; 'जन्मना', अध्यात्मशास्त्र के विरुद्ध है, और मानवों को हानिकर है। 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' तो,

भारत की ख़ास देन, समाज-शास्त्र को नहीं, बल्कि भारत को ही, और सर्वनाश-कारी देन है; "गर्भमश्वतरी यथा"। इस बात को इन प्रतिप्रश्नो की दृष्टि से विचारिये; वर्णव्यवस्था को भारतवर्ष की ख़ास देन जिस समाजशास्त्र का आप बताते हो, वह समाजशास्त्र क्या भारतीय समाज से ही सम्बद्ध है, वा समस्त मानव समाज से ? यदि भारतीय से ही, तो भारतीयों के अनेक समाजों मे से किस 'विशेष' समाज से ?

'संघर्ष' और 'संमर्ष' का द्वद्व।

इस सब से यह अभिप्राय मेरा नहीं, कि 'कर्मणा वर्णः' की व्यवस्था से 'संघर्ष' पदार्थ मानव जगत् से मिट जायगा; न यह कि 'जन्मना' को सामाजिक प्रबन्ध व्यवस्थापन मे कोई स्थान ही नहीं। 'द्वन्द्व'-मय सृष्टि मे 'सं-घर्ष' भी, 'सं-मर्ष' भी, अपऽाय भी उपऽाय और 'सहऽाय' भी, दोनो ही, अविच्छेद्य और अनुच्छेद्य हैं; पर, बुद्धिमान्, बुद्ध, प्रबुद्ध, सम्बुद्ध मानवों का कर्त्तव्य है, कि सं-घर्षण को कम, और सं-मर्षण सह-अयन को अधिक, सर्वथा उचित 'कर्मणा' वर्ण-व्यवस्था के द्वारा, करें; तथा 'जन्मना' को, 'कर्मणा' द्वारा निरीक्षित नियन्त्रित करते हुए, उस व्यवस्था मे स्थान दें। न यह ही, न वह ही; बल्कि दोनो भी; किंतु 'जन्मना' को 'अधीन' 'अवरीण', और 'कर्मणा' को 'उपरीण' रक्खें; 'जन्मना' को मातहत और 'कर्मणा' को बालादस्त।

एक सन्दिग्ध अभ्युपगम।

आप ने लिखा है कि "यदि अन्य (अर्थात् हिन्दुओं से इतर) लोग भी अपने समाज मे 'स्वभावानुसार' चार श्रेणियों को मान ले, और 'समानशीलव्यसन' वाले लोग, परस्पर शादी विवाह करने लगें, तो किसी समय उन लोगों मे भी 'जन्मना वर्णः' चल पड़ेगा"। बहुत ठीक; किन्तु 'स्वभावानुसार' और 'समानशीलव्यसन' को नियामक हेतु मानना ही तो 'कर्मणा' मानना है; यदि ऐसे 'कर्मणा' की 'मातहती' मे, 'अधीनता' मे, 'निगरानी' 'नियंत्रण' 'विनयन' मे, 'जन्मना' न केवल चल पड़े, बल्कि सदा बना रहे, तब तो 'ओमिति ब्रूमः'; अपने को यही तो नितरां सुतरां अभीष्ट है। पर यदि चल पड़े और कुछ दूर चल कर गिर पड़े, उन

नियामक हेतुओ को भूल कर पथभ्रष्ट हो जाय, जैसा भारत मे हुआ है, तो फिर, पुनः पुनः, उस को 'कर्मणा' के बल से ही उठा कर सत्य मार्ग पर लाना होगा; जैसा, महाभारत मे, सर्प-युधिष्ठिर-सम्वाद और यक्ष-युधिष्ठिर-सम्वाद मे, तथा अन्य अनेक स्थलों मे, सिद्ध किया है। 'मानव-धर्म-सार' मे उद्धरणों और उदाहरणो को देखिये।

ऊपर उद्धृत अपने वाक्य को लिख कर कि, "उन लोगों मे भी 'जन्मना वर्णः' चल पड़ेगा," आप ने यह और लिखा है, कि "स्वधर्म पालन करते हुए धीरे धीरे उन की उन्नति होती रहेगी। और किसी जन्म मे वे अपने उचित वर्ण मे भी पहुँच जायगे"। इस वाक्य का अर्थ मैं नहीं समझ सका हूँ। जब 'जन्मना वर्णः' की प्रथा उन मे चल पड़ी, 'जन्मना' चातुर्वर्ण्य उन मे सिद्ध हो गया, तो फिर, "किसी जन्म मे उचित वर्ण मे पहुँच जायँगे" का क्या मतलब है ? क्या यह, कि वे सब भारतवर्ष के, अनादि काल से, आ-ब्रह्मदेव 'शुद्ध', 'असङ्कीर्ण', 'अविप्लुत' चातुर्वर्ण्य के वर्णों मे जन्म ग्रहण करेगे ? !

'सब' को मानना, या किसी एक 'विशेष' को मानना ?

प्रसक्त वक्तव्य यह हैं, कि 'सब' को अधिकतर, और किसी 'विशेष' को भी, पर उस से कुछ कम, मानना, मनुष्यमात्र के लिये उपयोगी, उपकारी, कल्याणकारी जानता हूँ; और मेरा विश्वास है कि, ऐसा करने से वह 'अलू.(रू)क्षा' और 'संमर्शिणी' लोकसंग्रहकारिणी बुद्धि संसार मे फैलेगी, जिस की प्रशंसा तैत्तिरीयोपनिषत् के स्नातकोपदेश मे की है। 'ही' शब्द, 'यह ही', लोक-विग्रह-कारक है; 'भी', लोक-सग्रह-कारक है; 'सब' को भी मानिये, 'विशेष' को भी मानिये; 'विशेष' ही को नहीं, न सामान्य ही को।

इस अभिप्राय को, मै ने, अपनी उक्त अंग्रेज़ी और संस्कृत तथा अन्य अंग्रेज़ी और हिन्दी पुस्तकों मे भी, "भाँति अनेक बार बहु बरना" 'किन्तु काज तनिकहु नहिं सरना', अब तक लोक-प्रिय नहीं बना सका हूँ; मेरे ही विचार और बुद्धि मे अशुद्धि, भ्रान्ति, त्रुटि, होगी, तथा शब्दों मे सौष्ठव और प्रभाव का अभाव; अथवा, लोक का चिरकालिक संस्कार बहुत बलवान् है, त्वरित तुरत बदला नहीं जा सकता, "रसरी आवत

जात ते सिल पर परत निसान", उतने ही चिरकालिक आयास से साध्य है। क्योंकि "स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढ़ोऽभिनिवेशः", (योगसूत्र), किं पुनः अविदुषः साधारणजनस्य; अथवा,

अवश्यभव्येषु अनवग्रहग्रहा, यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा,

तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना" ।(नैषध)

सौर जगत् के विधाता, विधि विधान-कर्त्ता, विधि-रचयिता, विरंचि, सावित्री के सविता, महत्तत्त्व के अंश, प्रत्यक्ष देव, "सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च", ब्रह्मा-हिरण्यगर्भ-आदि सहस्रनामधारी, आदित्य-नारायण, 'वेधाः', जिन के चारो ओर ज्योतिषोक्त सब ग्रह सदा भृत्यवत् घूमते रहते हैं, उन की, इस समय, फलित-ज्योतिष से सूचित, इच्छा यही जान पड़ती है कि, "हरः संतुभ्येन भजति भसितोद्धूलनविधिं"; 'कबहुँ भूमि पर शान्ति न सरना, भेदभाव ही दाँतन धरना, देस देस को कलिमय करना, विकट युद्ध करि वीरन तरना, अपरन बहुतन भूखन मरना, महामारि के हू बस परना, विविध प्रकारन यम-घर भरना; जे बचि जायँ ईश के शरना, तिन, पाछे, पछिताइ, उबरना' ! हरीच्छा ! तथापि—

"यत्ने कृते यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषो"
यत्नेऽभवन् मम पुनस्त्विदमेव चिन्त्यं;
निश्चित्य तं च विनिवार्य, यथा हि शक्तिः,
कार्यः पुनर् दृढतरं सुतरां प्रयत्नः ।

यदि यत्न सिद्ध नहीं हुआ तो विचारो कि क्या त्रुटि हुई, और उस को पूरा कर के फिर यत्न करो। विशेषता, विदृशता, प्रकृति की 'नाना'-ता, को न छोड़ते न हुए, समानता, सदृशता, परमात्मा की 'एक'-ता पर अधिक ध्यान करने से, 'विश्व-धर्म' अनायासेन समझ मे आता है। विशेष का 'ही' अवधारण होने से समझना कठिन। एक ही वस्तु के विविध नाम विविध भाषाओं मे होते हैं; जो मनुष्य उन सब भाषाओं को जानता है, वह, उन का प्रयोजनानुसार प्रयोग करता है; पर, साथ ही, सब मे एक ही, सामान्य ही, अर्थ देखता है; जो मनुष्य एक ही भाषा मे रम रहा है, अन्य भाषाओं को तुच्छ, हेय, अस्पृश्य मानता है,

वह नहीं देख सकता। एक भाषा को समान रूप से जानने बोलने वाले बहुत मनुष्यों में से प्रत्येक के मुख का, शरीर का, आकार, और 'स्वर' (अंग्रेजी 'साउन्ड', वा 'ध्वनि', "ध्वनिश्च माङ्गल्यमृदङ्गमांसलः") भिन्न होता है; पर एक दूसरे का अर्थ समझ ही लेते हैं। ऐसे ही, 'विश्व-धर्म', 'विश्व-व्यवस्था', शब्दों का भी अर्थ 'सामान्यतः,' 'साधारणतया,' समझा जा सकता है। ये शब्द, सर्वथा निरर्थ, अपार्थ, व्याहतार्थ, दुरर्थ नहीं है। सज्जन देखते ही होंगे, पश्चिम के तथा भारत के भी समाचारपत्रों में, आजकाल, आये दिन, 'न्यू वर्ल्ड आर्डर', 'नवीन विश्व-व्यवस्था', शब्द का प्रयोग, और उस पद के अर्थ के विशदीकरण की, और उस पदार्थ की, माँग, पुकार पुकार कर, हो रही है। इस शब्द का प्रयोग करने वाले, उस से कुछ अर्थ तो समझते ही होंगे। "न ऽन्यन्तमज्ञो, नापि ज्ञः, अधिकारी इति कथ्यते", जिज्ञासायाः अधिकारी। संस्कृत दर्शन का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि, सामान्य ज्ञान के बिना, विशेष ज्ञान की आकांक्षा, जिज्ञासा, हो नहीं हो सकती; जो सब कुछ जानता है, सर्वज्ञ है, अथवा जो नितरां अज्ञ है, कुछ भी नहीं जानता—इन दोनों को जिज्ञासा, जानने की इच्छा, हो ही नहीं सकती।

ऐसे ही, 'वर्ल्ड-रिलिजन', 'विश्व-धर्म', शब्द का प्रयोग होने लगा है; यद्यपि उतना नहीं जितना 'न्यू वर्ल्ड आर्डर' शब्द का; क्योंकि पाश्चात्य मानव जगत्, 'विशेष' धर्मों की विकृतियों, भ्रष्टताओं, परस्पर कलहों, के फलभूत घोर उपद्रवों और युद्धों से उद्विग्न हो कर, धर्ममात्र को, 'रिलिजन्'-'धर्म' शब्द को भी, घृणा से देखने लगा था; परन्तु अब केवल 'ऐहिकता' के ही, 'बहिःकरणों' के ही, तर्पण के फलभूत घोरतर उपद्रवों और युद्धों से उद्विग्न हो कर, सर्व-संग्राहक, परस्पर-प्रीति-शान्ति-कारक, धर्मसार, धर्म-सामान्य, विश्व-धर्म, के स्वरूप का निश्चय करने की ओर, और उस के प्रचार द्वारा धर्म-पदार्थ के जीर्णोद्धार की ओर, झुक रहा है; और इस झुकाव को अपने विवेकितम, प्रसिद्धतम, शिरःस्थानीय, 'उत्तमाङ्गोद्भव' व्यक्तियों के द्वारा, यथा ब्रिटेन में एच्. जी. वेल्स आदि, और अन्य देशों के भी ऐसे ही प्रमुख ग्रन्थ-कर्ताओं, साहित्यिकों,

विज्ञान-शास्त्रियों, के द्वारा, प्रकट कर रहा है; तथा सर्वसाधारण के चित्त को उसी ओर झुकाने का प्रयत्न कर रहा है। इस झुकाव, इस प्रकार, के सैकड़ों उदाहरणों का संग्रह, उक्त अंग्रेज़ी ग्रन्थों मे मैं ने किया है; और यह दिखाने का प्रयत्न किया है, कि ऐसे 'न्यू वर्ल्ड् आर्डर' और 'वर्ल्ड रिलिजन' के तात्विक सात्विक मार्मिक धार्मिक सिद्धान्त, सब, वैदिक-सनातन-आर्य-बौद्ध-(बुद्धिसङ्गत)-मानव-(मनु कहे, तथा सर्व-मनुष्य-सं-ग्राहक)-धर्म मे उपस्थित हैं; यदि 'वर्ण' को 'कर्मणा' और 'आश्रम' को 'वयसा' माने तो। कबीर, नानक, प्रभृति सन्तों महात्माओं के, धर्म के जीर्णोद्धार के लिये, उद्यमो का भी तात्विक मुख्य उद्देश्य यही रहा कि 'धर्म-सामान्य' की, आत्मविद्या पर प्रतिष्ठित 'धर्म' की, भूली हुई स्मृति को जनता के हृदय मे पुनः जगावें; और इन सब ने, यथा बुद्ध और जिन ने, 'कर्मणा वर्णः' पर ज़ोर दिया।

जिन भारतीय सज्जनो को, "रजो-लेश-ऽनुविद्ध-सत्व" होने के कारण, इस भाव मे कुछ सन्तोष होता हो कि भारतीय प्राचीन आर्यशास्त्र मे, सहस्रों वर्षों से, ऐसे सिद्धान्त विद्यमान हैं, उन को यह सन्तोष भी इस रीति से प्राप्त हो सकता है। और यह सन्तोष, उचित मात्रा मे, अनुचित नहीं है; "यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ"।

'अहम् एव, मम धर्म एव, श्रेष्ठतम' का फल।

किन्तु, जैसा यहूदी धर्माधिकारियों को हार्दिक विश्वास है, कि यहूदी जाति ही अकेली ईश्वर को प्रिय है, अन्य सब से अलग की हुई है, 'चोज़न्' है; जैसा ईसाई धर्माधिकारियों को, और उन के श्रद्धालुओं को, कि ईसा मसीह ही अकेले 'सन् ऑफ़ गॉड', 'ईश्वरपुत्र', हुए, ('ईश्वरस्य पुत्राः', 'आर्य' शब्द के अर्थ मे, निरुक्त मे आया है), 'द्वितीयो न भूतो न भविष्यति', यद्यपि स्वयं ईसा ने अपने को मनुष्य का पुत्र और मनुष्य ही कहा, और सभी शरीरों को 'ईश्वर के जीवन्-मन्दिर', चैतन्य की उपाधि, 'लिविङ्ग् टेम्पल्स आफ़् गाड', कहा;[1] जैसा मुस्लिम धर्माधिकारियों, मौलवियों, और उन के भक्तों को दृढ़ विश्वास

१ Chosen son of God Living temples of God.

है, कि मुहम्मद 'ख़ातिमुन्नबूअत' हुए, नबियों, (ऋषियों) की परम्परा को ख़तम कर दी, अब कोई दूसरे नबी की ज़रूरत बाक़ी नहीं रही, और न होगी, यद्यपि मुहम्मद स्वयं अपने को साधारण मनुष्य ही कहते रहे, और यह भी कहते रहे कि प्रत्येक देश और जाति के लिए शिक्षक, उपदेशक, धर्मोद्धारक, रसूल, नबी, पैग़म्बर, 'सन्देशवाहक', समय-समय पर अल्ला-ईश्वर भेजता रहा और भेजता रहेगा; जैसा, मुहम्मद के बाद, 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्', जो क़ुरान मे लिखा है, अन्य सब किताबें या तो उस की नक़ल हैं, या उस के खिलाफ़ और ग़लत है, इसलिए सब को जला देना चाहिये, ऐसा दृढ़ निश्चय कर, और हुक्म देकर, एक खलीफा ने मिस्र देश मे अलेक्संदरिया नगर के एक पुराने बड़े मशहूर पुस्तकागार को जलवा दिया; जैसा अब श्वेतवर्ण यूरोपीय जाति के लोग अपनी ही श्वेत जाति को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, और उन मे भ जर्मन जाति के लोग अपने को श्रेष्ठों मे श्रेष्ठतम मानते हैं, और यहूदियों को पैर के नीचे रौंद रहे थे; जैसा जापानी लोग सब जापानियों को साक्षात् सूर्यदेव की सन्तति निश्चयेन मानते हैं; वैसे ही, कुछ लोग, 'सर्वं ब्राह्मं इदं जगद्', 'मनोः अपत्यानि सर्वेऽपि मानवाः', को भूल कर, केवल भारत के, तत्रापि आर्यावर्त्त के, तत्रापि ब्रह्मावर्त्त के, निवासियों को, और उन मे भी कुछ 'जाति-विशेषों', 'दल-विशेषों', ब्राह्मण-नामकों, 'पंक्तिपावनों', 'श्रोत्रियवर्यों', 'आर्यवर-गुरुओं' (दक्षिण मे, ऐयर-अय्यंगार-आवर्गालों) को ही, ईश्वर के प्रीति के भाजन, किंवा 'ईश्वरांश', साक्षात् भू-देव मही-सुर, सच्चे निश्चय से विश्वास कर रहे हैं— ऐसों को यह समझना-समझाना दुस्साध्य है कि ईश्वर का अंश 'सामान्य' मे भी है, त्रैगुण्य सब मे छाया है, केवल "भूयसा व्यपदेशः' 'विशेष' का होता है। यह भी परम सत्य है कि 'मृत्तिका इत्येव सत्यं', हाँडी, पुरवा, कसोरा, मटका, मटकी, नाँद, घड़ा, कमोरा, अथरी, अथरा, भंडहर, प्याली, प्याला, तश्तरी, ईंटा, टाली, खपरा, नरिया, थपुआ, सब उसी मृत्-सामान्य के विशेष विशेष विकार हैं; यह भी ठीक है कि प्रत्येक विशेष का कार्य भी विशेष है; तथा यह भी सत्य है कि आवश्य-

कता पड़ने पर, एक के अभाव मे, दूसरे से उस का काम कुछ न कुछ, थोड़ा बहुत, निकाल ही लिया जाता है; और यह भी ठीक है कि, एक हद तक, 'विशेष' पर ज़ोर दिये बिना, मानव-सभ्यता मे, प्रगति नहीं हो सकती, क्योंकि "सर्वथा साम्यं तु प्रलयः; वैषम्यं सृष्टिः"; एवं अपनी अपनी श्रेष्ठता का विश्वास, यदि पर-स्वमर्दक अन्य-तिरस्कारक दर्प गर्व से रहित, श्रेष्ठता के साधन का प्रेरक, हो, यथा प्रीति-पूर्वक अखाड़े मे नियुद्ध करनेवालों का, तो सभाजनीय अभिनन्दनीय ही है; पर यदि उचित सीमा के पार चला जाय, यदि 'विशेष' ही पर ज़ोर दिया जाय, और 'सामान्य' भुला दिया जाय, तब, जैसा उपर कहे यहूदी आदि के उदाहरणो से देख पड़ता है, वह परस्पर द्रोह, कलह, युद्ध, 'कलियुग का कलि-राज्य', जो आजकाल चारो ओर मच रहा है, मचता ही रहेगा, और उस का अन्त तभी होगा जब सभी लड़ने वाले नष्ट हो जायँगे।

वर्तमान समय क्या चाहता है?

निष्कर्ष यह कि, अब वह समय, वह निमित्त आ गया है, कि 'सामान्य'-मानवता पर, 'विश्व-धर्म' और 'विश्व-व्यवस्था' पर, और उन के साधने वाले 'कर्मणा वर्णः' पर अधिक बल दिया जाय। इस विषय के सहायक निर्णायक पुराने वाक्य हैं, "देशकालनिमित्तानां भेदैर्धर्मो विभिद्यते", "आचाराणां अनैकाग्र्यं तस्मात् सर्वत्र लक्ष्यते", "कुलानि अकुलतां यांति, कुलतां अकुलानि च", "आश्रयेत् मध्यमां वृत्तिम्, अति सर्वत्र वर्जयेत्", इत्यादि। 'कर्मणा वर्णः' के अनुसार, वर्ण के परिवर्त्तन के उदाहरण, इतिहास-पुराण मे, एक विश्वामित्र का ही नहीं, बीसियों ही नहीं, अपितु सहस्रों, कहे हैं; 'मानव-धर्म-सारः' पुस्तक मे उन का उल्लेख किया गया है। अस्तु।

विश्व-धर्म से व्याप्त विश्व-व्यवस्था की रूपरेखा।

विश्व-धर्म से प्राणित विश्व-व्यवस्था की रूपरेखा, कुछ ऐसी गूढ़ मूढ़ अन्धकाराऽच्छन्न भी नहीं है। मन को, थोड़ा सा, "शब्द-अर्थ-ज्ञान-विकल्पैः असङ्कीर्ण" कर के, उस रूपरेखा की ओर फेरने मात्र की आवश्यकता

है। उस का उपन्यसन मैने 'विश्व-युद्ध और उस की एकमात्र औषध'[१] नाम की पुस्तक के १३ वें और १४ वें अध्याय मे कर भी दिया है।

अंति संक्षेप से यहाँ भी किये देता हूँ; विस्तार, अन्य ग्रन्थों मे किया है।

चैतन्य, जड़ उपाधि मे उतरता है; जीवात्मा, भौतिक शरीर में 'बद्ध' होता है, जन्म लेता है, उस के सुख-दुःखों का अनुभव कर के, क्रमशः विरक्त हो कर, उस से मुक्त होता है, उपाधि को छोड़ता है; 'बद्ध' अवस्था में, गृहस्थ-आश्रम मे, "तस्माज्ज्येष्ठऽाश्रमो गृही", पुरानी पुश्त का कर्त्तव्य, कृत्य, धर्म, स्वधर्म, इतना ही है कि, नयी पुश्त का (१) शिक्षण, (२) रक्षण, (३) पोषण, (४) सेवन, सहायन, धारण, सब प्रकार से कर दे; 'सब प्रकार से', इस मे, इन मुख्य चार प्रकार के कृत्यों के अवान्तर सह-कारी कृत्य सब आ जाते हैं; राजा, राज्य, राष्ट्र, समाज, समाज की उत्तम व्यवस्था, का भी इतना ही, यही, कर्त्तव्य, प्रजा के, जनता के, 'महाजन' के, 'पब्लिक' के, लिये है; "प्रजानां (१) विनयऽाधानात्", शिक्षकवर्ग और विद्यार्थी आश्रम, शिक्षाव्यूह, 'एड्यूकेशनल् आर्गेनिज़ेशन' के द्वारा 'शिक्षण'; (२) "रक्षणात्", रक्षकवर्ग, और वानप्रस्थ-आश्रम, रक्षाव्यूह, 'एक्सेक्यूटिव् आर्गेनिजेशन' के द्वारा 'रक्षण'; (३) "भरणाद् अपि" पोष-कवर्ग, धनिकवर्ग, ('धनति, दधन्ति, इति धनं, उत्तमं गोधनं धनम्'), वैश्य-वर्ग, ('विशः सम्पदः, धनानि, लोकपोषणार्थं विशंति यस्मिन्, यश्च व्रात्यतां, व्राततां, सततव्रजतां, परित्यज्य, शालाः निर्माय, शालीन् आरोप्य, शालीनः भवन्, कृष्टक्षेत्राणां मध्ये निविशति, इति'), और गृहाश्रम, वार्ता-व्यूह, 'ईकानोमिक् आर्गेनिज़ेशन्' के द्वारा 'भरण'; 'सेवनाच्चऽपि', श्रमिकवर्ग, ('आशु द्रवति, शुचा द्रवति, शुचं द्रावयति'), शारीरिक सेवक, और संन्यास-आश्रम, आध्यात्मिक सेवक, सेवाव्यूह, 'इन्डस्ट्रियल (और 'स्पिरिचुअल') आर्गेनिज़ेशन' के द्वारा सेवन सहायन; 'राजैव, तासां सत्यः पिता स्मृतः'; 'पाति इति पिता'।[२]

१ *World War and its Only Care.*

२ Educational organisation, Executive, Economic, Industrial (and Spiritual), Organisation.

प्रत्येक देश मे, प्रत्येक मानव-समाज मे, निसर्गतः, चार स्वभाव वा प्रकृति वा तबीयत के, मुख-बाहु-ऊरूदर-पाद-स्थानीय, ज्ञान-क्रिया-इच्छा-प्रधान और अनभिव्यक्तबुद्धि, विभिन्नप्रकृतिक, मनुष्य, एक ही वंश मे भी, एक ही कुल मे भी, एक ही दम्पति से भी, उत्पन्न होते रहते है; और तदनुसार चार प्रधान प्रकार, जीविका, पेशा, रोजगार, व्यापार, व्यवसाय के भी, होते ही हैं; बुद्धिपूर्वक, सुविचारित, वा अबुद्धिपूर्वक, अविचारित। भारत मे, वृद्धों ने, ऋषियो ने, सहस्रों वर्षो के सञ्चित अनुभव और ज्ञान से, एक प्रकृति के साथ एक जीविका बाधने का और दूसरी जीविकाओ के वर्जन का प्रबन्ध, जैसा बुद्धिपूर्वक कर दिया था वैसा बुद्धिपूर्वक अन्य किसी देश के इतिहास मे नहीं पाया जाता। ये चार प्रवृत्तियाँ, जीविकाएँ, यह हैं, (१) शिक्षोपजीविका, शास्त्रऽऽजीविका; (२) रक्षोपजीविका, शस्त्रऽऽजीविका, (३) पोषणोपजीविका, वार्ताऽऽजीविका, (वर्त्तनोपायः वृत्तिः, 'वार्ता च सर्वजगता परमार्तिहंत्री'); (४) (शारीर-श्रमोपजीवी, सेवाऽऽजीवी। अंग्रेज़ी मे, (१) 'लर्नेड् प्रोफ़ेशन्स', (२) 'एक्सेक्यूटिव प्रो०', (३) 'कामर्शल प्रो०', (४) 'लेबर प्रो०'। इन चार मे से प्रत्येक के अवान्तर बहुतेरे विशेष, परापरजाति न्याय से, होते हैं।[१]

ऐसी समाज-व्यवस्था, जो प्रत्येक मनुष्य को, उस के स्व-धर्म, अर्थात् स्वभाव-निर्दिष्ट-धर्म, के अनुकूल शिक्षा दे कर, रक्षा कर के, उपयुक्त जीविका कर्म मे लगावे—यही 'विश्व-व्यवस्था' है। ऐसा धर्म जो प्रत्येक मनुष्य को उस के स्व-भाव से उत्पन्न रुचि के अनुसार, सांसारिक अभ्युदय और परमार्थिक निःश्रेयस के अन्तर्गत चारो पुरुषार्थों की सिद्धि का प्रकार दिखा दे; इहलोक और परलोक, दुनिया और आकबत, दोनो मे यथासम्भव साधारण सुख की प्राप्ति का, और तीव्र दुःख से बचने का उपाय बता दे—यही विश्व-धर्म', 'धर्म-सार', है। यही 'दर्शन'-सार भी है; यही 'ब्रह्म' पर प्रतिष्ठित, ब्रह्म की प्रकृति के अनुकूल, 'धर्म' है।

प्रजानां विनयऽऽधानाद्, रक्षणाद्, भरणाद् अपि,

स पिता, पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः। (रघुवश)

१ Learned professions, Exacutive, Commercial, Labor.

इन चार पुरुषार्थों, चार प्रकृतियों, चार वर्णों, चार आश्रमों के समान, सहगामी, सदृश, उपमेय, सौ से अधिक चतुष्कों की चर्चा 'मानव-धर्म-सारः' मे की है, और इन मे से मुख्य-मुख्य चौदह के अरबी, फ़ारसी, और अंग्रेजी पर्याय, इस्लामधर्म और ईसाई धर्म के अनुसार वा अविरुद्ध, 'सब धर्मों की तात्त्विक एकता' नाम की पुस्तक के अन्त मे लिख दिये हैं।[१]

ऐसे सामान्य की बाधा न करते हुए 'विशेष' बहुतेरे हो सकते हैं। इन मूल सिद्धान्तों का विस्तारण उक्त तथा अन्य ग्रन्थों मे किया गया है।

'वर्ण का निर्णय कौन करे; वर्ण की डिग्री कौन दे?'

समालोचक ने एक अन्य प्रश्न उठाया है, "चार डाक्टरों का एक बोर्ड एकमत से निर्णय पर पहुंचता ही नहीं; वर्णों की 'डिग्रियाँ' प्रदान करने वाला बोर्ड कभी भी समर्थ हो सकेगा ?" । इस का उत्तर यही है कि ऐकमत्य अनेक बार हो भी जाता है; जहाँ नहीं होता तहाँ बहुतर-मत से, भूयसीयं से, काम चलाया जाता है; यदि चिकित्सकों की, रोगी के दुर्भाग्य से "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" की नौबत आयी, तब रोगी के परिवारक परिचारक का, वा स्वयं रोगी ही को, निर्णय करना पड़ता है, कि किस वैद्य, किस डाक्टर, किस हकीम, की शुश्रूषा की जाय। आप की कही कठिनता होते हुए भी बोर्ड बैठाये जाते और बैठते ही हैं; "शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तं, जीवितव्यं कथ नु वा", "सन्ति भिक्षुकाः इति किं स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते ? सन्ति मृगाः इति किं शालयो नोप्यन्ते ?" "पिबन्त्येवोदकं गावो, मण्डूकेषु रुवत्सु अपि", "यत्ने कृते",..."कर्मण्येवाधिकारस्ते", "नात्यन्तं गुणवत् किञ्चित्, नात्यन्तं दोषवत्तथा ; यत्स्याद् बहुगुणं च ऽल्प-दोषं, तत् तु समाचरेत्', 'बहवः समुपेक्षकाः भृशं, बहवः केवल-दोष-दर्शिनः', "स तु तत्र विशेषदुर्लभः सद्उपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः"; इत्यादि बातें इस सम्बन्ध मे स्मरणीय हैं।

यदि यह बात एक बेर मन मे बैठा ली जाय कि वर्ण का अर्थ पेशा है, 'जाति' नहीं; और वर्ण-विभाग का मुख्य प्रयोजन यह है कि, वृत्ति विभाग, जीविका-विभाग कर के, आर्थिक संघर्ष और जीवन-संग्राम घटाया

१ *The Essential Unity of All Religions.*

जाय, वो प्रश्न का उत्तर नितान्त सरल हो जाय। कनौजिया, रघुबंसी, सर्वरिया, महेसरी, द्राविड, पेरिया, अग्रवाला, सक्सेना, सारस्वत, बिसेन, ढेढ, मुखर्जी, बाणुज्झा, भाटिया, चित्पावन, मावली, लालबेगी, पंजाबी, मद्रासी, बंगाली, गुजराती, मराठे, चीनी, जापानी, अंग्रेज, जर्मन, पठान, रूसी, अरब, तुर्की, आदि जातियां असंख्य हैं; पेशे, 'वर्ण', चार ही मुख्य हैं; सब जातियों के सभी मनुष्य, चार वर्णों मे से किसी न किसी वर्ण के अवान्तर उपवर्णो मे देख पड़ते हैं।

शका तो पद-पद पर है, जीयै कैसे ? भिखमंगे फिरते हैं, इस लिए दाल-चावल आँच पर न चढ़ाया जाय ? मृगो का भय है, तो क्या खेती न की जाय ? मेडक टर् टर् करते हैं, तो क्या गाय बैल तालाब मे पानी नहीं पीते ? यत्न करना ही चाहिये, फल ईश्वराधीन है। ससार मे कोई भी प्रकार, न सर्वथा गुणमय है, न सर्वथा दोषमय; देश-काल-अवस्था के विचार से जो कार्य कम दोषवान् और अधिक गुणवान् जान पड़े वह करना ही चाहिये। निरी उपेक्षा करने वाले बहुत हैं; रास्ते मे रोड़ा अटकाने वाले बहुत हैं; रोड़ा हटाने मे मदद देने वाले, रुकी गाड़ी का पहिया चलाने मे कधा लगाने वाले, अधिक अच्छा दूसरा रास्ता बतलाने वाले, नहीं मिलते।

और देखिये, आप पूछते हो—"वर्णों की डिग्रिया कोई बोर्ड दे सकेगा ?" काशी मे ही, आये दिन, श्रद्धालु लोग अपने धर्म-संकट का प्रश्न, किसी धर्मकृत्य या प्रायश्चित्त आदि के सम्बंध मे, धर्माधिकारियों के पास लाते हैं। तब पांच, सात, दस पंडितों का बोर्ड ही तो व्यवस्था नाम की डिग्री दे देता है। कैसे देता है ? जैसे वह देता है, वैसे ही विशेषज्ञ अध्यापकों का बोर्ड उचित जांच परीक्षा, स्वभाव-गुण-रुचि-प्रवृत्ति की, कर के, वर्ण की डिग्री दे सकेगा।

और देखिये; आज काल यूनिवर्सिटियों विश्वविद्यालयों मे जो पेशा-रूप वर्ण की डिग्रियाँ दी जाती हैं वे कैसे दी जाती हैं ? 'बैचेलर या मास्टर आफ़ ला' (क़ानून), आफ़ मेडिसिन् (आयुर्वेद), आफ़् कामर्स (वाणिज्य), आफ़ एंजिनियरिङ्ग् (यंत्र-शिल्पादि), आफ़् एग्रिकल्चर

(कृषि), आफ़ एड्यु केशन (अध्यापन), इत्यादि बहुत प्रकार की डिग्रियाँ एग्ज़ामिनेशन बोर्डों ही के द्वारा दी जाती हैं।[1] कैसे दी जाती हैं? आप ने प्रश्न किया है "नियन्त्रण कौन करेगा?" उत्तर है, 'राजशक्ति, शासनशक्ति', क़ानून-धर्मानुसारिणी दंडशक्ति। अन्ततो गत्वा "दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः"। यूनिवर्सिटी की डिग्री की प्रामाणिकता की 'प्रतिभूः' आज भी अन्ततो गत्वा राजशक्ति दण्डशक्ति ही है; "स राजा पुरुषो दण्डः...धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः"; 'युनिवर्सिटी ऐक्ट' को शासनशक्ति ने ही बनाया है।

आप का कहना है कि, यह सब ऐसे प्रश्न हैं जिन पर पूर्णरूप से विचार करने पर पता लगेगा कि केवल कर्मणा वर्णः की व्यवस्था कितनी अव्यवहार्य है। प्रतिवाद इस का यह है कि अब केवल जन्मना वर्ण की व्यवस्था सर्वथा अव्यवहार्य भी और अव्यवहृत भी हो गयी है; नितरां अकिञ्चित्कर और अर्थशून्य हो गयी है; केवल भोजन और विवाह के विषय मे कुछ इस का व्यवहार किया जाता है; सो भी नाममात्र को, जैसा शुक्र-नीति मे स्पष्ट लिखा है; और वह भी छूटता जाता है।

> **षण्णां तु कर्मणाम् अस्य त्रीणि कर्माणि जीविका,**
> **अध्यापनं याजनं च, विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः;**
> **शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य; वणिक्पशुकृषिर्विशः;**
> **शूद्रस्य सेवा चऽन्येषां इति वृत्तिविनिर्णयः।** (मनु)

इस प्रकार से भगवान् मनु ने जो वृत्ति-विभाजन का आदेश किया है, क्या 'जन्मना वर्णः' वाले उस का लेशमात्र भी आजकाल, क्या कितनी ही शताब्दियों से, कुछ भी पालन करते हैं? सभी पेशों मे सभी 'जन्म-वर्ण' के मनुष्य देख पड़ते हैं।

यदि समालोचक सज्जन इन बातों पर, पूर्ण क्या अंश रूप से भी, विचार करेंगे, तो 'जन्मना वर्णः' की नितरां अर्थशून्यता, अव्यवहार्यता,

1 Bachelor or Master of Law, of Medicine, of Commerce, of Engineering, of Agriculture, of Education; Examination Board.

अपितु हानिकारकता, तथा 'कर्मणा वर्णः' की ही व्यवहार्यता, इस युग मे, उजागर हो जायगी। 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः' की व्यवहारिक नीति से भी यही इष्ट है।

ऐसी सब शङ्काओं और प्रश्नो पर, उक्त तथा अन्य ग्रन्थों मे, मै ने अपनी क्षुद्र शक्ति की गति पर्यन्त, प्रायः पचास वर्ष मे 'पूर्ण रूप' से विचार है; निष्कर्ष रूप उस विचार की मुख्य-मुख्य बातें, उन ग्रन्थों मे लिख भी दी है; यहाँ कहाँ तक दोहराऊँ तिहराऊँ।

कुछ प्रतिप्रश्न।

एक प्रतिप्रश्न आप से करता हूँ, प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालने के लिए ही। 'मिस मिलर' नाम की अमेरिकन महिला को, आजकाल के पचासों 'जगद्गुरुओं' और 'शङ्कराचार्यों' मे से एक 'जगद्गुरु शङ्कराचार्य' ने, 'शर्मिष्ठा देवी' नाम दे कर, 'हिन्दू' बनाया; वह महिला वर्त्तमान इन्दौर महाराज के पिता, भूतपूर्व (अभी जीवत्, पर राजगद्दी से उतारे हुए) महाराज, की पत्नी हैं। यह प्रसिद्ध है। ऐसे ही अन्य कई यूरोपीय स्त्री-पुरुषों को, हिन्दू संप्रदायों मे प्रमुख धर्माधिकारित्वेन माने जाते कुछ विद्वानो ने 'हिन्दू' बनाया है। ये धर्माधिकारी, 'हिन्दू' शास्त्रों को कुछ तो जानते समझते होंगे। क्या इन का यह कर्म, 'जन्मना वर्णः' के विरुद्ध नहीं है? औरों की कथा जाने दीजिये; 'सिद्धान्त' के द्वितीय वर्ष की लेख-सूची जो छपी है, उस मे "श्री शिवशरण जो, भूतपूर्व 'एले डेला' नाम-धारी, हिन्दू-धर्म दीक्षित काशीनिवासी एक फ्रांसीसी विद्वान्" के चार लेखों की सूची दी है। इन फ्रांसीसी सज्जन को किस हिन्दू धर्माधिकारी विद्वान् ने 'हिन्दू' धर्म की दीक्षा दी है? क्या 'जन्मना वर्णः' के सिद्धान्त के अनुसार दी? 'हिन्दू' तो चातुर्वर्ण्य से बाह्य नहीं हो सकता न? और चारो वर्ण 'जन्मना' ही हो सकते हैं न? शिवशरण जी को, इन दीक्षक सज्जन ने किस वर्ण मे रक्खा है? अथवा 'वर्ण-बाह्य', 'अन्त्यज', भी, और 'हिन्दू' भी बनाया है?[१]

[१]—इस के लिखने के पश्चात् मुझे विदित हुआ कि, श्री शिवशरण के मित्र श्री रेमो ब्युर्नियर नामक फ्रांसीसी सज्जन को भी, 'हरशरण' का

यदि इन प्रतिप्रश्नो पर आप विचार करेंगे, तो यह स्फुट हो जायगा कि वर्त्तमान देश-काल-निमित्त-अवस्था मे, 'जन्मना वर्णः' का (गौण) सिद्धान्त कितना अव्यवहार्य, कितना 'हिन्दू' समाज की वृद्धि, पुष्टि, प्रगति का विरोधी, जीवन-सौन्दर्य का प्रतिबन्धक विहन्ता विघ्नकर्त्ता हो गया है। ज़माना, समय, पुकार-पुकार कर कह रहा है, कि 'जन्मना' पर ज़ोर कम, और 'कर्मणा वर्णः' के (मुख्य) मूल सिद्धान्त पर बहुत अधिक बलऽाधान करना परम आवश्यक है। यदि 'कर्मणा वर्णः' माना जाय, तो श्री शिवशरण जी अपनी जीविका-वृत्ति के अनुसार, जो भी वह हो, चार मे से एक 'वर्ण' के स्वरसतः गिने जायंगे; यदि शास्त्रोपजीवी हैं, तो 'ब्राह्मण'; यदि शस्त्रोपजीवी, तो 'क्षत्रिय'; 'वार्त्ताऽाजीवी', तो वैश्य; साधारण सेवाऽजीवी, तो शूद्र। "नास्ति तु पंचमः" यह भी मनु की हा आज्ञा है। कुमारिल, मण्डन, शंकर, आदि के पीछे, अरबों, अफ़ग़ानों, मुग़लों के आक्रमणो का प्रतिरोध, क्षत्रिय राजाओं की परस्पर असंगति और संघाभाव के हेतु से न हो सकने के कारण, अन्य उपाय न देख कर हिन्दू-समाज ने असहयोग रूपी संकोच का शरण लिया। विक्रम की सप्तम अष्टम शताब्दी पर्यन्त, बौद्ध-भिक्षुओं और विहारों मे वज्रयान-वाममार्ग आदि के वाम-मार्गीय दुराचारों और भ्रष्टताओं के आ जाने के पहिले हिन्दू-समाज का विकास और विस्तार कर्मणा के ही अनुसार होता रहा; और बहुतेरी बाहर से आयी 'बाह्य' जातियों का, इस समाज के शरीर मे स्वीकार, अभ्यवहार, जरण, पाचन होता रहा। प्रत्यक्ष ही है, वर्धमान, नीरोग, बलवद् युवा शरीर को सदा भूख लगी रहती है, और यही फ़िक्र रहती है कि क्या पाऊँ क्या खा जाऊँ; विपरीत इस के, वृद्ध, जीर्ण, रुग्ण, मन्दाग्निपीड़ित शरीर का यही चिन्ता रहती है कि कोई गरिष्ठ वस्तु तो उदर मे नही पहुँच गयी? आहार मे और कमी क्या की जाय? कौन वस्तु और भी त्याग दी जाय?

नाम दे कर 'हिन्दू' बनाया गया, और दोनो को हिन्दू-धर्म की दीक्षा देने वाले और हिन्दूसमाज मे मिलाने वाले, काशी के ही एक विद्वान् संन्यासी 'करपात्री' उपनाम के हैं।

साधं कथंचिदुचितैः पिचुमर्दपत्रैर्
आस्यांतरालगतमम् आम्रदलं म्रदीयः,
दासेरकः, सपदि संवलितं निषादैः
विप्रं, पुरा पतगराड् इव, निर्जगार। (माघ)

पेट मे पहुँच गई हुई उस वस्तु का उद्गिरण कैसे कर दिया जाय, अपने ही कुल से प्राणी कैसे निकाल बाहर किये जाय, कि हमारा महिमा अक्षुण्ण, अस्पृश्य, बनी रहे! आजकाल, 'पाकिस्तान' के नाम से कितना तूफ़ान उठ रहा है, पर हम हिन्दुओं ने अपने समाज के सात-आठ कोटि मनुष्यों को जब 'अछूत', अस्पृश्य, अशुचि, 'ना-पाक', बना रक्खा है, तो यदि दूसरे लोग 'हिन्दू-समाज' को 'ना-पाकिस्तान' कहें और अपने लिए 'पाकिस्तान' अलग करना चाहें, तो क्या आश्चर्य! 'कर्मणा वर्णः' की नीति से यह सब उत्पात एक क्षण मे शान्त हो जायं।

उक्त कुमारिलादि के अर्वाक् काल के भावों से भावित, 'जन्मना' के विश्वासी, साम्प्रत काल के 'धर्माधिकारी' शास्त्र-प्रेमी प्रकाण्ड विद्वान् भी अब उन संकोची भावों को अंशतः छोड़ने लगे हैं, और उन के भी हृदयों मे, हिन्दू-समाज का पुनः विकास और विस्तार करने की शुभ वासना जहां-तहां अंकुरित होने लगी है; इस का निदर्शन, प्रमाण, शर्मिष्ठा देवी और श्री शिवशरण आदि के उत्तम उदाहरण हैं; 'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं तु साम्प्रतं'।

स्पष्ट ही है कि, 'जन्मना' अध्यापक, प्रोफेसर, डाक्टर, वैद्य, ज्योतिर्वित्, नैयायिक, वा 'जन्मना' मजिस्ट्रेट, कोतवाल, कप्तान, रिसाल्दार, सूबादार, गवर्नर, वा जन्मना दूकानदार, बैंकर, वार्धुषिक, कृषक, वणिक्, सार्थवाह, नैगम, श्रेणीमुख्य, गोपालक, कोशाध्यक्ष, ट्रेज़री-आफिसर, एकौंटंट-जनरल, गवर्नर आफ् बैंक, अर्णव-पोत-स्वामी, खनि-स्वामी, जौहरी, मणिमुक्ताव्यापारी, वा जन्मना चपरासी, पियादा, बर्तन कपड़ा धोने वाला भृत्य – ये सब वर्त्तमान युग मे जन्मना नहीं ही होते, नहीं हो सकते। यदि नाम-मात्र वर्णों के नामो को पकड़े

रहने मे कुछ विशेष सन्तोष हो, तो पकड़े रहे; यदि इन नामो को, मन्वादिष्ट जीविका कर्मों से पृथक् कर के केवल जाति-वाचक मान लेना हो तो भले ही माने जायॅ; पर उन नामो का समाज के दैनन्दिन जीवन-व्यवहार मे लेशमात्र भी उपयोग नही रह गया है। अच्छा हो यदि उन के स्थान मे 'कर्मणा वर्णः' के अनुसार जीविका-बोधक नये नाम प्रयुक्त किये जायं—शिक्षक, रक्षक, पोषक, सहायक, प्रभृति। मानव-धर्म-सार मे इस के तुल्यार्थ छः सात अन्य चतुष्कों की सूचना की है। बंगाल मे सेवक के स्थान मे धारक शब्द का प्रयोग होने लगा है। रहा भोजन और विवाह—तो इन मे बलात्कारेण कोई किसी विशेष स्त्री वा पुरुष के साथ भोजन वा विवाह करने को न जन्मना बाध्य रहा है, न कर्मणा बाध्य होगा।

संस्थाओं, रीतियों, आचारों की, काल-प्रवाह से, विकृतियाॅ।

दूसरे प्रकार से देखिये—समालोचक ने थियोसोफिकल् सोसायटी की "व्यवहार मे" विकृतियों की चर्चा की है; उस के तीन उद्देश्यों का भी उल्लेख कर दिया है; किन्तु इन तीन उद्देश्यों की निरवद्यता वा प्रशस्यता पर कोई आक्षेप व कटाक्ष नहीं किया है। उद्देश्य हैं (१) विश्वव्यापी भ्रातृभाव का वर्धन प्रसारण; (२) विविध धर्मो मजहबों शास्त्रों का सम्प्रधारणात्मक तुलनात्मक अध्ययन और मीमांसन, उन सब मे अनुस्यूत समान सिद्धान्तो विश्वासों उपासनाओ भावों के ज्ञानार्थ; (३) मनुष्य की अनभिव्यक्त अन्तर्वर्त्तमान शक्तियों का योगद्वारा अन्वेषण। विचारने की बात यह है कि जिस को वैदिक वा सनातन धर्म कहते हैं उस की 'सोसायटी' अर्थात् 'समाज' मे क्या बहुत अधिक विकृतियाॅ "व्यवहार मे" नहीं हो गयी हैं; और नित्य नयी नहीं हो रही है? थियासोफी शब्द का ठीक तुल्यार्थ शब्द ब्रह्मविद्या है; (ग्रीक शब्द 'थीओस' देव परमात्मा; 'सोफ़िया' विद्या); भारतीय संस्कृतज्ञ मण्डली में ब्रह्मविद्या के मूलग्रंथ, प्रस्थान-त्रय के नाम से प्रसिद्ध, भगवद्गीता, दश उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र, माने जाते हैं; एक एक के कई कई भाष्य वार्तिक टीका प्रटीका आदि परस्पर प्रतीपायमान हो रहे हैं; एक ब्रह्मसूत्र ही के

आठ भाष्य मुख्य कहे जाते हैं; इन मे से पांच वा छः प्रसिद्ध हैं, यथा शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, और विज्ञानभिक्षु के, जो भिन्न भिन्न सम्प्रदायो के अपौरुषेय वेद नही तो तद्वत् धर्मग्रन्थ बन गये हैं और उन सम्प्रदायो की अलग अलग "अ तरग ('इसाटरिक')" दीक्षा भी होती है;[1] और प्रत्येक मे महन्तई और जगद्गुरुता चल रही है। देव-सृष्टि में भी बृहस्पति और उन की पत्नी तारा और शिष्य चन्द्रमा, और चन्द्रमा और तारा के पुत्र बुध और तारा के कारण चन्द्रमा और बृहस्पति के तारकामय सग्राम का पौराणिक इतिवृत्त प्रसिद्ध है। यदि ब्रह्मा के चार मुखो मे से किसी एक से या चारो से ब्राह्मण वर्ण, बाहुद्वय से क्षत्रिय, उरूद्वय से वैश्य, और पादद्वय से शूद्रवर्ण की उत्पत्ति को हम अक्षरशः सत्य माने, रूपक-मात्र नही, तो उक्त बृहस्पति तारा-चन्द्र-तारकामय संग्राम की कथा को अक्षरशः सत्य मानना न्यायप्राप्त होगा, तथा अन्य ऐसे बीसियो आख्यानो को। एवं विश्वामित्र और वसिष्ठ सरीखे महर्षियों के आड़ी-बक युद्ध भी होते रहे हैं। निष्कर्ष यह कि फिर वही बात कहना पड़ता है, "शकाभिः सर्वमाक्रान्त", 'यत् जायते अस्ति परिणमते, वर्धते, तद् विक्रियते अपक्षीयते म्रियते'। "बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दर-सन्निधान", कृष्ण के "त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं" वपुः मे भी "शरच्छतं व्यतायाय पंचविंशाधिक विभो", जब सौ से अधिक वर्ष बीत गये तब वह सौन्दर्य कैसे रहा होगा जो किशोरावस्था मे था ?। पुनरपि विकृतिः पुनरपि मरण पुनरपि जननं, इसी का नाम तो ससार-चक्र है; इसी लिए तो युग-युग मे धर्म और आचार मे परिवर्त्तन होते रहते हैं; हानि-ग्लानि और सस्थापन-परिमार्जन; इत्यादि। "यद् देवा अकुर्वस्तद् दैत्याः अभिद्रुत्य पाप्मना अविध्यन्"; जब ब्रह्मदेव से भी नहीं बना कि अपनी सृष्टि को विकार रहित रक्खे, देवो के साथ दैत्य भी उत्पन्न हो ही गये, और उस के पुनः पुनः प्रतिसंस्करण के लिये विष्णु को तिर्यग्योनि मे भी अवतीर्ण करा के भेजते रहते हैं, तो मूठी भर हाड़ मास के मनुष्य काल-कृत प्रकृविकृत विकृतिया से कैसे सर्वथा बच सकते हैं ? निश्चयेन थियो-

१ Esoteric.

साफिकल सोसायटी के "व्यवहार मे" दोष आ गये हैं, तो उन दोषों के अपाकरण मे सहायता कीजिये, यदि उद्देश्य सोसायटी के उत्तम है; और 'सनातन-धर्म समाज' के बृहत्तर दोषों को भी देखिये और दूर कीजिये।

वर्णव्यवस्था के सुधार की आवश्यकता, आप को भी स्वीकार; पर क्या सुधार ?

आप ने दूसरे लेख मे लिखा है कि, "यह हम मानते हैं कि आज अपने यहा की वर्णव्यवस्था मे कितने ही दोष आ गये हैं; वर्णों ने अपने धर्म को छोड़ रक्खा है; उस मे सुधार की नितान्त आवश्यकता है"। आप यह भी लिखते हैं कि "अन्य लोगों मे भी वर्णव्यवस्था मान लेने मे कोई हानि नहीं है"।

मै भी तो यही कहता हूँ। यही तो 'विश्व-व्यवस्था' का रूप है। आप सुधार की नितान्त आवश्यकता मानते हुए, उस विकार का निदान कारण नहीं बताते, तथा उस सुधार का कोई स्पष्ट और व्यवहार्य उपाय नहीं बताते। मै बताता हूँ। यदि आप मेरे कहे निदान को भ्रान्त मानते हैं, तो दूसरा कारण कहिये। यदि आप मेरे बताये उपाय को व्यर्थ और अव्य-वहार्य समझते हैं, तो बहुत अच्छा, मै भी मान लेता हूँ कि वह ऐसा ही है; पर आप उस से अच्छा उपाय बताइये।

अन्त मे आप कहते हैं, "आवश्यकता है धैर्य के साथ स्वधर्म-पालन की, स्वधर्मे निधन श्रेयः"। यह धैर्य कैसे उत्पन्न किया जाय ? यह आव-श्यकता सब के मन मे कैसे बैठायी जाय ? स्व-धर्म पालन कैसे कराया जाय ? 'नियन्त्रण कौन करे ?'। प्राचीन प्रकार था कि उत्पथ चलने वालों का नियन्त्रण (क्षतात् त्रायते, रक्षक, दड का धारक) दण्डधर 'क्षत्रिय' राजा करे; और जब स्वय राजा उत्पथ उच्छास्त्र हो जाय तो (ब्रह्म का, वेद का, सज्ज्ञान का धारक, शिक्षक) वेदधर 'ब्राह्मण' उस का नियत्रण करे; "ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्" क्षत्रस्यात्युद्धतस्य तु, "प्रजाना तु नृपः स्वामी, राज्ञः स्वामी पुरोहितः"। आजकाल, 'जन्मना ब्राह्मण' पुरोहितों की जो दशा, जो स्व-धर्म के पालन मे धैर्य और आसक्ति, हो रही है, वह आप से छिपी नहीं है; आप ने भी भूले-भटके कभी बरस दो बरस मे दबी ज़बान से

उन के आचरणों की निन्दा 'सिद्धान्त' पत्र मे की भी है; क्या ऐसे 'जन्मना' क्षत्रिय राजाओं और 'जन्मना' ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा, आप अपने अभिलषित सुधार को सम्भाव्य मानते हैं ? अथवा 'पुरोहित' शब्द का, 'कर्मणा, वृत्त्या, वृत्तेन, सत्स्वभावेन, पुरः अग्रे, धर्माम्नानाय, धर्मप्रवर्त्तनाय, जनैः धेयः, प्रतिनिधीकार्यः,' अर्थ करने से ही, और तदनुसार सच्चे 'पुरोहितों' के वरण, निर्वाचन, मनो-नयन, आयोजन, से ही, यह सुधार सम्भाव्य है ?

अब धर्माधिकारिकों ने यह चाल पकड़ी है, कि मुंह से बराबर कहते रहते हैं कि पच्छिम से आई सब नई बाते, सब नई रीतियां, बुरी हैं; पुरानी हिन्दू रीतिया जो हम (धर्माधिकारी) बरत रहे हैं, वह सभी अच्छी हैं; उन्हीं को अच्छी तरह से सारे देश मे चलाने से, और सब नई बातों को दूर रखने से, ही 'हिन्दुओं' का कल्याण है । पर, जब कोई उन से कहता है, कि आप अपनी पुरानी रीतियों को, इन पच्छिम की बातों पर मुग्ध 'नव शिक्षितों' नौ-सिखुओं से मनवाने के लिए और पश्चिम की बातों को देश से निकाल बाहर करने के लिए स्वयं भी कुछ हाथ-पैर हिलाइये-डुलाइये, कुछ त्याग तपस्या कीजिये, क्रिया-सहित उपदेश कीजिये—तब यह उत्तर मिलता है कि 'यह तो राजा का काम है और तुम्हारा काम है; हमारा काम तो केवल पुरानी बातों की प्रशंसा और नई की निंदा कर देना है; न उन पुरानी रीतियों के युक्तियुक्त बुद्धियुक्त हेतु बताना हमारा कर्त्तव्य है, न उन से उपजी बुराइयों को देखना पहिचानना शोधना हमारा कर्त्तव्य है; बल्कि उन पुरानी बातों से तो कोई खराबी पैदा ही नही हुई; जो हुई सो अब नई बातों से ही' !; और इस सब के ऊपर तुर्रा, चूड़ामणि, यह है कि, ऐसे उपदेष्टा धर्माधिकारी महाशय, सभी, स्वय अपने जीवन के उपयोगी पच्छिम के सभी आविष्कारों से खूब काम लेते हैं, जैसे लोहे की कलम, मशीन का कागज, मिल का कपड़ा, छाता लम्प लालटेन, छापाखाना, छपी पुस्तके, साइकिल, बस्, मोटर-कार, रेल, तार, डाक, घड़ी आदि; और इन मे से बहुतेरे, मत्स्य-मांस का तो खुले हुए उपयोग करते हैं, कुछ छिपा कर मद्य का भी, और कुछ तो पंच-म-कार का भी । जब उन से कहा जाता है कि आप तो भू-देव मही-सुर आदि

पदवी अपने को देते हैं, अपनी तपस्या और त्याग और योग की शक्ति से, आत्म-बल से, राजा और प्रजा का भी नियन्त्रण करो, जैसी मनु की स्पष्ट आज्ञा है; तब मुँह फेर लेते हैं और कहते हैं कि 'यह कलियुग है, इस मे त्याग तपस्या का ठिकाना नही; अधर्म ही बढ़ता जायगा; हरि-नाम-जप और गंगा-स्नान और ब्राह्मण-पूजा से ही सब कुछ हो जायगा'। ऐसे लोगो से देश के कल्याण की आशा नहीं, और उनकी बाते सुनने के योग्य नही।

शास्त्र शब्द का क्या अर्थ है ?

'शास्ति यत् साधनोपाय चतुर्वर्गस्य निश्चितं, तथा तद्बाधनऽपायं, एषा शास्त्रस्य शास्त्रता', यह तो शब्द का निर्वचन हुआ, जिस से उस का वास्त्विक मूल अर्थ निकलता है, और जो प्रायः निर्विवाद है। पर यहाँ इस शब्द के सम्बन्ध मे दूसरी बात स्मरण कराने और उस की ओर ध्यान दिलाने का तात्पर्य है: "यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य" "तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते" ये दो टुकडे गीता के प्रतिपद उपस्थित किये जाते हैं। इन के कहने वाले कृष्ण ने स्वय शास्त्र का क्या अर्थ किया है, इस की ओर कितने सज्जन ध्यान देते हैं? यह शब्द गीता मे केवल पाच बेर आता है; एक बार अर्जुन के प्रश्न मे और चार बार कृष्ण के उपदेश मे और स्वयं कृष्ण ने इस का अर्थ यों कहा है!, "इति गुह्यतम शास्त्रं इदं उक्तं मयाऽनघ," अर्थात् गीतात्मक शास्त्र ही से सर्वलोकसंग्राहक अध्यात्मशास्त्र, अध्यात्म-विद्या विद्यानां, सर्वविद्याप्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या आत्मविद्या, ही से, उन का अभिप्राय है; निर्णयसिन्धु, प्रायश्चित्तप्रदीप, हेमाद्रि, पराशर-माधव, और परिभाषेन्दुशेखर, शब्देन्दुशेखर, गादाधारी, जागदीशी, आदि से नहीं; न अद्वैतसिद्धि, गौड़ब्रह्मानन्दी, चित्सुखी, खडनखडखाद्य, तंत्रवार्त्तिक, राणक, भाट्टदीपिका आदि ग्रन्थों से।

और भी यह बात याद रखने की है; शास्त्र शब्द का यदि यह विशिष्ट अर्थ हम न ले तो प्रश्न उठता है—

अस्तु शास्त्रं प्रमाणं मे कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ;
किंतु किं मे प्रमाणं स्यात् शास्त्र ऽशास्त्र-व्यवस्थितौ ?
वेदो मान्यः कुरानो वा बाइबलो वेति संशये,

ऋते तु मानवीं बुद्धिं कः प्रभूयाद् विनिर्णये ?
कृष्ण ने इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दे रक्खा है,

बुद्धौ शरणमृअन्विच्छ, बुद्धिनाशात प्रणश्यति;
जब संशय हो कि क्या कार्य है, क्या अकार्य, तब जो शास्त्र कहै सो मानो; बहुत अच्छा; पर जब यह शंका हो, कि कौन शास्त्र है, कौन अ-शास्त्र, तब क्या करें ? वेद, बाइबल्, कुरान आदि सभी अपने को इकलौता शास्त्र कहते हैं ! कृष्ण का उत्तर यही है कि, अन्ततो गत्वा अपनी ही बुद्धि इस का निर्णय करती है । इस उत्तर से भी, पुनरपि, गीताशास्त्र, अध्यात्मविद्या, का ही, गुह्यतम भी और प्रत्यक्षतम भी, शास्त्रत्व सिद्ध होता है । इन बातों पर विचार, विस्तार से, करने का यत्न मैं ने 'मानव-धर्म-सारः' मे किया है ।

'स्व-धर्म' क्या है ?

आप चाहते हैं कि सब लोग "धैर्य से स्वधर्म पालन" करें; बहुत मुनासिब, बहुत उचित; पर 'स्व-धर्म' क्या है, कौन किस का 'स्व-धर्म' है, इस का निर्णय निश्चय कौन करे, कौन 'कार्स' बनाये और 'डिग्रियाँ' दे ? जन्म ? अब, जब सभी देशों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध, संघर्षात्मक भी, सहायात्मक भी, रेल तार रेडियो जहाज् विमान द्वारा बँध गया है, और कोई देश भी सर्वथा सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र नहीं रह गया है, तब एक भारतवर्ष ही मे जन्मना-स्वधर्म-पालन की व्यवस्था सिद्ध भी कर ली जाय, तो उतने से ही काम कैसे चलेगा ? भारतीयों पर परायों का आक्रमण और विदेशियों के द्वारा उन का दासीकरण कैसे रुकैगा, यदि सब विदेशी भी भारतीय धर्माधिकारि-सम्मत और आज्ञप्त स्व-धर्म का परिपालन न करेंगे ? यदि इस ग्रन्थि को सुलझाने का प्रयत्न आप करेंगे, इस पर कुछ भी विचार करेंगे, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि, कर्मणा वर्णः के अनुसार मन्वादिष्ट 'पृथिव्यां सर्वमानवाः' की संग्राहक, विश्व-धर्म से प्राणित विश्व-व्यवस्था को छोड़ कर, दूसरी गति, शांति-बहुला प्रेम-प्रचुरा, अग्रजन्मा-ऽनुजन्मा-भ्रातृ-भाव-वर्धिनी मानव लोक के लिए है ही नहीं । नैवास्ति गतिरन्यथा ।

जन्मना की कथा यह है कि पश्चिम मे भी, जैसे भारत मे, चाहे दूसरे शब्दों मे पर तत्त्वतः उसी भाव से, डिवाइन् राइट् आफ़् किंग्ज़् ऐंड प्रीस्ट्स्, राजाओं और धर्माधिकारियों पादरियों का (पाद्री, पितृ, दोनो शब्द एक ही और एकार्थ ही हैं) दिव्य देवदत्त (डिवाइन् डीयस् थीओस् ; द्यौः देवः दिवस् ज्यौः; दिवस्पति ज़ीयस ज्युपिटर् ; सब एक ही वा समान सदृश ही वा सन्निहित ही हैं, तथा राइट् (ऋतं रिक्थं भी) ईश्वरीय अधिकार कहा और माना जाता था ।१ उस महीश्वरत्व और महीसुरत्व के दुरुपयोग से ही, रक्षक के भक्षक बन जाने से ही, भारत-जानता निरय मे गिरी है ; तथा सब भूमण्डल पर सर्वत्र क्रमशः अधिकाधिक दारुण जगद्विदारक संग्राम पुनः पुनः हो रहे हैं; रावण के भी साम्राज्यों से बहुत बड़े बड़े साम्राज्य हम लोगों की आखों के सामने विप्लुत हो गये और हो रहे हैं, तथा भारत-जनता, पेषणी चक्की के उत्तर और अधर प्रस्तरों के बीच में गोधूमवत् पड़ी है । इन शासनाधिकारियों और धर्माधिकारियों ने अपने अपने धर्मग्रन्थों को 'अपौरुषेय', मान रक्खा है; अपनी अपनी सुविधा और विविध गर्वा के अनुकूल उनका अर्थ लगाते हैं; नये नये स्वार्थ-साधक 'धर्म' क़ानून बनाते हैं; और अपनी अपनी 'आपौरुषेय' श्रुतिदेवियों से पराई श्रुतिदेवियों का मुख-निष्कोटन और कबरी-लुञ्चन कराते हैं । यह 'स्व-धर्म' की दशा हो रही है ।

कवि ने मारीच राक्षस के मुह से कहलाया है, "अद्मः द्विजान्, देवयजीन् निहन्मः, कुर्मः पुरं प्रेतनराधिवासं; स्व-धर्मः एषः क्षणदाचराणां; नैव ऽध्यकारिष्महि वेदधर्मे", द्विजों को खा जाना, देव-यज्ञ करने वालों को मार डालना, नगरों को प्रेतावास बना देना—हिंस्र सिंह व्याघ्र वृक बिड़ाल आदि ऐसे रात में घूमने वाले राक्षसों का 'स्वधर्म' तो यह है; वेद-धर्म उन का स्वधर्म नहीं । तथा राम जी से कवि ने इस का उत्तर दिलाया है । पर उस उत्तर के यथार्थ आशय को, तथा अन्य स्व-धर्मो को भी, दूसरे शब्दों में

१ Divine right of kings and priests ; divine, *deus*, *theos*, Zeus, Jupiter ; right.

वर्णन करने का यत्न करूंगा, और मनफेर के लिये, कवि का अनुकरण करूंगा। पर, भट्टि कवि महावैयाकरण थे, और मैं व्याकरण से सदा घबराता रहा; 'लघुकौमुदी' को भी कण्ठस्थ न कर सका; इस लिये अशुद्धियों को, वैयाकरण पाठक सज्जन स्वयं कृपा कर के शोध लेंगे! राम जी के उत्तर का आशय यह था, 'हिंस्मः ऽसुरान्, देवरिपूंश्च निघ्मः, लंकां विदध्मः निजदासवासां; एषः स्वधर्मः खलु मादृशानां, यस्माद्अदीक्षिष्महि राजधर्मे'। अन्य लोगों के स्व-धर्म यों हैं, 'मूर्त्तीस्तु छिंद्मः,ऽथ तदालयांश्च भिंद्मः, ऽन्यधर्माऽन्‌च्च तथैव रुंध्मः धर्मे स्वकीयेऽपि, बलेन, केषांचिदस्त्येव; स नः स्व-धर्मः। पूतं पवित्रं परमं स्वम् एवविद्मः, तथाऽन्यान् सुबहून् विविंच्मो ह्यस्पृश्यम्लेच्छाऽन्त्यजशूद्रवर्गान्, केचिद् वयं तु, एष हि नः स्व धर्मः। मिथ्यैव दोषान् अनुयुज्य दम्भाद् बंधुष्वपि, इमान् स्वकुलाद् विरिच्मः, स्वशुद्धतायाः प्रथनाय, नूनं अस्मत्स्व-धर्मः यद् अमूंस्तु भज्मः। अ-श्वेतवर्णान् निखिलांस्तु भुंज्मः. प्रैष्येऽपि दास्येऽपि च तान् नियुंज्मः, मृद्नूमः अपि सर्वाः कृपणास्तु जातीः, स्व-धर्म एषः अस्ति सिताङ्गजातेः'। इत्यादि ।

जब बलवान् पापिष्ठ शासकों और धर्माधिकारियों का 'स्व-धर्म' सभी देशों मे, निर्दोष दुर्बलो को सताना. चूसना, ठगना, मूर्ख बनाये रखना; जब इन दरिद्र दुर्बलों का भी, 'ब्राह्मणानां अदर्शनात्' सत् शिक्षकों के लुप्त हो जाने से, यह स्वधर्म हो रहा है कि जल्दी-जल्दी ब्याह करना, जल्दी-जल्दी असंख्य संतान उत्पन्न करना, और जल्दी-जल्दी मर जाना; जब राम जी ऐसे सत्क्षत्रियों के 'स्व-धर्म'का ("क्षत्रियैः धार्यते चापः नार्त्तनादः भवेद् इति", यह राम जी की प्रतिज्ञा थी),दुष्टों के निग्रह का धर्म, आजकाल के 'जन्मना क्षत्रियम्मन्य' राजाओं मे, शतांश-लेश मे भी नहीं है, प्रत्युत स्वयं प्रजा-भक्षक हो रहे हैं;जब उच्चं-पवित्रम्मन्य 'ऊँची' जातियों का 'स्व-धर्म,' नीची जातियों को अधिकाधिक 'नीची' और 'अस्पृश्य' करते जाना; जब दाम्भिकों का 'स्व-धर्म' अपने ही कुल-कुटुम्ब-वंश-जातिवालों को, नितान्त थोथे मिथ्या अभियोग लगा कर 'जात

बाहर[1] कर देना, अपने समाज को दुर्बल कर के दूसरे सम्प्रदायों और समाजों का बल बढ़ाना;[2] जब, ईसा की छठी शताब्दी से सोलहवीं तक कुछ ईसाई सम्प्रदायों का, और सातवीं से आज तक कुछ मुसलमान सम्प्रदायों का, 'स्व-धर्म' यह रहा है कि दूसरे धर्मवालों का छल से, बल से, विविध प्रलोभन से, अपने धर्म और समाज मे ले आना, हबशी तथा अन्य अफ्रीका-निवासी जातियों को गुलाम बनाना, और दूसरों के इष्ट पदार्थों, चिह्नों, धर्मग्रन्थों, उपासना-स्थानो को नष्ट-भ्रष्ट करना; जब छठीं से बारहवी शताब्दी तक वैदिकम्मन्य और बौद्धम्मन्य सम्प्रदायों, समाजों, दलों का भी ऐसे ही परस्पर व्यवहार का 'स्व-धर्म' रहा; जब आर्य, ईरानी, गॉल, गॉथ, शक, हूण, मुगल, तुर्क आदि पौरस्त्य जातियों का, बेद्काल

[1] १६ अगस्त १९४६ ई० से कलकत्ता मे आरम्भ हो कर, जनवरी, १९४७,मे भी अभूत पूर्व घोरता से जो साम्प्रदायिक हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव कलकत्ता और नोआखाली मे हो रहे हैं; जिन मे, गवर्मेन्टी अफसरों का कहना है कि बीसियों हजार पुरुष, स्त्री, बच्चे मार डाले गये, औ पचासों हजार घायल हुए, (दोनो सम्प्रदायों के); और ढाका, बम्बई, अहमदाबाद, इलाहाबाद, छपरा, आदि कितने ही अन्य स्थानो मे भी उपद्रव हो रहे हैं, यद्यपि इस दारुणता को अभी नहीं पहुंचे हैं; और हजारों हिन्दू स्त्रियां बलात्कार से दूषित हुई और मुसल्मान बनाई गई—यह सब देखने के बाद, अब 'उघरे पटल परसु-धर मति के'। कलकत्ता मे, काशी मे, लुधियाना मे, लाहौर मे, कांची मे, तथा अन्य स्थानो मे, 'पंडित' लोग, सभा कर के, व्यवस्था दे रहे हैं कि ऐसी अबलाओं के लिये, वा विधर्मी-कृत पुरुषों के लिये, किसी प्रायश्चित का आवश्यकता नहीं है, केवल भगवन्नाम का स्मरण पर्याप्त है। पर, अब वे स्त्रियां रो रही हैं, कि हमारे कुल के पुरुष तो सब मार डाले गये, अब हम किस का आश्रय लें। यह फल है, 'पंडित-रूप-धारिणी' धर्मान्धता, 'शास्त्रान्धता', अदूर-दर्शिता का ! इसी 'जन्मना वर्णः' के मूढ-ग्राह ने, मूढता ने, महा मोह ने, तामसी बुद्धि ने, हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज को नरक मे डाला है। इस नरक से सद् धर्म को, हिन्दू-समाज को, अपितु समस्त मानव-समाज को,

और उपनिषत्काल से ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी तक, पाश्चात्य यूरोप की ओर बढ़ते जाना, और पहिले से बसी जातियों पर आक्रमण कर के उन का ध्वंस करना, 'स्व-धर्म' था; जब सोलहवी शताब्दी से आज तक, सूर्य उलटे चल रहे हैं; और पाश्चात्य श्वेत जातियो का, पौरस्त्य जातियों पर, आक्रमण और प्रभुत्व स्थापन करना स्व-धर्म हो रहा है; और सभी अपने-अपने 'स्व धर्म'-पालन में 'धैर्य' स्थैर्य के साथ लगे रहे, और लग रहे हैं; तब भी, 'स्व-धर्म'-पालन से जगत् मे शान्ति की आशा जो आप ने प्रकट की, वह पूरी नहीं हो रही है, प्रत्युत अशान्ति ही बढ़ती रही है ! काम कैसे चले ? इन वाक्यों मे 'स्व-धर्म' शब्द का प्रयोग मैं ने, व्यंग्य से नहीं किया है; ये सब, सचमुच, अपने अपने क्रूर आचरणो को 'स्व-धर्म' ही मानते रहे हैं: क्योंकि उन के धर्माधिकारी उन को यह शिक्षा देते रहे हैं कि यही तुम्हारा धर्म है ।

निचोड़ निश्च्योत निष्कर्ष निखरी बात यह है कि, 'स्व-धर्म' का निर्धारण-निर्णयन-निश्चयन सब से पहिले आवश्यक है; इस का उपाय, आप बतावें, और तदनन्तर, उस उपाय के प्रचार, प्रसार, प्रवर्त्तन का उपाय, बतावें । अभी आप ने अपनी आशामात्र, इच्छामात्र, प्रकट की है । मेरे बताये उपायों को सदोष मानने को मैं तैयार हूं; 'अव्यर्थ महौषध' नहीं ही है; 'नात्यन्तं गुणवत् किञ्चित्' । वेद-वेद-वेद की पुकार हो रही है; ठीक है; पर एक वेद के चार वेद हुए; प्रत्येक की बहुत-बहुत शाखाएं हुईं; यहाँ तक कि 'सहस्रवर्त्मा साम'; और अधिकतर लुप्त हो गयीं, 'अनादि-निधना' होती हुई भी; कितने हा भाष्य बने और लुप्त हो गये; अब बहुतेरी ऋचाओं का अर्थ नितरां सन्दिग्ध ही है; वैदिक-मचर्चिकाओं और पण्डित-मतल्लिकाओं को भी ठीक पता नहीं; दो हजार वर्ष पहिले, निरुक्तकार यास्क के समय मे ही सन्देह उत्पन्न होने लग गये थे; पातंजल-महाभाष्य मे, तथा अन्य प्राचीन भाष्यों-टीकाओं मे, कितने ही आर्ष सूत्रों के कई कई अर्थ, 'अथवा' 'अथवा' कर के लिखे हैं; अर्थ के, और प्रयोग के

उबारने, उद्धारने, का एकमात्र उपाय 'कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः' के महामंत्र मे सं-निहित है !

निर्णय के लिये पूर्वमीमांसा का महाशास्त्र ही बन गया; राणक ऐसे महाकाय ग्रन्थ बन कर प्रायः लुप्त हो गये, उस मे भी भाट्टमत, गुरुमत, 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः', तीन भेद हो गये; 'पौरुषेयता' 'अपौरुषेयता' की, तर्क-प्रतितर्क से, कितनी बाल की खाल निकाली गयी और निकाली जा रही है, और 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' के स्तनयित्नु-निर्हाद होते हुए भी, एक और प्रमुख महाशास्त्र न्यायशास्त्र ('सर्वेषामपि शास्त्राणां न्याय-व्याकरणं मुखं') वेद को पौरुषेय ही कहता है, और दूसरा महाशास्त्र मीमांसाशास्त्र उस को अपौरुषेय ही बताता है, और अपौरुषेय कहता हुआ भी भूतार्थवाद, अनुवाद, गुणवाद, 'रोचनार्था फलश्रुतिः' आदि का बहुत सूक्ष्म, बुद्धि पर तीव्र तीखी सान चढ़ाने वाला, विवेक करता है; ऐसी सान, कि 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च' के ऐसी बारीक हो कर, बुद्धि अदृश्य और लुप्त ही हो जाती है, स्थूल सांसारिक व्यावहारिक कार्यों के स्पर्श को सहन ही नहीं कर सकती ! प्रत्यक्ष ही सैंकड़ों पंथ, परस्पर विवदमान, कलहायमान, भारत मे भर रहे हैं; सभी अपने को हिन्दू, सनातन-धर्मानुयायी, स्व-धर्म पालक कहते हैं; ' 'अग्निः यथा एकः भुवनं प्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव'', 'सनातनश्चापि धर्मः तथा एकः जातिं जातिं प्रतिजातिः बभूव' । ऐसी दशा मे 'स्व-धर्म' के सच्चे रूप का निर्णय कीजिये, और उस का, सब से, धैर्येण अवलम्बन कराने का, उपाय बताइये । गीता मे 'स्व-धर्म' शब्द पांच बार आया है; अ० ३-३५ (दो बार); २-३१, ३३; १८-४७ । इन प्रयोगों पर, तथा ४-१३ और १८-४१ पर, विचार करने से मेरे समझ मे यही आया है कि 'स्वभाव-नियतं कर्म' ही को कृष्ण ने 'स्व-धर्म' माना है; अर्थात्,

स्वस्य भावे प्रधानो यो गुणः, सत्त्वं, रजः,ऽथवा
तमः, तदुद्गतं कर्म यत्, स्व-धर्मः स एव हि ।

पुनरपि मेरा नम्रनिवेदन ।

ऐसे हेतुओं से, वर्त्तमान अवस्था मे, सब पाठक सज्जनो से पुनरपि मेरा नम्र निवेदन है, (क्योंकि मै हिन्दूधर्म और हिन्दू समाज का द्रोही नहीं हूँ, प्रत्युत बहुत हितैषी और सिसेविषु, आज पैंतालीस पचास वर्ष

से, अधिकाधिक हो रहा हूँ), कि, इस समय मे 'जन्मना वर्णः' की उद्बोधन प्रचारण प्रवर्त्तन दुर्लभ क्या असम्भव है, और कल्याणकर नहीं है; प्रत्युत बलवानो को निसर्गतः अधिकारों का अधिकाधिक गृध्नु बनाता है, और कर्तव्यों से अतितरा विमुख और च्युत करता है; और दुर्बलों को अधिकार-हीन और केवल कर्त्तव्यों के भार से भुग्न और भज्यमान कर देता है। विपरीत इस के, 'कर्मणा वर्णः' का, और तदनुसार अधिकारों और कर्त्तव्यों के परस्पर दृढ़ सम्बन्ध का और भिन्न वर्णो मे विभाजन का, शिक्षण प्रसारण प्रवर्त्तन बहुत सुकर है, बहुत कल्याणकर है, सब प्रकार की आभ्यन्तर और बाह्य शान्ति का सर्वत्र आधायक है; इस की ओर सब देशों मे विचारशील सज्जनों की प्रवृत्ति स्वयं ही हो रहा है; उन के विचारों का, परम्पराप्राप्त गीतोक्त शास्त्र गुह्यतम भी और प्रत्यक्षावगम और धर्म्य भी और कर्तुं सुसुखम् भी अध्यात्मशास्त्र, आत्मविद्या, के द्वारा, परिमार्जन परिष्करण निश्चयन उत्तेजन करने की आवश्यकता है। इस कार्य के लिए 'कर्मणा वर्णः' के आनुषंगिक विचारो, तर्कों, प्रमाणों, सद्भावों मे निष्णात, थोड़े से संशप्तकों के दल की आवश्यकता है, जो वेद की आज्ञा "संगच्छध्वं, संवदध्वं, सं वो मनासि जानतां" तथा "कृण्वंतो विश्व आर्यं" को हृदय से, मनसा वचसा कर्मणा, पालना चाहते हों। उक्त अंग्रेजी ग्रन्थों मे 'तथा मानव-धर्म-सार' और 'शास्त्र-वाद बनाम बुद्धि-वाद, नाम क ग्रन्थों मे यह सब बात सविस्तर कही है, तथा इसी ग्रन्थ के गत अध्यायों से भी।

यह सदा स्मरण रहना चाहिये कि केवल निषेध-मुखेन प्रवृत्ति पर्याप्त नहीं, विधिमुखेन भी चाहिये; खण्डन ही नहीं, मण्डन भी; अपोहन ही नहीं, समूहन व्यूहन भी; परदोष-दर्शन और वर्जन ही नहीं, स्वगुण-सर्जन, प्रदर्शन व्यवहरण, प्रचारण भी। वर्त्तमान 'डिमोक्रेसी' मे बड़े दोष; निश्चयेन; उस के स्थान पर क्या शासन-प्रकार होना चाहिये और कैसे उस का स्थापन किया जाय, यह बताइये। प्रवर्त्तमान निर्वाचन-प्रकार से योग्य व्यक्ति निर्वाचित नहीं होते; निश्चयेन; पर कौन दूसरा प्रकार काम मे लाया जाय? मैं ने एक-अन्य प्रकार बताने का यत्न किया है; अपनी क्षुद्र बुद्धि के

भरोसे नहीं; आर्ष वाक्यों के भरोसे। यदि वे प्रकार ठीक नहीं, तो दूसरे कहिये।

विधानात्मक कृत्यवर्त्म बताइये।

'कर्मणा वर्णः' के अनुसार, हिन्दू-धर्म और हिन्दूसमाज-व्यवस्था के जीर्णोद्धार के लिए किञ्चिद् अत्यल्प न-गण्य क्षुद्र सेवा करने की चेष्टा, सम-विचार सम-भाव के उद्योगियों के साथ, १८९८ ई० से, जब से 'सेण्ट्रल् हिन्दू कालिज' की स्थापना काशी में हुई, विविध प्रकार से कर रहा हूँ। पहिले कुछ अनुद्बुद्ध रूप से, पीछे अधिकाधिक उद्बुध्यमान रूप से, अब बहुत वर्षों से दृढ़, विश्वास मेरा यह हो रहा है कि 'हिन्दू धर्म' पर प्रतिष्ठित यही 'हिन्दू-समाज-व्यवस्था' यदि अध्यात्मशास्त्र और आत्मविद्या के अनुसारी 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त से परिमार्जित परिष्कृत प्रतिसंकृत कर दी जाय, तो 'हिन्दू-धर्म' 'हिन्दू-समाज' के कृत्रिम नाम और संकुचित भाव को छोड़ कर, सर्वलोकसंग्राहक तथ्य और उदार और प्राचीन आर्ष नाम और भाव, 'मानव-धर्म' 'मानव-समाज' का, ग्रहण कर लेगी; और "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः" 'सनातन' आत्मा पर प्रतिष्ठित,उस की प्रकृति से निःसृत,'धर्म','सनातनधर्म''विश्व-धर्म',से प्राणित, विश्व-व्यवस्था के रूप मे परिणत हो कर, सर्व-मानव-लोक की कल्याणकारिणी हो जायगी।

'डिमाक्रेसी' के दोष

इस लेख को यहां समाप्त करना चाहता था, किन्तु समालोचक के दो और लेख,"पाश्चात्य लोकतन्त्र" और "हमारा कटु अनुभव", नज़र आये;[1] उन मे जो बातें वर्त्तमान 'डिमोक्रेसी' के दोषों के सम्बन्ध मे कही हैं, प्रायः वह सब, अधिक विस्तार से, बहुत हेतुओं के, और पाश्चात्य लेखकों के मतों के,प्रतिपादन के साथ,'विश्व-युद्ध और उस की एकमात्र औषध'[2]नाम के ग्रन्थ मे मै ने लिखा है। पर उस ग्रन्थ मे एक बात और लिखी है। इतना ही

१. 'सिद्धान्त' के १४ और २८-४-१९४२ के अङ्कों मे।

२. *World-War and Its Only Cure—World-Order and World Religion.*

कह और पूछ कर (जैसा समालोचक ने किया है), कि "इन सब प्रश्नों पर क्या अभी से विचार करने की आवश्यकता नहीं है ?", मैं, ने सन्तोष नहीं किया है, बल्कि विस्तार से विचार किया है। आश्चर्य है कि इन विचारों की ओर समालोचक का ध्यान नहीं गया; उस ग्रन्थ मे आरम्भ से अंत तक यही बात तो कही है कि इन प्रश्नों पर अभी से विचार करने की आवश्यकता है; और मेरी बुद्धि मे प्रश्नों के उत्तररूप जो विचार उठे हैं, उनका भी प्रतिपादन किया है, और उन सब उत्तर-रूप विचारों के सूत्र-शब्द भी तो ये ही हैं-- विश्वधर्मानुप्राणित विश्व-व्यवस्था !

इस स्थान पर एक चेतावनी पुनः कर देना उचित है। साधारण मनुष्य की साधारण प्रकृति यह है कि अपने और अपने पूर्व पुरुषों के गुणों को ही देखे, और परायों के दोषों को ही; पर 'विद्वान् गुणज्ञो दोषज्ञः' अपने भी और पराये भी, गुणों को भी दोषों को भी, देखता है। 'रामराज्य' सर्वथा निर्दोष सर्व-सुख-मय था-यह सुन कह मान लेना पर्याप्त नहीं; वाल्मीकि जी ने, इशारे मे, उस युग के दोष भी दिखाये हैं और रोचक शब्दों मे, साधनीय आदर्श व्यवस्था का वर्णन किया है; रावण के घोर पाप दिखाते हुए उस के अद्भुत गुण भी कहे हैं; राम जी के मुख से, रावण के मरण के बाद उस को 'महात्मा' कहलाया है; यह भी कहलाया है कि दशरथ 'कामाभिभूत' थे,

> अर्थधर्मौ परित्यज्य यः कामं अनुवर्त्तते,
>
> एवं आपद्यते क्षिप्रं , राजा दशरथः यथा।

यह भी स्पष्ट-प्राय शब्दों मे कहा है कि दशरथ को पहिले से ही कैकेयी से शंका थी, इसी लिए भरत को हिमालय पार, मामा के यहां भेज कर उन्हों ने राम को युवराज बनाने का यत्न किया।

बहु विवाह की प्रथा उस समय थी ही; राम ने अपने पिता के बहु-विवाह के दुष्फल भुगत कर ही एक-पत्नी-व्रत किया; उन के चारो तरफ पचासों स्वतंत्र राजा लोग बहु विवाह करते ही थे, उन के वंशजों ने भी पुनः किया; एक धोबी के बकने से सीता को निकाल दिया, अन्त मे स्वयं दुःखी हो कर सरयू मे प्रवेश कर गये। एक अकेले राम जी के परम सदाचारी और प्रजा वत्सल होने से उन के जीवन काल मे 'राम-राज्य' रहा, तो इस से देश

का सार्वकालिक कल्याण कैसे हो ? यह कैसे निश्चय किया जाय कि सब राजा राम जी के ऐसे ही होंगे ?

सर्वोपरि प्रश्न यह है कि, अब, इस देश-काल मे, 'राम-राज्य' के आदर्श अंश का पुनःआवाहन पुनः स्थापन कैसे किया जाय; केवल उस की प्रशंसा कर देना पर्याप्त नहीं। क्या किसी को आशा है कि राम जी फिर से उतर कर राज्य करेंगे ? 'इति-ह-आस' पर्याप्त नहीं; 'इति-ह-भूयात् पुनः'; का प्रकार सामने रखना चाहिये।

लक्ष्य को स्पष्ट करने की आवश्यकता।

कांग्रेस के, हिन्दू महासभा के, मुस्लिम लीग के, 'निर्दल नेता-दल' के, सभी प्रकार के भारतीय नेताओं से यही प्रार्थना पुनः पुनः उक्त ग्रन्थ मे, और सन् १९२१ से आरम्भ कर के सैकड़ों 'आर्टिकल्स्' मे संवादपत्रों मे, अंग्रेजी और हिन्दी मे,मै ने की है;तथा उक्त ग्रन्थ के पहिले और युद्धारम्भ के बाद भी बहुत आर्टिकल्स् के द्वारा ब्रिटेन फ्रांस अमेरिका के राष्ट्राधीशों राष्ट्र-सञ्चालकों शासकों से भी यही प्रार्थना की है, अर्थात् यह कि युद्ध के 'लक्ष्य' 'साध्य' के रूप मे आप लोग किस प्रकार की नयी और साधुतर सृष्टि, उमदातर दुनियां, न्यू ऐंण्ड बेटर वर्ल्ड्, रचेंगे, (क्योंकि सभी युध्यमान राष्ट्रों के नेता ऐसी ही प्रतिज्ञाएं कर रहे हैं), कैसी समाज व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं, किस प्रकार की स्वतन्त्रता 'फ्रीडम' सब देशों और जातियों को देना चाहते हैं, डिमाक्रेसी का क्या रूप बनाना चाहते हैं, (क्योंकि प्रवर्त्तमान डिमाक्रेसी के घोर दोषों को स्वयं ब्रिटेन और अमेरिका के अति प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों ने विस्तार से दिखाया है), जिस से अच्छे, अनुभवी, लोक-हितैषी, निःस्वार्थ आदमी ही धर्मव्यवस्थापक सभाओं मे जायँ, और ऐसे अच्छे क़ानून बनावैं, जिन क़ानूनों धर्मों से ऐसी समाज-व्यवस्था बन जाय, कि सब मनुष्यों को, यथोचित, स्व-स्व-प्रकृति के अनुकूल, पेट-भर रोटी, पीठ भर कपड़ा, सिर भर छप्पर छाजन, माथे मस्तक मस्तिष्क भर ज्ञान, धर्म (उपासना) और अर्थ (स्वत्व), सम्पत्ति, परिग्रह, रिक्थ, 'प्रापर्टी'[१]

१ Articles; New and Better World; Freedom, Democracy, Property.

मिल्कीयत) और काम (गार्हस्थ्य) का उचित मात्रा मे सुख, और अन्याय के भय से छुटकारा, मिल सके। और, ऐसी प्रार्थना, इन सब से, पुनः पुनः सतत करते हुए, यह सूचना भी, पुनः पुनः उक्त दोनों अंग्रेज़ी और एक संस्कृत ग्रन्थों मे, तथा अन्य कई अंग्रेज़ी और हिन्दी ग्रन्थों और छोटे लेखों मे, समास से भी और व्यास से भी, कर दी है, कि 'मानव-धर्म' के 'मानव आध्यात्मिक और आधिभौतिक, आधिजैविक (आधिदैविक) और आधिदैहिक, प्रकृति, के, अनुसार 'कर्मणा वर्णः' की नीति रीति से, 'मानव-समाज-व्यवस्था' और 'राष्ट्र-शासन-पद्धति' ऐसी ऐसी होनी चाहिये; और यदि हो तो उक्त लक्ष्य, जो सब तीन एषणाओं के अन्तःपाती हैं, तथा मोक्षैषणा भी, अर्थात् स्वार्थ, परमार्थ सभी, तृप्त और सिद्ध हो जायँ; तथा, लोकतन्त्रवाद, साम्राज्यवाद, साम्यवाद, 'शास्त्री राज्य', 'शस्त्री राज्य', 'धनी राज्य', 'श्रमी राज्य', ऐकराज्य, द्वैराज्य, गणराज्य, साम्राज्य, संघराज्य, वैराज्य, भोज्य, आदि प्रत्येक मे जो गुण का अंश है, उस सब का आ-कर्ष, और सब के दोष के अंशों का अप-कर्ष, भी, यथासम्भव, हो जाय; यथासम्भव, क्योंकि प्रकृति की अपरिहार्य द्वन्द्वता के कारण, आत्यन्तिक निर्दोषता, कभी, किसी प्रकार मे और से, सिद्ध नहीं हो सकती, दोष कम, गुण अधिक, दुःख कम, सुख अधिक—किसी एक निर्दिष्ट, परिस्थिति, देश और काल के जनपद और युग मे—इतना ही साधा जा सकता है; और सध जाय, तो अहो भाग्यम्।

कांग्रेस, से मेरी निरन्तर बीस वर्ष से रटन।

भारत के लिए विशेष रूप से, सन् १६२१ से, मै, कांग्रेस के प्रधान नेताओं से, तथा जनता से, रट रहा हूँ कि, अभिलषित भारतीय 'स्वराज्य' के रूप का सविस्तर निरूपण निर्धारण कर दीजिये।[1] देशबन्धु

[1] १६२० तक कांग्रेस का 'क्रीड', creed', लक्ष्य, साध्य, ध्येय था—'ब्रिटेन के उपनिवेशों, 'कालोनीज़', colonies, जैसे कनाडा, साउथ अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, के ऐसा स्वराज्य, 'सेल्फ़ गवर्मेंट', self-government. १६२० मे नागपुर की कांग्रेस मे 'क्रीड' बदला गया,

चित्तरञ्जनदास जी के साथ एक 'स्वराज्य-योजना' भी मैं ने बनायी; 'डिमा-क्रेसी', लोकतन्त्र, के विद्यमान दोषों को दूर करने का प्रकार भी उस मे दिखाया, श्री शिवप्रसाद जी की उदारता से छः हजार प्रतियां उस की, महात्मा गांधी के 'यङ्ग् इण्डिया' नामक साप्ताहिक के साथ, नेताओं और जनताओं के विचारार्थ, सन् १९२३-४ मे बाँटी गयीं; तथा और भी सहस्रों प्रतियाँ भारत और ब्रिटेन मे बाँटी गयीं; पर नेताओं का और नीतों का ध्यान इधर नहीं फिरा; सब इसी त्वरा मे थे कि 'स्वराज,' झट्, 'मन्त्रवत्' चालबाज़ियों से मिल जाय, तब पीछे विचारा जायगा कि रूप-निरूपक शब्द छोड़ दिये गये, केवल 'स्वराज' रक्खा गया; जिस से वह शब्द नितरां गूढ-मूढ, भ्रमावह, संदेहाऽऽच्छन्न हो गया। पूछने पर गांधी जी यह कहा करते थे कि स्वराज का अर्थ, 'राम राज', जो और भी अधिक भ्रमावह है। इसी से इस राम राज स्व-राज के अर्थ के स्पष्ट विवरण की इच्छा मुझ को उत्कट हुई। खेद है कि कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं को यह उग्र आवश्यकता अनुभूत न हुई; और इसी से कांग्रेस के कार्य मे नित्य नई अड़चनें उठती हैं, और वह आगे नहीं बढ़ता, बल्कि पीछे ही हटता चला जा रहा है। इसी विषय का बहुत विस्तार से प्रतिपादन, मैंने, 'विश्व-युद्ध और उस की एकमात्र औषध' मे किया है। अब कई कारणों से, ब्रिटिश गवर्मेन्ट ने, मई १९४६ से प्रांतों मे, और सितम्बर १९४६ से केन्द्र मे, कांग्रेसी मिनिस्ट्रियां पुनः स्थापित होने दिया है; पर जैसा पहिले फुट-नोट मे लिख आये, तरह तरह के उत्पात खड़े हो गये हैं। इस का भी कारण यही है कि, यद्यपि कांग्रेस के सब प्रधान नेता, एक दो को छोड़ कर, अहमद नगर के क़िले मे, अगस्त १९४२ से जून १९४५ तक, बंद रहे, और तीन वर्ष तक, दिन रात, निरन्तर, एक साथ रहे; फिर भी, क़ैद से बाहर आने पर, और शासन शक्ति पाने पर, भारतीय 'स्वराज' को क्या रूप देने का यत्न करना होगा—इस अति गुर्वर्थ, अति गम्भीर, प्रश्न पर विचार ही नहीं कर पाये; दूसरे-दूसरे विषयों पर पुस्तकें पढ़ते और लिखते रहे। "कार्यकाले तु सम्प्राप्ते गताः किंकार्य-मूढताम्"

इस शब्द का क्या अर्थ है। जितनी त्वरा की, उतना ही अधिक विलम्ब होता गया; 'मन्त्र' मे, चाल मे, सार नहीं, वीय नहीं, तत्त्व नहीं; 'तच्चैक्यं समगच्छत' का उपाय मालूम नहीं, 'संघे शक्तिः' की संघता के स्थान मे, 'विशेष-विशेष-धर्म कृत' 'विशेष-विशेष-जाति-कृत' और 'विशेष-विशेष-स्वार्थ-कृत' अनन्त परस्पर इर्ष्या, द्वेष, मत्सर, अविश्वास, शंका; 'ऐक्य'-जनक 'विश्व-धर्म' और 'विश्व-व्यवस्था' की ओर उपेक्षा ही नहीं, अपितु अप-हास-बुद्धि। फल, प्रत्यक्ष; जितनी अधिक दौड़ 'स्वराज्य' के पीछे, उतना अधिक वेग से 'स्वराज्य' अधिकाधिक दूर भागता गया। "सहसा विदधीत न क्रियां", "अतिरभसकृतानां कर्मणां...भवति हृदयदाही शल्यतुल्यः विपाकः", "क्षिप्रकारी विपद्यते"। 'एका करो', 'एका करो'—ऐसा, जो नेता महोदय, दूसरों से कहते पुकारते फिरते थे, यक जान, दो क़ालिब, "त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं", "बहिश्चराः प्राणाः", जो परस्पर समझे जाते थे; स्वयं उन मे, परस्पर घोर 'अनेका' और तीव्र मतभेद हो रहा है, कारण—'स्वराज्य' शब्द पर थोथा खोखला दिखावटी 'एका' रहा, शब्द के वास्तविक अर्थ पर 'एका' करने का कभी स्वप्न भी नहीं देखा। अब, जब बीस वर्ष के रटने के बाद, गांधी जी ने इस बात को माना, कि ऐसी स्वराज की रूपरेखा एक कमेटी द्वारा तयार कर के जनता के समक्ष विचारार्थ उपस्थित कर दी जानी चाहिये; और मुझे बड़ी आशा उत्पन्न हुई कि यह परम आवश्यक कार्य अब निश्चयेन करा देंगे, तब ऐसी घटनाएं हुईं कि गांधी जी कांग्रेस के नेतृत्व से और सदस्यता से भी (१६३४ ई० के अन्त से) तटस्थ हो गये और अनैक्य की भावना परस्पर अस्पृश्यता की भेद-बुद्धि जो हिन्दू जनता मे भरी हुई है और उस के अधःपात का प्रधान कारण है, वही कांग्रेस के भीतर भी सहसा जागी, और छोपो, तोपो, बोलो मत, की थोथी नीति को सद्यः पार्ष्णिदान से दूर फेंक कर कांग्रेस के संघटन का विघटन करने के लक्षण दिखाने लगा। और अब तो ६ अगस्त १६४२ से महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेता प्रायः सभी पुनः कारावास मे बंद कर

दिए गए हैं। (गांधी जी से और मुझ से जो इस विषय पर पत्र व्यवहार अगस्त-अक्टूबर १९४१ में हुआ था वह 'वर्ल्ड वार' की पुस्तक के पृ० ५२३-५३६ पर छपा है)। रात्रिः गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः, इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं तु करी ममर्द; अभी सर्वथा "गज उज्जहार" नहीं; आसा पर साँसा और 'जब तक साँस तब तक आस'।

कांग्रेस की अनवस्था दुरवस्था।

नेता महोदय सदा इसी महाभ्रान्ति में पड़े रहे हैं कि पहिले शासन-शक्ति हाथ में आ जाय तब पीछे सोचा जायगा कि उस का प्रयोग कैसे किया जायगा; कितना भी रटा गया, इन महोदयों ने अब तक यह नहीं ही पहिचाना कि बिना इस बात को सब दलों सब मत-वालों को समझाये, और बिना उन के मन में यह विश्वास बैठाये, कि शासन-शक्ति का प्रयोग इस-इस प्रकार से किया जायगा, ऐसी-ऐसी योग्यता के 'तपोविद्या-युक्त पुरोहितों' के द्वारा ऐसे-ऐसे कानून बनाये जायँगे, और ऐसी समाज-व्यवस्था साधी जायगी, जिस से सब को अन्न वस्त्रादि आवश्यकीय वस्तुओं की प्राप्ति निश्चित हो जायगी—बिना इस के सब वर्णों वर्गों दलों तबकों सम्प्रदायों प्रान्तों के भारतीयों में वह ऐक्य वह ऐकमत्य नहीं होने का, जिस ऐक्य के बल से भारतवासी, शासन-शक्ति को परदेश-वासियों के हाथ में से निकाल कर, अपने हाथ में लाने में, और पर-राज के स्थान में स्व राज को स्थापित करने में, समर्थ कृतार्थ होंगे। ये महोदय अब तक कहते रहे हैं कि स्व-राज मिल जाय तो चौबीस घंटे के भीतर सब मतभेद दूर हो जायँगे अर्थात्—जब कार्य पहिले सिद्ध हो जायगा तब कारण चौबीस घंटे के भीतर उपस्थित हो जायंगे! कार्य पहिले, साधन पीछे; शब्द पहिले, अर्थ पीछे! इस महाभ्रान्ति का फल प्रत्यक्ष ही है।

अब तो मानव-संसार की दशा प्रतिदिन ऐसे वेग से बदल रही है कि भारतीयों का हाल कल क्या होगा यह आज निश्चयेन, क्या संभाव्यत्वेन भी, नहीं कहा जा सकता। पर अंग्रेजी में एक कहावत है 'इट्

इज़ नेवर टू लेट् टु मेंड्' [१]; देर तो बहुत हो गया है पर सुधार अब भो असम्भव नहीं है; जभी कुपथ का छोड़ कर सुपथ पर लौटे अच्छा है।

('अपि चेदुत्पथं यातः, भजते सत्पथं पुनः),
साधुरेव स मन्तव्यः, सम्यग्वसितो हि सः,
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा, शश्वच्छांतिं निगच्छति'।

किन्तु ऐसे सुधार के लिए परमावश्यक है कि हम अपने दोषों को निश्चय से पहिचाने। भारतीय जीवन और सिद्धान्तों की जब कोई यूरोपीय जरा प्रशंशा करता है और यूरोपीय का निन्दा, तब हम बहुत प्रसन्न होते हैं और बड़े लाव-चाव शौक़-जौक से उस के वाक्यों का आम्रेडन करते हैं; परन्तु जब भारतीय जीवन की निन्दा और यूरोपीय की प्रशंसा करता है तब हम उस ओर आँख कान फेरना भी नहीं चाहते। भारत का उद्धार यों नहीं होना है। जब हम दोनो के गुणांशों को भी, दोषांशों को भी, राग-द्वेष रहित निष्पक्षता-सहित सर्वहित-समाहित बुद्धि और हृदय से परखैं और पहिचानेंगे, और दोनो के गुणांशों का ग्रहण और दोशांशों का त्यजन करैंगे, तभी भारत का उद्धार होगा।

उपसंहार।

भारतभूमि पर, परमात्मा को इच्छा से, पृथिवी पर प्रचलित सब ही मुख्य धर्म एकत्र हैं। यहाँ हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी, सिख भी, ईसाई मुसल्मान, यहूदी भी, सभी हैं। अति प्राचीन 'सनातन'-धर्मसार धर्म-सामान्य, विश्व-धर्म वेदान्त-तसव्वुफ़-ग्नास्टिकमिस्टिसिज्म का नवावतार भारत मे यदि नहीं होगा तो अन्य किस देश से आशा है?

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः,
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैः गुणैः;
('चातुर्वर्ण्यान्तरायाताः पृथिव्यां सर्वमानवाः
त्रयः द्विजाः; एकजातिः एकः); नास्ति तु पञ्चमः।'

सर्व धर्म सम्प्रदायान्तर्गत सब मानवों को, व्यवस्थासार, समाज-व्यवस्था-सामान्य विश्व-व्यवस्था, भारत का ही देन, कर्मणा ही (न तु जन्मना)

१ It is never too late to mend.

हो सकता है। और ऐसे विश्वधर्म से अनुप्राणित विश्वव्यवस्था से ही मानव-जगत् का सब प्रकार का कल्याण हो सकता है और प्रत्येक मनुष्य के लिए उस की प्रकृति की गति पर्यन्त चारो पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं।

सुलभाः पुरुषाः नूनं सततं प्रियवादिनः,
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः,
(दुर्लभश्चापि सत्-कृत्यवर्त्म-निर्देशकः जनः)।
प्रायः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति;
आत्मनः बिल्वमात्राणि जनः पश्यन् न पश्यति।
सामान्यम् एकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्;
तुल्यार्थता हि सामान्यं, विशेषस्तु विपर्ययः;
सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणं;
ह्रासहेतुः विशेषश्च; प्रवृत्तिः उभयस्य तु।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं; परम् पश्यत माऽपरम्;
धर्मं चरत माऽधर्मं; सत्यं वदत माऽनृतं।
सर्वम् आत्मनि सम्पश्येत् सच्च असच्च समाहितः;
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यः जनः,
सः सर्वसमताम् एत्य स्वाराज्यं अधिगच्छति।
ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येम अक्षभिः यजत्राः,
स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः तनूभिः, व्यशेमहि देवहितं यद् आयुः।
स्वस्ति नः इन्द्रः वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः,
स्वस्ति न तार्क्ष्यःऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नः बृहस्पतिर् धातु। ॐ
ॐ शं नो मित्रः, शं वरुणः, शं नः भवतु अर्यमा,
शं नः इन्द्रः बृहस्पतिः, शं नः विष्णुः उरुक्रमः। ॐ
ॐ सर्वः तरतु दुर्गाणि, सर्वः भद्राणि पश्यतु
सर्वः सद्बुद्धिम् आप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु। ॐ